विट्ठलदास संस्कृत सीरीज ५

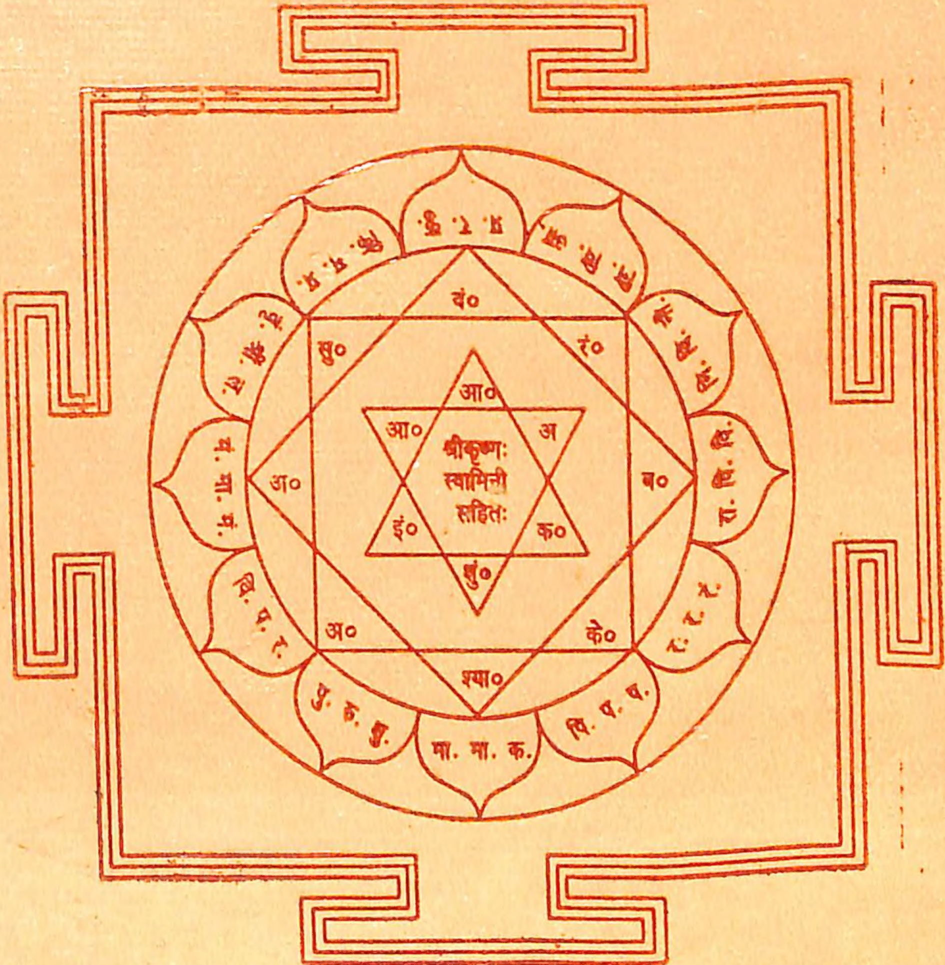
नारदपाञ्चरात्रान्तर्गतम्

श्रीमाहेश्वरतन्त्रम्

'सरला' हिन्दी व्याख्योपेतम्

सम्पादकः व्याख्याकारश्च

डॉ० सुधाकर मालवीयः



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

वि० सं० ग्रं०
५

श्री माहेश्वरतन्त्रम्

डॉ० सुधाकर मालवीयः



बिट्ठलदास संस्कृत सीरीज
५

अपौरुषेयम्
नारदपाञ्चरात्रान्तर्गतम्

श्रीमाहेश्वरतन्त्रम्

श्रीसुमङ्गलया पराशक्त्याविर्भावितं श्रीशिवेनोमाया उपदिष्टं
ब्रह्मरहस्यात्मकम्
'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

सम्पादकः व्याख्याकारश्च
डॉ० सुधाकर मालवीयः
एम० ए०, पीएच० डी०, साहित्याचार्यः
संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी - १
१९९७

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०५४

पो० बा० नं० ११९८
के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०

अपरञ्च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पोस्ट बाक्स १००८, वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन : आफिस : ३३३४५८
आवास : ३३४०३२, ३३५०२०

BITTHALADAS SANSKRIT SERIES
5

Narad Pāñcarātrāntaragatama

ŚRĪMĀHEŚVARATANTRAM

With 'Saralā' Hindi Commentary

Edited & Translated by
DR. SUDHĀKAR MĀLAVĪYA
M.A., Ph. D., Sāhityācārya
Department of Sanskrit, Arts Faculty
Banaras Hindu University
Varanasi – 5



KRISHNADAS ACADEMY
VARANASI – 221001
1997

Oriental Publishers and Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221001 (INDIA)
Phone : 335020

First Edition
1997

Also can be had from :

Chowkhamba Sanskrit Series Office

K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1008, Varanasi-221001 (India)
Phone : Office : 333458
Res. : 334032, 335020

भूमिका

तन्त्र शब्द एक विशेष शास्त्र या दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक समझा जाता है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न देवी–देवताओं की रहस्यात्मक एवं अभिचार प्रधान पूजा पद्धति तथा तत्सम्बन्धी दार्शनिक मत एवं ग्रन्थों का बोध होता है । आधुनिक काल में वस्तुतः यही 'तन्त्र शब्द' का विशेष एवं लोकप्रिय प्रयोग साहित्य जगत् में दिखाई पड़ता है । इस रूप में तन्त्र एक अत्यन्त व्यापक शास्त्र के रूप में लिया जाता है । जिसमें शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर तथा बौद्ध, जैन आदि सभी सम्प्रदायों में स्वीकृत या प्रचलित विशेष तान्त्रिक पूजा पद्धति और विचारधारा का समावेश होता है ।

इस प्रकार तन्त्र विद्या का अन्य अनेक शास्त्रों के दृष्टिकोणों से नितान्त स्वतन्त्र एक विशेष और रहस्यात्मक दृष्टिकोण हैं, जिसे संक्षिप्त परिभाषा के रूप में व्यक्त करना या समझ सकना सम्भव नहीं हैं । कुछ विद्वानों ने तन्त्र की परम्परा को अवैदिक माना है । कुछ आचार्य तन्त्र से तात्पर्य मात्र 'शाक्त–पूजा पद्धति' से लेते हैं । कुछ विद्वानों ने और आगे बढ़कर तन्त्र की उत्पत्ति अभारतीय धर्मों अथवा मान्यताओं से बताई है । किन्तु इस प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोण केवल सीमित रूप में ही उचित हो सकते हैं ।

वस्तुतः तान्त्रिक मान्यता, विचारधारा और उसकी व्यावहारिक पूजा–पद्धति एक अत्यन्त प्राचीन सनातन परम्परा के रूप में भारतीय धर्म में दिखाई देती है । किन्तु उसका भारतीय विचार–धारा से कोई मूलभूत भेद नहीं है । वह उसी का एक अनिवार्य भाग है, क्योंकि समान रूप से शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर तथा बौद्ध, जैन, आदि सभी सम्प्रदायों में तन्त्र का समावेश और उन उन मत की एक विशेष दार्शनिक एवं व्यावहारिक तान्त्रिक पूजा–पद्धति के रूप में दिखाई देती है ।

तन्त्रों की रहस्यात्मकता

तन्त्र का ज्ञान और व्यवहार पक्ष सदैव रहस्यात्मक तथा गुह्य माना गया है । तान्त्रिक ग्रन्थों की शब्दावली और उनकी दार्शनिक परिभाषाएँ प्रायः गूढ़ हैं । यह शब्दावली नितान्त रूप से प्रतीकात्मक तथा सूत्रात्मक है । इनका पूरा रहस्य तन्त्र विद्या के ज्ञाता या सिद्ध साधक ही समझ सकते हैं । वस्तुतः 'तान्त्रिक–विद्या' की यह मुख्य मान्यता है कि **'तान्त्रिक–विद्या' का ज्ञान आन्तरिक अनुभव की वस्तु है** और उसे शब्द अथवा अन्य बाह्य साधनों से व्यक्त करना सम्भव नहीं है । इसीलिए तन्त्रों की भाषा नितान्त सांकेतिक एवं परम्परा से प्राप्त पूर्ण रूप से प्रतीकात्मक है ।

तन्त्र और आगम

'तन्त्र' शब्द 'तत्रि' धातु से बना है जिसका अर्थ है– धारणा अर्थात् ज्ञान ।[1] **पिङ्गला मत** के अनुसार जिसके द्वारा चारों ओर की वस्तुओं को जाना जाय वह (ज्ञान) अगम है और जो फैलाता है अर्थात् ज्ञान का विस्तार करता है और सदैव दैवी एवं भौतिक आपदाओं से रक्षा करता है वह तन्त्र है ।[2] **विश्वसार तन्त्र** में दी गई परिभाषा के अनुसार जो इसमें है वह और जगह भी हो सकता है । किन्तु जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है । वस्तुतः इससे तात्पर्य यह है कि समस्त विश्व के प्रत्येक आध्यात्मिक अनुभवों का सार तन्त्र मार्ग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । अन्ततः इसमें आपदाओं से मुक्ति के सभी प्रकार के उपाय एवं साधन प्रयुक्त होते हैं । शैव सिद्धान्त के **कामिकागम** में तन्त्र की परिभाषा इस प्रकार हैं –

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणाच्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ।।

"यह इसलिए तन्त्र कहलाता है क्योंकि यह उन महान् अर्थों का विस्तार करता है जो (आध्यात्मिक) तत्त्व एवं मन्त्रों से युक्त हैं और इस प्रकार तन्त्र (विपदाओं) से हमारी रक्षा करता है।"

तन्त्रों की विषय वस्तु

वाराही तन्त्र के अनुसार १, सृष्टि २, प्रलय ३, देवताओं की पूजा ४, सभी प्रकार की साधना अथवा सिद्धि, ५, पुरश्चरण, ६, षट्कर्म–साधन ७, तथा चार प्रकार का ध्यान–योग–इन सात लक्षणों से युक्त 'आगम' अर्थात् तन्त्र को विद्वान् लोग जानते हैं –

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्मसाधनं चैव सर्वेषां ध्यानयोगाश्चतुर्विधाः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः ॥

इस प्रकार तन्त्रों की परम्परा में व्यवहार या क्रियापक्ष ही प्रधान तथ्य है । (१) **ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति** और उनके (२) **प्रलय** से सम्बन्धित सिद्धान्त सृष्टि एवं प्रलय

---

१. 'तत्रीति' धातोरिह धारणार्क्षात्' ।
(ईशानशिवगुरुदेव पद्धति', त्रिवेन्द्रम. सं, सी०, भाग ३ पृ० २८) ।

२. आज्ञा वस्तु समन्ताच्च गम्यत इत्यागमो मतः ।
तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः ।। (पिङ्गलामत तन्त्र)

के अन्तर्गत आते हैं । (३) **देवी–देवताओं की उपासना** एवं उनके व्यापक स्वरूप का चिन्तन देवार्चन के अन्तर्गत आता है । देवार्चन के पाँच प्रमुख अंग हैं – १. पटल, २. पद्धति, ३. कवच, ४. सहस्रनाम तथा ५. स्तोत्र । (४) **तन्त्रों में सभी प्रकार की साधनाओं का वर्णन** है जो विभिन्न शारीरिक तथा आध्यात्मिक सिद्धियों की प्राप्ति के उपाय हैं । तान्त्रिक साधना में इन सिद्धियों का सर्वोपरि महत्त्व है । (५) **पुरश्चरण** से अभिप्राय है – तान्त्रिक–साधना का व्यवस्थित विधान, जिनके माध्यम से साधक विभिन्न सिद्धियों को प्राप्त करता है । इन्हीं के अन्तर्गत मारण, मोहन एवं उच्चाटन आदि विविध प्रकार की प्रक्रियाएँ है जो विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है । (६) **षट्कर्म** का अर्थ है – १. मारण, २. मोहन, ३. उच्चाटन, ४. कीलन, ५. विद्वेषण, और ६. वशीकरण । इन्हीं के लिए मन्त्रों का निर्देश षट्कर्म है और उसका क्रिया पक्ष 'पुरश्चरण' है । (७) **ध्यान–योग** के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार के ध्यान एवं चर्या का वर्णन आता है । तन्त्र विद्या का आधारभूत सिद्धान्त 'शरीर–साधना' है जिसके कारण योग शास्त्र तन्त्र का अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है । इसके अन्तर्गत समस्त शारीरिक शक्तियों का संयमन होता है । इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन का केन्द्रीकरण ही योग एवं ध्यान की पद्धति है । इस प्रकार तान्त्रिक–साधना के लिए प्रधान रूप से मन्त्र, यन्त्र, योग, ध्यान, समाधि ही सिद्धि प्राप्ति की आधारभित्ति है ।

मन्त्र – 'मन्त्र' वस्तुतः तन्त्र–पूजा–पद्धति का प्राण हैं । 'शब्द ब्रह्म' माना गया है । अतः वर्ण–माला के पचास अक्षर अथवा इक्यावन अक्षर ब्रह्माण्ड की प्रमुख शक्तियों के मूल माने जाते हैं । प्रत्येक अक्षर बीज–मन्त्र हैं जो शक्ति की विभिन्न आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का रूप हैं । तन्त्र के अनुसार 'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक के अक्षर 'वर्ण मातृका' बनाते हैं जो साक्षात् शक्ति के स्रोत हैं और यही बीज–मन्त्रों के मूल हैं । इन्हीं से तान्त्रिक सिद्धान्तों के अनुसार बने मन्त्र प्रत्यक्ष ऊर्जा का रूप धारण कर अद्भुत आध्यात्मिक उत्कर्ष के कारण होते हैं । वस्तुतः शब्द ब्रह्म होने से मन्त्र साधन से उत्पन्न 'स्फोट' द्वारा शक्ति की अत्यन्त सूक्ष्म तरङ्गे या कम्पन नाड़ियों में क्रियाशील होती हैं जो साधक को उसके लक्ष्य की ओर ले जाते हैं । **शारदातिलक** के अनुसार जिसके द्वारा विश्व विज्ञान का मनन, अनुभव, तथा सांसारिक बन्धन से त्राण प्राप्त होता है वह सिद्ध मन्त्र है –

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात् ।
यतः करोति संसिद्धो 'मन्त्र' इत्युच्यते ततः ॥

(शारदातिलकतन्त्रम्, पृ० १२६)

सात्वत और पाञ्चरात्र मत

वैष्णव धर्म का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख सात्वत धर्म के रूप में महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय अन्तरध्याय में और भीष्मपर्व के विष्णोपाख्यान में पाया जाता है। यहाँ कहा गया है कि इसका सर्वप्रथम उपदेश कृष्णवासुदेव[१] ने कुरु–पाण्डव युद्ध के पूर्व अर्जुन के प्रति किया था । **श्रीमद्भागवत** के सात्वतधर्म को "भागवत–धर्म" कहा गया है । भागवत धर्म का उपदेश स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा के प्रति किया था । ब्रह्मा ने नारद के प्रति और नारद ने व्यास के प्रति ।[२]

भागवत धर्म के इतिहास में पाञ्चरात्र मत का विशेष महत्त्व है । जिसका प्रादुर्भाव **भण्डारकर** के मत से ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में[3] हुआ और **राय चौधरी** के मत से ईसा के पूर्व पहली शताब्दी में हुआ ।[४]

पाञ्चरात्र साहित्य पाञ्चरात्र आगम के नाम से पुकारा जाता था, जिसके अन्तर्गत १०८ संहिताएँ थीं । भागवतगण इन्हें वेदों से भी अधिक ऊँचा स्थान देते थे, क्योंकि इनमें वासुदेव या नारायण के उपदेश थे जो उन्होंने समय समय पर शाण्डिल्य प्रह्लाद और सुग्रीवादि को दिए थे । इन उपदेशों को ही शाण्डिल्य और नारद ने अपने भक्ति सूत्रों में ग्रन्थित किया था ।

वहाँ भगवान् नारद जी स्वयं श्रीभगवान् के ही कहे हुए सांख्य और योगशास्त्र के सहित 'भगवद् महिमा' को प्रगट करने वाले 'पाञ्चरात्रदर्शन' का सावर्णि मनु को उपदेश करने के लिए भारतवर्ष की वर्णाश्रमावलम्बिनी प्रजा के सहित अत्यन्त भक्तिभाव से भगवान् श्री नर–नारायण की उपासना करते और इस मन्त्र का जप करते तथा स्तोत्र को गाकर स्तुति करते है [५] – 'ओम् नमो भगवते नरनारायणाय .. .. नमो नम इति' ।

तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैकर्म्यं कर्मणां यतः ॥

(भाग० १. ३. ८)

---

१. कुछ विद्वानों का मत है कि वासुदेव और कृष्ण भिन्न–भिन्न व्यक्ति थे ।

२. भाग ० २. ६. ४२–४३।

३. भण्डारकर – Vaisnavism, Saivism and Mind Religious p. 39.

४. Hemachandra Raychaudhauri : The Early History of Vaisnava Sect. p. 176.

५. सावर्णि मनु को नारद ने पञ्चरात्रागमतन्त्र का उपदेश किया था –

तं भगवान्नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत् प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति इदं चाभिगृणाति ।।

(भा० ५. १६. १०)

'ऋषियों की सृष्टि में उन्होंने देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार ग्रहण किया और सात्वत तन्त्र का (जिसे 'नारद–पाञ्चरात्र' कहते हैं) उपदेश किया; उसमें कर्मों के द्वारा किस प्रकार कर्मबन्धन से मुक्ति मिलती है, इसका वर्णन है ।

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि–
र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥

(भाग० ११. ६. १०)

मननशील मुमुक्षुजन मोक्ष प्राप्ति के लिए अपने प्रेम से पिघले हुए हृदय के द्वारा जिन्हें लिये–लिये फिरते हैं, पाञ्चरात्र विधि से उपासना करने वाले भक्त जन समान ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध – इस चतुर्व्यूह के रूप में जिनका पूजन करते हैं और – जितेन्द्रिय धीर पुरुष स्वर्गलोक का अतिक्रमण करके भगवद्धाम की प्राप्ति के लिए तीनों समय जिनकी पूजा किया करते हैं, वे हमारे पाप ताप को नष्ट कर दें ।

माहेश्वर तन्त्र और उसका प्रयोजन

माहेश्वर तन्त्र श्रीशङ्करोक्त चौसठ तन्त्रों [१] में परमार्थ का प्रकाशक है और यह जीवमात्र के लिए परमोपयोगी है । यह तथ्य स्वयं माहेश्वर तन्त्र के छब्बीसवें पटल में कहा गया है ।[२] क्योंकि समाधि की अवस्था में यह तन्त्र ईश्वर के द्वारा प्रोक्त है, अतः यह **माहेश्वर तन्त्र** के नाम से प्रख्यात हुआ।[३]

माहेश्वर तन्त्र में परमार्थ का प्रतिपादन इस प्रकार बतलाया गया है – वस्तुतः वही ज्ञान विज्ञान है जिससे आत्मा का साक्षात्कार हो जाए । वह स्फुट रूप से भासित होने लगे । वह आत्मा नित्य मोहरूप अज्ञान से आवृत होती है । वस्तुतः तभी तक संसार का भाव साधक में होता है जब तक उसकी आत्मा अज्ञान से आवृत रहती है और तभी तक मोह और भ्रम एवं तभी तक भय भी रहता है । जभी तत्वज्ञान का उदय साधक में हो जाता है तभी न यह लोक होता है और न तो किसी प्रकार की कल्पना ही उसमें होती है । साधक आत्मसाक्षात्कार होने पर अपने में ही समाहित हो जाता

---

१. (क) त्वया प्रोक्तानि तन्त्राणि चतुःषष्टिमितानि भोः । १.१५, पृ० २.
(ख) चतुःषष्टीनि तन्त्राणि मयैवोक्तानि पार्वति........ २६, ११, पृ० २४४ ।

२. प्रबोधसाधनीभूतं...अन्यथेश्वरविज्ञानात्नान्यवेतत्प्रयोजनम् । २६.१५, पृ० २४५।

३. (क) समाधावीश्वरेणोक्तम् .... २६.१०। पृ० २४४ ।
(ख) ....समाधौ यच्छ्रुतं मया । २६.१४ । पृ० २४५ ।

है । उस समय वह साधक सुख के साक्षात् समुद्र में रहता है । क्योंकि आत्मा ही साक्षात् अक्षर ब्रह्म है । वही एक शेष रहती है । वही शिव, विष्णु और इन्द्र भी है । इस आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया माहेश्वर तन्त्र के चालिस से लेकर पैंतालिस तक के अध्यायों में विशेष रूप से उल्लिखित है ।

माहेश्वर तन्त्रः ५१ पटलों एवं ३०६० श्लोकों में निबद्ध है जो इदं प्रथमतया चौ० सं० सी० से १६४० में प्रकाशित है । इसमें ६४ तन्त्रों का उल्लेख है और पच्चीस वैष्णव तन्त्रों के नाम भी आये हैं (२६. १६–२०) । इसमें ऐसा मत प्रकाशित है कि बौद्ध तन्त्र भ्रामक है और क्रूर कर्मों के लिए हैं (२६. २१–२२) । इस सम्बन्ध में एक कथा छब्बीसवें पटल में इस प्रकार कही गई है –

भगवान् शङ्कर पार्वती से कहते हैं कि – एक बार एकान्त स्थान में चिन्तन करते हुए, हे प्रिये ! मुझे मन में वितर्क हुआ कि मैं ही संसार का स्वामी हूँ या मुझसे अन्य भी कोई है ? हे देवि ! ऐसा सोचते हुए मैं समाधिस्थ हो गया और उस समाधिस्थ अवस्था में पाँच हजार युग बीत गए। हे देवेशि ! उस समाधि में मैंने ईश्वर के वचन सुने और उसे सुनकर मेरा हृदय निर्विकल्प हो गया । तभी से एकान्त में रहकर मैं इनकी लीला का ध्यान निर्विकल्प चित्त से किया करता हूँ । समाधिस्थ अवस्था में ईश्वर ने मुझे इस (माहेश्वर) तन्त्र को कहा था । अतः यह 'माहेश्वर तन्त्र' (अर्थात् माहेश्वर प्रोक्त तन्त्र) के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ । हे पार्वति ! मेरे द्वारा चौसठ तन्त्र कहे गए हैं, जिनमें मारण, मोहन एवं उच्चाटन तथा वशीकरण की प्रक्रिया वर्णित है । ये ६४ तन्त्र सद्यः विश्वास के योग्य तथा नाना मन्त्रों से युक्त हैं । इस प्रकार इन्द्रजाल आदि कलाओं से लोक को मोहित कर लेने वाली यह विद्या है । किन्तु, हे सुरेश्वरि उसमें कोई परमार्थ नहीं है माया में पड़े हुए जीवों के लिए उन तन्त्रों में मात्र मायावी–विद्या का ही वर्णन है ।

यह माहेश्वर तन्त्र, जिसे मैंने समाधि में सुना था, मेरा यही मत है कि **यह ब्रह्मज्ञान के प्रिय जिज्ञासुओं (के तत्त्व ज्ञान) के प्रबोध का साधनीभूत है** । इस माहेश्वर तन्त्र का ईश्वर के तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं है । 'पञ्चरात्र' नाम से विख्यात अन्य भी विष्णु प्रोक्त वैष्णव तन्त्र हैं, जो हे देवेशि ! संख्या में कुल पच्चीस हैं उनमें प्रथम हयशीर्षतन्त्र है, दूसरा समोहन तन्त्र' है ३. वैभव, ४. पौष्करतन्त्र, ५. प्रह्लाद, ६. गार्ग्य, ७. गालव, ८. नारदीय, ६. श्रीप्रश्न, १०. शाण्डिल्य, ११. ऐश्वरतन्त्र, १२. सत्योक्त, १३. शौनक, १४. वसिष्ठतन्त्र, १५. ज्ञानसागर, १६. स्वायम्भुव, १७. कापिल, १८. तार्क्ष्य, १६. नारायणीय, २०. आत्रेय, २१. नारसिंह, २२. आनन्द, २३. आरुण, २४. वैहायस, २५. विश्वोक्त ज्ञान (तन्त्र) है ।

इस प्रकार हे सुन्दरि ये पच्चीस वैष्णव–तन्त्र वेदमार्ग से अत्यन्त स्खलित मनुष्यों के लिए कहे गए हैं, क्योंकि– 'पाञ्चरात्र' आदि के मार्ग समय पर ही उपकारक

होते है । फिर हे देवेशि ! बहुत से बौद्धतन्त्र भी हैं वे सभी बुद्ध रूप में विष्णु–प्रोक्त ही हैं । किन्तु उसमें भी धर्म (= आचार) का लेश मात्र भी नहीं है । वह तो मात्र दुरात्माओं के संमोहन के लिए ही हैं । फिर इन मार्गों पर चलने वाले साधकों को अन्त में नरक ही प्राप्त होता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है । पार्वती ने कहा – सत्त्वमूर्ति, देवों के देव भगवान् विष्णु ने दयावान् होकर भी क्यों यह लोक के प्रतारण का कार्य किया ? फिर हे देव ! निर्दोष पुरुष में कभी भी असत्य नहीं देखा जाता है । मेरे सन्देह की निवृत्ति के लिए, हे सर्वज्ञ ! बस इतना बताइए कि हरि के द्वारा रचित इस मोहशास्त्र (= तन्त्र) का किसने प्रयोग किया है ?

भगवान् शंकर ने कहा – हे देवि ! सुनो । इस मोह कल्पना का कारण मैं कहता हूँ । एक बार भगवान् विष्णु और ब्रह्मा स्वाभिमान में अपने को बड़ा कहते हुए झगड़ पड़े । नित्य एक दूसरे से यह कहते हुए पूर्ण रूप से मानी हो विवाद करने लग गएं कि 'मैं ब्रह्मा हूँ, आप नहीं' । हे देवि ! वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर क्रोधाभिभूत होकर शाप देने लगे । ब्रह्मा ने कहा – क्योंकि आप हमारी अवज्ञा करके अपने को बहुत मानते हैं, इसलिए आप लोकों में निसन्देह रूप से पूजनीय नहीं होंगे । इस प्रकार के दारुण शाप को सुनकर मधुसूदन ने भी क्रुद्ध होकर शाप दिया कि आप भी लोकों में पूज्य न होंगे । होनी के कारण एक दूसरे को शाप देकर दोनों ही मोहग्रस्त हो गए । तब दोनों ही म्लान मुख होकर मेरे शरण में आए । तब हे देवि ! उन दोनों के शाप की मैंने व्यवस्था दी और ब्रह्मा से जो मैंने कहा, उसे मैं कहता हूँ, सुनो –

हे ब्रह्मन् ! विष्णु का वाक्य कभी भी अन्यथा नहीं होता । इसलिए आप लोकों में पञ्चायतन की पूजा में निश्चित ही अपूज्य होंगे और यद्यपि मात्र विष्णु की पूजा में यह शाप बाधक है । इसलिए आप, हे हरि, शाप के लिए एक अलग रूप का विग्रह धारण करिए । उसी एक में ब्रह्मा का शाप होगा । सभी सत्त्वमूर्ति में शाप नहीं होगा।

इस प्रकार मेरे कहने पर दोनों अपने अपने निवास पर चले गए । हे देवि ! इसी अन्तराल में देवों और असुरों में महान् संग्राम हुआ । उस संग्राम में देवों ने अन्य असुरों को जीत लिया । जय के उपाय को खोजते हुए उन असुरों ने महान् तप किया । उनके तप में विघ्न डालने के लिए विष्णु ने तब बौद्ध–विग्रह धारण किया । उसी बौद्ध रूप में बौद्ध तन्त्रों का निर्माण करके उन्होंने दैत्यों को दिखाया ।

उन्होंने वेदविपरीत उपदेश दैत्यों को देते हुए कहा कि शरीर से अन्य और कहीं भी आत्मा नहीं रहता । अतः मरण के बाद मुक्ति का प्रश्न ही क्या हैं ? न तो {स्वर्ग लोक में} देवता हैं, न {पितृलोक में} पितर ही हैं । यह सब तो वेद की झूठी कल्पना है । वेद तो यहाँ ब्राह्मण लोगों के द्वारा अपनी वृत्ति (= आजीविका) चलाने के लिए कल्पना–प्रसूत हैं । अतः बिना प्रमाण के इस {वेद} को असुरों को नहीं

धारण करना चाहिए । इस प्रकार के नैरात्म्यवाद {= आत्मा की सत्ता न मानने वाले} प्रधान तन्त्रों में दैत्यों की बुद्धि को विष्णु ने मोह में डाल दिया । इस प्रकार भगवान् बुद्ध की माया से आहृत बुद्धि वाले असुर मोहग्रस्त हो गए । तभी से हरि का वह बुद्ध रूप {वेद मार्ग के साधक के लिए} अपूज्य हो गया । हे परमेश्वरि ! इसीलिए बुद्ध के उपदेश {वैदिकों के लिए} अग्राह्य हैं और इसीलिए उक्त बौद्धतन्त्र नास्तिक हैं। अतः हे देवि ! धर्म या अधर्म का विचार करने वाले विद्वान् को चाहिए कि वह {ग्राह्य का ही ग्रहण करे} अग्राह्य तन्त्रों का ग्रहण न करे । **यह माहेश्वर तन्त्र सभी तन्त्रों में {तत्त्वज्ञान को बतलाने वाला} उत्तम तन्त्र ग्रन्थ हैं ।**

इस ग्रन्थ को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने का श्रेय **चौखम्बा संस्कृत सीरीज** एवं इससे सम्बद्ध संस्था **कृष्णदास अकादमी** के संचालकों को है, जो संस्कृत साहित्य की सेवा में सौ से भी अधिक वर्षों से संलग्न हैं । मैं उनका हृदय से आभारी हूँ । मैं अपने पूज्य गुरुवर्य प्रो० श्रीनारायण मिश्र के आशीर्वाद की नित्य कामना करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के पाठ सम्पादन में अत्यन्त सहयोग प्रदान किया । अन्त में भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि वे सभी का कल्याण करें ।

विक्रमसम्वत् २०५४
दीपावली, ३०. १०. १९९७
बी ३१/२१ ए, लंका, वाराणसी
(संस्कृत विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)

विद्वद्वशंवदः
डॉ० सुधाकर मालवीयः

***

विषय सूची

***

श्रीमाहेश्वरतन्त्रम्

नारदपञ्चरात्रान्तर्गतम्

माहेश्वरतन्त्रम्

'सरला' हिन्दीव्याख्योपेतम्

—— ० ——

अथ प्रथमं पटलम्

श्रीपार्वत्युवाच

देवदेव महादेव करुणार्णव शङ्कर।
हर शम्भो शिव मृड् पशुनाथ नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

* सरला *

उन्मेषनिमेषनाभ्यां जगदुदयान्तकारिणीम्।
परमात्मनः महाशक्तिं वन्दे कामप्रदां शिवाम् ॥
सुनू रामकुबेरस्य मालवीयः सुधाकरः।
कुरुते विनयोपेतः व्याख्यां तन्त्रविदां मुदे ॥

श्री पार्वती ने कहा—

हे देवों के देव, हे महादेव, हे करुणा के समुद्र भगवान् शङ्कर, हे हर, हे शम्भो; हे शिव, हे सबको सुख देने वाले और हे पशुनाथ अर्थात् प्राणिजात के स्वामिन् आपको नमस्कार है ॥ १ ॥

नमस्ते सर्वदेवानां दैवताय परात्मने।
पिनाकिने नमस्तुभ्यं गङ्गाधर नमोऽस्तु ते ॥ २ ॥

सभी देवों के देव तुम परमात्मा को नमस्कार है; पिनाक नामक धनुष को धारण करने वाले तुम्हें नमस्कार है; और हे गङ्गा जी को धारण करने वाले आपको नमस्कार है ॥ २ ॥

भूतिभूषितदेहाय भक्तानामभयङ्कर।
कर्पूरविशदाभाय त्रिनेत्राय नमोऽस्तुते ॥ ३ ॥

भूति अर्थात् भस्म से भूषित देह वाले, भक्तों को अभय प्रदान करने वाले, कर्पूर के समान उज्वल आभा वाले एवं तीन नेत्रों वाले तुम्हें नमस्कार है ॥ ३ ॥

नमश्चन्द्रकलाधारिन् नीलकण्ठ महेश्वर ।
महाभुजङ्गमाबद्धजटाजूट शिवप्रद ॥ ४ ॥
अकिञ्चनाय शुद्धाय ह्यणिमाद्यष्टसिद्धये ।
संसारवारिधितरणे प्लवभूतपदाम्बुज ॥ ५ ॥
योगीश्वराय योगाय योगिनां पतये नमः ।
योगिहृत्पद्ममार्तण्ड योगानन्दमयाय ते ॥ ६ ॥

हे चन्द्रमा की कला को धारण करने वाले, हे नीलीगर्दन वाले, हे महेश्वर, हे बड़े सर्पों से आबद्ध, हे जटाजूट धारी, हे कल्याण के प्रदाता तुम अकिञ्चन [निर्धन] के लिए, शुद्ध एवं अणिमा आदि अष्ट सिद्धि सम्पन्न, संसाररूपी समुद्र के पार लगाने के लिए चरण कमल रूप नौका वाले, योगियों के ईश्वर तुम योग युक्त के लिए एवं योगियों के पालक के लिए और योगियों के हृदय कमल को खिलाने के लिए सूर्यरूप तुम योगानन्द मय के लिए नमस्कार है ॥ ४–६ ॥

सृष्टयर्थं ब्रह्मरूपोऽसि पालनार्थं स्वयं हरिः ।
रुद्रोऽस्यन्ताय देवेश नमस्त्रितयरूपिणे ॥ ७ ॥

आप सृष्टि के लिए ब्रह्मा रूप हैं, और सृष्टि के पालन के लिए स्वयं आप ही हरि स्वरूप हैं, एवं आप ही सृष्टि के संहार के लिए रुद्र रूप हैं। हे देवों के ईश्वर ! [ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप से] तीन रूपों वाले आपको नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमो वेदान्तवेद्याय नित्यानन्दमयाय ते ।
निरञ्जनाय शुद्धाय सच्चिदानन्दचेतसे ॥ ८ ॥

वेदान्त के द्वारा जानने योग्य, नित्य आनन्द स्वरूप, निष्कलङ्क, शुद्ध, सत् चित् एवं आनन्दरूप चित्त वाले तुम्हें नमस्कार है ॥ ८ ॥

निर्मलाय निराशाय निरीशायाखिलात्मने ।
अणोरणीयसे तुभ्यं महतोऽपि महीयसे ॥ ९ ॥

निर्मल उदासीन [आशाशून्य], स्वामी विहीन, अखिलात्मक, अणु से भी सूक्ष्म, और महान् से भी महत्तर तुम्हें नमस्कार है ॥ ९ ॥

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ननित्यचिन्मात्रमूर्त्तये ।
नमस्ते सर्वलोकैकपालकायार्त्तिनाशिने ॥ १० ॥

[पूर्व, पश्चिम आदि] दिशा और [भूत, भविष्य आदि] काल के द्वारा अपरिमेय, नित्य, एवं ज्ञानमय स्वरूप वाले एवं समस्त लोक के एकमात्र पालक और दुःखों का नाश करने वाले आपको नमस्कार हैं ॥ १० ॥

ब्रह्मा त्वं हरिरुद्रोऽसि हव्यवाट् हुतमित्युत ।
मन्त्रर्त्विक् देवता चासि यज्ञस्त्वं तत्फलात्मकः ॥ ११ ॥

हे महेश्वर तुम ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हो । हविर्द्रव्य को ले जाने वाले अग्नि और हुत भी तुम्हीं हो । तुम मन्त्र, ऋत्विज् और [यज्ञीय] देवता हो । यज्ञ तुम हो और उस यज्ञ के फल भी तुम्हीं हो ॥ ११ ॥

दयां कुरु महादेव प्रसीद परमेश्वर ।
त्वयि प्रसन्ने लोकानां फलन्ते कामपादपाः ॥ १२ ॥

हे महादेव मेरे ऊपर दया करो, हे परमेश्वर मुझसे प्रसन्न हों । आपके प्रसन्न होने से ही समस्त लोकों की कामनाएँ फलीभूत हो जाती हैं ॥ १२ ॥

त्वयाहं दीननाथेन शरीरार्द्धे निरूपिता ।
कृतकृत्याऽस्मि तेनाहं किमन्यदवशेषितम् ॥ १३ ॥

आप दीनों के नाथ के द्वारा मैं आप की शरीरार्द्ध रूप से कही गई हूँ । उसी [अर्द्धाङ्गिनी ही बन जाने] से ही मैं कृत-कृत्य हूँ । मेरे लिए अब शेष ही क्या है ॥ १३ ॥

तस्मात्संप्रष्टुमिच्छामि रहस्यं किञ्चिदुत्तमम् ।
यद्यहं ते प्रियतमा ब्रूहि नाथ ! तदाखिलम् ॥ १४ ॥

इस लिए मैं कुछ उत्तम रहस्यों को पूँछना चाहती हूँ । हे नाथ यदि मैं आपकी प्रियतमा होऊँ तो आप उस रहस्य को अशेष रूप से मुझसे कहें ॥ १४ ॥

त्वया प्रोक्तानि तन्त्राणि चतुःषष्टिमितानि भोः ।
न तेषु तत्वविज्ञानं प्रकटीकृतमीश्वर ॥ १५ ॥

हे प्रभो ! आप के द्वारा प्रोक्त चौसठ तन्त्र हैं । हे ईश्वर ! उनमें आपने तत्व-ज्ञान को प्रकट नहीं किया है ॥ १५ ॥

तत्प्रकाशय देवेश प्रवक्तुं यदि मन्यसे ॥ १६ ॥

हे देवेश ! यदि आप मुझसे कहने योग्य समझते हैं तो आप उस [रहस्य] का प्रकाशन करें ॥ १६ ॥

शिव उवाच

नैतज्ज्ञानं वरारोहे वक्तुं योग्यं वरानने ।
राज्यं देयं शिरो देयं देयं सर्वस्वमप्युत ।
न देयं ब्रह्मविज्ञानं सत्यं सत्यं शुचिस्मिते ॥ १७ ॥

शिव ने कहा—

हे वरारोहे ! यह [तत्व] ज्ञान किसी को भी बताने योग्य नहीं हैं। हे सुन्दर मुख वाली ! राज्य दे दे; शिर अर्थात् बड़ी से बड़ी वस्तु भी दे दे अथवा सर्वस्व भी दे दे किन्तु शुद्ध एवं स्मित हास्य वाली प्रिये ! सत्य-सत्य ब्रह्म के विज्ञान को कभी नहीं देना चाहिए ॥ १७ ॥

ब्रह्महत्यासहस्राणि कृत्वा यत्पापमाप्नुयात् ।
तत्पापं लभते देवि परमार्थप्रकाशनात् ॥ १८ ॥

हजार ब्रह्महत्या करके जो पाप प्राप्त होता है, हे देवि ! वह पाप परमार्थ तत्व के प्रकाशन से प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

बालहत्यासहस्राणि स्त्रीहत्यायुतमेव च ।
गवां लक्षवधात्पापं तथा विश्वासघाततः ॥ १९ ॥
मित्रद्रोहाद्गुरुद्रोहात्साधुद्रोहाच्च यद्भवेत् ।
तत्पापं लभते देवि परमार्थप्रकाशनात् ॥ २० ॥

हजार बाल-हत्या करके और अयुत (हजार) स्त्री-हत्या करके, तथा लाख—गोवध से जो पाप होता है और जो पाप विश्वासघात से होता है, इसी प्रकार जो पाप मित्रद्रोह, गुरुद्रोह, और सज्जनों से द्रोह (विरुद्ध आचरण) करने से होता है वह पाप परमार्थ के प्रकाशन से प्राप्त होता है ॥ १९-२० ॥

तस्मात्तु गोपयेद्विद्वान् जननीजारगर्भवत् ।
भक्तासि त्वं प्रियतमा तस्मात्तेऽहं वदामि भोः ॥ २१ ॥

इसलिए माता के और व्यभिचारिणी स्त्री के गर्भ को छिपाने के ही समान विद्वान् को इसका भी गोपना करना चाहिए। हे प्रियतमा ! तुम मेरी भक्त हो अतः मैं तुमसे कहता हूँ ॥ २१ ॥

ज्ञानं तत्तु विजानीयात् येनात्मा भासते स्फुटः ।
अज्ञानेनावृतो नित्यं मोहरूपेण नित्यदा ॥ २२ ॥

तावत्संसारभावः स्याद्यावदज्ञानमुल्लसेत् ।
तावन्मोहो भ्रमस्तावत्तावदेव भयं भवेत् ॥ २३ ॥

वस्तुतः वही ज्ञान [विज्ञान] है जिससे आत्मा का साक्षात्कार हो जाय। वह स्फुट रूप से भासित होने लगे। वह आत्मा नित्य मोहरूप अज्ञान से आवृत होती है। वस्तुतः तभी तक संसार का भाव साधक में होता है जब तक उसकी आत्मा अज्ञान से आवृत रहती है और तभी तक मोह एवं भ्रम तथा तभी तक भय भी रहता है ॥ २२-२३ ॥

अहं ममेत्यसद्भावो विस्मृतिर्दुःखदर्शनम् ।
नानाधर्मानुरागश्च कर्मणां च फलैषणा ॥ २४ ॥

'यह मेरा है' 'यह मैं हूँ'—इस प्रकार अहंत्व बुद्धि का न होना या उसकी विस्मृति अत्यन्त कठिन है । नाना प्रकार के धर्मों और कार्यों में अनुराग तथा फल की इच्छा का त्याग अत्यन्त कठिन है ॥ २४ ॥

बन्धमोक्षविभागश्च जडदेहाद्यहंकृतिः ।
तावदीश्वरभावः स्यात्पाषाणप्रतिमादिषु ॥ २५ ॥

बन्धन और विमुक्त [आत्मा] का विभाग तथा जड़ देह में अंहत्व बुद्धि न होने पर ही पाषाण की प्रतिमा आदि में ईश्वर भाव की उत्पत्ति होती है ॥ २५ ॥

जलादौ तीर्थभावश्च यावदज्ञानमुल्लसेत् ।
उदिते तु परिज्ञाने नाऽयं लोको न कल्पना ॥ २६ ॥

जब तक अज्ञान होता है तभी तक जल आदि में तीर्थ की भावना होती है । किन्तु जभी तत्वज्ञान का उदय साधक में हो जाता है तभी न यह लोक होता है और न तो किसी प्रकार की कल्पना ही उसमें होती है ॥ २६ ॥

न त्वं नाहं न वै किञ्चिन्निवृत्ते मोहविभ्रमे ।
स्वयमेवात्मनात्मानमात्मन्यात्माभिपद्यते ॥ २७ ॥

मोह रूप विशिष्ट भ्रम के दूर हो जाने पर साधक के लिए न तुम हो न मैं हूँ । वह तो स्वयं ही अपने द्वारा अपने में ही समाहित हो जाता है ॥ २७ ॥

तदा सुखसमुद्रस्य स्वरूपनिरतो भवेत् ।
लयश्चात्यन्तिको देवि कदाचिद्वा भविष्यति ॥ २८ ॥

उस समय वह साधक सुख के साक्षात् समुद्र में रहता है । हे देवि ! उस सुख समुद्र का आत्यन्तिक लय शायद ही कभी होगा ॥ २८ ॥

तदेवात्माक्षरः साक्षादेक एवावशिष्यते ।
स शिवो विष्णुरेवेन्द्रः स एवामरदानवाः ॥ २९ ॥

वह आत्मा ही साक्षात् अक्षर ब्रह्म है । वही एक शेष रहती है । वही शिव, विष्णु और इन्द्र भी है । वही देव और दानव भी है ॥ २९ ॥

स एव यक्षरक्षांसि सिद्धचारणकिन्नराः ।
सनकाद्याश्च मुनयो ब्रह्मपुत्राश्च मानसाः ॥ ३० ॥

वही यक्ष और राक्षस, सिद्ध चारण या किन्नर (मनुष्य और देवों के बीच की योनि विशेष) भी है। वही [आत्मा] सनकादि ऋषि है और ब्रह्मा के [नारदादि] मानस पुत्र भी वही हैं ॥ ३० ॥

पशवः पक्षिणश्चैव पर्वतास्तृणवीरुधः ।
स एवेदं जगत्सर्वं स्थूलसूक्ष्ममयं च यत् ॥ ३१ ॥

पशु-पक्षी, पर्वत, तृणादिक लता, पल्लव आदि भी वह [आत्मारूप ब्रह्म] ही हैं। वही यह सम्पूर्ण दृश्यमान स्थूल या सूक्ष्म जगत् भी हैं ॥ ३१ ॥

अज्ञानाद्रजतं भाति शुक्तिकायां यथा प्रिये ।
ज्ञानात्तद्रजतं देवि तस्यामेव विलीयते ॥ ३२ ॥

तथाक्षरे परे ब्रह्मण्याभाति सकलं जगत् ।
मोहने केनचिद्देवि मोहनाशे तु शाङ्करि ॥ ३३ ॥

हे प्रिये ! जैसे अज्ञान के कारण सीपी में चाँदी का भान होता है और हे देवि ! उसी रजत का ज्ञान होने पर उसी में उसका विलय [भी] हो जाता है। उसी प्रकार अक्षर रूप परब्रह्म में सम्पूर्ण जगत् का भान होता है। अतः हे देवि ! मोह का कारण जगत् है और मोह रूप अज्ञान के विनष्ट होने पर हे शाङ्करि ! वह जगत् भी बिलीन हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

अवशिष्यते परं ब्रह्म साक्षादक्षरमव्ययम् ।
न त्वं नाहं तदा विष्णुर्लक्ष्मीर्ब्रह्मासरस्वती ॥ ३४ ॥

साक्षात् अक्षर रूप परब्रह्म अव्यय ही अवशिष्ट रहता है। न 'तुम' और न 'मैं' रहता हूँ। वस्तुतः उस [तत्व ज्ञान के] समय विष्णु और लक्ष्मी तथा ब्रह्मा एवं सरस्वती भी नहीं होती हैं ॥ ३४ ॥

नेश्वरो न शिवश्चापि यथापूर्वं भविष्यति ।
मृदुद्भवानि कार्याणि मृच्छेशाणि यथाप्रिये ॥ ३५ ॥

उस समय साधक के लिए न तो ईश्वर होते हैं और न ही शिव जैसे पहले हुए थे। वस्तुतः यह जगत् उसी प्रकार है जैसे हे प्रिये ! मिट्टी के [बने घट आदि] कार्यों का अन्ततः शेष मिट्टी ही होता है ॥ ३५ ॥

तथैवाखिललोकोऽयं ब्रह्मभूतो भविष्यति ।
यथा वायुवशाद्देवि समुद्रे तरलोर्मय ।
प्रादुर्भवन्ति देवेशि तस्मिन् शान्ते तु पूर्ववत् ॥ ३६ ॥

उस साधक का यह सम्पूर्ण संसार ब्रह्ममय होगा। जैसे वायु के कारण, हे

देवि, समुद्र में तरल ऊर्मियाँ (लहरें) प्रादुर्भूत होती हैं। हे देवेशि ! वही समुद्र शान्त होकर पूर्ववत् हो जाता है ॥ ३६ ॥

तथा विस्मारितज्ञानान्मोहाद्भ्रान्तं चराचरम् ।
चतुर्विंशतितत्त्वोत्थं सत्यमित्येव रूपितम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार ज्ञान के पुनः विस्मृत हो जाने से मोह के कारण समस्त चराचर जगत् [अंहकार आदि] चौबीस तत्त्वों से प्रादुर्भूत हो [जाता है जो] सत्य के समान ही लगता है ॥ ३७ ॥

तत्र जाता इमे लोकाश्चतुर्दश महेश्वरि ।
अधः सप्त तथा चोर्ध्वमेवं संख्याश्चतुर्दश ॥ ३८ ॥

हे महेश्वरि ! उसमें ये चौदह लोक प्रादुर्भूत होते हैं। जो सात नीचे और सात ऊपर के क्रम से संख्या में चौदह हैं ॥ ३८ ॥

अतलं वितलं चैवं सुतलं च तलातलम् ।
रसातलं च पातालं भूर्भुवः स्वस्तथोपरि ॥ ३९ ॥
महर्जनस्तप इति सत्यं वैकुण्ठ इत्यपि ।
शिवलोको देवलोकस्तथाऽवान्तर्गता अपि ॥ ४० ॥

नीचे १. अतल, २. वितल, ३. सुतल, ४. तलातल, ५. महातल, ६. रसातल, एवं ७. पाताल—ये सात लोक हैं और ऊपर १. भूः, २. भुवः, ३. स्वः, ४. महः, ५. जनः, ६. तपः, और ७. सत्य—ये सात लोक हैं, तथा [इससे अतिरिक्त] वैकुण्ठ भी है। उसी वैकुण्ठ लोक के अन्तर्गत शिवलोक और देवलोक भी हैं ॥ ३९-४० ॥

मोहशान्तौ भविष्यन्ति सर्वे ब्रह्ममया इमे ।
यावत्सर्पमयी भ्रान्ती रज्जौ तावद्भयं प्रिये ॥ ४१ ॥

मोह रूप अज्ञान के नष्ट हो जाने पर ये सभी ब्रह्ममय होंगे। हे प्रिये ! वस्तुतः [मृत्यु से] भय तभी तक रहता हैं जब तक कि रस्सी में सर्प की भ्रान्ति (=सन्देह) हो रहा हो ॥ ४१ ॥

रज्जुत्त्वेन तु विज्ञाता भयं नोद्वहते पुनः ।
अप्रपञ्चे प्रपञ्चोऽयं मोहादुन्मीलति स्फुटः ॥ ४२ ॥

रस्सी का ज्ञान होते ही पुनः यह भय नहीं होता। मोह के उन्मीलित होते ही यह ज्ञान स्पष्टतः होता है कि अप्रपञ्च में यह सम्पूर्ण सृष्टि का प्रपञ्च है ॥ ४२ ॥

तावद्भयप्रदोऽज्ञानं यावन्मोहं न विन्दते ।
द्विधा त्रिधा पञ्चधा च चतुर्विंशतिधा पुनः ॥ ४३ ॥

एकधा च पुनस्त्रेधा बहुधा च पुनः स्वयम् ।
विस्तीर्णः स तु मोहोऽयं आवृत्य परमेश्वरम् ॥ ४४ ॥

जब तक मोह नहीं हटता तभी तक अज्ञान भयप्रद होता है। दो, तीन और पाँच-पाँच करके अथवा चौबीस करके, पुनः एक और फिर तीन और बार-बार फिर वही यह मोह है जो स्वयमेव परमेश्वर को आवृत करके विस्तृत हो जाता है ॥ ४३-४४ ॥

कालमायांशयोगेन ब्रह्माण्डमसृजत्प्रभुः ।
कोटिब्रह्माण्डलक्षाणां स निर्माताक्षरो विभुः ॥ ४५ ॥

काल और माया के अंश के योग से प्रभु ने इस ब्रह्माण्ड की रचना की। वह विभु करोड़ो ब्रह्माण्डों का निर्माता अक्षर ब्रह्म [=आत्मा] है ॥ ४५ ॥

न तस्येच्छा न कर्त्तव्या निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
तथापि बालवत् क्रीडन् कोटिब्रह्माण्डसंहतीः ॥ ४६ ॥

उसे कोई इच्छा नहीं होती, उसके कोई कर्तव्य नहीं होते, वह निर्गुण और प्रकृति से परे है। फिर भी वह बालक के समान खेलता हुआ करोड़ों ब्रह्माण्ड की संहतियों [समूहों] को रचता रहता है और उन ब्रह्माण्डों का संहार किया करता है ॥ ४६ ॥

सृजते संहरत्येषः कटाक्षाक्षेपमात्रतः ।
चिन्मात्रः परमः शुद्धः कूटस्थः पुरुषः परः ॥ ४७ ॥

चिन्मात्र, परम, शुद्ध कूटस्थ यह परम पुरुष अपने कटाक्ष के आक्षेप मात्र से ही ब्रह्माण्डों का सृजन और संहार किया करता है ॥ ४७ ॥

विराट् तस्य वपुः स्थूलं पञ्चधा तु समुद्भवम् ।
पातालं पादमूलेऽस्य पार्ष्णिदेशे रसातलम् ॥ ४८ ॥

उसका शरीर विराट् और स्थूल है जो पाँच गुना करके समुद्भूत है। उस विराट् पुरुष के पैर के तलवे में पाताल है, एड़ियाँ और (पंजे) रसातल हैं ॥ ४८ ॥

गुल्फे महातलं तस्य जङ्घयोश्च तलातलम् ।
जङ्घयोपरि सुतलं वितलं कट्युत्तरं प्रिये ॥ ४९ ॥

कटिमध्येऽतलमस्ति मर्त्यलोकोदरे तथा ।
पार्श्वदेशेभुवर्लोकस्तदूर्ध्वं च स्वरादयः ॥ ५० ॥

गुल्फ (एड़ी की ऊपर की गाँठों में) महातल उसकी जांघों (पिंडली) में तलातल है। जङ्घाओं के ऊपर सुतल और हे प्रिये ! कटि के उत्तर में वितल है। कटि के मध्य में अतल और उदर में मर्त्यलोक है। पीठ में भुवर्लोक है और

और उसके ऊपर 'स्वः' आदि लोक हैं ॥[1] ४९–५० ॥

ज्योतींष्यस्योरःस्थले च ग्रीवायां च महस्तथा ॥ ५१ ॥

इसके वक्षस्थल में स्वर्गलोक एवं ग्रीवा में महर्लोक हैं ॥ ५१ ॥

वदने जनलोकोऽस्य तपोलोको ललाटके ।
सत्यलोको ब्रह्मरन्ध्रे बाह्वोरिन्द्रादयः सुराः ॥ ५२ ॥

मुख में जन लोक है और इनके ललाट में तपोलोक हैं ।[2] इन विराट् पुरुष के ब्रह्मरन्ध्र में [शिर में शिखा के पास जो 'ब्रह्मरन्ध्र' नामक महीन सा छिन्द्र होता है उसमें] सत्यलोक है । इन्द्र आदि देवता इनकी भुजाएँ हैं ॥ ५२ ॥

दिशः कर्णप्रदेशस्य शब्दस्तच्छ्रोत्रमध्यगः ।
नासयोरस्य नासत्यौ मुखे वह्निः समाश्रितः ॥ ५३ ॥

दिशाएँ कान हैं । 'शब्द श्रोत्रेन्द्रिय है । इनकी दोनों नासाओं में नासत्या-द्वय हैं और इनका मुख अग्नि है ॥ ५३ ॥

सूर्योऽस्य चक्षुषि गतः पक्ष्मणि ह्यहनीशितुः ।
दंष्ट्रायां यमस्तस्य हास्ये माया महेश्वरि ॥ ५४ ॥

इनकी आखें सूर्य हैं । रात और दिन इन प्रभु की दोनों पलकें हैं । दंष्ट्रा (दाँतों) में यमराज हैं । हे महेश्वरि ! उनकी मधुर मुस्कान ही माया है ॥ ५४ ॥

उत्तरोष्ठे स्थिता लज्जा लोभः स्यादधरोष्ठके ।
स्तनयोरस्य वै धर्मः पृष्ठेऽधर्मः समाश्रितः ॥ ५५ ॥

लज्जा ऊपर के ओष्ठ और नीचे के ओष्ठ लोभ हैं । इनके दोनों स्तनों में धर्म और पृष्ठ भाग में अधर्म आश्रय करके रहता है ॥ ५५ ॥

कुक्षिष्वस्य समुद्रा वै पर्वता ह्यस्थिसन्धिषु ।
आपगा नाडिदेशस्था वृक्षा रोमपथि स्थिताः ॥ ५६ ॥

इनकी कुक्षि समुद्र है इनके अस्थि की सन्धियाँ अर्थात् जोड़ पर्वत हैं । नाड़ी प्रदेश नदियाँ हैं । रोमों के पथ वृक्ष हैं ॥ ५६ ॥

मेघाः केशेषु हृदये चन्द्रमाः परिकीर्तितः ।
इदं स्थूलशरीरं तु ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ५७ ॥

केशों में मेघ हैं और हृदय में चन्द्रमा कहे गये हैं ।[3] इस प्रकार विराट् पुरुष,

---

१. तुलनीय—भाग० २.५.४०–४२ ।

२. तु० भाग० २.५.३८-३९ ।

३. तु० भाग० २.१.२५-३९ ।

परब्रह्म परमात्मा का यह विशालकाय शरीर है ।। ५७ ।।

इयत्तयाऽपरिच्छेद्यमन्तपारविवर्जितम् ।
लिङ्गं नारायणस्तस्य ह्यक्षरस्य चिदात्मनः ।। ५८ ।।

उस चिदात्मा अक्षररूप ब्रह्म का यह शरीर आदि और अन्त से रहित है एवं वही लिङ्ग है और वही नारायण है ।। ५८ ।।

हिरण्यगर्भं जगदीशितारं नारायणं यं प्रवदन्ति सन्तः ।
सर्वस्य धातारमनन्तमाद्यं प्रधानपुंसोरपि हेतुमीशम् ।। ५९ ।।

उसी विराट् पुरुष को सन्त लोग हिरण्यगर्भ, जगत् के ईश और नारायण के रूप में कहा करते हैं। वह सभी की सृष्टि करने वाले हैं, वह अनन्त हैं, प्रधान पुरुष से भी आद्य हैं। वह ईश के भी कारण हैं ।। ५९ ।।

तं सर्वकालावयवं पुराणं परात्परं योगिभिरीडचपादम् ।
ब्रह्मेशविष्णुप्रमुखैकहेतुं यतः प्रवृत्तो निगमस्य पन्थाः ।। ६० ।।

उन सभी कालों के अवयव, पुराण पुरुष एवं परात्पर ब्रह्म के पैर योगियों द्वारा स्तुत हैं। वही विराट् पुरुष ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश आदि प्रमुख देवों के भी कारण हैं तथा इन्हीं से वेद भी निकले हैं ।। ६० ।।

तं देवदेवं जगतां शरण्यं नारायणं यस्य वदन्ति लिङ्गम् ।
यावन्न लिङ्गं प्रलयं प्रयाति स्थूलं वपुश्चापि न शान्तिमेति ।। ६१ ।।

उन देवों के भी देव, जगत् को शरण प्रदान करने वाले, नारायण रूप जिस लिङ्ग (शरीर) की विद्वज्जन स्तुति किया करते हैं। जब तक उस विराट पुरुष का लिङ्ग शरीर प्रलय को प्राप्त नहीं होता तब तक उनका स्थूल शरीर भी शान्ति को नहीं प्राप्त करता है। ६१ ।।

ततः परं कारणमेव तस्य वपुः परस्यात्मन एव मोहः ।
यावद्विमोहः प्रशमं न याति न लिङ्गमुत्सीदति कार्यबद्धम् ।। ६२ ।।

जब तक उसका कारण रूप शरीर विद्यमान होता है तब तक मोह रहता है और जब तक मोह का नाश नहीं होता तब तक कार्य से आबद्ध लिङ्ग शरीर का मोक्ष भी नहीं होता है ।। ६२ ।।

न कारणं तावदुपैति शान्तिं चराचरस्यापि च बीजभूतम् ।
यावन्महाकारणमम्बिके तत् न शान्तिमायाति च बीजबीजम् ।। ६३ ।।

चराचर जगत् का बीजभूत [विराट् पुरुष रूप] कारण भी तब तक शान्ति का नहीं प्राप्त करता है, हे अम्बिके ! जब तक बीज का भी बीजभूत महाकारण शान्ति को नहीं प्राप्त करता है ।। ६३ ।।

गुह्याद् गुह्यतरं शास्त्रमिदमुक्तं तवानघे ।
न कस्याप्यग्रतो वाच्यं सत्यं सत्यं प्रियंवदे ।। ६४ ।।

हे अनघे (निष्पाप) ! इस प्रकार गुह्य से भी गुह्यतर इस रहस्य युक्त शास्त्र को मैंने तुमसे कहा । हे प्रियवादिनि ! इसे सच-सच (यथावत्) किसी के समक्ष नहीं कहना चाहिए ।। ६४ ।।

न पद्मायै हरिः प्राह प्रार्थितोऽपि पुनः पुनः ।
तन्मयात्र तव स्नेहात्प्रकटीकृतमुच्चकैः ।। ६५ ।।

बारम्बार प्रार्थना करने पर भी भगवान् विष्णु ने इस रहस्य को लक्ष्मी से नहीं कहा । उस रहस्य को मैंने तुम्हें स्नेह से प्रकट कर दिया ।। ६५ ।।

न गुह्यायापि पुत्राय गणराजाय नन्दिने ।
सुगोपितमिदं भद्रे तव स्नेहादुदीरितम् ।। ६६ ।।

गणराज, रहस्य का गोपन करने वाले, पुत्र नन्दी से भी इसे मैंने छिपा रक्खा था जिसे, हे भद्रे ! तुम्हारे स्नेह के कारण, मैंने तुमसे कहा है ।। ६६ ।।

तस्माद्गोप्यतरं भद्रे वराङ्गमिव सर्वतः ।
इतीदं ते समाख्यातं किमन्यत्प्रष्टुमिच्छसि ।। ६७ ।।

।। इति श्रीनारदपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे शिव-
पार्वतीसंवादे प्रथमं पटलम् ।। १ ।।

——०——

इसलिए यह उसी तरह चारों ओर से गोपनीय है जैसे वराङ्गों [= गोपनीय अङ्गों] का चारों ओर से गोपन किया जाता है । इस प्रकार तुमसे यह सब विषय अच्छी प्रकार से मैंने कह दिया है । अब और तुम क्या पूँछना चाहती हो ?।। ६७ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारद-पञ्चरात्रागम-गत 'माहेश्वर-तन्त्र' के ज्ञानखण्ड में
भगवान् शङ्कर एवं माँ जगदम्बा पार्वती के मध्य वार्तालाप
की प्रथम पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत
हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १ ।।

——०——

अथ द्वितीयं पटलम्

श्रीपार्वत्युवाच

भगवन् देव देवेश लोकनाथ जगत्प्रभो।
धन्यास्म्यनुगृहीतास्मि सकलं जीवितं मम ॥ १ ॥

श्री पार्वती ने कहा—

हे भगवन्, हे देवों के देव, हे ईश्वर, हे लोकनाथ, हे जगत् के स्वामिन्, मैं धन्य हूँ, मैं अनुगृहीत हूँ, मेरा जीवन सफल हुआ ॥ १ ॥

वाक्यपीयूषवर्षेण शीतलीकृतमानसा।
न जानामि परं श्रेयस्तत्वज्ञानकथादृते ॥ २ ॥

आप के वाक्य रूपी अमृत की वर्षा से मेरा मानस शीतल हो गया। मैं कथा को छोड़कर कल्याणकारक तत्वज्ञान को नहीं जानती ॥ २ ॥

किमायुषा च दीर्घेण पाषाणस्येव दुर्मतेः।
क्षणं वै यस्य नो लग्नं चेतो वा तत्त्वचिन्तने ॥ ३ ॥

उस दीर्घ जीवन से क्या लाभ जिसका पाषाण की तरह दुर्मति युक्त चित्त क्षणमात्र भी तत्व चिन्तन में न लगा? ॥ ३ ॥

यज्ञदानतपस्तीर्थव्रतानि नियमा यमाः।
न तुलामभिगच्छन्ति स्वात्मतत्वैकचिन्तया ॥ ४ ॥

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, नियम और यम आदि मात्र आत्म तत्त्व के चिन्तन के साथ नहीं तौले जा सकते ॥ ४ ॥

आत्मतत्वैकशुद्धयर्था (थं) यज्ञादीनामनुष्ठितिः।
शुद्धे मनसि तत्वस्य स्फुरणं भवति प्रिय ॥ ५ ॥

आत्म तत्त्व के शुद्धि के लिए ही यज्ञ आदि का अनुष्ठान है। हे प्रिय! शुद्ध मन में ही तत्व का स्फुरण होता है ॥ ५ ॥

तदेव यदि वा लब्धमनायासेन कुत्रचित्।
दैवाद्वा गुरुतोषाद्वा साधनैर्वापि शङ्कर ॥ ६ ॥
किन्नु तस्यावशिष्टं वा साधनं स्वात्मदं परम्।
तस्मान्महत्तरमिदं सर्वतस्तत्वचिन्तनम् ॥ ७ ॥

यदि वह [स्फुरण] अनायास कहीं प्राप्त हो जाय, अथवा देव कृपा से या गुरु की संन्तुष्टि से किंवा साधनों से भी प्राप्त हो जाय तो हे कल्याण करने वाले, उसके लिए अवशिष्ट ही क्या रहा अथवा उसे स्वात्मद श्रेष्ठ साधन से क्या लाभ ? अतः सभी प्रकार से यह तत्व–चिन्तन ही सबसे बड़ा है ।। ६-७ ।।

श्रुतं मया महेशान पुनर्ब्रूहि यथातथम् ।
प्रष्टव्यं बहुधा भाति तथाप्येकं वदेश्वर ।। ८ ।।

हे महेश, यद्यपि मैने इसे सुना है फिर भी जैसा हो वैसा ही मुझसे पुनः कहें । यह बहुत प्रकार से प्रष्टव्य है किन्तु एक को ही हे ईश्वर मुझसे कहें ।। ८ ।।

क्रमयोगेन तच्चापि पुनः पृच्छे कृपानिधे ।
पद्मायै हरिणा नोक्तं यद्रहस्यं महाद्भुतम् ।
तदत्र संशयो जातो तद्भवान् छेत्तुमर्हति ।। ९ ।।

हे कृपानिधि ! पुनः क्रम से मैं वह पूँछती हूँ कि लक्ष्मी से भी भगवान् विष्णु ने जिस महान् एवं अद्भुत रहस्य को न कहा हो । उसमें मुझे संशय उत्पन्न हुआ है । उसके भेदन में आप समर्थ हैं ।। ९ ।।

या लक्ष्मीः परमा शक्तिः नित्यं तत्सहचारिणी ।
तत्प्राणवल्लभा साध्वी किं तया पृष्ठमुत्तमम् ।। १० ।।

जो लक्ष्मी परम शक्ति हैं और भगवान् की सहचारिणी हैं, उनकी प्राणवल्लभा एवं साध्वी हैं उनके द्वारा उत्तम ज्ञान क्या पूछा गया था ? ।। १० ।।

किं रहस्यं किमध्यात्म्यं यन्नोक्तं हरिणा स्वयम् ।
तदत्र ब्रूहि भगवन् प्रवक्तुं यदि मन्यसे ।। ११ ।।

वह कौन सा सहस्य है, या कौन सा अध्यात्म है जो स्वयं भगवान् विष्णु ने उनसे नहीं कहा । उसे हे भगवन्, यहाँ हमें बतावें यदि मुझे बताने के योग्य आप समझते हों तो ।। ११ ।।

न मे त्वत्तः परं किञ्चित् प्राणादप्यधिको भवान् ।
तथाप्यहं तवैवास्मि यन्मेऽर्द्धं वपुराहितम् ।। १२ ।।

आपसे बढ़कर मेरे लिए कोई श्रेष्ठ नहीं है और आप तो मुझे प्राण से भी अधिक प्रिय है इसलिए मैं आपकी ही हूँ क्योंकि [अर्धनारीश्वर मूर्ति में] मेरा अपना अर्ध भाग है ।। १२ ।।

न त्वया तद्रहः कार्यं तेन गुप्तमिति प्रभो ।
इत्युक्त्वा शिवपादाब्जप्रणताभूत्पुनः पुनः ।। १३ ।।

हे प्रभो ! तुम्हें हमसे छिपाकर कोई कार्य नहीं करना चाहिए। यह कहकर भगवान् शिव के चरण कमलों में वह बार-बार प्रणत हुई ॥ १३ ॥

शिव उवाच

अहो धन्यासि धन्यासि धन्यासि भुवनत्रये।
न त्वया सदृशीं पश्येत्प्रेयसीं प्राणवल्लभाम् ॥ १४ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

अहो धन्य हो, धन्य हो, तीनों लोकों में तुम धन्य हो। तुम्हारे समान प्राणों से प्रिय प्रेयसी को हमने नहीं देखा ॥ १४ ॥

त्वद्वागमृततृप्तोऽहं प्रजल्पामि श्रृणुष्व तत्।
एकदा खलु वैकुण्ठे विष्णुरेकान्तसंस्थितः ॥ १५ ॥

सन्नियम्येन्द्रियगणं मनसा बुद्धिसारथिः।
किञ्चिद्दध्यौ महातेजाः प्रमोदभरनिर्वृतः ॥ १६ ॥

तुम्हारी वाणी रूपी अमृत से मैं तृप्त हूँ। अब मैं जो कहता हूँ उसे सुनो— एक बार वैकुण्ठ में भगवान् विष्णु अकेले बैठे थे। बुद्धि रूपी सारथी से मन और इन्द्रियों का नियमन कर प्रमोद पूरित हो उन महान् तेज वाले ने कुछ ध्यान किया ॥ १६ ॥

गलद्बाष्पाम्बुपूर्णाक्षः पुलकाङ्कितविग्रहः।
स्तिमितोद इवाम्भोधिः स्मृत्वा लीलारसाम्बुधिम् ॥ १७ ॥

प्राणेन्द्रियमनश्चेष्टा निमग्ना ध्यानवर्त्मनि।
अन्तःप्रमोदभरितो बहिः सम्वेदनाक्षमः ॥ १८ ॥

अश्रु पूरित चक्षु से उनके आँसू नीचे गिरने लगे। उनका शरीर पुलकित हो गया। आनन्द समुद्र के समान लीला रस रूप समुद्र को स्मरण करके प्राणेन्द्रिय और मन की चेष्टा को ध्यान मार्ग में निमग्न करके अन्तः करण में प्रमोद से पूरित होकर बाहरी संवेदन से रहित हो गए ॥ १७-१८ ॥

केवलेन शरीरेण स्थित इत्यद्भुतं च यत्।
क्रीडन्ती सखिभिः सार्द्धं तत्राभूद्भार्गवी हि सा ॥ १९ ॥

यह अद्भुत था कि मात्र शरीर से ही वे स्थित थे। सखियों के साथ क्रीडा करती हुई लक्ष्मी जी वहीं थीं ॥ १९ ॥

ध्यानवर्त्मनि संलीनप्राणेन्द्रियमनोमतिम्।
प्रध्वस्तबाह्यविज्ञानं दृष्ट्वा विस्मितमानसा ॥ २० ॥

प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी को ध्यानमार्ग में सम्यक् रूप से तल्लीन और बाह्य विज्ञान को प्रकृष्ट रूप से ध्वस्त देखकर वह अत्यन्त आश्चर्य चकित हुई ॥ २० ॥

कोऽसौ त्रिलोकगुरुणा ध्यायते स्थिरचेतसा ।
न चास्मादपरं लोके ध्येयं पश्यामि किञ्चन ॥ २१ ॥

त्रैलोक्य के स्वामी भी स्थिर चित्त हो कर किसका ध्यान कर रहे हैं । मेरे विचार से इससे बढ़कर इस लोक में कोई अन्य ध्यान करने योग्य नहीं है ॥ २१ ॥

ब्रह्मणो वापि रुद्रस्य कारणं दैवतं च यः ।
यस्यावतारचरितं गायन्ते नारदादयः ॥ २२ ॥

ब्रह्मा और भगवान् रुद्र के भी जो [विष्णु] देव कारण हैं और जिसके चौबीसों अवतार के चरितों का गान नारद आदि महर्षियों के द्वारा किया जाता है ॥ २२ ॥

यत्पदं प्राप्तुमिच्छन्तो वानप्रस्थं यतिव्रतम् ।
चरन्ति ब्राह्मणाः शुद्धा धृतविद्यातपोवृताः ॥ २३ ॥

वानप्रस्थ आश्रम के व्रती सन्यासी भी जिसके धाम की प्राप्ति की इच्छा करते हैं । पवित्रात्मा, धर्म युक्त, विद्या एवं तप से आवृत ब्राह्मण जन भी जिनका [यज्ञ–यागादिक द्वारा] यजन करते हैं ॥ २३ ॥

न यत्समोऽन्यो लोकेऽस्मिन् ह्यधिकस्तु कुतो भवेत् ।
यदुन्मेषाज्जगज्जातं यन्निमेषात्प्रलीयते ॥ २४ ॥

जिनके समान इस लोक में कोई भी नहीं है तो उनसे अधिक कैसे होगा ? फिर जिसके पलक के आक्षेप मात्र से ही जगत् की उत्पत्ति होती है और पलक निक्षेप मात्र से ही प्रलय हो जाता है ॥ २४ ॥

यस्मिन् चित्तं समाधाय योगिनो ज्ञाननिर्मलम् ।
अविद्यां हृदयग्रन्थिमुन्मुञ्चन्ति गतक्लमाः ॥ २५ ॥

जिन विष्णु में चित्त समाहित करके ज्ञान के प्रकाश से निर्मल योगीजन भी अज्ञान रूप हृदय की ग्रन्थि को बिना श्रम के ही खोलते हैं ॥ २५ ॥

यस्य चेतस्ययं देवो वर्त्ततेऽसौ कृतार्थकः ।
सोऽयं हरिः परानन्दः कस्मिश्चित्तं दधात्यहो ॥ २६ ॥

जिसके चित्त में ये देव होते हैं वह कृतार्थ हो जाता है । आनन्द की पराकाष्ठा वाले वही भगवान् विष्णु अपने चित्त में, अहो ! किसका ध्यान कर रहे हैं ? ॥२६॥

इत्येवं सन्दिहाना सा सखीनां पुरतः स्थिता ।
सस्मितं जगदे सख्या कयाचित्परया मुदा ।। २७ ।।

इस प्रकार सन्देह में पड़ी हुई सखियों के सामने स्थिर लक्ष्मी से किसी सखी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर हँसते हुए कहा ।। २७ ।।

सख्युवाच

अयं त्रिलोकेशगुरुः कमन्यं ध्यातुमर्हति ।
देवासुरनरा नागा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।। २८ ।।
सिद्धा योगेश्वरा रुद्रा आदित्या वसवस्तथा ।
मरुद्गणाः सोमपाश्च पितरश्चापि चारणाः ।। २९ ।।
यं पूजयन्ति सततं भक्तिप्रवणचेतसः ।
न तस्मात् त्रिषु लोकेषु ह्यस्य पूज्यतमो भवेत् ।। ३० ।।

सखी ने कहा—

ये त्रैलोक्य के भी स्वामी और किस दूसरे का ध्यान करेगें क्योंकि देव, असुर, मानवमात्र, नाग, गन्धर्व, अप्सराओं के समूह सिद्ध, योगेश्वर, रुद्र, आदित्यगण [अष्ट] वसु, मरुद्गण और (इन्द्र, ऋभु आदि) सोमपायी देव तथा पितर और चारण भी जिसका सतत भक्तिभाव से पूजन करते हैं । अतः तीनों लोकों में श्रेष्ठ इनका पूजनीय कोई नहीं हो सकता ।। २८–३० ।।

त्वामेकां ध्यायते चित्ते प्रेयसीं प्राणवल्लभाम् ।
प्रतिव्रतां पतिप्राणां प्राणनाथो रहो गतः ।। ३१ ।।

अपनी प्रेयसी एवं प्राणवल्लभा तुम्हारा ही ध्यान कर रहे हैं । प्राणनाथ भगवान् हरि एकान्त स्थान में तुम पतिव्रता एवं पति को ही प्राण समझने वाली का ही वह ध्यान कर रहे हैं ।। ३१ ।।

धन्यासि कृतकृत्यासि यत्त्वया हरिरीश्वरः ।
शुद्धभावेन सततं सेवया च प्रसादितः ।। ३२ ।।

तुम धन्य हो, कृतकृत्य हो जो कि सर्व समर्थ हरि भी तुम्हारी शुद्ध भाव से की गई सतत सेवा से प्रसन्न हैं ।। ३२ ।।

क्षणं तद्विरहं सोढुमशक्तो मिलितेक्षणः ।
रहः स्थितः स्वहृदये त्वन्मूर्तिं ध्यायते हरिः ।। ३३ ।।

क्षणभर भी तुम्हारा विरह सहने में असमर्थ होकर निमीलित नेत्रों से एकान्त स्थान में वह त्रैलोक्य नाथ हरि अपने हृदय में तुम्हारे विग्रह का ध्यान कर रहे हैं ।। ३३ ।।

तस्माद्धन्याः स्त्रियो लोके याः पतिप्रेमभाजनम् ।
इति हासच्छलेनोक्ता मेने वितथमेव सा ॥ ३४ ॥

इसलिए लोक में वे स्त्रियाँ धन्य हैं, जो अपने पति के प्रेम का भाजन हो जायँ । इस प्रकार 'हँसी के व्याज से उस सखी ने कहा है' ऐसा उन लक्ष्मी ने सोंच कर उसे असत्य ही माना ॥ ३४ ॥

रमोवाच—

अहो सखि यदीत्थं त्वं निरर्थकमिदं वचः ।
न मां स्मरति देवेशो ध्यानमार्गे कदाचन ॥ ३५ ॥

रमा ने कहा—

अहो सखि ! तुम्हारा इस प्रकार का जो यह कथन है वह निरर्थक है । देवताओं के ईश, कभी भी ध्यान मार्ग में मेरा स्मरण नहीं करते ॥ ३५ ॥

मयि विरक्तः सततमकिञ्चनजनप्रियः ।
कथं मां ध्यायते चित्ते विरहं सोढुमक्षमः ॥ ३६ ॥

वह सदैव मुझसे विरक्त रहकर अकिंचन [=दरिद्र] जन को ही चाहते हैं । फिर विरह में असमर्थं हो चित्त में मेरा ध्यान क्यों वे करने लगे ? ॥ ३६ ॥

अकुण्ठितमहाबाधा प्रसादादस्य सन्ततम् ।
जानामि सकले लोके भजतो मां दृढव्रतान् ॥ ३७ ॥

इनकी प्रसन्नता से सदैव महान् बाधा हट जाती है और मैं जानती हूँ कि समस्त संसार में मुझे दृढ़व्रतीजन भजते रहते हैं ॥ ३७ ॥

ये चापि त्रिषु लोकेषु यत्र कुत्रापि संस्थिताः ।
भजन्ते तानहं भक्तान् हृदि पश्यामि सन्ततम् ॥ ३८ ॥

तीनों लोकों में जो जहाँ कहीं भी रहें उन भक्त जनों का ही वे हृदय में भजन करते रहते हैं ऐसा मैं सदैव देखती हूँ ॥ ३८ ॥

तदा कथं तु हरिणा चित्ते ध्यातापि तं सखि ।
न वेद्मि सर्वभावज्ञा सर्वलोकान्तरस्थिता ॥ ३९ ॥

अतः चित्त में उनका ध्यान करने पर भी, हे सखि ! श्रीहरि मेरा ध्यान कैसे करेंगे । सभी भावों के ज्ञाता और सभी लोकों में स्थित लोगों को मैं नहीं जानती हूँ ॥ ३९ ॥

तस्मान्न मां न च विधिं न रुद्रमपि शङ्करम् ।
नान्यं वा प्राणसदृशं भक्तं वा ध्यायतीश्वरः ॥ ४० ॥

इसलिए वे न तो मुझे और न तो ब्रह्मा और न रुद्र या शङ्कर का ही ध्यान

कर रहे हैं। वह ईश्वर तो और को नहीं अपितु प्राण के तुल्य भक्तों का ही ध्यान कर हैं ॥ ४० ॥

को वेदास्य परं चित्ते निहितः कश्चिदीश्वरः ।
तस्मात्प्रबुध्यमानेऽस्मिन् सर्वं पृच्छाम्यसंशयम् ॥ ४१ ॥

फिर इनके चित्त में कौन ईश्वर निहित है इसे कौन जान सकता है? इसलिए इनके जगने पर इस विषय में सब कुछ निःसन्देह रूप से पूँछ लूगी ॥ ४१ ॥

इत्युक्त्वा सखिवर्गेण कुतूहलसमन्विता ।
पुरः तस्थौ परेशस्य प्रबद्धकरसम्पुटा ॥ ४२ ॥

इस प्रकार कहकर सखियों के साथ कुतूहल युक्त मन से वह परमेश्वर भगवान् विष्णु के सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गईं ॥ ४२ ॥

तावदेव हरिः साक्षान्मुक्तध्यानो ददर्श, ताम् ।
बद्धहस्ताञ्जलिपुटां सखीमण्डलमध्यगाम् ॥ ४३ ॥

तभी श्रीहरि ने ध्यान से निवृत्त होकर हाथ जोड़े हुए सखियों के मण्डल के मध्य उन्हें साक्षात् रूप से सामने देखा ॥ ४३ ॥

विरोचयन्तीं प्रभया दिव्यालङ्कारभूषिताम् ।
मणिकुण्डलनिर्भान्तिकपोलविमलप्रभाम् ॥ ४४ ॥

वे सभी दिव्य आलङ्कारिक आभूषणों से विभूषित हो अपने प्रभा से दीप्तिमान थीं। मणिजटित कुण्डल कर्णों में पहनने से विमल कपोल की प्रभा को धारण कर रही थीं ॥ ४४ ॥

सुनासां सुदतीं सुभ्रूं चिबुकोद्देशशोभिताम् ।
कम्बुकण्ठीं हृदि भ्राजन्मणिहारमनोहराम् ॥ ४५ ॥

उनकी नाक सुघड़ और सुन्दर दन्तपंक्ति थी। उनकी भौहें सुन्दर और चिबुक (ठोढ़ी) बड़ी ही सुन्दर होने से सुशोभित थी। उनके कण्ठ कम्बु (सुराही) के आकार के गोल थे। उनके वक्षस्थल पर मणियों की मनोहर माला शोभा पा रही थी ॥ ४५ ॥

काञ्चीकलापरुचिरां वलयाङ्गदनूपुराम् ।
त्रिलोकीदेवतां साक्षाद्विनयावनतेक्षणाम् ॥ ४६ ॥
दृष्ट्वा प्रबोधमापन्नं हरिं कमललोचनम् ।
शीर्ष्णा स्पृशन्ती चरणं प्रोवाच विनयान्विता ॥ ४७ ॥

कमर में बंधी छोटे-छोटे घुंघुरुओं से युक्त करधनी शोभा पा रही थी। उनकी

बाहों में कंकण एवं बाजूबन्द बँधे थे और पैरों में नूपुर बज रहे थे। साक्षात् रूप से विनयावनत चितवन वाली त्रिलोक की देवता लक्ष्मी ने उन कमल लोचन श्री हरि को ध्यान से निवृत्त देखकर अत्यन्त विनय से शिर से चरणस्पर्श करके कहा ।। ४६-४७ ।।

रमोवाच—

अहो देवेश भगवन् भक्तवत्सल भूधर।
कृपां कुरु जगन्नाथ सन्देहं विनिवारय ।। ४८ ।।

रमा ने कहा—

हे देवेश, भगवन् भक्तवत्सल, हे पृथ्वी के पालक, हे जगन्नाथ मेरे ऊपर कृपा करिए और मेरा सन्देह निवारण करिए ।। ४८ ।।

त्वमेकः सर्वलोकानां स्रष्टा हर्त्ता च पालकः।
दैवतं सर्वदेवानां न त्वया न समोऽधिकः ।। ४९ ।।

वस्तुतः तुम्हीं सभी लोकों के सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता हो एवं पालक भी तुम्हीं हो। तुम देवों के भी देव हो। तुम्हारे समान या तुमसे अधिक कोई और नहीं है ।। ४९ ।।

किं ध्यायसि रहः स्थित्वा विलीनकरणाशयः।
तद्ध्यानानन्दसन्दोहपुलकाङ्कतनुर्भृशम् ।। ५० ।।

फिर आप एकान्त में स्थित होकर इन्द्रिय और उसके विषयों को विलीन करके किसका ध्यान करते हैं? वह कौन है जिनके ध्यान में आप आनन्दातिरेक से अत्यन्त रोमाञ्चित गात हो जाते हैं ।। ५० ।।

अस्मिन् खिद्यति मच्चित्तं त्वत्तोऽप्यपरशङ्कया।
तं ब्रूहि करुणासिन्धो यथाहं प्रकृतिं व्रजे ।। ५१ ।।

अन्यान्य शङ्काओं से मेरा चित्त इस विषय में विषादग्रस्त हो रहा है। अतः हे करुणा के समुद्र! आप उसे कहिए जिससे हम प्रकृतिस्थ हो जायँ ।। ५१ ।।

इत्युक्तो रमया देव्या हरिरात्मा शरीरिणाम्।
गिरा मधुरया वाचा रमणी रमयन्निव ।। ५२ ।।

इस प्रकार रमादेवी के कहने पर शरीरियों के आत्मा श्रीहरि ने मधुर वाणी में मानो रमणी का रमण करते हुए से बोले ।। ५२ ।।

श्रीभगवानुवाच—

अहो कल्याणि वचनं वदामि शृणु साम्प्रतम्।
अहं लोकगुरुः साक्षान्न मे ध्येयोऽस्ति कश्चन।
अहमात्माखिलाधारो ब्रह्मरुद्रेन्द्रवन्दितः ।। ५३ ।।

श्री भगवान् विष्णु ने कहा—

हे कल्याणि ! अब मैं कहता हूँ। तुम सुनो। मैं साक्षात् रूप से इस लोक का गुरु हूँ। मेरे लिए कोई भी ध्यान के योग्य नहीं है। ब्रह्मा, रुद्र एवं इन्द्र से वन्दित मैं ही अखिल विश्व का आधार एवं आत्मा हूँ ॥ ५३ ॥

विश्वस्मिन्विततं पश्य मामेव सचराचरे ।
विश्वं मयि ततं पश्य किमन्यज्ज्ञातुमिच्छसि ॥ ५४ ॥

मुझ में ही सम्पूर्ण चराचर जगत् फैला हुआ है। तुम उसे देखो। मुझ में ही जब तुम सम्पूर्ण विश्व को देख सकती हो फिर तुम और क्या जानना चाहती हो ॥ ५४ ॥

तस्य मे विश्वजीवस्य शक्तिस्त्वं समधर्मिणी ।
आद्याखिलाधारमयी मदानन्दमयी शुभा ॥ ५५ ॥

उस मेरे विराट् स्वरूप में विद्यमान जीव की तुम समधर्म वाली मेरी शक्ति हो। तुम आद्या शक्ति हो। अखिल विश्व की आधारमयी हो और मेरे लिए शुभ एवं आनन्दमयी हो ॥ ५५ ॥

तां त्वां ब्रह्मादयो देवा ऋषयोऽथ धृतव्रताः ।
इन्द्रादयस्तु दिक्पाला मुनयो नारदादयः ॥ ५६ ॥
भजन्तोऽपि न ते सुभ्रु प्रसादकणिकास्पृशः ।
सा त्वं मे हृदये लीना परमानन्दरूपिणी ॥ ५७ ॥

ब्रह्मा आदि देव, ऋषिगण और व्रतधारी महात्मा, इन्द्र आदि देवगण, दिक्पाल और नारद आदि मुनिजन तुम्हारा भजन करके भी, हे सुन्दर भौंहों वाली ! तुम्हारी प्रसन्नता के मात्र एक कण का भी स्पर्श नहीं कर पाते हैं। परम आनन्दरूपिणी वह तुम मेरे हृदय में लीन हो ॥ ५६-५७ ॥

यदा त्वां नैव पश्यामि जगदान्ध्यं विभाति मे ।
दृष्टायां त्वयि देवेशि सम्यक् पश्याम्यहं पुनः ॥ ५८ ॥

जब मैं तुम्हें नहीं देखता हूँ तो मुझे सम्पूर्ण जगत् अन्धकार युक्त ही दिखता है। हे देवेशि ! तुम्हें देख लेने पर पुनः मैं अच्छी प्रकार से देखने लग जाता हूँ ॥ ५८ ॥

त्वं गता सखिभिः सार्धं पुष्पावचयहेतवे ।
तावत्ते विरहं सोढुमशक्तोऽहं वरानने ॥ ५९ ॥

हे सुन्दर मुख वाली ! जब तुम सखियों के साथ फूल तोड़ने गई थी, तब भी

मैं तुम्हारा विरह न सह सका ।। ५९ ।।

त्वच्चित्तो रहसि स्थित्वा त्वत्प्राणस्त्वन्मनाः प्रिये ।
त्वामेव हृदये ध्यायन्निमीलितविलोचनः ।। ६० ।।

अतः हे प्रिये ! तुम्हें अपने चित्त में रखकर, तुम्हारे प्राण से प्राण मिलाकर, तुम्हारे में ही आसक्त मन वाला होकर और तुम्हारा ही अपने हृदय में ध्यान करते हुए अपने नेत्रों को निमिलित कर लिया था ।। ६० ।।

ललने ललितं रूपं त्वदीयं सुरदुर्लभम् ।
ध्यायामि ध्यानयोगेन तावत्त्वं समुपागता ।। ६१ ।।

हे ललने ! तुम्हारा ललित रूप देवों को भी दुर्लभ है । अतः ज्योंहि मैंने ध्यानयोग के द्वारा तुम्हारा ध्यान किया तभी तुम आ गईं ।। ६१ ।।

इत्येवं ते मया प्रोक्तं सत्यं जानीहि सुव्रते ।

श्रीलक्ष्मीरुवाच—

देवेश त्वत्प्रसादेन सर्वेषां हृदि चेष्टितम् ।
जानामि सकलं नाथ यथाकर्म यथारुचि ।। ६२ ।।

इसलिए हे सुन्दर [पाति] व्रत को धारण करने वाली । इसे ही सत्य समझो जिसे मैंने तुमसे कहा है ।

श्री लक्ष्मी ने कहा—

हे देवेश ! आपके प्रसाद से मैं सभी के हृदय में हुई चेष्टाओं को कर्मानुसार और रुचि के अनुसार, हे नाथ सब कुछ मैं जानती हूँ ।। ६२ ।।

अहं हृदि त्वया ध्याता विरहेणापि माधव ।
त्वय्येव निवसाम्येव त्वदन्तःकरणैक्षिणी ।। ६३ ।।

हे माधव ! विरह होने पर भी मैं आपके हृदय में ध्यान की गई । मैं तो आप में ही निवास करती हूँ । मैं तो आपके अन्तःकरण की दृष्टा हूँ ।। ६३ ।।

अहो चित्रमिदं भाति त्वदन्तःस्थाप्यहं प्रभो ।
न जानामि त्वदन्तःस्थं आत्मानमिवसन्मतिः ।। ६४ ।।

हे प्रभो ! तुम्हारे हृदय में रहकर भी मुझे यह विचित्र सा लग रहा है कि आपके अन्तःकरण की बात स्वयं की अपनी बुद्धि से मैं नहीं जानती हूँ ।। ६४ ।।

न प्रतारयितुं योग्या भक्ता तेतीव वल्लभा ।
भक्तप्रतारकं लोके कथमन्यो भजिष्यते ।। ६५ ।।

तुम्हारे अत्यन्त प्रिय भक्त प्रतारण (छोड़ने) के योग्य नहीं हैं । भक्तों को

छोड़ कर इस लोक में दूसरे का आप क्यों भजन करेंगे ॥ ६५ ॥

त्रिलोक्यां यदि वा कञ्चित् भक्तं ध्यायसि दुर्गतम् ।
त्वदिच्छयैव तद्दुःखं सर्वं विलयमेति च ॥ ६६ ॥

त्रिलोक में यदि किसी दुर्गति युक्त भक्त का आप ध्यान करते हैं तो आपकी इच्छा मात्र से ही उसका सभी दुःख कट जाता है ॥ ६६ ॥

तस्मात्त्वदन्यो वै कश्चिदीश्वरस्त्वनुमीयते ।
तं वै वदस्व देवेश यद्यहं तव वल्लभा ॥ ६७ ॥

इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि आपसे अन्य कोई आपका ईश्वर है जिसका आप ध्यान करते हैं। हे देवेश ! यदि मैं आपकी प्रिया हूँ तो आप उन्हें बतावें ॥ ६७ ॥

न चान्यो मे प्रियतमो नेश्वरो वा भवत्परः ।
परं वेदितुमिच्छामि कौतुकेन समन्विता ॥ ६८ ॥

मेरा तो आपसे अन्य कोई और प्रियतम या आपको छोड़कर दूसरा ईश्वर नहीं है। इसलिए मेरा मन कौतूहल युक्त हो जानने की इच्छा करता है ॥ ६८ ॥

विष्णुरुवाच—

न कौतुकं त्वया कार्यं मदुक्त्या निर्वृतिं व्रज ।
न चाग्रहं प्रकुर्वन्ति विद्वांसः साधवो जनाः ॥ ६९ ॥

भगवान् विष्णु ने कहा—

तुम्हें और कुतूहल नहीं करना चाहिए। मेरी पूर्वोक्त बात से ही कुतूहल की निवृति करो। फिर विद्वान् और साधुजन भी इस बारे में कोई आग्रह नहीं करते हैं ॥ ६९ ॥

देव्याग्रहवतां पुंसां न धर्मार्थौ न कामना ।
प्रसिध्यन्ति कदाचिद्वा बुद्धेः फलमनाग्रहः ॥ ७० ॥

हे देवि ! आग्रह करने वालों के लिए न धर्म है, न अर्थ है और न कामना ही है। क्योंकि बिना आग्रह के ही कभी कभी बुद्धि से ही फल की सिद्धि हो जाती है ॥ ७० ॥

प्रार्थितं तु शिरो देयं पशुद्रविणसम्पदः ।
राज्यं कोशो मही दुर्गं तथान्यदपि सुन्दरि ॥ ७१ ॥

धन भी, सम्पत्ति भी, पशु भी और प्रार्थना करने पर शिर भी उसे दिया जा सकता है। हे सुन्दरि ! राज्य, खजाना, पृथ्वी, किला या अन्य कुछ भी उसे

दिया जा सकता है ।। ७१ ।।

धनैः प्राणैः शरीरैश्च त्यक्षद्भिर्नोपकुर्वते ।
ते यास्यन्ति स्वयं त्यक्त्वा कालवेगेन कर्षिताः ।। ७२ ।।

किन्तु धनों, प्राणों और शरीरों के त्याग करने वालों का उपकार उससे नहीं होता । क्योंकि काल की गति से कर्षित होकर ये तो स्वयं ही [भौतिक वस्तुओं को] त्याग कर चले जाते हैं ।। ७२ ।।

याचकाशा हता येन हतं तेन चराचरम् ।
तस्मात्प्राणादिकं सर्वं याचते देयमेव हि ।। ७३ ।।

अतः याचक (माँगने) की आशा (प्रवृत्ति) जिसके द्वारा नष्ट कर दी गई है उसके द्वारा चराचर जगत् नष्ट कर दिया गया है । इसलिए माँगने वालों को प्राण आदि सभी कुछ देना ही चाहिए ।। ७३ ।।

अदेयं तु परं तत्वं लोकातीतं यतो हि तत् ।
तस्माद्दुराग्रहं त्यक्त्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना ।। ७४ ।।
वर्तितव्यं त्वया भद्रे मत्प्रसादपरीप्सया ।
इत्युक्ता सा तदा लक्ष्मीर्विष्णुना प्रभविष्णुना ।
ईषत्कोपसमाविष्टा कषायीभूतलोचना ।। ७५ ।।

जो नहीं देने योग्य है वह है 'परम तत्त्व' । क्योंकि वह लोक से अतीत की वस्तु है । इसलिए अपने दुराग्रह का त्याग करके प्रसन्न मन से तुम्हें, हे भद्रे ! मेरे प्रसाद की इच्छा से मेरा अनुवर्तन करना चाहिए । इस प्रकार शक्तिसम्पन्न भगवान् विष्णु के द्वारा अनुवर्तित वह लक्ष्मी तब अन्यमनस्क भाव से कुछ क्रोधाविष्ट हो गई ।। ७४-७५ ।।

आत्मानमात्मना धृत्वा प्रोवाच वचनं पुनः ।
स्त्रीपुंसोर्देहभागाभ्यामेकमेव वपुः स्मृतम् ।। ७६ ।।

अपने को अपने में ही समाहित करके पुनः उन्होंने कहा—स्त्री और पुरुष दोनों का शरीर तो विद्वानों के द्वारा एक ही कहा गया है ।। ७६ ।।

कथं पश्यसि भेदेन मामेकतनुरूपिणीम् ।
पुरातनैश्च कविभिर्दाम्पत्ये प्रेम रूपितम् ।। ७७ ।।

तो आप मुझे एक अलग शरीर के रूप में क्यों देख रहे हैं ? पुरातन कवियों द्वारा भी दाम्पत्य जीवन में प्रेम का निरूपण ही किया गया है ।। ७७ ।।

तन्नाशितं त्वयैकेन प्रेमरीतिविदापि भोः ।
पत्युः प्रेमबहिर्भूतां धिक् स्त्रियं विमतां गृहे ।
पतिश्चापि शठस्तस्या यः साध्वीमप्युपेक्षते ॥ ७८ ॥

आपके द्वारा प्रेम की रीति के जानकार होने पर भी फिर उसे क्यों तिरस्कृत कर दिया गया ? पति के हृदय में जिस स्त्री के लिए प्रेम न हो उसे धिक्कार है । फिर वह पति भी शठ है जो अपनी सती-साध्वी स्त्री की उपेक्षा करता है ॥ ७८ ॥

तस्माद्देवाल्पपुण्याहं कथं प्राप्स्यामि चेप्सितम् ।
आप्रसादं च भवतः करिष्ये तप उल्बणम् ॥ ७९ ॥

अल्प पुण्य वाली मैं कैसे अपने अभीष्ट को प्राप्त करूँगी ? अतः आपको जब तक मैं प्रसन्न न कर लूँ तब तक मैं कठोर तपस्या करूँगी ॥ ७९ ॥

येन प्रसन्नो भगवान् उपदेश्यति तत्पदम् ।
इत्युक्त्वा भगवत्पादं प्रणम्य च मुहुर्मुहुः ।
प्रदक्षिणीकृत्य ययौ वैकुण्ठात्तपसे रमा ॥ ८० ॥

जिससे प्रसन्न होकर आप भगवान् उस परम पद को उपदिष्ट करते हैं । इस प्रकार कहकर बारम्बार भगवान् के चरण का स्पर्श करके और उनकी प्रदक्षिणा करके लक्ष्मी जी वैकुण्ठ से तपस्या के लिए कहीं और चली गईं ॥ ८० ॥

सामभिर्विविधैश्चापि वचनैश्च नयान्वितैः ।
निवार्यमाणापि रमा न न्यवर्तत निश्चयात् ॥ ८१ ॥

अन्ततः विविध सान्त्वना सौर नीति समन्वित वचनों के द्वारा निवारित की गई भी लक्ष्मी ने अपने निश्चय को नहीं छोड़ा ॥ ८१ ॥

॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे
शिवोमासंवादे द्वितीयं पटलम् ॥ २ ॥

—o—

॥ इस प्रकार श्री नारद पाञ्चरात्र आगम गत 'माहेश्वर तन्त्र' के ज्ञान खण्ड में भगवान् शङ्कर और माँ जगदम्बा पार्वती के मध्य संवाद के द्वितीय पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २ ॥

—o—

अथ तृतीयं पटलम्

पार्वत्युवाच—

भगवत् श्रोतुमिच्छामि परं कौतूहलं हि मे।
रमया परया साध्व्या प्रार्थितोऽपि पुनः पुनः ॥ १ ॥
नोक्तवान्परमं तत्वं तदर्थं तपसे गता।
महाश्चर्यतमं देव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

पार्वती ने कहा—

हे भगवन्! क्योंकि मुझे अत्यन्त कुतूहल है अतः मैं सुनना चाहती हूँ। इस प्रकार तपस्या के लिए गई हुई पतिपरायणा साध्वी रमा के द्वारा पुनः पुनः प्रार्थित होने पर भी विष्णु भगवान् ने परमतत्त्व को उनके लिए क्यों नहीं कहा? हे देव! महान् आश्चर्यतम उस तत्त्व की व्याख्या करने में आप समर्थ हैं ॥ १-२ ॥

शिव उवाच—

शृणु सुन्दरि वक्ष्यामि तव स्नेहादशेषतः।
अवाच्यमन्यथा देवि कोटिकल्पशतैरपि ॥ ३ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

हे सुन्दरि! तुम्हारे अशेषतः स्नेह से मैं कहता हूँ, सुनो। हे देवि! सौ करोड़ कल्प में भी यह दूसरे से बतलाने योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

प्रार्थितोऽपि यदा विष्णुर्नोक्तवान् स्वहृदि स्थितम्।
श्रवणेच्छाविघातेन विरहाग्निविधूतया ॥ ४ ॥
कृतं महत्तपश्चोग्रं सर्वलोकोपतापनम्।
केतुमालं (ले) समासाद्य कृत्वा नियममात्मना ॥ ५ ॥

अपने हृदय में स्थित उस परम तत्त्व को जब प्रार्थित होने पर भी विष्णु ने नहीं कहा तब सुनने की अत्यन्त उत्कट इच्छा के पूर्ण न होने के आघात से, तीव्र विरह की अग्नि से व्यथित महान् और उग्र एवं सभी लोकों को तपाने वाला तप रमा ने किया। केतुमाल नामक पर्वत पर आकर उन्होंने अपने आत्मभाव से [यम] नियम आदि किया ॥ ४-५ ॥

साध्वी चकार प्रतिमां विष्णोः परमसुन्दराम्।
तत्र पर्यचरत् प्रीत्या गर्हयन्ती स्वकं वपुः ॥ ६ ॥

उन पतिव्रता लक्ष्मी ने विष्णु की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा बनाई। वहाँ पर अपने शरीर को गर्हित करते हुए प्रेम से उनकी परिचर्या की ।। ६ ।।

स्नानेन त्रिषु कालेषु नियमेन दमेन च ।
भावशुद्धि गता साध्वी स्थण्डिले शयने गता ।। ७ ।।

तीनों कालों में स्नान द्वारा, नियम एवं दम के द्वारा उन [पतिपरायणा] साध्वी ने [प्रथमतः] भाव की शुद्धि को प्राप्त किया और पथरीली भूमि पर ही शयन किया ।। ७ ।।

शीतकाले जले मग्ना ग्रीष्मे पञ्चाग्निसेविनी ।
वर्षास्वपि स्थलगता वृष्टिवातसहा स्थिता ।। ८ ।।
स्त्रीत्वचाञ्चल्यमुत्सृज्य नानालङ्कारसम्पदम् ।
भूम्यामशेत सततं चिन्तयन्ती हरिं हृदि ।। ९ ।।

शीतकाल में जल में मग्न होकर, ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नि (१. धूप, २. अग्नि ३. जठराग्नि, ४.) का सेवन करते हुए वर्षा में भी खुले आकाश में वृष्टि एवं वात (के थपेड़ों) को सहते रहकर और स्त्रियोचित चाञ्चल्य एवं नाना प्रकार की अलङ्कार-सम्पदा को छोड़कर सदैव हृदय में श्रीहरि का ही चिन्तन करती हुई भूमि पर ही उन्होंने शयन किया ।। ८-९ ।।

स्वप्ने ददर्श सततं हरिं कमललोचनम् ।
तत्रापि प्रार्थयन्तीदं सोऽपि नेत्याह विक्लवम् ।। १० ।।
सुप्ता सोत्थाय तत्रैव पुनरुद्बोधमागता ।
एवं सा तन्मयीभूतहृदया विवशा भृशम् ।। ११ ।।

कमल के समान नेत्रों वाले श्रीहरि को सतत स्वप्न में देखा, और वहाँ भी विशेष रूप से भयाक्रान्त एवं प्रार्थना करने वाली (उन देवि) से उन्होंने नहीं ही कहा। सोकर एवं उठकर, फिर वहीं जगकर (बहुत समय तक) तप करती हुई इस प्रकार वह तन्मयीभूत हृदय से (परम तत्त्व के लिए) बहुत विवश हो गईं ।। १०-११ ।।

आत्मानं गर्हयामास मनोरथमपश्यति ।
यदा मनोरथं नैवं प्राप्ता देवी तपस्विनी ।
तदैकपादेन भुवमाक्रम्यात्मनि निर्मला ।। १२ ।।
निधाय स्वामिनं चित्ते तस्मिन् चित्तं निधाय च ।
एकात्म्यं तु गता साध्वी तताप परमं तपः ।। १३ ।।

अपने मनोरथ को न देखकर उन्होंने अपने को गर्हित समझा और जब इस प्रकार उन तेजस्वी देवी ने अपना मनोरथ नहीं प्राप्त किया, तब एक पैर से पृथ्वी

पर खड़े होकर अपने निर्मल [मल-रहित] चित्त में स्वामी की मूर्ति रखकर और उन स्वामी में अपने चित्त को रखकर उन साध्वी ने एकात्म्यभाव को प्राप्त होकर अत्यन्त उत्कृष्ट तप किया ।। १२-१३ ।।

तच्छिखायाः समुद्भूतः सधूमोऽग्निः परिज्वलन् ।
तापयामास निखिलं ब्रह्माण्डं भयविह्वलम् ।। १४ ।।

उनकी शिखा [चोटी] से समुद्भूत धूम के सहित अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी । तब उस अग्नि ने भय से विह्वल सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को तप्त किया ।। १४ ।।

देवासुरनरा नागा गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धा विद्याध्राः खगचारणाः ।। १५ ।।
तपोमयेन ज्वलता वह्निना दुःसहेन च ।
व्यथिताः शोकसंविग्ना न सुखं लेभिरे क्वचित् ।। १६ ।।

देव, असुर और मनुष्य, नाग, गन्धर्व एवं अप्सरा, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, विद्याधर तथा आकाशचारी सभी प्राणिजात उस तपोमय जलती हुई अग्नि के दुःसह ताप से व्यथित और शोकसंविग्न होकर कहीं भी सुख न प्राप्त कर सके ।। १५-१६ ।।

ततश्चेन्द्रादयो देवा मरुतश्चोष्मपादयः ।
आदित्या वसवो रुद्रा ह्यश्विनौ पितरस्तथा ।। १७ ।।

ब्रह्माणं शरणं जग्मुः पितामहमनिन्दितम् ।
ददृशुः परमं देवं ब्रह्माणं परमासने ।। १८ ।।

तब इन्द्र आदि देव-गण, मरुद्‌गण एवं श्रोष्मपाद आदि देव, १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र और अश्विनद्वय तथा पितर सभी अनिन्दित पितामह ब्रह्मा के शरण में गए । वहाँ श्रेष्ठ आसन पर बैठे हुए उन्होंने देव ब्रह्मा को देखा ।। १७-१८ ।।

प्राणायामेन युञ्जानं शुभ्रकूर्चं चतुर्मुखम् ।
सनकाद्यैः परिवृतं नारदाद्यैरुपासितम् ।। १९ ।।
मूर्तिमद्भिस्तथा वेदैः पृथक्सिंहासनस्थितैः ।
पुराणैः संहिताभिश्च विद्याभिः परिवेष्टितम् ।। २० ।।

प्राणायाम के द्वारा योगाभ्यास में रत; सफेद दाढ़ी वाले चतुर्मुख ब्रह्मा सनकादि ऋषियों से परिवृत और नारदादि मुनियों से उपासित थे, तथा मूर्तिमान् एवं पृथक् सिंहासन पर स्थित वेदों के द्वारा और पुराणों, (तन्त्र) संहिताओं एवं (चतुर्दश) विद्याओं से वे परिवेष्टित थे ।। १९-२० ।।

विचारयन्तमात्मानं परमं तमसः परम् ।
पुण्योत्कर्षेण धर्मेण त्यागेन ज्ञानसम्पदा ॥ २१ ॥
विमर्षेणात्मनश्चापि ब्रह्मचर्येण संयमैः ।
नियमैर्योगधर्मैश्च यत्र क्रीडन्ति सङ्गताः ॥ २२ ॥

वे श्रेष्ठ एवं तमस् से भी पर अपनी आत्मा का विचार करते हुए विद्यमान थे । पुण्य से उत्कृष्ट धर्म, त्याग एवं ज्ञान संपत्ति और आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मचर्य, संयमों, नियमों, और योग आदि धर्म जहाँ एक साथ क्रीडा किया करते थे ॥ २१-२२ ॥

दृष्ट्वामरास्ते परमासने स्थितं ब्रह्माणमाद्यं पुरुषं पुरातनम् ।
प्रणेमुरानन्दजलाकुलेक्षणाः कृष्यत्वचो गद्गदयाब्रुवन् गिरः ॥ २३ ॥
नमो नमस्ते जगदेककर्त्रे नमो नमस्ते जगदेकपात्रे ।
नमो नमस्ते जगदेकहर्त्रे रजस्तमःसत्वगुणाय भूम्ने ॥ २४ ॥

उन देवों ने उत्कृष्ट आसन पर स्थित आदि एवं पुरातन पुरुष ब्रह्मा को देखा । उन्होंने आनन्दाश्रु से परिपूर्ण भर्राई हुई एवं गद्गद वाणी से कहा—जगत् के एकमात्र कर्ता तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है, जगत् के एकमात्र पालक तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है । जगत् के एकमात्र हर्ता [हर्त्रे] और सत्व; रज एवं तमो गुण के लिए भूमि स्वरूप तुमको नमस्कार है, नमस्कार है ॥ २३-२४ ॥

अण्डं चतुर्विंशतितत्त्वजातं तस्मिन् भवानेष विरञ्चिनामा ।
जगच्छरण्यो जगदुद्वमन्स्वयं पितामहस्त्वं परिगीयसे बुधैः ॥ २५ ॥

चौबीस तत्त्वों से बने हुए अण्ड रूप जिस [ब्रह्माण्ड] में आप साक्षात् विरञ्चि नाम से जगत् को शरण देने वाले हैं । जगत् के स्वयं उद्वमन–कर्ता आप को विद्वान् लोग पितामह के नाम से कीर्तन करते हैं उन आपको नमस्कार है ॥ २५ ॥

त्वं सर्वसाक्षी जगदन्तरात्मा हिरण्यगर्भो जगदेककर्त्ता ।
हर्त्ता तथा पालयितासि देव त्वत्तो न चान्यत्परमस्ति किञ्चित् ॥ २६ ॥

तुम सभी के साक्षी हो, जगत् के अन्तरात्मा, हिरण्यगर्भ, एवं जगत् के एकमात्र कर्ता, हर्ता तथा पालन करने वाले हे देव ! तुमसे दूसरा कोई श्रेष्ठ नहीं है ॥ २६ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः साक्षात् स्वयं ज्योतिरजः परेशः ।
त्वन्मायया मोहितचेतसो ये पश्यन्ति नानात्वमहो त्वयीशे ॥ २७ ॥

तुम आदि देव हो। तुम पुराण पुरुष हो। तुम साक्षात् रूप से स्वयं ज्योतिमान् हो, अज हो और श्रेष्ठ ईश्वर हो। तुम्हारी माया से ही मोहित चित्त होकर तुम्हारे में ही वे (पुरुष) नानात्व को देखते हैं ।। २७ ।।

त्वमाद्यः पुरुषः पूर्णस्त्वमनन्तो निराश्रयः ।
सृजसि त्वं च भूतानि भूतैरेवात्ममायया ।। २८ ।।

तुम आदि देव, पूर्ण पुरुष हो, तुम अनन्त एवं निराश्रय हो। तुम पञ्चमहाभूतों से अपनी माया से ही प्राणियों का सृजन करते हो ।। २८ ।।

त्वया सृष्टमिदं विश्वं सचराचरमोजसा ।
कथं न पालयस्येतत् ज्वलदाकस्मिकाग्निना ।। २९ ।।

आपके ओज से चराचर जगत् के सहित यह सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि हुई है। अतः आकस्मिक अग्नि की ज्वाला से जब यह जल रहा है तो आप इसका पालन क्यों नहीं करते हैं ? ।। २९ ।।

विनाशमेष्यति जगत् त्वया सृष्टमिदं प्रभो ।
न जानीमो वयं तत्र कारणं तद्विचिन्त्यताम् ।। ३० ।।

हे प्रभो ! आपके द्वारा सृष्ट यह जगत् विनाश को प्राप्त हो जायगा। हम लोग उसका कारण नहीं जानते हैं। अतः आप ही उस पर विचार करें ।। ३० ।।

कोऽयं वह्निरपूर्वोऽयमुत्थितः परितो ज्वलन् ।
तेनोद्विग्नमिदं विश्वं ससुरासुरमानवम् ।। ३१ ।।

यह अपूर्व वह्नि कौन सी है, जो चारों ओर से जलते हुए उठ गई है ? उस अग्नि से देवता, राक्षस और मनुष्यों के सहित यह सम्पूर्ण विश्व उद्विग्न हो गया है ।। ३१ ।।

तस्य त्वं शमनोपायं विचारय महामते ।
न चेदद्य भविष्यन्ति लोका भस्मावशेषिताः ।। ३२ ।।

हे महा मतिमान् ! उस अग्नि के शमन का उपाय विचार करिए। नहीं तो आज ही ये लोक भस्मीभूत हो जायँगे ।। ३२ ।।

इति तेषां च गृणतां देवानामातुरं वचः ।
विमृश्य ध्यानयोगेन तदिदं हृद्यवाप सः ।। ३३ ।।

इस प्रकार उन देवों की आतुरता पूर्ण वाणी को सुनकर अपने ध्यानयोग से जानकर उनके हृदय में इस प्रकार विचार प्राप्त हुआ ।। ३३ ।।

ततः प्रोवाच वचनममरांस्तु पितामहः ।
शृणुध्वममराः सर्वे वचनं मदुदाहृतम् ।। ३४ ।।

इसके अनन्तर पितामह ब्रह्मा ने देवों से इस प्रकार वचन कहे—हे देवों ! आप सभी मेरे द्वारा कहे गए वचनों को सुनें ॥ ३४ ॥

तपस्यति रमा देवी साक्षात्पत्यावमानिता ।
किं त्वं ध्यायसि देवेश परं तत्त्वं भवत्परम् ॥
तद्वदस्वेति चाप्युक्तस्तथा नोवाच वै हरिः ॥ ३५ ॥

रमा देवी पति भगवान् विष्णु से साक्षात् अपमानित होकर तपस्या कर रही हैं। 'हे देवेश ! आप अपने से भी श्रेष्ठ किस तत्त्व का ध्यान कर रहे हैं ? उसे कहें।' इस प्रकार लक्ष्मी जी के पूँछने पर भी भगवान् श्री हरि ने उस तत्त्व को नहीं कहा ॥ ३५ ॥

ततो निर्बन्धनिर्विण्णा रमा देवी रुषान्विता ।
केतुमालं समासाद्य तपो दारुणमाश्रिता ॥ ३६ ॥

तभी उदास मन वाली देवी रमा ने रुष्ट होकर केतुमाल पर्वत पर जाकर बड़ा कठिन तप प्रारम्भ कर दिया है ॥ ३६ ॥

सा तपो लोकभयदं दारुणं विष्णुवल्लभा ।
करोति तद्भालदेशादुत्थितोऽग्निस्तपोमयः ॥ ३७ ॥

उन विष्णु की प्रिया ने लोकों को भय प्रदान करने वाला और कठोर तप किया है जिसके कारण उनके ललाट-प्रदेश से तपोमय अग्नि उद्भूत हो गई है ॥ ३७ ॥

तेन लोकाः सुसन्तप्ता दग्धप्राया विचेतसः ।
नाशमेष्यन्त्यसन्देहो यदि सा न तपस्त्यजेत् ॥ ३८ ॥

उसी से समस्त लोक अत्यन्त सन्तप्त होकर दग्ध प्राय और चेतना शून्य हो गए हैं। निःसन्देह इनका नाश ही हो जाएगा यदि वे तप का त्याग नहीं कर देतीं ॥ ३८ ॥

तस्माद्वैकुण्ठनिलयं हरेर्गत्वा दिवौकसः ।
विष्णुं प्रसादयिष्यामः सरुद्राः सर्व एव हि ॥ ३९ ॥

इसलिए सभी देवों और रुद्रों के साथ मैं श्री हरि के निवास-स्थान वैकुण्ठ में जाकर उन्हें प्रसन्न करूँगा ॥ ३९ ॥

एवं निश्चित्य ते सर्वे मम धाम समाययुः ।
मामस्तुवन् गिरा माध्व्या प्रबद्धकरसम्पुटाः ॥ ४० ॥

इस प्रकार निश्चत करके वे सभी मेरे धाम (शिवपुरी) को आ गए। उन्होंने हाथ जोड़कर बड़ी ही मधुर वाणी से मेरी (भगवान् शङ्कर की) स्तुति की ॥ ४० ॥

मयापि सत्कृता देवि सेन्द्रा ब्रह्मपुरोगमाः ।
दृष्ट्या सम्भाव्य देवेशं उपगुह्य पितामहम् ।। ४१ ।।
नत्वा बृहस्पतिं देवि यथा योग्यं तथापरान् ।
निषीदध्वं निषीदध्वमित्युक्तास्ते मयामराः ।। ४२ ।।

हे देवि ! मैं भी उन इन्द्र के सहित और अग्रगामी ब्रह्मा आदि देवों से सत्कृत होकर अन्तर्दृष्टि से देवेश पितामह के गूढ़ भाव को समझ गया। हे देवि ! बृहस्पति को नमन करके और अन्य देवों को यथायोग्य सत्कार करके मैंने 'बैठिए बैठिए' कहकर उन्हें बैठाया ।। ४१-४२ ।।

निषेदुर्म्लानवदनाः सज्वरास्ते दिवौकसः ।
अपि स्वित् कुशलं देवा भवतामनुवर्तते ।। ४३ ।।

वे देव मानों ज्वर के सहित से म्लान मुख होकर बैठ गए। हे देवों ! आप कुशल से तो हैं ? आप लोगों का क्या कहना है ? ।। ४३ ।।

स्वागतं भो ! सुराः सर्वे यूयं मे चातिवल्लभाः ।
दृष्टो मदीयो लोकोऽयमदृष्टो मत्पराङ्मुखैः ।। ४४ ।।

हे देवो, आपका स्वागत है। आप सभी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। हमने अपने इस लोक को देखा है और मुझसे पराङ्मुख लोगों को भी मैंने देखा है ।। ४४ ।।

वनेषूपवनेष्वेव रमध्वमिह चेत्स्पृहा ।
शृण्वन्तु रुचिरालापान् शुकसारसपक्षिणाम् ।। ४५ ।।

आप सभी वनों एवं उपवनों में इच्छा पूर्वक रमण करें। तोते और सारस आदि पक्षियों के रुचिर कलरव को सुनें ।। ४५ ।।

जिघ्रन्तु परमामोदमोहितानेकषट्पदान् ।
लतानामतिदिव्यानां सर्वर्तुकुसुमाकरान् ।। ४६ ।।

अत्यन्त दिव्य लताओं एवं सभी ऋतुओं में वसन्त ऋतु से मोहित होकर आए हुए अनेक भ्रमर सुगन्धि का आनन्द लें ।। ४६ ।।

महामरकतक्लृप्तस्वर्णवेदिषु निर्भरम् ।
गङ्गानिलसुखस्पर्शाः परिक्रीडन्तु चामराः ।। ४७ ।।

देव गण महामरकत मणि से जटित स्वर्णिम वेदियों वाली गङ्गा नदी की सुखस्पर्श वायु का आनन्द लें ।। ४७ ।।

नदन् मत्तमरालासु सुधापूर्णासु नित्यशः ।
खेलन्तु सस्त्रियः सर्वे दीर्घिकासु गतक्लमाः ।। ४८ ।।

नित्य प्रति सुधा से परिपूर्ण तालाबों में कूजन करते हुए मत्त मराल अर्थात् हंसों के मध्य वे देव गण आनन्द लें। स्त्रियों के साथ सभी खेद रहित होकर वापियों खेलें ॥ ४८ ॥

यद्यद्वा मनसोऽभीष्टं तत्कुरुध्वमतन्द्रिताः।
किमर्थमिह सम्प्राप्ता ब्रह्मोपेन्द्रपुरोगमाः ॥ ४९ ॥

अथवा हे अतिन्द्रिय ! जो भी आप लोगों का अभीष्ट मनोरथ हो उसे प्राप्त करें। आप यहाँ पर ब्रह्म और इन्द्र के साथ क्यों पधारे हैं ? ॥ ४९ ॥

निवेदयध्वं कर्त्तव्यं यदि चेदस्ति किञ्चन।
इत्येवं ते मया प्रोक्ता मामवोचन् दिवौकसः ॥ ५० ॥

यदि 'मुझे करना चाहिए' ऐसा कोई कार्य हो तो उसे मुझसे निवेदन करें। इस प्रकार मेरे कहने पर उन देवों ने मुझसे कहा ॥ ५० ॥

भगवन् करुणासिन्धो भक्तवत्सल धूर्जटे।
त्वया सञ्चिन्त्यमानानां कुशलेषु च का कथा ॥ ५१ ॥

भक्तों के लिए वात्सल्य युक्त, धूर्जटि ! आपका ध्यान करने वालों के कुशल-क्षेमों का तो कहना ही क्या है ॥ ५१ ॥

तदेवाकुशलं विद्मस्त्वत्पादस्मरणच्युतिः।
जानीमः पूर्णमात्मानं अद्य तेऽनुग्रहोदयात् ॥ ५२ ॥

आपके चरण के स्मरण की च्युति से क्या अकल्याण होता है हम उसे भी जानते हैं। आज आपके अनुग्रह [रूपी सूर्य] के उदय के कारण हम स्वयं को पूर्ण जान रहे हैं ॥ ५२ ॥

किं ध्यायसि चिरं तात निरुध्य हृदये मनः।
लब्धानन्द इवाभासि स्वयमात्माऽपि देहिनाम् ॥ ५३ ॥

हे तात ! हृदय में मन की गति को निरुद्ध करके बहुत देर से आप क्या ध्यान कर रहे हैं ? आप शरीर धारी जीवों की स्वयं आत्मा होकर भी आनन्द प्राप्त करते हुए जान पड़ते हैं ॥ ५३ ॥

एतदाचक्ष्व नो ब्रह्मन् प्रवक्तुं यदि मन्यसे।
अहमाकर्ण्य वै तेषां वाचं परमशोभनाम्।
मन आह्लादयन्नेषामवोचं परमोक्तिभिः ॥ ५४ ॥

यदि हम लोगों से आप कहना चाहते हैं तो ब्रह्मन् ! इसी [आत्म तत्व] को कहिए। उनकी अत्यन्त शुभ वाणी को सुनकर मैंने श्रेष्ठ उक्तियों से आह्लादित मन से उनसे कहा ॥ ५४ ॥

शृणुध्वं त्रिदशाः सर्वे भवद्भिर्यदुदाहृतम् ।
किं ध्यायसि चिरं तात निरुध्य हृदये मनः ॥ ५५ ॥
लब्धानन्द इवाभासि स्वयमात्मापि देहिनाम् ।
तन्न वाच्यं मया देवा अपि कल्पायुतायुतैः ॥ ५६ ॥

हे देवों ! आपने जो जिज्ञासा प्रकट की है उसे आप सभी सुनिए । जो आपने यह पूछा है कि हे तात ! हृदय में मन की गति को निरुद्ध करके बहुत देर से आप क्या ध्यान कर रहे हैं ? आप शरीरधारी जीवों के स्वयं आत्मा होकर भी आनन्द प्राप्त करते हुए जान पड़ते हैं—यह सब मुझे देवों को भी कोटि कोटि कल्पों में भी नहीं कहना चाहिए ॥ ५५-५६ ॥

न यान्ति योगिनो योगैर्न यज्ञैस्तप आदिभिः ।
न ज्ञानतीर्थवैराग्यैर्विना साधुनिषेवया ॥ ५७ ॥

योगी लोग इसे योग से भी नहीं जान पाते । यह यज्ञों; तप आदि अन्य साधनों से अथवा ज्ञान से, तीर्थों के सेवन से, वैराग्य या साधु की सेवा से भी नहीं प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

मायामात्रमिदं विश्वं वस्तुतो नास्ति किञ्चन ।
भूरादिसप्तलोकाश्च कालेन कवलीकृताः ॥ ५८ ॥

यह सम्पूर्ण विश्व मात्र माया के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । क्योंकि भूः आदि सात लोक भी काल के द्वारा भक्षित कर लिए जाते हैं ॥ ५८ ॥

विषयानन्दसन्तुष्टा लोकाः सर्वेऽपि देवताः ।
न प्राप्नुवन्ति कणिकां नित्यानन्दमहोदधेः ॥ ५९ ॥

विषय के आनन्द से सन्तुष्ट जन और अखिल देवगण भी इस 'नित्य-आनन्द-समुद्र' का एक कण भी नहीं प्राप्त करते हैं ॥ ५९ ॥

वेदे कर्मप्रधानं हि ततः कर्ममयी गतिः ।
कर्मभिर्भ्राम्यमाणा ये तृणानीवाम्भसो रयैः ॥ ६० ॥

क्योंकि वेद कर्म प्रधान हैं अतः उन [वैदिक कर्म यज्ञ यागादि करने वालों] को कर्ममयी गति ही प्राप्त होती है । वे कर्मों में उसी प्रकार चक्कर काटते रहते हैं जैसे जल की भँवर में तिनका चक्कर काटता रहता है ॥ ६० ॥

न ते विन्दन्ति तत्तत्वं कोटिकल्पशतैरपि ।
केचित्स्वर्गपरा लोके यजन्ते ज्ञानदुर्बलाः ॥ ६१ ॥

वे भी उस [आत्म] तत्त्व को शतकोटि-कल्पों में भी नहीं जान पाते हैं । कुछ

ज्ञान से दुर्बल जन स्वर्ग की कामना से लोक में मात्र यज्ञ यागादि का यजन करते हैं ।। ६१ ।।

केचिदष्टाङ्गयोगेन निगृहीतधियः परे ।
वर्णाश्रमविधानेन तत्तदाचारशालिना ।। ६२ ।।

कुछ साधक योग के [ध्यान, धारणा, समाधि आदि] आठ साधनों से बुद्धि को समाधिस्थ करते हैं और कुछ लोग वर्णाश्रम के विधान में रहकर उन-उन आश्रमों के आचार का पालन करते हैं ।। ६२ ।।

केचित्पत्राशनरता वायुभक्षास्तथेतरे ।
केचिद्दिगम्बराः केचित् कृष्णरक्ताम्बराः परे ।। ६३ ।।

कुछ वृक्षों के पत्ते ही खाकर व्रत करते हैं, कुछ वायु पीकर ही साधना करते हैं; कुछ [जैन आदि] जन दिगम्बर होकर ही रहते हैं और कुछ अन्य लाल गेरुआ आदि वस्त्र पहनकर सन्यासी हो जाते हैं ।। ६३ ।।

केचिन्मुण्डितमुण्डाश्च फलमूलाशने रताः ।
केचिद्भस्मनि निष्णाता मोक्षमिच्छन्ति दुर्बलाः ।। ६४ ।।

कुछ मुण्डित मस्तक होकर रहते हैं, कुछ फल और [कन्द आदि] मूल खाकर व्रताचरण करते हैं । कुछ भस्म लपेटे बेचारे मोक्ष की इच्छा करते हैं ।। ६४ ।।

नैव ते मुक्तिमायान्ति विना तत्त्वावमर्षणात् ।
मायाम्भोधिरयं भाति ह्यसन्नपि सदात्मकः ।। ६५ ।।

फिर भी वे बिना तत्त्वज्ञान के मुक्ति नहीं ही प्राप्त करते हैं । इस प्रकार यह माया समुद्र सत्य सा जान पड़ता है ।। ६५ ।।

अनेककोटिब्रह्माण्डबुद्बुदाकुलितो भृशम् ।
तत्त्वोर्मिजालजटिलो वासनाजलगह्वरः ।। ६६ ।।

इस माया समुद्र में अनेक कोटि ब्रह्माण्ड बुलबुले के समान हैं; पञ्च तत्त्व लहरें हैं और यह वासना के जल का अत्यन्त गहरा समुद्र है ।। ६६ ।।

पापपुण्यतटोन्नद्धो मोहपङ्कप्रपूरितः ।
सदसत्कर्मकमलकैरवानन्तमण्डलः ।। ६७ ।।

यह समुद्र पाप और पुण्य रूप दो तटों से आबद्ध है । यह मोह रूप कीचड़ से खूब भरा पड़ा है । सत् और असत् कर्मरूपी कमल एवं कुमुदिनी के समूह से ओतप्रोत हैं ।। ६७ ।।

अहन्ताशिशुमारेण निरन्तरमुपासितः ।
तृष्णाफेनौघबहुलः कामनातटपादपः ।। ६८ ।।

अहन्ता [मैं का भान] रूप शिशुमार [=सुइस नामक जलचर] से निरन्तर उपासित यह समुद्र तृष्णा रूप फेन के ढेरों से भरा हुआ है। इसके तट के वृक्ष मानव की कामनाएँ हैं ।। ६८ ।।

कामक्रोधमहालोभगर्तपाषाणदुःखदः ।
परनिन्दापरद्रोहभुजङ्गमभयानकः ।। ६९ ।।

काम, क्रोध, मद, और लोभ इस महासमुद्र के दुःखदायी गड्ढे और पाषाण खण्ड हैं। पर निन्दा और परद्रोह इस समुद्र के भयानक सर्प हैं ।। ६९ ।।

श्रद्धोरुपद्मिनी यत्र अक्षयो मोहकल्पितः ।
विषयतृडभिक्लान्ताः पतन्त्यस्मिन्ननेकशः ।। ७० ।।

जहाँ स्त्रियों का विलास ही अक्षय मोह को उत्पन्न करने वाला है। विषय की भूख से क्लान्त अनेक मानव आदि जङ्गम प्राणिजात सदा इसमें गिरा करते हैं ।। ७० ।।

दृष्ट्वारमत वै कश्चित् सराग कमलाकरम् ।
सेव्यमानोऽपि नातृप्यत् षट्पाद इव लोलुपः ।। ७१ ।।

वह राग के सहित किसी कमलाकर को देखकर ही रमण करता है। विषयों के इस प्रकार अत्यत्त सेवन करने पर भी वह उसी प्रकार तृप्त नहीं होता है जैसे लोलुप भ्रमर कभी भी मधु से तृप्त नहीं होता ।। ७१ ।।

अह्नः क्षयमजानन्वै लोभितात्माजितेन्द्रियः ।
मधुलिट् मधुलोभेन तत्रैव विलयं व्रजेत् ।। ७२ ।।

दिन दिन करके आयु का क्षय होता जा रहा है—यह जानकर भी विषय-लोलुप एवं अजितेन्द्रिय मनुष्य उन्हीं विषयों की ओर आकृष्ट होता रहता है और उसी प्रकार उन्हीं विषयों के मध्य ही मर जाता है जैसे मधु का लोभी भ्रमर उसी मधु में ही विलीन हो जाता है ।। ७२ ।।

यत्र हंसगणास्तूर्णमाघ्राय कमलाकरम् ।
अशाश्वतमिति ज्ञात्वा सुखं नीडेषु शेरते ।। ७३ ।।

वहीं पर कमलों के समूह को हंस गण शीघ्र ही सूँघ कर 'यह शाश्वत नहीं है'—इस प्रकार जानकर अपने अपने घोसलों में सुख से रहते हैं ।। ७३ ।।

यत्र पङ्केषु निमग्ना सीदन्ती गौस्तृषातुरा ।
महात्मना समुद्धृत्य सुधासिन्धौ निवेशिता ।। ७४ ।।

भूख प्यास से आतुर इन्द्रियाँ वहीं पर कीचड़ में निमग्न होकर रहती हैं जबकि महात्माजन उन विषयों से अपने मन को हटाकर [तत्वज्ञान रूप] सुधा के समुद्र में डाल देते हैं ॥ ७४ ॥

यत्र खेलन्ति बहुशो मातङ्गाश्च करेणुभिः ।
अतृप्यमानाः सततं कमलामोदलम्पटाः ॥ ७५ ॥

वहीं पर हाथिनियों के साथ हाथी बहुत प्रकार से खेला करते हैं । वे कमलों के समूह की सुगन्ध को लेकर भी उससे अतृप्त ही रहते हैं ॥ ७५ ॥

यत्र मत्स्यगणान् बालान् निघ्नन्ति बलवत्तया ।
मकरास्तानपि क्षिप्रं निगृह्णातीह जालिकः ॥ ७६ ॥

जहाँ पर मत्स्यों के बच्चों के समूहों को मगर बलात् खा जाते हैं वहीं पर वे मगर भी मछुआरों द्वारा जाल में फँसा लिए जाते हैं ॥ ७६ ॥

शिशुमारभयोद्विग्नाः पिपासामतिवाह्य ते ।
न पिबन्त्यपि पानीयं पद्मिनीछायमाश्रिताः ॥ ७७ ॥

शिशुमार के भय से पिपासित एवं उद्विग्न होकर भी पद्मिनी की छाया वाले जल को भी वे नहीं पीते हैं ॥ ७७ ॥

यत्र पान्थो भुजङ्गेन परिदष्टोम्बुलालसः ।
चिकित्सकेन सुज्ञेन रसदानेन बोधितः ॥ ७८ ॥

जहाँ पर पथिक [विषय रूप] सर्पों से डसे जाकर पानी की इच्छा से व्याकुल हो जाते हैं और तब ज्ञानी चिकित्सक के द्वारा [औषधि] रस के दान से वे जगाए जाते हैं ॥ ७८ ॥

यत्राभिमानिनी वेश्या सेव्यमानातिनिर्घृणैः ।
उपस्थिता पञ्चनटैर्नित्यसेवनतत्परैः ॥ ७९ ॥

जहाँ पर अभिमानिनी वेश्याओं का विषय लोलुप लोगों द्वारा उत्कृष्ट रूप से सेवन किया जाता है । वहाँ [पञ्चेन्द्रिय रूप] पाँच नाटकीय पात्र नित्य ही तत्परता के साथ सेवन के लिए उपस्थित रहते हैं ॥ ७९ ॥

पिपासवो नटान् यान्ति प्रापयन्ति नटीं हि तान् ।
ततः क्रीडन्ति वेगेन स्वच्छन्दं च तदाज्ञया ॥ ८० ॥

तब वे [जीव रूप] नट विषयों की तृष्णा से तृषित होकर उन नटियों के पास जाते हैं और वहाँ उनकी आज्ञा से स्वच्छन्द रूप से अत्यन्त [विषय के] वेग से क्रीडा करते हैं ॥ ८० ॥

यदि सूर्यसहस्राणां प्रकाशपरमोज्ज्वलम् ।
उदेति ज्ञानविज्ञानं तदा शुष्यति नान्यथा ।। ८१ ।।

यदि सहस्रों सूर्य उदित होकर ज्ञान एवं विज्ञान के परम उज्ज्वल प्रकाश को दें तभी उनका अज्ञान नष्ट होता है। अन्यथा वे वैसे ही विषय तृष्णा में फँसे रहते हैं ।। ८१ ।।

उदिते तु परे ज्ञाने नाहं यूयं न किञ्चन ।
न यास्यन्ति परं तत्त्वं मदाद्या अपि देवताः ।। ८२ ।।

उस ज्ञान रूप सूर्य के उदित हो जाने पर 'मैं' और 'तुम' का भान ही समाप्त हो जाता है। इस परम तत्त्व ज्ञान को देवता भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं ।। ८२ ।।

किमुताल्पधियश्चान्ये स्वप्निका इव जाग्रतम् ।
यन्निर्बन्धसमाविष्टा प्राणेभ्योप्यति वल्लभा ।। ८३ ।।

कहीं तो छोटी बुद्धि वाले हैं और कहीं जागकर भी [मानों विषयों की तृष्णा में फँसे रहकर] स्वप्न देखने वाले हैं। कहीं पर लोग प्राण से भी प्यारी अपनी वल्लभा के बन्धन में समाविष्ट हैं ।। ८३ ।।

नोपदिष्टादूतचित्ता केतुमाले तपस्यति ।
तस्मान्मदानन्दमूलं नाहं वक्ष्ये कथञ्चन ।। ८४ ।।

[विषयों के लम्पट] छोटे चित्त के लोग उपदिष्ट होकर भी केतुमाल पर्वत पर तपस्या नहीं करते। इसलिए मेरे आनन्द का मूल [तत्त्व ज्ञान] मैं किसी से किसी प्रकार भी नहीं कहता हूँ ।। ८४ ।।

अन्यन्निवेद्यतां कृत्यं यदि योग्यं भवेन्मम ।
इत्युक्तास्तेमराः सर्वे वीक्ष्यमाणाः परस्परम् ।। ८५ ।।
परं विस्मयमापन्नाः श्रुत्वा शङ्करभाषितम् ।

'यदि मेरे लिए कोई अन्य योग्य कृत्य हो तो उसे बतावें'—इस प्रकार उन भगवान् शङ्कर के उपदेश को सुनकर वे देवगण अत्यन्त विस्मयान्वित होकर परस्पर एक दूसरे को देखते हुए कहने लगे ।। ८५-८६ ।।

देवा ऊचुः—

देवदेव महादेव जगतां ज्ञानदो गुरुः ।। ८६ ।।

यदात्थ देव तत्सत्यं विष्णुपत्नी तपस्यति ।
तत्तपो वह्निना विश्वं परितप्तं समन्ततः ।
किमद्य करणीयं वै तच्च शम्भो विचार्यताम् ।। ८७ ।।

देवों ने कहा—

हे देवों के देव महादेव ! समस्त जगत् के ज्ञान देने वाले गुरु ! जब तक भगवान् विष्णु की पत्नी लक्ष्मी जी तपस्या करेंगी तब तक उनकी अग्नि से यह समस्त विश्व परितप्त होता रहेगा । अतः हे शम्भो ! आप विचार करें कि क्या करना चाहिए ॥ ८६-८७ ॥

शिव उवाच—

रमा देवी जगच्छक्तिः प्रकृत्यंशमयी शिवा ।
विष्णोरानन्दलहरी यया भाति जगच्छिवम् ॥ ८८ ॥

भगवान् शिव ने कहा—

रमा देवी जगत् की शक्ति हैं । वह शिवा हैं, वह प्रकृति की अंश स्वरूपा हैं । वह भगवान् विष्णु की आनन्द की लहरी हैं जिससे यह समस्त विश्व आनन्दित होता है ॥ ८८ ॥

सा तपश्चरते तीव्रं जगद्दाहकरं महत् ।
पतिव्रता पतिं त्यक्त्वा नान्यं चापि प्रभाषते ॥ ८९ ॥

वही इस समय जगत् को भी जलाने वाला कठोर तप कर रही हैं । वस्तुतः पतिव्रता से पति के सान्निध्य के बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता ॥ ८९ ॥

न तस्मादन्यसंसाध्या बिना स्वपतिमाधवम् ।
तस्माद्विष्णुं व्रजामोद्य सर्वैं चापि वयं सह ॥ ९० ॥

अतः बिना उनके अपने पति माधव के कुछ भी साधन होना कठिन है । इस लिए हम सभी देवों के साथ विष्णु के पास चलें ॥ ९० ॥

गत्वा निवेदयिष्यामो जगतामशिवं च यत् ।
दृष्ट्वास्मानपि मानार्हान् जगद्भङ्गमपीक्ष्य च ॥ ९१ ॥
निषेधयिष्यति रमां तपसोऽसौ दुरत्ययात् ।
इति मे वाचमाकर्ण्य देवाः सर्वे गतज्वराः ॥ ९२ ॥

वहाँ जाकर जो जगत् के अकल्याण की बात है उसे हम लोग निवेदन करेंगे । हम सभी सम्मान के योग्य देवों को देखकर और जगत् की इस प्रकार की नष्ट होने की स्थिति को जानकर वे भगवान् विष्णु इस कठिन तपस्या से भगवती रमा को उपरत करेंगे । इस प्रकार मेरे वचनों को सुनकर सभी देवों के मन में शान्ति हुई ॥ ९१-९२ ॥

अहं चापि च तैः सार्धं गतः प्रियनिकेतनम् ।
यत्र सर्वे घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ९३ ॥

और मैं भी उनके साथ में 'प्रियनिकेतन' (भगवान् विष्णु के निवास स्थान) को गया। जहाँ पर सभी पार्षद आदि भी पीला और कौशेय रंग का कपड़ा पहने हुए बादलों के समान श्यामवर्ण के लग रहे थे ॥ ९३ ॥

किरीटिनः कुण्डलिनः शङ्खचक्रगदाधरः ।
तत्र गत्वा जगन्नाथः स्तुतो देवगणैरपि ॥ ९४ ॥

वे सभी अपने सिर पर मुकुट और कानों में कुण्डल, हाथों में शङ्ख, चक्र और गदा धारण किए हुए थे। वहाँ जाकर जगन्नाथ की देवगणों ने भी स्तुति की ॥ ९४ ॥

नमो मत्स्यकूर्मादिनानावतारैर्जगद्रक्षणायोद्यतायार्त्तिहर्त्रे ।
जगद्बन्धवे बन्धहर्त्रे च भर्त्रे जगद्विप्लवोपस्थितौ पालयित्रे ॥ ९५ ॥

हे भगवन् ! हे मत्स्य एवं कूर्म आदि नाना प्रकार के अवतारों को धारण करके जगत् की रक्षा के लिए उद्यत रहकर सभी के दुःखों का नाश करने वाले ! हे जगत् के बन्धु ! हे कर्म बन्धनों के हर्ता ! हे भर्त्ता ! हे और दारुण कष्टों के उपस्थित होने पर जगत् का पालन करने वाले ! आपको प्रणाम है ॥ ९५ ॥

यदा वेदपन्थास्त्वदीयः पुराणः प्रभज्येत पाखण्डचण्डोग्रवादैः ।
तदा देवदेवेश सत्त्वेन सत्त्वं वपुश्चारु निर्माय रक्षां विधत्से ॥ ९६ ॥

जब आपका पुरातन वैदिक [सनातन] धर्म उग्र पाखण्डियों के द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है तब आप, हे देवदेवेश, सत्त्व गुण से सत्त्वमय सुन्दर शरीर धारण करके हम सबकी रक्षा करते हैं ॥ ९६ ।

भूम्यम्बुतेजोनिलखात्मकं यत् ब्रह्माण्डमेतत्प्रविशन्निव त्वम् ।
चराचरं जीव इति प्रसिद्धिं गतोऽसि तस्मान्न भवत्परं यत् ॥ ९७ ॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, और आकाश रूप जो ब्रह्माण्ड है वह सब तुम्हारे में मानो प्रविष्ट है। वस्तुतः समस्त चराचर जगत् और जीव के रूप में आप ही भासित होते है। इसलिए आपसे अलग कोई श्रेष्ठ तत्त्व नहीं है ॥ ९७ ॥

रक्षस्व नाथ लोकांस्त्वं तपसोग्रेण पद्मया ।
दह्यमानान् गतानन्दान् रक्षितासीश्वरो यतः ॥ ९८ ॥

अतः हे नाथ ! आप भगवती रमा के द्वारा किए गए उग्र तपस्या से जलने वाले इन लोकों की रक्षा करें, क्योंकि आप ही इनकी रक्षा करने में समर्थ हैं ॥ ९८ ॥

निवर्त्तय परमां साध्वीं तव प्राणाधिकां प्रियाम् ।
न वै स्त्रियो विरोद्धव्या गृहमेधिभिरन्वहम् ॥ ९९ ॥

अतः आप अपनी प्राणों से भी अधिक प्रिया परम साध्वी देवी रमा को उग्र

तप से उपरत करें। इसीलिए गृह स्वामी को कभी भी स्त्रियों का विरोध नहीं करना चाहिए ॥ ९९ ॥

यद्गृहे स्त्री विरुद्धा स्याद्यदिवाप्यवमानिता।
न तद्गृहे सुखं सम्पन्न चारोग्यं प्रजासुखम् ॥ १०० ॥

फिर जिस गृह में स्त्री पति से विरोध करके रहतीं है अथवा वह अपमानित की जाती है उस गृह में कभी सुख, समृद्धि और आरोग्य एवं पुत्र पौत्र आदि प्रजा का सुख नहीं होता ॥ १०० ॥

कथं सुखेन वर्त्तेत विश्वमेतद्भवद्गृहम्।
त्वयि विरोधमापन्ने गृहिण्या समशीलया ॥ १०१ ॥

इसलिए आपका गृह रूप यह विश्व कैसे सुख से रह सकता है ? जबकि समान शील सम्पन्न आपकी गृहणी का आपसे विरोध हो गया है ॥ १०१ ॥

तस्माद्विश्वस्य रक्षार्थं सावधानो भव प्रभो।
इत्यावेद्यामराः सर्वे प्रणम्य जगतां पतिम् ॥ १०२ ॥
बद्धाञ्जलिपुटास्तूष्णीमासन् म्लानमुखाम्बुजाः ॥ १०३ ॥

इति श्रीपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वती-
संवादे तृतीयं पटलम् ॥ ३ ॥

——०——

इसलिए, हे प्रभो ! विश्व की रक्षा के लिए आप सावधान होइए। इस प्रकार निवेदन करके सभी देव जगत् के पालक भगवान् विष्णु को प्रणाम करके मुरझाए हुए कमल के समान मुख से वहीं हाथ जोड़कर चुपचाप बैठ गये ॥ १०२-१०३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारद पाञ्चरात्र आगमगत माहेश्वरतन्त्र के उत्तर खण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शंकर के संवाद के तृतीय पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

——०——

अथ चतुर्थ पटलम्

शिव उवाच—

अथ तेषां वचः श्रुत्वा देवानामतिविक्लवम् ।
प्रहसन्वाचमकिरत् देवानां हृदयङ्गमाम् ॥ १ ॥

भगवान् शिव ने कहा—

इसके बाद उन अत्यन्त क्लान्त देवों के वचन सुनकर हँसते हुए उन देवों के लिए हृदयङ्गम लगने वाली वाणी से कहा ॥ १ ॥

विष्णुरुवाच—

भो महेश विधे ब्रह्मन् शक्राद्याः शृणुतामराः ।
मम प्राणप्रिया देवी रमा देवी तपस्विनी ॥ २ ॥

कलहान्तरिता जाता केतुमाले तपस्यति ।
तेनोग्रतपसा विश्वं परितप्तं समन्ततः ॥ ३ ॥

भगवान् विष्णु ने कहा—

हे महेश, हे विधि, हे ब्रह्मन्, हे इन्द्र आदि देवों सुनो—मेरी प्राणप्रिया देवी तपस्विनी रमा देवी कलहान्तरित होकर केतुमाल पर्वत पर तपस्या कर रही हैं। उनके उस उग्र तप से समस्त विश्व परितप्त होने लगा है ॥ २-३ ॥

न सा सन्तोषमायाति स्वनिश्चितमृते सुराः ।
स्त्रीणां जातिस्वभावोऽयं कार्कश्यमविवेकिता ॥ ४ ॥

हे देवो ! उन्हें अपने निश्चय को छोड़कर संतोष नहीं होता था। वस्तुतः स्त्रीजाति का यह स्वभाव ही है कि वे कर्कश और विवेकविहीन होती है ॥ ४ ॥

अशौचं निर्दयत्वं च निर्बन्धः साहसं तथा ।
लोभानृतं च कपटं मूर्खत्वमपदे च रुत् ॥ ५ ॥

अशौच, निर्दय होना, हठवादिता तथा साहसी होना, लोभी प्रवृत्ति, झूठ बोलना और कपट व्यवहार, मूर्खता एवं बिना कारण रोना आदि स्त्रियों का स्वभाव ही है ॥ ५ ॥

नष्टं कुलं कुतनयात् नष्टं राज्यं कुमन्त्रिणा ।
ब्राह्मणः शूद्रसेवाभिरनभ्यासात्सरस्वती ॥ ६ ॥

वस्तुतः कुपुत्र से कुल नष्ट हो जाता है। कुमन्त्री से राज्य नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण शूद्र-सेवा से नष्ट हो जाता है और सरस्वती बिना अभ्यास के नष्ट हो जाती है ।। ६ ।।

निद्रया नष्टमायुष्यं[1] अनुद्योगात्समृद्धयः ।
गुणा लोभैर्धनं पापैः सुखं नष्टं कुभार्यया ।। ७ ।।

निद्रा से आयुष्य नष्ट होता है, उद्योग के बिना समृद्धि नहीं होती, लोभ से गुण नष्ट हो जाते हैं, पापों से धन नष्ट हो जाता है और अन्ततः कुत्सित भार्या से सुख समाप्त हो जाता है ।। ७ ।।

यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्द्धते ।
प्रातिकूल्येन नश्येत ग्रीष्मे बीजाङ्कुरा इव ।। ८ ।।

जहाँ पति पत्नी में आनुकूल्य होता है वहाँ [धर्म, अर्थ एवं काम] त्रिवर्ग वृद्धि को प्राप्त करते हैं और यदि उनमें प्रतिकूलता हो तो वे त्रिवर्ग नष्ट हो जाते हैं जैसे ग्रीष्मकाल में बीज का अङ्कुर ही सूख जाता है ।। ८ ।।

देवी निर्बन्धमापन्ना विरमेन्न कथञ्चन ।
जगतामसुखं भूरि प्रवृत्तं तन्निवर्तते ।। ९ ।।

देवी रमा ने किसी भी प्रकार अपने हठ को नहीं छोड़ा। जगत् का बहुत अकल्याण होवे इसीलिए वह लौटती ही न थीं ।। ९ ।।

प्रतिक्रियां करिष्यामि यात यूयं मुदान्विताः ।
इति देवा वचः श्रुत्वा परिक्रम्य जनार्दनम् ।। १० ।।
प्रणम्य पुनरायाताः स्वं स्वं धाम प्रहर्षिताः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च ईशश्च केतुमालं गतास्तथा ।। ११ ।।

अतः इसके लिए कुछ कार्य मैं करूँगा। आप सब प्रसन्न होकर जाइए। इस प्रकार वचन सुनकर देवों ने जनार्दन भगवान् की परिक्रमा की और उन्हें प्रणाम करके वे पुनः आने के लिए प्रकृष्ट रूप से हर्षित होकर अपने-अपने स्थान पर चले गये तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी तब केतुमाल पर्वत पर चले गये ।। १०-११ ।।

यत्र सा निश्चलवपुः पदाङ्गुष्ठेन संस्थिता ।
ऊर्ध्वदृष्टिर्निरुद्धान्तःपवना सा मनस्विनी ।। १२ ।।
स्वभालशिखिविद्योतज्ज्वालाभिर्ग्रसतीव हि ।
ब्रह्माण्डं कवलाकारं कल्पान्तेग्निशिखा यथा ।। १३ ।।

---

१. अत्र आयुरेवायुष्यम् नत्वायुषे हितमायुष्यम् ।

जहाँ वह देवी निश्चल शरीर एवं मात्र पैर के एक अँगूठे पर ही खड़ी हुई; ऊपर की ओर दृष्टि की हुई अपने स्वास्-प्रश्वास रूप अन्तःपवन को रोककर वह मनस्विनी मानों अपने ललाट की ज्वाला की लपटों में ग्रसित होती हुई सी जान पड़ती थीं। वह ब्रह्माण्ड को कवर (=ग्रास) बनाती हुई जैसे कल्पान्त की अग्नि शिखा सी प्रतीत होती है थी ॥ १२-१३ ॥

दृष्ट्वा तां च तथाभूतां त्रयो ब्रह्मादिका वयम् ।
परमं विस्मयं जग्मुर्देव्याश्चरितमद्भुतम् ॥ १४ ॥

ततस्तन्निकटं गत्वा हरिः प्राह हसन्निव !
रमे प्राणप्रिये देवि वृथा किं परितप्यसे ॥ १५ ॥

इस प्रकार उनको हम तीनों ब्रह्मा आदि देवों ने देखा और तब इस प्रकार देवी का अद्भुत चरित्र देखकर हम अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गए। तब उनके निकट जाकर हँसते हुए भगवान् विष्णु ने इस प्रकार कहा—हे रमे, हे प्राणप्रिये, हे देवि, तुम व्यर्थ क्यों तपस्या कर रही हो ? ॥ १४-१५ ॥

निवृत्तिमेहि तपसो वृथायासफलादिह ।
बह्वायासं चाल्पफलं न कर्माचरणं सताम् ॥ १६ ॥

इस तपस्या से निवृत्त होओ। यहाँ फल की अपेक्षा तपस्या में अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है क्योंकि सत्पुरुष बहुत परिश्रम करके अल्प फल वाले कर्म के आचरण में प्रवृत्त नहीं होते ॥ १६ ॥

ध्यानानन्दरसे लीनं तन्मनोवतरत् क्षणात् ।
एवमुक्ते तु हरिणा प्रियां सान्त्वयता भृशम् ॥ १७ ॥

ददर्श प्रियमङ्कस्थं घनश्यामं चतुर्भुजम् ।
विरञ्चीशानसहितं वनमालाविभूषितम् ॥ १८ ॥

तब ध्यान रूप आनन्द के रस में लीन उनका मन क्षण भर के लिए ध्यान से विरत हो गया। इस प्रकार भगवान् विष्णु बारम्बार प्रिया रमा को सान्त्वना दे ही रहे थे, तभी उन दोनों ने प्रिया को गोद में लिए हुए चतुर्भुज रूप में घनश्याम को देखा। वह बनमाला से विभूषित थे। उनके साथ ब्रह्मा और भगवान् शङ्कर भी थे ॥ १७-१८ ॥

ननाम दण्डवद्भूमौ कृताञ्जलिपुटा रमा ।
नोवाच वचनं किञ्चित् नोत्थितापि पुना रमा ॥ १९ ॥

उब रमा ने अञ्जलि बाँधकर दण्ड के समान भूमि में गिरकर प्रणाम किया। उन्होंने (घनश्याम, ब्रह्मा और शङ्कर ने) कुछ भी न कहा और पुनः देवी रमा भी नहीं उठी ॥ १९ ॥

हरिस्तत्प्रेम परमं स्वस्मिन् वीक्ष्य सुविस्मितः ।
प्राह देवीं हरिः प्रीत्या शृण्वतो विधिरुद्रयोः ।। २० ।।

भगवान् हरि ने अपने में उनका प्रगाढ़ प्रेम देखकर सुन्दर स्मितयुक्त मुख-मुद्रा में होकर ब्रह्मा और रुद्र को सुनाते हुए देवी से प्रीतियुक्त इन वचनों को कहा ।। २० ।।

विष्णुरुवाच—

अहो धन्यासि धन्यासि कमले लोकवन्दिते ।
आत्मनोऽर्धं स्त्रियः साध्व्यः पुंसो धर्मपरायणाः ।। २१ ।।

भगवान् विष्णु ने कहा—

अहो देवि ! तुम धन्य हो, धन्य हो । हे कमले ! हे लोकों से स्तुत ! वस्तुतः साध्वी स्त्री धर्म-परायण पुरुष का अपना आधा अङ्ग है ।। २१ ।।

स्त्रीसाहाय्येन जेतव्या लोका धर्मपरायणैः ।
अपत्नीकस्य ते सर्वे भवन्ति विफला यतः ।। २२ ।।

अतः धर्मपरायण जन को चाहिए कि वह स्त्री की सहायता से लोकों को जीतें । क्योंकि बिना पत्नी के उनके वे सभी कार्य विफल हो जाते हैं ।। २२ ।।

स्त्रीमूलं सर्वधर्माणां तदभावात्कुतश्च ते ।
तैर्विना न भवन्त्येव लोका ज्ञानमथापि वा ।। २३ ।।

वस्तुतः सभी धर्मों का मूल स्त्री ही है । फिर उसके अभाव में वे कहाँ रहेंगे ? उनके बिना लोक भी नहीं होता है और न तो ज्ञान ही होता है ।। २३ ।।

धिक् जीवितं स्त्री रहितस्य लोके जुगुप्सितं धर्मविदां समाजे ।
देवा मुनीन्द्रातिथयोऽपि यस्य गृहाण्युपेक्षन्त इवाधनं जनाः ।। २४ ।।

वस्तुत संसार में स्त्री रहित व्यक्ति का जीवन धिक्कार है । धर्मविद का समाज में छिप कर रहना धिक्कार ही है क्योंकि देव, मुनीन्द्र और अतिथि भी उसके गृह की उपेक्षा धनविहीन जन के समान करते हैं ।। २४ ।।

किं धनैर्विभवाकल्पैर्विभवैः किं सुखच्युतैः ।
किं सुखं यस्य नो वेश्मन्युदारा धर्मचारिणी ।। २५ ।।

उस धन से क्या लाभ जिसमें आकल्प वैभव न हो और वह वैभव भी किस काम का जो सुख से रहित हो, फिर उस सुख से भी क्या लाभ कि जिसके घर में उदार एवं धर्मचारिणी स्त्री न हो ।। २५ ।।

दुःशीलं दुर्नयं दुष्टं दरिद्रं जरया प्लुतम् ।
पतिं पुष्णाति कुलजा तस्मात्स्त्री तु गरीयसी ।। २६ ।।

वस्तुतः स्त्री इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि वह शीलरहित भी,, दुर्विनीत दुष्ट, दरिद्र एवं वृद्धावस्था से परिप्लुत भी पति के कुल को उत्पन्न करके पुष्ट ही करती है ।। २६ ।।

न मित्रं स्त्रीसमं मन्ये न बन्धुं न सहोदरम् ।
यतस्ते पृथगालोच्याः स्त्री तु नैव कदाचन ।। २७ ।।

स्त्री के समान मित्र कोई नहीं है, उसके समान कोई बन्धु नहीं है और न कोई सहोदर भाई ही है । अतः वे पृथक् रूप से आलोच्य हैं किन्तु पति के साथ रहने वाली स्त्री कभी भी आलोच्य नहीं है ।। २७ ।।

सुखे वा यदि वा दुःखे जीविते मरणेऽपि वा ।
न मित्रं स्त्रीसमं क्वापि सत्यं सत्यं प्रियंवदे ।। २८ ।।

सुख हो या दुःख, जीवन हो या मरण हे प्रियंवदे ! मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि स्त्री के समान कोई भी मित्र नहीं है ।। २८ ।।

तस्मात्त्वं तु विशेषेण स्त्रीरत्नं मम रोचसे ।
मूर्धन्या पतिदेवानां यतस्त्वं परिगीयसे ।। २९ ।।

इसलिए तुम स्त्री रूप रत्न हमको विशेष रूप से रुचिकर हो । क्योंकि तुम पतिदेव के लिए मूर्धन्य हो इसलिए गीयमान हो ।। २९ ।।

स्त्रीणामपि परो धर्मः पतिशुश्रूषणं च यत् ।
कायेन मनसा वाचा ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ।। ३० ।।

क्योंकि स्त्रियों का भी श्रेष्ठ धर्म शरीर से, मन से और वाणी से पति की सेवा-सुश्रूषा करना ही है । अतः उस (पति) से बढ़कर उनके लिए कुछ भी नहीं है ।। ३० ।।

या स्त्रीपतिव्रता लोके पतिधर्मपरायणा ।
तदुक्तमेव कुर्वाणा सुखमक्षयमश्नुते ।। ३१ ।।

जो स्त्री लोक में पतिव्रता है और पतिधर्म में परायण है वह इस प्रकार पातिव्रत्य का आचरण करते हुए अक्षय सुख को प्राप्त करती है ।। ३१ ।।

तस्मादहं ते तपसा परितुष्टोऽस्मि साम्प्रतम् ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपसो लोकदःखदात् ।। ३२ ।।

इस लिए तुम्हारे तप से मैं इस समय सन्तुष्ट हूँ । तुम्हारा कल्याण हो, उठो, तुम लोक को दुःख देने वाले इस तप से उठो ।। ३२ ।।

व्यतीयुः सप्तकल्पास्ते साधिकाः कोमलां तनुम् ।
ग्लपयन्त्या ह्यनुदिनं नोचितस्ते वृथा श्रमः ।। ३३ ।।

सात कल्प तुमने बिता दिए। कहाँ यह कोमल गात ? कहाँ इतना कठिन साधन ? एक-एक दिन करके इस शरीर को कृश करना उचित नहीं है। यह तुम्हारा श्रम व्यर्थ है ॥ ३३ ॥

पुष्पशय्यासु रुचिरं वपुस्ते परिखिद्यते।
सा कथं चण्डतिग्मांशुं सहते तापवर्षिणम् ॥ ३४ ॥

पुष्पमयी शय्या पर सोने वाले मनोरम शरीर को तुम इस कठोर तप में लगाकर उसे कष्ट पहुँचा रही हो। वह तुम्हारा कोमल गात इस ताप की लहरी से युक्त प्रचण्ड एवं तीक्ष्ण किरणों को कैसे सह पा रहा है ? ॥ ३४ ॥

शीतोष्णवातवर्षाभ्यां परिक्लिष्टा वपुर्लता।
वेणीभूता मूर्धजास्ते मनो मे खेदयन्ति च ॥ ३५ ॥

तुम्हारी शरीर रूपी लता जाड़े की शीत लहरी और ग्रीष्म काल की तापलहरी एवं वर्षा में खुले आकाश में रहने से बहुत क्लान्त हो गई है। तुम्हारी वेणीभूत जटा हमारे मन को बहुत दुःखी कर रही हैं ॥ ३५ ॥

मन्दास्मितप्रभोदारं मुखं बिम्बाधरं तव।
हिमक्लिष्टं न चाभाति हेमन्तकमलं यथा ॥ ३६ ॥

मन्द मन्द मुस्कान की कान्ति से उदार लगने वाला तुम्हार मुख और बिम्ब के फल के समान तुम्हारे अरुण वर्ण के ओष्ठ उसी प्रकार शोभित नहीं हो रहे हैं जैसे पाला मार देने से हेमन्त ऋतु का कमल कान्तिविहीन हो जाता है ॥ ३६ ॥

चण्डतिग्मांशुतापेन कपोलौ श्यामलौ तव।
मुक्तादामश्रिया हीनौ न शोभा ते (शोभेते) यथा पुरा ॥ ३७ ॥

तुम्हारे दोनों कपोल तीक्ष्ण एवं प्रचण्ड धूप की किरणों से श्याम वर्ण के लग रहे हैं। जैसे मोती अपनी श्री से हीन हो जाय उसी प्रकार तुम भी पहले के समान शोभित नहीं हो रही हो ॥ ३७ ॥

अनञ्जनं च नयनं भालं काश्मीरवञ्चितम्।
मुखं ताम्बूलरहितं वीक्षतः कस्य ते सुखम् ॥ ३८ ॥

बिना काजल लगाए हुए नेत्र और बिना मङ्गल टीका के ललाट और ताम्बूल से रहित तुम्हारा मुख देखकर कौन सुखी होगा ? ॥ ३८ ॥

मा शोषय वपू रम्यं तपसा दुर्द्धरेण वै।
मूर्ध्ना प्रणम्य ते पादं प्रार्थयामि पुनः पुनः ॥ ३९ ॥

कठोर तपस्या से अपने मनोरम शरीर को मत सुखाओ। तुम्हारे चरणों में सिर से प्रणाम कर पुनः पुनः मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ ।। ३९ ।।

किं ध्यायसि रह इति यत्प्रष्टं कमले त्वया।
अवाच्यं तत्तु जानीहि अपि कल्पायुतायुतैः ।। ४० ।।

'तुम एकान्त में क्या सोच रहे हो' यह जो तुमने मुझसे पूँछा था। उसे कोटि-कोटि कल्पों में भी किसी से नहीं कहना चाहिए। फिर भी उसे तुम जान लो ।। ४० ।।

तथापि कथयिष्यामि कृतस्ते तपसा ह्यहम्।
साक्षान्न जिह्वया वाच्यं तत्तु देवि कथञ्चन ।। ४१ ।।

(यह यद्यपि अकथनीय है) फिर भी मै तुमसे कहूँगा क्योंकि उसके लिए तुमने कठोर तप किया है। हे देवि साक्षात् वाणी से इसे नहीं कहना चाहिए ।। ४१ ।।

तथापि कथयिष्यामि प्रकारं शृणु सुन्दरि।
द्वापरान्तेऽष्टाविंशतिमे असुरा नृपरूपिणः।
वेदमार्गविनाशाय यतिष्यन्ति दुराशयाः ।। ४२ ।।

तथापि, हे सुन्दरो ! तुम सुनो। में उसके प्रकार को कहूँगा—अट्ठाइसवें द्वापर के अन्त में राजा रूपी असुर वेदमार्ग के विनाश के लिए दुष्ट बुद्धि से प्रयत्न करेंगे ।। ४२ ।।

स्त्रीगोब्राह्मणसाधूनां धर्मिष्ठानां तपस्विनाम्।
वर्णाश्रमाणां सेतूनां स्वस्वधर्मानुवर्त्तिनाम् ।। ४३ ।।

करिष्यन्ति यदा पीडां तदाहं धर्मगुप्तये।
वेदधर्मादिरक्षार्थं विनाशाय दुरात्मनाम् ।। ४४ ।।
ययातिकुलजातस्य यदुराजस्य वेश्मनि।
वासुदेवो भविष्यामि नाम्ना कृष्णेति विश्रुतः ।। ४५ ।।

स्त्री, गो, ब्राह्मण और साधु जनों एवं तपस्वियों तथा धर्मिष्ठों अर्थात् अपने धर्म मार्ग पर चलने वाले वर्णाश्रमियों को जब वे असुर पीडा पहुँचाएंगे, तब मैं धर्म की रक्षा के लिए; वेद एवं धर्म आदि के गोपन के लिए तथा दुरात्माओं के बिनाश के लिए ययाति के कुल में उत्पन्न यदुराज के गृह में वसुदेव पुत्र के नाम से विख्यात होकर जन्म लूँगा ।। ४३-४५ ।।

तत्रापि त्वं रुक्मिणीति भविष्यसि वराङ्गना।
तत्र त्वां केचन नृपा असुरा ज्ञानदुर्बलाः ।। ४६ ।।

आयास्यन्ते समुद्वोढुं जित्वा तान् समरे खलान् ।
उद्वहिष्यामि भवतीं मच्चितां नात्र संशयः ॥ ४७ ॥

वहाँ भी तुम मेरी स्त्रियों में श्रेष्ठ 'रुक्मिणी' नाम से मेरी पत्नी होगी । वहाँ पर भी तुमसे कुछ अज्ञानी असुर राजा विवाह करना चाहेंगे । तब उन सभी दुष्टों को जीतकर मेरे में अनुरक्त तुम्हें मैं विवाह कर लूँगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ४६-४७ ॥

तदा कुलाङ्गनाः पुत्रपतिवन्त्यः पतिव्रताः ।
गास्यन्ति मङ्गलार्थं तु मच्चरित्राणि सुन्दरि ॥ ४८ ॥
उपचारविधानेन तच्छ्रुत्वा हृदय मम ।
भविष्यति सुखापूर्णं यथाम्भोधिर्विधूदये ॥ ४९ ॥

तब, हे सुन्दरि ! वहाँ की कुलाङ्गनाएँ पुत्र और पति वाली पतिव्रता स्त्रियाँ मङ्गल गान के लिए मेरे चरित्रों का गान करेंगी । उस [षोडशोपचार] पूजन अर्चन को सुनकर मेरा हृदय उसी प्रकार प्रसन्न होगा जैसे चन्द्रमा के उदय से समुद्र प्रसन्न होता है ॥ ४८-४९ ॥

ईदृक्तादृगितिगिरां न वक्तुं भवतीं क्षमम् ।
स्वयमेवानुभवति शर्कराक्षीरपानवत् ॥ ५० ॥

अतः इधर-उधर की वाणी बोलना तुम्हारे लिए ठीक नहीं है । शर्करा मिश्रित दुग्ध के पीने के समान तुम तो स्वयं ही उसका अनुभव करोगी ॥ ५० ॥

तत्सुखाम्भोनिधेर्देवि कणिकापि कथञ्चन ।
न ब्रह्मादिषु देवेषु वर्ततेन्यत्र का कथा ॥ ५१ ॥

हे देवि ! उस आनन्द समुद्र का एक कण भी ब्रह्मा आदि देवों को भी किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता तो दूसरे प्राणियों की तो बात ही क्या है ॥ ५१ ॥

नोपदिष्टं तु तद्वेति न शब्दैरुपदिश्यते ।
केवलानुभवाकारं वेत्त्येकोनुभवी सदा[1] ॥ ५२ ॥

आनन्द 'वह है' इस प्रकार इसका उपदेश नहीं किया जा सकता । वस्तुतः यह शब्द से उपदेश करने योग्य नहीं है । यह तो मात्र अनुभव की वस्तु है, अर्थात् आनन्द का वर्णन शब्द से नहीं किया जा सकता है । वह तो अनुभव की वस्तु होने से मेरे कहने योग्य नहीं है ॥ ५२ ॥

अनुमानप्रमाणेन ह्यनुमेयं कथञ्चन ।
लक्षणैर्देव देवेशि नान्योपायैः कथञ्चन ॥ ५३ ॥

---

१. 'प्रया वक्तुं न योग्यं यत्' इति वा पाठः ।

यह (दिव्य-आनन्द) अनुमान (प्रमाण) के द्वारा किसी न किसी प्रकार अनुमित ही किया जा सकता है। हे देवि, हे देवेशि, उसका स्वरूप कुछ लक्षणों के द्वारा ही बताया जा सकता है, और किसी भी अन्य प्रकार से वह बताने योग्य नहीं है ॥ ५३ ॥

लक्षणानि तु ते वच्मि शृणु सुन्दरि यत्नतः।
अन्तः सुखसमुद्वेल्लो बहिः सन्धानविस्मृतिः ॥ ५४ ॥

अतः, हे सुन्दरि, मैं उस आनन्द के (कुछ) लक्षणों को तुमसे कहूँगा। तुम सावधान होकर सुनो,—

१. जब अन्तरात्मा [ब्रह्मानन्द रूप] सुख से समुद्वेलित हो उठती है तब बाहरी जगत् की विस्मृति हो जाती है ॥ ५४ ॥

नेत्रयोरश्रुसंवाहः कम्पः स्वेदोदयस्तथा।
रोमाञ्चः कण्ठरोधश्च लक्षणानि च वै विदुः ॥ ५५ ॥

२. नेत्रों से अश्रु की धारा बहने लगती है, ३. कंपकपी सी होने लगती है और ४. पसोना निकलने लगता है। ५. शरीर पुलकित हो उठता है और ६. कण्ठावरोध हो जाता है (जिससे भर्राई सी आवाज निकलती है)—इस प्रकार इन आनन्द के लक्षणों को जानो ॥ ५५ ॥

इत्येतैर्लक्षणैर्देवि मदन्तःकरणस्थितम्।
[1]सुखं मद्ध्यानयोग्यं यत्तज्ज्ञास्यसि केवलम् ॥ ५६ ॥

हे देवि ! इन लक्षणों से युक्त वह ब्रह्मानन्द मेरी अन्तरात्मा में विद्यमान हैं। जब तुम मेरे (भगवान् विष्णु के) समान ध्यान करोगी, तभी तुम्हें उसकी अनुभूति होगी ॥ ५६ ॥

तावत्त्वं तं च समयं परिपालय वल्लभे।
इत्येतत्ते समाख्यातं सर्वस्वं मे न संशयः ॥ ५७ ॥

इसलिए, हे प्राणवल्लभे ! तुम (ध्यान से जब तक आनन्दानुभूति न हो) तब तक के समय का परिपालन करो। यह सब हमने तुमसे कह दिया है इसमें कोई सन्देह मत मानो ॥ ५७ ॥

श्रुतीनां चापि सर्वासां रहस्यं त्विदमेव हि।
इदमेव परं ज्ञानमिदमेव परा क्रिया ॥ ५८ ॥
इदमेव परो योग इदमेव परो मखः।
इदमेव परं ध्येयमिदमेव परा गतिः ॥ ५९ ॥

---

१. 'मया वक्तुं न योग्यं यत्' इत्यपि पाठः।

क्योंकि यह [आनन्दानुभव] तो समस्त श्रुतियों का भी रहस्य है, अतः यही श्रेष्ठ 'ज्ञान' है और यही श्रेष्ठ 'क्रिया' है ॥ ५८ ॥ यही श्रेष्ठ 'योग' है। यही श्रेष्ठ 'यज्ञ' है। यही श्रेष्ठ 'ध्येय' है और यही श्रेष्ठ 'गति' है ॥ ५९ ॥

इदमेव परं ज्ञेयमिदमेव महाधनम् ।
इदमेवाखिला सम्पत् सत्यं सत्यं पतिव्रते ॥ ६० ॥

यही श्रेष्ठ 'ज्ञेय' (जानने योग्य) है। यही महान धन है। हे पतिव्रते ! यह सत्य-सत्य समझो कि यही [आनन्दानुभाव] समस्त समृद्धि है ॥ ६० ॥

इत्येवं विष्णुना प्रोक्ता रमा देवी पतिव्रता ।
जहौ तापं च ग्रीष्मार्त्ता भूरिवाम्भोदतर्पिता ॥ ६१ ॥

इस प्रकार भगवान् विष्णु के कहने पर पतिव्रता रमादेवी ने उसी प्रकार संताप को छोड़ दिया जैसे ग्रोष्मकाल में तप्त भूमि तीक्ष्ण वर्षा से संतृप्त होकर संताप को छोड़ देती है ॥ ६१ ॥

विकसन्नयनाम्भोजा प्रमोदभरविह्वला ।
पपात पादयोर्भर्तुः दण्डवत् विमलाशया ॥ ६२ ॥

अत्यन्त प्रमोद से परिपूर्ण होकर विह्वल से हुए उनके नेत्र-कमल खिल उठे और विमल बुद्धि से अपने भर्ता (विष्णु) के चरणों में उन्होंने दण्डवत् प्रणाम किया ॥ ६२ ॥

ब्रह्मणापि मया चापि संस्तुता बहुधा गिरा ।
तपसः फलमभ्येत्य कृतार्थोऽस्मीत्यमन्यत ॥ ६३ ॥

वहाँ हम (शंकर) ने और ब्रह्मा आदि देवों ने भी बहुत प्रकार से उनकी स्तुति की। हमलोगों ने तपस्या का फल प्राप्त कर लिया और यह समझा कि 'मैं कृतार्थ हूँ' ॥ ६३ ॥

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ।
जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ६४ ॥

उस समय देवों ने स्वर्ग से पुष्पों की वर्षा की और दुन्दुभियाँ बजाईं। गन्धर्वों ने मधुर गान किया और अप्सराओं का समूह आनन्द से विभोर होकर नाच उठा ॥ ६४ ॥

सप्तर्षयः समभ्येत्य तुष्टुवुस्तामनिन्दिताम् ।
तापः शशाम जगतां सर्वत्रासीत् सुमङ्गलम् ॥ ६५ ॥

सप्तर्षियों ने भी आकर उन अनिन्दित रमा को स्तुतियों से सन्तुष्टि किया। इस

प्रकार जगत् का ताप शमित हो गया और सभी ओर सुमङ्गल छा गया ॥ ६५ ॥

ववौ वायुः सुखस्पर्शो दिगासीद्विमलप्रभा ।
जलान्यासन्प्रसन्नानि जज्वलुर्वह्नयः शुभाः ॥ ६६ ॥

मन्द-मन्द सुखस्पर्श वायु प्रवाहित हुई और विमल प्रभा से दिशाएँ युक्त हो गईं। उद्वेलित जल शान्त हो गए और शुभ वह्नियाँ जल उठी ॥ ६६ ॥

मनांस्यासन्प्रसन्नानि भूतानां नष्टचेतसाम् ।
इत्येवं मङ्गले जाते प्रसन्ना दिवि देवताः ।
पृथिव्यां मानवाः सर्वे पाताले पन्नगेश्वराः ॥ ६७ ॥

नष्ट हुए प्राणिजात के मन पुनः प्रहृष्ट हो गए। इस प्रकार सर्वत्र मङ्गलमय वातावरण हो जाने से स्वर्ग में देवता भी प्रसन्न हो गये। इतना ही नहीं पृथ्वी में सभी मानव और पाताल में सभी नागों आदि की जातियाँ भी प्रसन्न हो गईं ॥ ६७ ॥

ब्रह्मलोकं गतो ब्रह्मा अहं कैलासमागतः ।
गृहीत्वा च करे लक्ष्मीं विष्णुः स्वनिलयं प्रति ॥ ६८ ॥

ब्रह्मा ब्रह्मलोक को चले गये और मैं (शङ्कर) भी कैलास को चला आया और भगवान् विष्णु ने भी अपनी पत्नी लक्ष्मी के हाथों को पकड़कर अपने निवास स्थान (बैकुण्ठ) के प्रति प्रस्थान किया ॥ ६८ ॥

इत्येवं ते मयाख्यातं त्वया पृष्टमनिन्दिते ।
तत्वज्ञानं न सुलभं तस्माद् गोप्यतमं प्रिये ॥ ६९ ॥

इस प्रकार हे अनिन्दिते ! जो तुमने पूछा है वह मैंने तुम्हें बता दिया है। हे प्रिये ! यह तत्त्वज्ञान सरलता से प्राप्त होने योग्य नहीं है। अतः इसे प्रयत्नपूर्वक गोपित करके ही रखना चाहिए ॥ ६९ ॥

तत्वज्ञानाधिकारज्ञो विरलाः सन्ति केचन ।
कालेन बहुना देवि तान् परीक्ष्य प्रकाशयेत् ॥ ७० ॥

तत्त्वज्ञान के अधिकारी—

हे देवि ! तत्त्वज्ञान का अधिकारी विरला ही कोई व्यक्ति होता है। अतः बहुत समय तक उसकी परीक्षा करके ही इस रहस्य का उद्घाटन करना चाहिए ॥ ७० ॥

स्नेहाल्लोभाद्भयाद्वापि योऽन्यस्मै वक्ति मूढधीः ।
नाऽसौ ज्ञानी भवेद्देवि उदरम्भरिरेव सः ॥ ७१ ॥

स्नेह, लोभ या भय से जो मूर्ख इसे एक दूसरे को बता देता है तो उससे वह ज्ञानी नहीं हो जाता। हे देवि ! उससे वह मात्र पेट भरने वाला ही हो सकता है ॥ ७१ ॥

सहसवाससेवाभिस्ताडनैः परुषोक्तिभिः ।
यदा न याति कालुष्यं सोधिकारी मतो मम ॥ ७२ ॥

एक साथ रहने पर उसकी सेवाओं से उसकी परीक्षा करके तथा उसे अनेक प्रकार से प्रताड़ित करने पर तथा कठोर वचन कहने पर भी जब उसका मन कलुषित न हो तो वही, मेरे विचार से, इस तत्त्वज्ञान का अधिकारी है ॥ ७२ ॥

श्रुत्वा तत्वकथावादं वपूः रोमाञ्चसङ्कुलम् ।
हर्षाश्रुव्याकुले नेत्रे सोऽधिकारी मतो मम ॥ ७३ ॥

मेरे विचार से वही इस तत्त्वज्ञान का अधिकारी है जिसका शरीर इस तत्त्वज्ञान एवं कथा को सुनकर रोमाञ्चित प्राय हो जाय और अत्यन्त हर्षातिरेक से अश्रुपूरित होकर व्याकुल हो जाय ॥ ७३ ॥

परापवादविमुखो परस्त्रीधननिस्पृहः ।
अक्रोधी लोभनिर्मुक्तः शान्तः शास्त्रविचक्षणः ॥ ७४ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्वज्ञः श्रद्धालुर्गतसाध्वसः ।
गुणरागी सदात्यागी विरागी बाह्यवस्तुषु ॥ ७५ ॥

वही अधिकारी है जो पर निन्दा से विमुख हो, पराई स्त्री और पराये धन से निस्पृह हो। जो क्रोध न करने वाला हो, जो लोभ से निःशेषेण मुक्तप्राय हो, जो शान्तचित्त एवं शास्त्रों का पारदृश्वा विद्वान् हो ॥ ७४ ॥ जो वेद एवं शास्त्रों के अर्थ के तत्त्व को समझने वाला हो, जो श्रद्धालु और लज्जा रहित हो, वह गुणों का अनुरागी, सदैव सांसारिकता का त्याग करने वाला एवं बाह्यजगत् से विराग रखने वाला हो, वही इस तत्त्वज्ञान का अधिकारी है ॥ ७५ ॥

पापभीतो भवेद्द्वेषी विषयादिष्वलोलुपः ।
अन्यैश्चापि शुभैर्देवि लक्षणैश्चापि लक्षितः ॥ ७६ ॥

पाप से भयाक्रान्त एवं द्वेषी व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं देना चाहिए। विषयों में आसक्त न रहने वाले और हे देवि ! और भी अन्य शुभ लक्षणों से युक्त पुरुष को ही यह तत्त्वज्ञान देना चाहिए ॥ ७६ ॥

अधिकारीति विज्ञेयस्तस्मै देयमिदं रहः ।
वेदगुह्यमिदं देवि ! नान्यथा तु प्रकाशयेत् ॥ ७७ ॥

'यह अधिकारी है'—ऐसा ठीक से समझकर ही उसे (एकान्त में) यह रहस्यमय ज्ञान देना चाहिए। हे देवि ! इसे वेद के समान छिपाकर रखना चाहिए। जब सभी प्रकार से ठीक समझ ले तभी इसका उद्घाटन करना चाहिए अन्यथा प्रकाशित न करे ॥ ७७ ॥

प्रकाशयन्विमूढात्मा स भवेदापदां पदम् ।
न तस्य तत्वसंसिद्धिर्गुरोः शिष्यस्य चाप्यहो ॥ ७८ ॥

यदि कोई मूर्ख ! बिना अधिकारी के ही इसे कहने लग जायेगा तो वह शायद आपद्ग्रस्त हो जायगा। इतना ही नहीं उसे उससे कोई लाभ नहीं होगा। उसे तत्त्वज्ञान भी प्राप्त नहीं होगा। वह चाहे गुरु हो या शिष्य दोनों को ही काई सिद्धि नहीं होगी। ॥ ७८ ॥

तत्वज्ञेनोपदिष्टा ये तत्वज्ञा एव सुन्दरि ।
अनर्हैरुपदिष्टा ये तेप्यनर्हा भवन्ति हि ॥ ७९ ॥

अनर्हैरुपदिष्टा ये येनर्हाश्च स्वयं शिवे[1] ।
उभयभ्रंशदोषेण ते यान्ति नरकं प्रिये ! ॥ ८० ॥

हे सुन्दरि ! जो तत्त्वज्ञान के ज्ञाता से उपदिष्ट होगा वह 'तत्त्वज्ञ' ही होगा। अयोग्य से उपदिष्ट अयोग्य ही होते हैं। अतः जो अयोग्य से उपदिष्ट होगा, हे शिवे ! वह स्वयं अयोग्य ही होगा। हे प्रिये ! दोनों ही (गुरु-शिष्य) इस पातक से नरक में चले जाते हैं ॥ ७९-८० ॥

लोकभ्रंशः कर्मलोपात् अयोग्यत्वात् फलाग्रहः ।
तेषां तमः स्यादतुलं यावच्चन्द्रार्कतारकम् ॥ ८१ ॥

कर्म के लुप्त हो जाने से संसार से पतित होने वाले और अयोग्यता के कारण फल न प्राप्त होने से उन्हें अत्यन्त अन्धकारमय [अविद्याजन्य] पथ में तब तक रहना पड़ता है जबतक ये चन्द्र, सूर्य और तारे विद्यमान रहते हैं ॥ ८१ ॥

सुप्तं प्रबोधयेद् बुद्धो ह्यबुद्धस्तु च तं कथम् ।
पाषाणं तारयेत्तुम्बी न पाषाणः परस्परम् ॥ ८२ ॥

वस्तुतः हे देवि ! सोए हुए को जगाया जा सकता है किन्तु जगे हुए को कैसे जगाया जा सकता है ? एक तुम्बी (सूखी लौकी) पाषाण को तार सकती है, किन्तु पाषाण पाषाण को कैसे तार सकता है ? ॥ ८२ ॥

---

१. तेऽनर्हाः स्वयं शिवे इत्यपि पाठः ।

तस्मादेवं विनिश्चित्य सद्गुरोः शरणं गतः ।
आत्मानं मोहविभ्रान्तं तारयेत्स च बुद्धिमान् ॥ ८३ ॥

इसलिए इस प्रकार से निश्चय करके अच्छे गुरु की शरण में जाना चाहिए। वह सद्गुरु बुद्धि है जो स्वयं मोह में भ्रान्त न होकर दूसरे को तार दे ॥ ८३ ॥

इत्येतन्मे समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया प्रिये ! ।
समासेन महादेवि ! किमन्यत्प्रष्टुमिच्छसि ॥ ८४ ॥

॥ इति श्रीनारदपाञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे (ज्ञानखण्डे)
शिवोमासंवादे चतुर्थं पटलम् ॥ ४ ॥

— -*— —

हे प्रिये ! इस प्रकार जो तुमने मुझसे पूँछा था संक्षेपतः यह सब हमने तुमसे अच्छो प्रकार से कहा है। हे महादेवी ! अब तुम और क्या पूँछना चाहती हो ? ॥ ८४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारद पाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के चतुर्थ पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

——*——

अथ पञ्चमं पटलम्

श्रीपार्वत्युवाच

भगवन् लोकनाथेश देव देवेश धूर्जटे।
इयं कथा महापुण्या कथिता पापनाशिनी ॥ १ ॥
यद्रामायै न च प्राह भगवन् प्राणवल्लभः।
साक्षान्मुखेन देवेशाभिनयेन वदिष्यति ॥ २ ॥
तत्तु तत्वं कथयसि साक्षादेव मम प्रभो।
त्वमेव तादृशो देव दयालुनपरः प्रभो ॥ ३ ॥
तत्तत्वज्ञानसामर्थ्याद्भोगाः सर्वेवधीरिताः।
दिग्वासा जटिलो नन्दी चरस्येकोऽपि पण्डितः ॥ ४ ॥
त्वं गुरुः सर्वलोकस्य तत्वमार्गोपदेशकः।
न त्वया सदृशः कश्चित् तत्वज्ञानानुभूतिमान् ॥ ५ ॥
अर्द्धाङ्गदानतो जाने तव प्राणाधिकास्म्यहम्।
अतो वदसि भो नाथ तत्वं गुह्यतमं च यत् ॥ ६ ॥
न तच्चित्रं त्वयि विभो कृपासिन्धौ महेश्वरे।
अतस्त्वां प्रष्टुमिच्छामि सन्दिहाना महेश्वर ॥ ७ ॥

श्रीपार्वती ने कहा—

हे भगवान्, हे लोकनाथ, हे ईश, हे देव देवेश, हे धूर्जटे ! यह महान् पुण्यों को देने वाली और पापों को नाश करने वाली कथा आप द्वारा कही गई ॥ १ ॥ लक्ष्मी के प्राणवल्लभ भगवान् विष्णु ने जिस (रहस्य) को रमा से भी नहीं कहा, उसको आप साक्षात् अपने मुख से अभिनयपूर्वक कहें ॥ २ ॥ हे प्रभु ! उस तत्त्व को मुझ से आप साक्षात् रूप से कहें। हे प्रभु ! आपके समान दयालु और कोई देव नहीं है ॥ ३ उस तत्त्वज्ञान की सामर्थ्य से ही सभी भोगों का अवधारण होता है। दिशारूपी वस्त्र को धारण कर जटाधारी और नन्दी से युक्त ज्ञानी होकर आप अकेले विचरण करते हैं। ॥ ४ ॥ आप सभी लोकों के गुरु हैं और तत्त्व के मार्ग के उपदेशक हैं। तत्त्वज्ञान की अनुभूति करने वाला आपके सदृश और कोई नहीं है ॥ ५ ॥ अर्धाङ्गिनी होने से मैं आपको प्राणों से अधिक प्रिय हूँ। अतः, हे नाथ ! उस रहस्यमय तत्त्वज्ञान को मुझसे कहिये ॥ ६ ॥ हे विभु, हे कृपासिन्धु, हे महेश्वर ! आपके लिए यह कोई विचित्र बात नहीं है। अतः हे महेश्वर ! इस तत्त्वज्ञान रूप ज्ञान को आपसे भ्रान्त में पूँछना चाहती हूँ ॥ ७ ॥

यत्त्वयोक्तं पुरा मोहो जगत्कारणरूपकः।
यथा बीजादुद्भवन्ति पत्रपुष्पफलादयः ॥ ८ ॥
एवं मोहात्समुद्भूतं सदेवासुरमानुषम्।
अज्ञानप्रभवो मोहो मोहाज्जातं चराचरम् ॥ ९ ॥

आपके द्वारा पहले जगत् के कारण मोह के रूप में जो ज्ञान कहा गया है। जैसे बीज से पत्र, पुष्प, फल आदि उद्भूत होते हैं ॥ ८ ॥ इसी प्रकार से देवों के सहित असुर और मनुष्य मोह से उद्भूत हैं। अज्ञान से मोह उत्पन्न होता है और मोह से यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उत्पन्न है ॥ ९ ॥

स्रजं शुक्तिं समावृत्य यथाज्ञानं स्वशक्तितः।
अहिं च रजतं चैव यथा दर्शयते स्फुटम् ॥ १० ॥
तथाक्षरं परं ब्रह्म ह्यज्ञानं मोहकारणम्।
समावृत्यात्मशक्त्यैव विश्वं सृजति शङ्कर ! ॥ ११ ॥
इत्युक्तं यत्त्वया देव तत्र मे संशयो महान्।
अक्षरं यत्त्वया प्रोक्तं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ॥
निर्दोषं निर्मलं शुद्धं निरीहं सङ्गवर्जितम् ॥ १२ ॥
स्वप्रकाशं गुणातीतं ज्ञानरूपं समं शिवम्।
निर्विकारं सदाभान्तं सदसद्भावतः परम् ॥ १३ ॥
तस्मिन्नज्ञानसंसर्गः को वा वक्तु समीहिते।
कथमज्ञानजो मोहस्तस्मिन् ज्ञानात्मनीश्वरे ॥ १४ ॥
स्वप्रकाशे यदज्ञानमावृत्तिं कुरुते यदि।
तमसापि कथं सूर्यो नाव्रियेत् मनागपि ॥ १५ ॥
कथं वा मोहनाशेऽपि कैवल्यमवशिष्यते।
असत्य सत्यवद्भाति संशयोऽत्र महान्मम।
छेत्तुमर्हसि देवेश ! तत्त्वज्ञानासिना प्रभो ! ॥ १६ ॥

अपनी शक्ति ज्ञान के अनुसार सीपी में मोती का भान जैसे होता है और माला में जैसे सर्प का भान होता है वैसे ही भ्रम जगत् है और सत्य अक्षर रूप परब्रह्म है क्योंकि अज्ञान ही मोह का कारण होता है अतः हे शंकर ! वह अज्ञान अपनी शक्ति के अनुसार मोह को समावृत करके विश्व का सृजन करता है ॥ १०-११ ॥ हे देव ! यह जो आपने कहा है उसमें हमें महान् संशय है। जो अक्षर है, प्रपञ्चरहित है, निरामय है। निर्दोष, निर्मल, शुद्ध, इच्छारहित और सङ्ग से रहित है उस स्वयं प्रकाश गुणातीत, ज्ञानरूप समबुद्धि वाले निर्विकार, सदैव दीप्तिमान, सत् और असत् के भाव से परे

परब्रह्म में, हे शिव ! अज्ञान का संसर्ग कैसे सम्भव है ? फिर ज्ञानस्वरूप ईश्वर में किस प्रकार अज्ञान से उत्पन्न मोह होता है ? ॥ १२–१४ ॥ यदि उस स्वयं प्रकाश [ईश्वर] में अज्ञान आवृत हो जाता है तो ज्ञानरूप सूर्य उस अज्ञान के अन्धकार को क्या थोड़ा भी नहीं ढँक सकता ? ॥ १५ ॥ और फिर मोह के नाश होने पर (केवल मोक्ष प्राप्त) आत्मा कैसे अवशिष्ट रह जाता है ? फिर असत् संसार भी सत् के समान तो प्रतीत होता ही है। इसमें हमें महान् संशय है। हे प्रभो ! हे देवेश ! तत्त्वज्ञानरूपी कृपाण से आप इस सन्देह का छेदन करने में समर्थ हैं ॥ १६ ॥

शिव उवाच ॥

शृणु सुन्दरि यत्नेन रहस्यं परमाद्भुतम् ।
तव स्नेहवशाद्वच्मि प्रेम्णाह प्रार्थितस्त्वया ॥ १७ ॥

भगवान् शंकर ने कहा—

हे सुन्दरि ! इस परम अद्भुत रहस्य को सावधान होकर सुनो। तुम्हारे स्नेह के कारण मैं इसे तुमसे कहता हूँ। वस्तुतः तुमने बड़े ही प्रेम से मुझसे कहने को आग्रह किया है ॥ १७ ॥

न वाच्यं यस्य कस्यापि मातृजारसमं रहः ।
गोपयेत्सर्वतो भद्रे विवदेन्न कथञ्चन ॥ १८ ॥

यह रहस्य जिस किसी को भी कहने योग्य नहीं है। जैसे माता अपने जारज पुत्र का गोपन करती है उसी प्रकार यह छिपाने योग्य है। सभी ओर से इसे, छिपाना चाहिए। कभी भी इसके बारे में विवाद न करे ॥ १८ ॥

न वादितर्कविषयं परं ब्रह्मसनातनम् ।
तर्कैककर्कशधियो वादिनो मूढबुद्धयः ॥ १९ ॥
सूर्यस्यावरणे शक्तं तिमिरं न कथञ्चन ।
स्वप्रकाशे तथाज्ञानं कदाचित्प्रभवेन्नहि ॥ २० ॥
इति प्रामाणिकैस्तर्कैर्विरुद्धमिव भासते ।
मोहसृष्टिसमुद्भूता ये प्रमाणविदो जनाः ॥ २१ ॥

वस्तुतः, यह सनातन परब्रह्म वाद एवं विवाद का विषय नहीं है [वह शाश्वत तो है ही]। वस्तुतः तर्क से ही सिद्ध करने वाले वादी लोग कठोर बुद्धि के और मूर्ख बुद्धि के होते हैं ॥ सूर्य के उदित हो जाने पर कभी भी अन्धकार का अस्तित्व जिस प्रकार नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मज्ञान से प्रकाशित हो जाने पर कभी भी व्यक्ति मोह से अभिभूत नहीं होता ॥ १९-२० ॥ यही बात प्रमाणवादियों के द्वारा तर्क से सिद्ध करने पर विरुद्ध की भाँति भासित होती है क्योंकि जो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण

मानते हैं वे जन मोहसृष्टि से समुद्भूत होते हैं ॥ २१ ॥

कथं ते वेदितुं शक्ताः प्रमाणैरपि पण्डिताः ।
यथा स्वप्नजनो देवि ! स्वप्नदृष्टारमेकलम् ॥ २२ ॥
न जानाति तथा देवि ! प्रमाणान्यपि कृत्स्नशः ।
परे ब्रह्मण्यक्षरेऽस्मिन् आज्ञानावेशमाहितम् ॥ २३ ॥
तस्माद्युक्तिर्न कर्त्तव्या श्रुतिभिर्या विरुध्यते ।
अनुकूला श्रुतिगिरां युक्तिः सा विदुषां मता ॥ २४ ॥

फिर उन [प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले पण्डितजनों के द्वारा प्रमाणों से भी वह परमतत्त्व कैसे जाना जा सकता है ? ॥ जैसे हे देवि ! स्वप्न देखता हुआ मनुष्य मात्र स्वप्न ही देखता रहता है ॥ २२ ॥ उसी प्रकार सभी प्रमाणों से सिद्ध करने पर भी, हे देवि ! वह उस 'तत्त्वज्ञान' को नहीं जान पाता । इस परब्रह्म अक्षर में वह अज्ञान रूप मोह के कारण आवेशित हो जाता है ॥ २३ ॥ इसलिए ईश्वर को सिद्ध करने के लिए युक्ति नहीं करनी चाहिए क्योंकि वे युक्तियाँ श्रुतियों के विरुद्ध हैं । वस्तुतः वही युक्ति विद्वानों के मतानुसार अनुकूल है जो श्रुति वाक्यों से मिलती हों ॥ २४ ॥

यथा न सत्यादनृतात्केवलाद् व्यावहारिकम् ।
तथा सत्यानृताभ्यां तु व्यवहारः प्रवर्त्तितः ॥ २५ ॥
अनृतं तु तदज्ञानं सत्यं ब्रह्मैव केवलम् ।
न तुषादङ्कुरोत्पत्तिः केवलात्तण्डुलादपि ॥ २६ ॥
तुषतण्डुलयोगेन जायतेऽङ्कुरविस्तृतिः ।
ब्रह्मण्यज्ञानयोगेन जायते विश्वसम्भवः ॥ २७ ॥
तस्मान्न संशयः कार्यो ब्रह्मण्यज्ञानसम्भवे ।
नापनेया मतिस्तर्कैर्भावा ये[1] चाप्यलौकिकाः ॥ २८ ॥
न तांस्तर्केण युञ्जीतेत्याहुश्चोपनिषद्गिरः ।
ब्रह्मण्यज्ञानसद्भावो लोकसिद्धो न विद्यते ॥ २९ ॥
विद्यते वेदसिद्धोऽयं तस्माद्वेदः प्रमाणकम् ।
अलौकिकं न सिध्येत विरुद्धं यच्छ्रुतेः सह ॥ ३० ॥

जिस प्रकार मात्र सत्य एवं अनृत (=झूठ) से अलग रहना अव्यावहारिक है उसी प्रकार सत्य और अनृत से व्यवहार प्रवर्तित है ॥ २५ ॥

---

१. भावा तच्चाप्यलौकिकः इति पाठः ।

वस्तुतः असत्य का ज्ञान उसका अज्ञान है क्योंकि ब्रह्म ही केवल सत्य है। भूसी से अङ्कुर की उत्पत्ति या मात्र चावल से ही अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होता ॥ २६ ॥ भूँसी और चावल दोनों से युक्त [बीज] से ही अङ्कुर का उत्पन्न होना और बढ़ना जैसे सम्भावित है उसी प्रकार परब्रह्म में अज्ञान के योग से विश्व का विस्तार सम्भावित होता है ॥ २७ ॥ इसलिए ब्रह्म में अज्ञान के होने में किसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति को संशय नहीं करना चाहिए। अतः जो अलौकिक भाव मन में आते हैं उन्हें तर्कों के द्वारा बुद्धि से नहीं हटाना चाहिए ॥ २८ ॥ 'उन्हें तर्क से युक्त नहीं करना चाहिए'—इस प्रकार उपनिषदों की भी वाणी है। ब्रह्म में अज्ञान का रहना लोकसिद्ध नहीं है ॥ २९ ॥ यह तो वेदसिद्ध है। अतः वेद ही प्रमाण है। अलौकिक सिद्ध नहीं है क्योंकि वह तो श्रुति के विरुद्ध है ॥ ३० ॥

अपरोक्षं लौकिकं च परोक्षं चाप्यलौकिकम्।
कथं सिद्ध्येदप्रमाणं परोक्षं लौकिकोक्तिभिः ॥ ३१ ॥
प्रमाणराजो यद्यादृक् निरूपयति केवलम्।
तत्तादृगेव मन्तव्यमन्यथा स बहिर्मुखः ॥ ३२ ॥
अलौकिकं लौकिकं च तस्यैतदुभयं गतम्।
स चाण्डालमयीं योनिं प्रविशेत्तद्बहिर्मुखः ॥ ३३ ॥

वस्तुतः लौकिक और अलौकिक में यह भेद है कि लौकिक प्रत्यक्ष है किन्तु अलौकिक परोक्ष है। अतः लौकिक उक्तियों से जो कि प्रमाण नहीं है उनसे कैसे परोक्ष (अलौकिक) की सिद्धि होगी ? ॥ ३१ ॥ यदि मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के ही आधार पर जैसा निरूपण हो वह वैसा ही मन्तव्य है और अन्य सभी उससे बहिर्मुख हैं अर्थात् छोड़ देने योग्य है—यह ठीक नहीं है ॥ ३२ ॥ इस प्रकार लौकिक और अलौकिक उस ज्ञान के उभयात्मक रूप हैं। उन दोनों से भिन्न होकर जो अन्य बहिर्मुख [अज्ञान] में जाता है वह चाण्डालमयी योनि में मरने के बाद जन्म लेता है ॥ ३३ ॥

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राश्चैते वेदानुवर्तिनः।
वेदैस्त्यक्तास्त्यजन्तस्ते यान्ति नीचपरम्पराम् ॥ ३४ ॥
प्रत्यक्षं चानुमानं च शब्दः सादृश्यमेव च।
चत्वार्येतानि देवेशि ! प्रमाणानि न संशयः ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये तो वेद के अनुसार चलने वाले होते हैं। अतः वेदों को त्याग करके जो चलते हैं वे अधोगति की नीच परम्परा में चले जाते हैं ॥ ३४ ॥ हे देवेशि ! प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान—निःसन्देह रूप से ये ही चार प्रमाण हैं ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्षं लौकिके सिद्धं न चैवालौकिके हि तत् ।
पर्वतो वह्निमान् धूमादित्येवमनुमीयते ॥ ३६ ॥

जिसमें प्रत्यक्ष प्रमाण लौकिक वस्तुओं में सिद्ध है और अलौकिक तथ्यों में वह तो असिद्ध ही है। 'पर्वत पर वह्नि है क्योंकि वहाँ धुआँ दिखाई पड़ रहा है'--इस प्रकार का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है ॥ ३६ ॥

ब्रह्म केनात्र संसाध्यं सदसत्परमव्ययम् ।
तस्माद्ब्रह्मण्यनुमितिर्न सिध्येत कदाचन ॥ ३७ ॥
सादृशाभावतो लोके सादृश्यं नापि सिध्यति ।
अनादिः शब्दब्रह्माख्यो ब्रह्मवक्तीह यादृशम् ।
तादृशं तद्विजीनायात् पाखण्डी चान्यथा हि सः ॥ ३८ ॥
ब्रह्माभासमया जीवा ब्रह्मैवेति विनिश्चयः ।
अहं मनुष्य इत्याद्या अहं बुद्धिर्हिदेहिनाम् ॥ ३९ ॥
आत्मत्वेनैव गृह्णाति देहं चैनमचेतनम् ।
विपरीतमिदं भद्रे सन्दिग्धमिदमेव हि ॥ ४० ॥
अलौकिकं हि सन्दिग्धं वेदेनैव निवर्त्तते ।
न निश्चयं विना क्वापि मुक्तिर्भवति शाश्वती ॥ ४१ ॥
तस्माद्वेदान्तवाक्यैश्च सहायैः सर्वतोधिकैः ।
विचारयेत् परं ब्रह्म स्वात्मानं लभते हि सः ॥ ४२ ॥
शब्दातीतं परं ब्रह्म शब्दगोचरमित्यपि ।
तथाप्यनादिशब्दैस्तत् ज्ञायते नान्यथा प्रिये ॥ ४३ ॥

फिर उन दानों प्रमाणों में से 'ब्रह्म', जो कि सत्-असत् से परे और अव्यय स्वरूप है, किस प्रमाण से सिद्ध करने योग्य है। अतः जिसका रूप ही नहीं है वह प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा अनुमान से कभी भी नहीं सिद्ध किया जा सकता है ॥ ३७ ॥ लोक में उसके सदृश कोई और न होने से वह सादृश्य प्रमाण से भी नहीं सिद्ध होता है। 'शब्दब्रह्म' नामक अनादि ब्रह्म जैसा कहा गया है वैसा ही जानना चाहिए। वह तो पाखण्डी है जो शब्द ब्रह्म से अन्यथा उस ब्रह्म का निरूपण करते हैं ॥ ३८ ॥ जीव [आत्मा] ब्रह्म के आभासक हैं। वे निश्चय रूप से ब्रह्म ही हैं। 'मैं मनुष्य हूँ'—इस प्रकार शरीरधारी व्यक्तियों को 'अहं' बुद्धि हो जाती है ॥ ३९ ॥ इस अचेतन देह को आत्मत्व रूप से ही वह ग्रहण करता है। हे भद्रे ! यह दोनों बात विपरीत सी जान पड़ती है क्योंकि यह सन्दिग्ध ही है ॥ ४० ॥ वस्तुतः अलौकिक तथ्यों के सन्देह का निवारण वेद से ही होता है। किसी एक के निश्चय के बिना शाश्वत मुक्ति नहीं होती है ॥ ४१ ॥

इसलिए वेदान्त वाक्यों की सहायता से सभी ओर से विचार करे। वह विचार करने वाला परब्रह्म को स्वात्मा में ही प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥ वह परब्रह्म शब्द से अतीत भी है और वही परब्रह्म (श्रुति प्रमाण से) शब्दगोचर भी है। तथापि हे प्रिये ! वह ब्रह्म अनादि शब्दों से ही जाना जा सकता है अन्यथा नहीं जाना जाता है ॥ ४३ ॥

प्रमाणराजो निगमादनुभूतिर्गरीयसी ।
तथाप्यनुभवी साक्षात् शब्दैरेवोपदिश्यति ॥ ४४ ॥
गुरूक्तं चापि वेदोक्तमेकार्थं यदि भासते ।
तदा कृतार्थः पुरुषो मुक्तो भवति संशयात् ॥ ४५ ॥
निवृत्ते संशये देवि जाते स्वानुभवोदये ।
ब्रह्मण्यज्ञानमित्येषः सन्देहो नाशमेष्यति ॥ ४६ ॥
यदि युक्त्या प्रमाणैश्च विरुद्धं श्रुतिसम्मतम् ।
नायं विरुद्धो विदुषां अनुभूतिमतामपि ॥ ४७ ॥
जाग्रत्येतत्प्रतीयेत स्वप्ने तत्प्रातिभासिकम् ।
सुषुप्तौ तन्निरासेऽपि मूलाज्ञानं हि तिष्ठति ॥ ४८ ॥
आभासस्तदवच्छिन्नो जीवत्वेन प्रतीयते ।
आभासो ज्ञानरूपो हि बहिरन्तःप्रकाशकः ॥ ४९ ॥

यद्यपि प्रमाणों के राजा प्रत्यक्ष की, श्रुति रूप शब्द प्रमाण से अत्यधिक अनुभूति होती है, तथापि वह शब्दब्रह्म का अनुभवी व्यक्ति साक्षात् शब्दों से ही उपदिष्ट होता ॥ ४४ ॥ यदि एक अर्थ (शब्द ब्रह्म) का आभास गुरु वचन से होता है तो वह भी वेदोक्त वचन है। ऐसा होने से ही कृतार्थ होकर पुरुष संशय से मुक्त होता है ॥ ४५ ॥ हे देवि ! संशय के निवृत्त हो जाने पर और (ब्रह्म की) स्वानुभूति हो जाने पर 'ब्रह्म' में अज्ञान के होने का यह सन्देह नष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥ यदि युक्ति एवं प्रमाणों के विरुद्ध भी श्रुति सम्मत बात हो तो यह विरुद्ध नहीं होती क्योंकि यह अनुभूतियुक्त विद्वानों को अवगत होती है ॥ ४७ ॥ वस्तुतः जगने पर ही यह प्रतीत होता है कि यह तो स्वप्न में प्रतिभासित हो रहा था। सुषुप्ति की अवस्था में उसके निराकरण होने पर भी मूलरूप से अज्ञान रहता ही है ॥ ४८ ॥ उसका आभास होने पर वह उससे युक्त जीव रूप से प्रतीत होता है। क्योंकि ब्रह्मज्ञान का आभास होना ही बाह्यजगत् और अन्तःकरण का प्रकाशक है ॥ ४९ ॥

तदज्ञानं तु देहादिरूपैः परिणतं प्रिये ।
तत्र व्याप्तश्चिदाभास एवं स्याद्व्यावहारिकम् ॥ ५० ॥

मूलाज्ञानमिदं देवि यदात्मनि च धिष्ठितम् ।
तन्निरासं विना देवि जीवा आभासरूपिणः ॥ ५१ ॥
न मुच्यन्ते कदाचिद्वा कथञ्चिद्वा सुरेश्वरि ।
व्रतोपवासनियमैस्तपोभिर्विविधैरपि ॥ ५२ ॥
स्वाध्यायाध्ययनैर्दानैस्तीर्थैर्वा चान्यसाधनैः ।
ब्रह्मचर्यवानप्रस्थसन्न्यासाचरणैरपि ।
अगाधाज्ञानपाथोधौ दुरन्ते पारवर्जिते ॥ ५३ ॥
उन्मज्जन्ते निमज्जन्ते देवत्वजडतादिभिः ।
नैव पारं गताः केचिन्नैव यास्यन्ति केचन ॥ ५४ ॥
अहोऽत्र परमानन्दः पुरुषोत्तम ईश्वरः ।
यानीक्षतेनुग्रहदृशा ते यास्यन्ति गिरीन्द्रजे ॥ ५५ ॥
अस्मिन्नज्ञानपाथोधौ वयं ब्रह्मादयोऽपि च ।
बुद्बुदाकारतां प्राप्तास्तदिच्छावायुजृम्भिताः ॥ ५६ ॥

हे प्रिये ! उस जीव का अज्ञान ही देहादि रूप से परिणत होता है। इस प्रकार उस चिदाभास का व्याप्त होना ही व्यावहारिक प्रतीत होता है ॥ ५० ॥ हे देवि ! मूलरूप से यही अज्ञान है जो अपने में प्रतिष्ठित है। हे देवि ! उस अज्ञान के निराकरण के बिना जीव उसके अभास रूप हैं ॥ ५१ ॥ हे सुरेश्वरि ! वे कभी भी किसी प्रकार से व्रत, उपवास, नियम और विविध प्रकार के तप से भी बन्धनमुक्त नहीं होते हैं ॥ ५२ ॥ वे, स्वाध्यायों, अध्ययनों, दानों, तीर्थों अथवा अन्य साधनों से भी तथा ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ या सन्यासाश्रम के आचरणों से भी अगाध अज्ञान के समुद्र को नहीं पार कर पाते ॥ ५३ ॥ वे देवत्व और जड होकर भी उस अज्ञान समुद्र में डूबते उतराते रहते हैं। न कोई उसका पार पाते हैं और न कोई उसमें से निकल ही पाते हैं ॥ ५४ ॥ हे गिरिराज हिमालय की पुत्रि ! वही उसको पार कर पाते हैं जिसको भगवान् परमानन्द पुरुषोत्तम ईश्वर अनुग्रह दृष्टि से देखते हैं ॥ ५५ ॥ इस अज्ञान रूप समुद्र में हम और ब्रह्मा आदि भी उस परब्रह्म की इच्छारूप वायु की जमुहाई से उठे बुलबुले के रूप में ही हैं ॥ ५६ ॥

वायूपशमने देवि बुद्बुदा नीरतां गताः ।
तथा यास्यति ब्रह्माण्डमस्माभिरविशेषितम् ॥ ५७ ॥
अप्रबोधो यथा स्वप्ने चित्रं सृजति कौतुकम् ।
तथैवात्माऽप्रबोधेन जातं सर्वं चराचरम् ॥ ५८ ॥
प्रबोधाद्विलयं याति परं ब्रह्मावशिष्यते ।
स्रजि सर्पलये यद्वत् स्रगेव परिशिष्यते ॥ ५९ ॥

अध्यारोपापवादेन परं ब्रह्मैव शिष्यते ।
इति ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया प्रिये ॥ ६० ॥
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ? ।

॥ इति श्रीनारदपाञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे (ज्ञानखण्डे)
शिवोमासंवादे पञ्चमं पटलम् ॥ ५ ॥

——*——

हे देवि ! वायु के उपशम होने पर जैसे बुलबुले पानी को ही प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड भी हमलोगों के सहित (उसी विराट् रूप में) विलीन हो जाता है ॥ ५७ ॥ जिस प्रकार स्वप्न के समाप्त न होने पर अनेक प्रकार के चित्र विचित्र कौतुक होते हैं उसी प्रकार आत्मा के अप्रबुद्ध होने पर सभी चराचर जगत् की सृष्टि होती है ॥ ५८ ॥ उसी आत्मा के (अज्ञान रूप आवरण के हटने पर) प्रबुद्ध होने से सभी का विलय हो जाता है और अन्ततः मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है । जैसे माला में सर्प का सन्देह होने पर (ज्ञान हो जाने पर) मात्र माला ही अवशिष्ट रहती है सर्प नहीं । उसी प्रकार अज्ञान की समाप्ति पर 'ब्रह्म' ही बचा रहता है ॥ ५९ ॥ इस प्रकार अध्यारोप के हट जाने पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है । इस प्रकार हे प्रिये ! तुमने जो कुछ पूँछा उसे हमने संक्षिप्त रूप से कहा ॥ ६० ॥ अब हे महेश की शक्ति ! तुम पुनः क्या पूँछना चाहती हो ॥ ६१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारद पञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के पञ्चम पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

——*——

अथ षष्ठं पटलम्

श्रीदेव्युवाच—

देवदेव कृपासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
आपीय भवतः सूक्ति महानन्दः प्रवर्तते ॥ १ ॥
अज्ञानान्निखिलं जात ब्रह्मादिस्थावरान्तकम् ।
इति यद्भवता प्रोक्तं सङ्क्षेपेण महेश्वर ! ॥ २ ॥
प्रपञ्चय पुनः सर्वं सृष्टिसंहारभेदतः ।

श्री देवी पार्वती ने कहा—

हे देवों के देव, कृपा के सिन्धु, हे दीनों के बन्धु, हे जगत् के स्वामी आपके मुख से निकली शुभ वाणी के श्रवण से महान् आनन्द होता है ॥ १ ॥ वस्तुतः अज्ञान से ही समस्त ब्रह्मा आदि देवगण और स्थावर एवं जङ्गात्मक संसार की स्थिति होती है।' अतः हे महेश्वर ! यह जो आपने संक्षेप से कहा है उस सभी को आप पुनः १. सृष्टि और २. संहार भेद से कहें— ॥ २-३ ॥

शिव उवाच—

शृणु पार्वति वक्ष्यामि यत्त्वं पृच्छसि तत्त्वतः ।
तस्य श्रवणमात्रेण परमात्मा प्रकाशते ॥ ३ ॥
अज्ञानं यन्मया प्रोक्तं न सन्नासत्तदुच्यते ।
सच्चेन्मुक्तिसमुच्छेदो ह्यसच्चेद्भासते कथम् ॥ ४ ॥
अनिर्वाच्यमिदं तस्मात् त्रिगुणोत्पादकं तथा ।
ज्ञाननाश्यं भावरूपं मूलाज्ञानं विदुः प्रिये ॥ ५ ॥
शशशृङ्गनरशृङ्गवन्ध्यापुत्रखपुष्पवत् ।
अज्ञानं कथितं सद्भिः कथं सदिति चोच्यते ॥ ६ ॥
नासत्तु कारणत्वेन ह्युपयुञ्जीत कर्हिचित् ।
कथं सृजति ब्रह्माण्डं ब्रह्मादिस्थावरान्तकम् ॥ ७ ॥

भगवान् शंकर ने कहा—

हे पार्वती, सुनो—जो तुम तत्त्वतः पूँछती हो उसे मैं कहूँगा। उसके श्रवण मात्र से ही परमात्मा प्रकाशित हो जाते हैं ॥ ३ ॥ जो हमने (ब्रह्म में) अज्ञान (के आवरण से सृष्टि) को कहा है 'वह सत् नहीं होता'—इसे ही अब मैं कहता हूँ।

यदि वह अज्ञान से अनावृत केवल ब्रह्म का ज्ञान] सत् होता है तो वह साधक को मुक्ति दिलाता है और बन्धन का समुच्छेद होता है तो फिर कैसे वह भासित होता है ॥ ४ ॥ इसलिए यह अनिर्वाच्य होता है क्योंकि वह त्रिगुण [सत्व, रज एवं तम] से उत्पन्न है और ज्ञान का नाशक एवं भाव रूप है। मूल रूप से, अब हे प्रिये ! 'अज्ञान' को जानो ॥ ५ ॥ खरगोश की सींग, मानव की सींग, बांझ स्त्री को पुत्र एवं आकाश-पुष्प के समान 'अज्ञान' विद्वानों के द्वारा [असत्] कहा गया है। जब वह असत् है तो फिर वह सत् कैसे कहा जाता है ? ॥ ६ ॥ 'असत्' कभी भी किसी का कारण नहीं बन सकता। तो फिर कैसे ब्रह्मादि देव और स्थावर जङ्गमात्मक ब्रह्माण्ड का वह [ब्रह्म-अज्ञान से आवृत होकर] सृजन करता है ? ॥ ७ ॥

न शक्यस्तदभावोऽपि यस्मात्तत्त्रिगुणात्मकम् ।
श्रुतिप्रसिद्धं व्योमादिरूपेण विततं च यत् ॥ ८ ॥

उस ब्रह्म का अभाव भी नहीं हो सकता क्योंकि वह [सत्त्व, रज, तम रूप से] त्रिगुणात्मक है और क्योंकि उन्हीं का विस्तार (पृथ्वी, जल, पावक, वायु एवं) आकाशादि रूप से श्रुतियों में प्रसिद्ध है ॥ ८ ॥

सत्यवद्भासते वापि मूलाज्ञानं गिरीन्द्रजे ।
दीपार्चिषेव तिमिरं ज्ञानेन विनिवर्त्तते ॥ ९ ॥

हे गिरीन्द्रजे ! (पर्वतों के राजा हिमालय की पुत्री) सत्य के समान भासित होने वाला (त्रिगुणात्मक जगत) भी मूल रूप से अज्ञान ही है। ज्ञान रूप दीप की शिखा से ही उस आज्ञानान्धकार को हटाया जा सकता है ॥ ९ ॥

स्वस्वरूपावबोधो हि ज्ञानमित्युच्यते प्रिये ।
स्वस्वरूपभ्रमो देवि विकल्पो भवसंज्ञकः ।
भ्रान्तात्मनस्तु शयने विकल्पो जायते महान् ॥ १० ॥
प्राप्तात्मनः समूलोऽपि नश्यते तद्वदेव हि ।
तदज्ञानं द्विधाभूतं कार्यकारणभेदतः ॥ ११ ॥

हे प्रिये ! 'स्व' स्वरूप का अवबोध ही 'ज्ञान' रूप से कहा जाता है और 'स्व' स्वरूप का भ्रम होना (ही अज्ञान है) । हे देवि ! 'संसार' नामक विकल्प है। शयन में जैसे महान् भ्रान्तात्मक विकल्प उपस्थित होता है किन्तु जग जाने पर जैसे उस भ्रमात्मकता का समूल नाश हो जाता है वैसे ही कार्य और कारण के भेद से 'अज्ञान' दो प्रकार का होता है ॥ १०-११ ॥

अक्षरे परमानन्दे मूलं स्यात्कारणं परम् ।
कार्यात्मकं बुद्धिभेदात् बुद्धिराभासदीपिता ॥ १२ ॥

अक्षर परमानन्द (ब्रह्म) में श्रेष्ठ मूल-उपाधि कारण होता है। बुद्धि भेद के कारण वह कार्यात्मक है, जो बुद्धि-आभास से दीपित है ॥ १२ ॥

सूते कार्यात्मकं पिण्डं ब्रह्माण्डं कारणात्मकम् ।
ब्रह्माण्डपिण्डयोरैक्यं प्रवदन्ति विपश्चितः ॥ १३ ॥

प्रसूत होने पर कार्यात्मक पिण्ड होता है और कारणात्मक ब्रह्माण्ड होता है। इस प्रकार विद्वानों के द्वारा ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड का ऐक्य कहा गया है ॥ १३ ॥

सरःशरावयोर्मध्ये यथार्कः प्रतिबिम्बितः ।
अक्षरः स्वावभासेन कार्यकारणसङ्गतः ॥ १४ ॥

सर (तालाब) और शराव (कटोरा) के मध्य जैसे सूर्य प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही कार्य एवं कारण से सङ्गत होने से अपने आभास से वह अक्षर ब्रह्म भासित होता है ॥ १४ ॥

यथोपाधिद्वयाभावे सूर्य एकः प्रतीयते ।
तथोपाधिद्वयाभावे विशुद्धः केवलोऽक्षरः ॥ १५ ॥

जैसे उपाधि-द्वय के अभाव में सूर्य एक ही प्रतीत होता है वैसे ही उपाधिद्वय [ब्रह्म और त्रिगुणात्मक जगत्] के अभाव में विशुद्ध रूप से मात्र अक्षर ब्रह्म का (हमें साक्षात्कार होता है) ॥ १५ ॥

मूलोपाधिर्विशुद्धश्च सत्वप्राधान्यतः प्रिये ।
क्षुद्रोपाधिर्हि मलिनस्तमःप्राधान्यतो भवेत् ॥ १६ ॥

हे प्रिये ! सत्व गुण की प्रधानता से मूल उपाधि विशुद्ध होती है और तमोगुण की प्रधानता से क्षुद्रोपाधि मलिन होती है ॥ १६ ॥

उत्कृष्टत्वाद्विशुद्धत्वात् सत्वप्राधान्यतस्तथा ।
नारायणादिकान् सूते सर्वज्ञानोपबृंहितान् ॥ १७ ॥

उत्कृष्ट एवं विशुद्ध होने से सत्व की प्रधानता के कारण सर्वज्ञ एवं उपबृंहित नारायणादिक देवों की सृष्टि होती है ॥ १७ ॥

कार्योपाधिर्निकृष्टत्वादशुद्धत्वाच्च तामसः ।
जीवसृष्टिं वितनुते सर्वेशगुणवर्जिताम् ॥ १८ ॥

कार्य रूप उपाधि के निकृष्ट एवं अशुद्ध होने से तम की प्रधानता के कारण समस्त ईश (विशुद्ध) गुण से रहित जीव की सृष्टि होती है ॥ १८ ॥

नारायणादिजीवान्ता सृष्टिर्मोहावधिस्थिता ।
एकमेवाद्वितीयं च ब्रह्मेति श्रुतयो जगुः ॥ १९ ॥

नारायणादि देव सृष्टि से लेकर जीव सृष्टिपर्यन्त सृष्टि मोह की अवधि तक रहती है । मोहावधि के बाद 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म की प्रतीति होती है'— जिसे श्रुतियों ने कहा है ।। १९ ।।

बुद्धिवृत्तिस्त्रिधा यद्वज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिकाः ।
आभासात्मनि जीवाख्ये वर्तन्ते ताः पुनः पुनः ।। २० ।।

जैसे जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन बुद्धि की वृत्तियाँ होती हैं वैसे ही उन्हीं वृत्तियों का पुनः पुनः जीव नामक (सृष्टि) आत्मा में आभास होता है ।। २० ।।

तद्वद्ब्रह्मणि चाज्ञानं त्रिधैव परिवर्तते ।
मूलाज्ञानं लयस्थानं सुषुप्तिः परिकीर्त्तिता ।। २१ ।।

वैसे ही ब्रह्म में अज्ञान तीन प्रकार से परिवर्तित होता है—जो मूल-अज्ञान, लयस्थान और सुषुप्ति नाम से जाना जाता है ।। २१ ।।

नारायणोपाधिकं यत्स्वप्नं तत्परिचक्षते ।
विष्णूपाधिमयाज्ञानं जाग्रदित्यभिधीयते ।। २२ ।।

जो नारायणोपाधि है विद्वानों के द्वारा वह 'स्वप्न' कही गई है और जो विष्णु-उपाधि रूप अज्ञान है वह 'जाग्रत्' कहा गया है ।। २२ ।।

आदिजीवो महाजीवो विष्णवाख्यः परिकीर्त्तितः ।
स एव सर्वजीवाख्यः[1] आभासात्मा परस्य तु ।। २३ ।।

आदिजीव और महाजीव विष्णु नाम से वही परब्रह्म है, जो सब जीव नाम से उसकी आत्मा में आभासित होता है ।। २३ ।।

जाग्रत्स्थानगताज्ञानं नानारूपैर्विजृम्भितम् ।
देवासुरमनुष्याद्यैर्गन्धर्वोरगकिन्नरैः ।। २४ ।।
पशुकीटपतङ्गाद्यैर्विचित्रैः कर्मनिर्मितैः ।
तानेतान्वासनारूढान्नानाभेदव्यवस्थितान् ।। २५ ।।

जाग्रत स्थान गत अज्ञान नाना रूपों में जगत् में सृष्टि को प्राप्त करता है । देव, असुर, मनुष्य आदि और गन्धर्व, उरग [सर्प, नाग], किन्नर, पशु, कीड़े, पतङ्गों आदि विचित्र रूपों में वह कर्म के अनुसार निर्मित होते हैं । वे सभी (ब्रह्म की) वासना से निर्मित होने से नाना भेदों में व्यवस्थित होते हैं ।। २४-२५ ।।

नारायणेन रूपेण स्वयं पश्यति चाक्षरः ।
जाग्रत्स्वप्ने विलीयेत स्वप्नस्तु शयनं व्रजेत् ।
तत्तुरीयं लयं याते स्मृतिरत्रावशिष्यते ।। २६ ।।

---

१. 'आभासात्मनि पश्यति' इत्यपि पाठः ।

यथा जागरणे स्वप्नः स्वप्ने जागरणं यथा ।
तथा वृत्तमिदं देवि यो जानाति स मुच्यते ।। २७ ।।

वह अक्षर ब्रह्म ही स्वयं अपने को नारायण रूप से देखते हैं । जो जाग्रतस्वप्नावस्था में विलीन हो जाते हैं और स्वप्न तो शयन में परिणत हो जाता है । उस तुरीयावस्था के विलीन हो जाने पर मात्र उसकी स्मृति ही अवशिष्ट रह जाती है । जैसे जागरण की अवस्था में स्वप्न और जैसे स्वप्नावस्था में जगे रहना दृष्टिगोचर होता है (वास्तव में वह कुछ भी नहीं होता है) वैसे ही इस (जगत्) की वृत्ति को, हे देवि ! जो साधक जानता है वही मोक्ष को प्राप्त करता है ।। २६-२७ ।।

अक्षरः परमात्मायं जाग्रत्स्वप्नं प्रपश्यति ।
जीवो जाग्रति वै स्वप्ने चित् क्षरस्य परात्मनः ।
स्वप्नं तज्जागरश्चापि द्वयमेतद्गतार्थकम् ।। २८ ।।

यह अक्षर परमात्मा जाग्रत्स्वप्न को प्रकृष्ट रूप से देखते रहते हैं और परमात्मा क्षर का चित् जीव स्वप्न में जागता रहता है । इस तरह स्वप्न और उसका जागरण दोनों ही इसमें गतार्थ हो जाते हैं ।। २८ ।।

स्थूलार्थोपासत्तिकालो जागरः परिकीर्त्तितः ।
स्थूलं त्यक्त्वा तु सूक्ष्मार्थोपासत्तिः स्वाप्निकी मता ।। २९ ।।

स्थूलार्थ में उपासत्ति का काल 'जागरण' कहा गया है और स्थूल जगत् को त्याग कर सूक्ष्मार्थ में उपासत्ति विद्वानों के मतानुसार 'स्वप्न' कहा गया है ।। २९ ।।

सूक्ष्मार्थानामप्यभावोपासत्तिः शयनात्मिका ।
शयनं तत्तु चाज्ञानं मोहरूपं वरानने ।। ३० ।।

सूक्ष्म अर्थों में भी अभाव उपासत्ति का काल 'शयनात्मिका' रूप से जानी जाती है । हे वरानने ! वह मोह रूप अज्ञान ही शयन है ।। ३० ।।

कारणं तद्विजातीयात् महाकारणनिर्मितम् ।
कार्यरूपेण विततं क्रमात्स्थूलविभेदतः ।। ३१ ।।

महाकारण से निर्मित उसे 'कारण' जानना चाहिए । कार्यरूप से स्थूल भेद से वही क्रम से विस्तृत हो जाता है ।। ३१ ।।

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रचेतसा ।
अज्ञानं प्रकृतिर्माया मोहोऽव्यक्तं प्रधानकम् ।
अदृष्टं चेति बहुधा वादिनस्तत्प्रचक्षते ।। ३२ ।।

उसी [कारण] को मैं अब कहता हूँ । अतः सावधान मन से सुनो । प्रकृति

अज्ञान है जो माया एवं मोह से व्यक्त तथा प्रधान है और दार्शनिक लोग 'अदृष्ट' आदि रूप से उसी को कहते हैं ॥ ३२ ॥

एकार्थमेव तत्सर्वं गुणस्तत्वाविरोधतः ।
नाममात्रेण कलहो नार्थं दृष्ट्वा कदाचन ।
प्रकृतिश्चापि पुरुषो यतस्तत्सृष्टिसम्भवौ ॥ ३३ ॥

वही सब कुछ एक अर्थ ही है, वही अविरोधतः गुण है । अतः कभी भी अर्थ को बिना देखे ही नाम मात्र से मिथ्यापन (?) होता है । क्योंकि प्रकृति और पुरुष तो इसी की सृष्टि से सम्भावित हैं ॥ ३३ ॥

कार्यकारणयोर्भेदः अभेदाख्यः प्रकीर्तितः ।
मृत्सुवर्णादिकानां च घटादेर्वलयस्य च ॥ ३४ ॥
भेदोऽथाभेद एव स्यात् तद्वदेतत्प्रकीर्त्यते ॥ ३५ ॥

कार्य और करण के भेद से वही अभेद कहकर वर्णित है । जैसे घर के प्रति मिट्टी और कुण्डल के प्रति सुवर्ण कारण है ॥ ३४ ॥ वैसे ही इस परमात्म तत्त्व के भेद एवं अभेद को कहा गया है ॥ ३५ ॥

तदज्ञानस्य शक्ती द्वे विक्षेपावरणात्मिके ।
ब्रह्मावृणोति सहसा शक्त्यावरणसंज्ञया ॥ ३६ ॥

इस अज्ञान की दो शक्तियाँ—(१) विक्षेप एवं (२) आवरणात्मिका हैं । आवरणात्मिका शक्ति के द्वारा ब्रह्म को अज्ञान ढक लेता है ॥ ३६ ॥

यथाच्छादयति स्वल्पो मेघो भानुं सहस्रगुम् ।
तथाच्छादयते मिथ्या ब्रह्मानन्तमखण्डकम् ॥ ३७ ॥

जैसे सहस्रों किरणों वाले सूर्य को थोड़े से मेघ ही ढक लेते हैं, वैसे ही अनन्त एवं अखण्ड ब्रह्म को मिथ्या रूप से अज्ञानावरण ढक लेता है ॥ ३७ ॥

अनावृतोऽपि पूर्णात्मा निःसङ्गो निर्विकल्पकः ।
तद्वासनानुवशगस्तिमितात्मा चिदक्षरः ॥ ३८ ॥

जब कि वह ब्रह्म वास्तव में आवरणरहित है, पूर्णात्म है, निःसङ्ग तथा निर्विकल्पक है । वही चिदक्षर ब्रह्म वासना के वशीभूत होकर छिप जाता है ॥ ३८ ॥

अथ विक्षेपशक्तिः सा यथा बहिरिवान्तरे ।
दर्शयामास विततं प्रपञ्चं सकुतूहलम् ॥ ३९ ॥

इसके बाद वह विक्षेपशक्ति, जैसे बाह्य में थी, वैसे ही अन्तरतम में कुतूहल युक्त प्रपञ्च का विस्तार दिखलाती है ॥ ३९ ॥

ददर्शासौ तदात्मानं नारायणमिति स्थितम् ।
वेदानां वेदमार्गाणां लोकानां च परायणम् ।। ४० ।।

नारायणेन रूपेण स्वयं पश्यति चाक्षरः ।
[1]स वेदात्मोप देवोऽपि बहु स्यामित्यमन्यत ।
अहङ्कारस्ततो जातो विकुर्वन्समभूत्त्रिधा ।। ४१ ।।

वही अपने को 'यह नारायण हैं' ऐसा उपस्थित करके दिखलाती है। स्वयं वह अक्षर रूप परब्रह्म नारायण रूप से अपने को देखते हैं। वेदों के एवं वेद-मार्गानुयायी लोकों के परायण वह नारायण हैं। उस वेदात्म श्रेष्ठ देव ने 'मैं बहुत हो जाऊँ'—इस प्रकार से सोचा। तब उनसे अहङ्कार पैदा हुआ जो तीन प्रकार का हुआ ।। ४०-४१ ।।

सात्विको राजसश्चैव तामसश्चेति वै त्रिधा ।
तामसादप्यहङ्काराज्जडमासीन्नभः प्रिये ।। ४२ ।।

वह तीन प्रकार का अहङ्कार सात्त्विक, राजस एवं तामस हुआ। हे प्रिये ! उस तामस अहङ्कार से जड़ रूप 'नभ' पैदा हुआ ।। ४२ ।।

तस्य शब्दो गुणश्चासीदेक एव सुलोचने ।
सत्वानुविद्धान्नभसो जातं श्रोत्रमथेन्द्रियम् ।
शब्दस्तु विषयस्तस्य सात्विकी दिक् च देवता ।। ४३ ।।

हे सुलोचने ! उस आकाश का गुण शब्द मात्र हुआ। सत्व से अनुविद्ध होने से नभ से श्रोत्रेन्द्रिय का जन्म हुआ। उस आकाश का विषय 'शब्द' हुआ और सात्त्विकी दिक् उसके देवता हुए ।। ४३ ।।

रजो गुणप्रधानात्तु वागासीद्वचनग्रहा ।
अग्निस्तत्राभवद्देवः सात्विकः सुरवन्दिते ।। ४४ ।।

रजो गुण की प्रधानता से वाणी बोलने वाली वागिन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। हे सुरवन्दिते ! सात्त्विक अग्नि उन वागिन्द्रिय के वहाँ देवता हुए ।। ४४ ।।

यथाकाशादभूद्वायुः शब्दस्पर्शौ च तद्गुणौ ।
सत्त्वानुविद्धात्पवनात् त्वगासीदिन्द्रियं प्रिये ।। ४५ ।।

तब आकाश से 'वायु' की उत्पत्ति हुई और शब्द एवं स्पर्श उनके गुण हुए। हे प्रिये ! सत्त्व से अनुविद्ध होने से पवन से 'त्वक्' इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई ।। ४५ ।।

---

१. 'स वेदात्मा परो देवो स्यामित्यमन्यत' इत्यपि पाठः ।

रजोनुविद्धात्पवनादासीत्पाणीन्द्रियं प्रिये ।
आदान तस्य विषये इन्द्रस्तस्याधिदेवता ।। ४६ ।।

रजो गुण के अनुविद्ध होने से उन पवन से, हे प्रिये ! 'पाणि' इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई । आदान-प्रदान उस पाणि इन्द्रिय के विषय हुए और उसके अधिष्ठातृ देव इन्द्र हुए ।। ४६ ।।

अथ वायोरभूदग्निः शब्दस्पर्शस्वरूपवान् ।
तेजसः सत्वविद्धाद्वे चक्षू रूपग्रहं सति ।। ४७ ।।

तब 'वायु' से 'अग्नि' का जन्म हुआ । जो अग्नि शब्द एवं स्पर्श रूपवान् हैं । तेज के सत्त्व–अनुविद्ध होने से दोनों आँखों की उत्पत्ति हुई जो रूप की ग्राहक हुई ।। ४७ ।।

रजोगुणप्रधानात्तु पादेन्द्रियमभूत्प्रिये ।
उपेन्द्रः सात्विको देवो गमनं विषयो भवेत् ।। ४८ ।।

रजो गुण की प्रधानता से हे प्रिये ! पाद इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई । इसका विषय 'गमन व्यापार' हुआ और इसके सात्त्विक देवता 'उपेन्द्र' हुए ।। ४८ ।।

आपस्तेजःसमुद्भूता रसाधिकगुणास्त्रयः ।
सत्त्वानुविद्धात्सलिलाद्रसनं तद्रसग्रहम् ।। ४९ ।।

तेज से जल समुद्भूत हुआ जो रस एवं तीनों गुणों से युक्त था । सलिल के सत्त्व से अनुविद्ध होने के कारण उस रस का ग्रहण करने वाली 'रसना' इन्द्रिय का जन्म हुआ ।। ४९ ।।

वरुणः सात्विको देवो बभूव सुरवन्दिते ।
रजःप्रधानात्सलिलात् पाय्वासीच्च विसर्गकृत् ।। ५० ।।

हे देवताओं से वन्दित देवि ! उन जल के अभिमानी सात्त्विक देव वरुण हुए । रज की प्रधानता होने से सलिल से मलत्याग करने वाली 'पायु' इन्द्रिय हुई ।। ५० ।।

यमोधिदेवता तत्र सात्विकः सम्बभूव ह ।
अद्भ्योऽभवद्वसुमती शब्दादिगुणपञ्चका ।
पृथिव्याः सत्वविद्धायाः घ्राण गन्धग्रहं शिवे ।। ५१ ।।

उस (पायु-इन्द्रिय) के अधिष्ठाता सात्त्विक देवता यम हुए । जल से शब्द आदि पाँच·गुण[1] वाली पृथ्वी का जन्म हुआ । हे शिवे ! सत्त्व से आविद्ध होने से पृथिवी से गन्ध का ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय का जन्म हुआ ।। ५१ ।।

---

१. शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध— ये पाँच साङ्ख्य दर्शन के मत से पृथ्वी के गुण हैं ।

नासत्यौ देवता तत्र सात्विकी सम्बभूव हा।
रजोनुविद्धया चासीदिन्द्रियं गुह्यसंज्ञकम ।। ५२ ।।

वहाँ सात्त्विक नासत्या (जो असत्य नहीं हैं) देवता हुए और रजोगुण से अनुविद्ध होने से 'गुह्य' नामक इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई ॥ ५२ ॥

आनन्दानुभवस्तेन जायते सुरवन्दिते।
देवः प्रजापतिस्तत्र सात्विकः परिकीर्तितः ।। ५३ ।।

हे सुरवन्दिते ! उस (गृह्येन्द्रिय) से हमें आनन्दानुभव होता है। वहाँ सात्त्विक देव प्रजापति कहे गए हैं ॥ ५३ ॥

रजःप्रधानभूतेभ्यो मिलितेभ्यः सुरेश्वरि।
क्रियाशक्त्यात्मकं प्राणपञ्चकं जायते शिवे ।। ५४ ।।

हे सुरेश्वरि ! रजप्रधान पञ्चमहाभूत के साथ मिलकर, हे शिवे ! क्रियाशक्त्यात्मक प्राणपञ्चकों[1] की उत्पत्ति होती है ॥ ५४ ॥

सत्वप्रधानभूतेभ्यो मिलितेभ्यः सुरेश्वरि।
ज्ञानशक्तिप्रधानं तु ह्यन्तःकरणमुच्यते ।। ५५ ।।

हे सुरेश्वरि ! सत्त्वप्रधान पञ्चमहाभूतों से मिलकर ज्ञानशक्तिप्रधान 'अन्तःकरण' कहा गया है ॥ ५५ ॥

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।
त्वक् चक्षूरसनाघ्राणं श्रोत्रं ज्ञानेन्द्रियाणि च ।। ५६ ।।

मन, बुद्धि, अलङ्कार, और चित्त—ये चार अन्तरात्मक तथा त्वक्, चक्षु, रसना घ्राण एवं श्रोत्र—ये पाँच (कुल नौ) ज्ञानेन्द्रियाँ कही गई हैं ॥ ५६ ॥

वाक् पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियणि च ।। ५७ ।।

वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ (लिङ्ग)—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं ॥ ५७ ॥

दिक् वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ।
दशेन्द्रियाधिदेवाश्च मया ते परिकीर्तिताः ।। ५८ ।।

दिक्, वात, सूर्य, प्रचेता (वरुण), अश्विनद्वय, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र और मित्र आदित्य)—ये दस इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता मेरे द्वारा कहे गए हैं ॥ ५८ ॥

पृथिव्यधिपतिर्ब्रह्मा विष्णुः सलिलनायकः।
तेजसोऽधिपतिः शम्भुर्वायोरीश्वर एव च ।। ५९ ।।

---

१. प्राण, आपान, समान, व्यान और उदान—ये पञ्च प्राण कहे गए हैं।

व्योम्नः सदाशिवः प्रोक्त इत्येता भूतदेवताः ।
दशेन्द्रियाणि बुद्धिश्च मनःप्राणादिपञ्चकम् ।
एतल्लिङ्गं समाख्यातं जीवोपाधिरिति स्फुटम् ।। ६० ।।

पृथ्वी के अधिपति ब्रह्मा हैं और सलिल के नायक बिष्णु हैं। तेजस् के अधिपति शम्भु हैं और वायु के ईश्वर तथा आकाश के देवता सदाशिव कहे गए हैं। ये ही पञ्च महाभूतों के देवता हैं। दस इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और पञ्च प्राण— ये 'लिङ्ग' (शरीर) समाख्यात हुए और जीव-उपाधि तो स्फुट रूप से कही गई है ।। ५९-६० ।।

विशेषं तत्र देवेशि ! वर्णयामि शृणुष्व तत् ।
प्राणादिपञ्चकं देवि ! कर्मेन्द्रियसमन्वितम् ।। ६१ ।।
प्राणकोश इति ख्यातः क्षुत्पिपासादिधर्मवान् ।
मनोज्ञानेन्द्रियैर्युक्तं मनःकोश उदीरितः ।। ६२ ।।

हे देवेशि ! उस (सृष्टि क्रम) में विशेष वर्णन मैं करता हूँ; उसे आप सुनिए। हे देवि ! कर्मेन्द्रियों से समन्वित पञ्चप्राण को भूख और प्यासादि धर्म से युक्त 'प्राणकोश' कहा जाता है। (वही प्राणादि पञ्चक) मन एवं ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होने पर 'मनःकोश' कहा गया है ।। ६१-६२ ।।

बुद्धिज्ञानेन्द्रियैर्युक्तो विज्ञानाख्यः प्रकीर्तितः ।
इदं कोशत्रयं देवि ! व्यष्टया लिङ्गमुदाहृतम् ।। ६३ ।।

वह (पञ्चप्राण) बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियों से संयुक्त होने पर 'विज्ञान कोश' नाम से जाना जाता है। ये तीनों कोश, हे देवि ! व्यष्टि (अलग-अलग) क्रम से 'लिङ्ग' कहे गए हैं ।। ६३ ।।

तत्राभासमयो जीवो याति चायाति सुन्दरि ! ।
जडं कोशत्रयं देवि ! ब्रह्माभासेन चेष्टते ।। ६४ ।।

हे सुन्दरि ! उन (कोशों के लिङ्गों) में भासमान जीव आवागमन के चक्कर में फँसा रहता है। हे देवि ! ये जडकोशत्रय ब्रह्माभास से कर्म की चेष्टा करने में समर्थ होते हैं ।। ६४ ।।

यथायस्कान्तसान्निध्ये यथा लोहं सुरेश्वरि ! ।
यज्जडं तदसद्देवि यत्सत्तत्सदिति प्रिये ! ।। ६५ ।।

हे सुरेश्वरि ! जैसे अयस्क [कच्ची धातु] के सान्निध्य से लोहा बन जाता है वैसे ही, देवि ! जो जड़ है वह असत् पदार्थ है और हे प्रिये ! जो सत् है वह सत्य पदार्थ है ।। ६५ ।।

तस्मात्तच्चेतनं ब्रह्म सत्यमित्येव सुन्दरि ! ।
समुदायस्तु लिङ्गानां तत्राभासस्तु यः प्रिये ॥ ६६ ॥

इसलिए, हे सुन्दरि ! वह चेतन ब्रह्म ही सत्य है'—ऐसा कहा गया है । हे प्रिये ! जो शरीरों का समुदाय है, वह उन ब्रह्म का आभासमात्र है ॥ ६६ ॥

हिरण्यगर्भं तं प्राहुः सूत्रात्मानं पुनस्तथा ॥ ६७ ॥

उसे ही (वेदों में) 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है जो सूत्र रूप से अपने को ही पुनः विस्तृत कर देते हैं ॥ ६७ ॥

इति ते कथितं देवि ! यत्पृष्टोऽहं त्वया शुभे ।
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६८ ॥

॥ इति श्रीनारदपाञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे (ज्ञानखण्डे)
शिवोमासंवादे षष्ठं पटलम् ॥ ६ ॥

———*———

हे देवि ! जो आपने मुझसे पूँछा था उसे, हे शुभे ! मैंने संक्षिप्त रूप से कह दिया है । हे महेशानि ! अब पुनः आप क्या सुनना चाहती हैं ॥ ६८ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारद पाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के षष्ठ पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ६ ॥

———*———

अथ सप्तमं पटलम्

पार्वत्युवाच—

देवदेव ! महादेव ! करुणार्णव ! शङ्कर ! ।
श्रुत्वा त्वदीयवचनं नात्मा मे परितुष्यति ।। १ ।।
नारायणादिरूपाणि त्वयोक्तानि च शङ्कर ! ।
तदुद्भवे हेतुमात्रं ब्रह्माज्ञानं निरूपितम् ।। २ ।।

पार्वती ने कहा—

हे देवों के देव महादेव, करुणा के समुद्र भगवान् शकर आपके वचनों को सुनकर मेरी आत्मा ठीक से सन्तुष्ट नहीं हुई है । आपके द्वारा, हे शंकर, विष्णु के नारायण आदि रूपों का वर्णन किया गया । उनके उद्भव में ब्रह्म के अज्ञान रूप एकमात्र हेतु का निरूपण किया गया ।। १-२ ।।

ब्रह्मण्यज्ञानसम्बन्धः सन्देहस्ते निवारितः ।
कारण ब्रूहि देवेश मोहोत्पत्तौ विशेषतः ।। ३ ।।

ब्रह्म के अज्ञान के सम्बन्ध में संदेह भी आपके द्वारा निवारित कर दिया गया । हे देवेश ! अब आप विशेष रूप से मोह की उत्पत्ति का कारण बतलाइये ।। ३ ।।

शिव उवाच—

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि रहस्यं वेदगोपितम् ।
यस्य कस्यापि नो वाच्यं वाच्यं सर्वस्वदायिने ।। ४ ।।

शिवजी ने कहा—

हे देवि ! बेदों से भी गोपित रहस्य को मैं कहूँगा । जिसे जिस किसी से भी नहीं कहना चाहिए । सर्वस्व दान करने वाले को भी नहीं कहना चाहिए । उसे सुनो ।। ४ ।।

तव स्नेहवशाद्देवि ! कथयामि न चान्यथा ।
सच्चिदानन्दकं ब्रह्म सदंशेन क्षरं जगत् ।। ५ ।।

हे देवि ! आपके स्नेह के कारण मैं आप से कहता हूँ । अन्यथा यह किसी से भी कहने योग्य नहीं है । यह ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द रूप है । यह ब्रह्म अक्षर है । सदंश के कारण जगतरूप से क्षर अर्थात् विनाशशील है ।। ५ ।।

चिद्रूपं ब्रह्म परमं नित्यमक्षरमव्ययम् ।
बाललीलाविनोदेन कोटिब्रह्माण्डसंहतीः ॥
सृजते संहरत्येव निर्विकारं तथापि यत् ॥ ६ ॥

चित् रूप ब्रह्म श्रेष्ठ है, नित्य है, अक्षर है और अव्यय है। वही ब्रह्म बाल लीलाओं के विनोद से कोटि ब्रह्माण्ड के समूह की रचना करते हैं और उनका संहार भी करते हैं। फिर भी वह विकार रहित रहता है ॥ ६ ॥

तस्मादप्यक्षरादूर्ध्वं परमानन्दसुन्दरम् ।
नित्यवृन्दावनानन्दि नानाक्रीडारसार्णवम् ॥ ७ ॥

उस अक्षर ब्रह्म से भी ऊपर परमानन्द सुन्दर वृन्दावन में नित्य आनन्द लेने वाले नाना प्रकार की क्रीड़ाओं के रस के समुद्र भगवान् कृष्ण हैं ॥ ७ ॥

विराजति ब्रह्मपुरे मनोवाग्विषयातिगम् ।
अम्भोजकर्णिकावच्च नित्यवृन्दावनान्तरे ॥
तत्पत्रवदनेकैश्चिन्महोद्यानैर्विराजितम् ॥ ८ ॥
निजं धामं रसानन्दं स्वप्रकाशं महोज्ज्वलम् ।
कालिन्दी यत्र कोटयर्कभास्वद्रत्नतटोन्नता ॥ ९ ॥

मन वाणी और विषय से भी परे वह ब्रह्मपुर में विराजते हैं। वृन्दावन के मध्य वे नित्य कमल की कली के समान रहते हैं और उसके पत्ते के समान अनेक महान् उद्यान में विराजते हैं। वह प्रभु निज धाम में रहने वाले, नाना रस का आनन्द लेने वाले, स्वयं प्रकाश से अत्यन्त जाज्वल्यमान हैं जिस वृन्दावन में यमुना नदी कोटि सूर्य से भासमान रत्नों से युक्त एवं ऊँचे-नीचे तटों वाली है ॥ ८-९ ॥

हंससारसकारण्डनानापक्षिनिनादिता ।
फुल्लाम्भोजवनामोदलुब्धभ्रमरमण्डला ॥ १० ॥

उस यमुना नदी का तट हंस, सारस, कारंडव आदि नाना पक्षियों से निनादित है। वहाँ फूले हुए कमल के वन की सुगन्ध से लुभायमान भ्रमरों का समूह शोभित है ॥ १० ॥

नवरत्नमयीभिस्तु सिकताभिरलंकृता ।
महामणितटोत्तुङ्गकुट्टिमैः परिमण्डिता ॥ ११ ॥

यमुना तट की भूमि नवीन रत्नों से और बालुओं से अलंकृत हैं। उसका तट महामणि से जटित उतुङ्ग फर्शों से परिमण्डित है ॥ ११ ॥

नानादिव्यलताकुञ्जैरम्लानकुसुमोज्ज्वलैः ।
दिव्यगन्धसमाकृष्टभृङ्गझङ्कारपेशलैः ॥ १२ ॥

वहाँ नाना प्रकार की दिव्य लताओं के कुञ्ज विद्यमान थे जिनमें सदैव उज्ज्वल फूल खिले रहते थे। उनकी दिव्य सुगन्ध से आकृष्ट हुए भ्रमरों की झङ्कार से वातावरण बड़ा ही मनोरम था ॥ १२ ॥

सप्ततीर्थैर्दिव्यरत्नराजिराजितभूतलैः ।
उपरिस्थमणिभ्राजत्कुट्टिमैर्दिव्यमण्डपैः ॥ १३ ॥

वहाँ सात तीर्थों से लाए गए दिव्य रत्नों की पङ्क्ति से भूतल शोभित थे। उसके ऊपर मणियाँ जटित दिव्य मण्डल चमक रहा था ॥ १३ ॥

शोभमानामृतजला स्वर्णपङ्कजमालिनी ।
रक्ततुण्डपदैश्चित्रपक्षैः पक्षिगणैः शिवे ॥ १४ ॥

हे शिवे ! वहाँ के अमृत जल में स्वर्ग के कमल खिले थे। वहाँ लाल चोंच और लाल पैरों वाले तथा विभिन्न वर्णों के चित्र विचित्र पंखों वाले पक्षियों का समूह विहार कर रहा था ॥ १४ ॥

सेव्यमाना सुखस्पर्शैर्वायुभिश्चलपङ्कजा ।
क्वचित्पर्यस्तमुक्तालिमहामरकतावनौ ।
शुद्धतामसहृद्युच्चैर्भाति भक्त्यङ्कुरा इव ॥ १५ ॥

उन स्वर्णिम कमलों से छूकर आई हुई वायु के सुख स्पर्श का वे सेवन कर रहे थे। कहीं-कहीं मुक्तामणि बिखरी हुई थी और सभी जगह महामरकत मणि से पृथ्वी बड़ी ही सुन्दर लग रही थी। ऐसा लगता था मानों शुद्ध तामस हृदय में भक्ति का अङ्कुर ऊपर उठा हो ॥ १५ ॥

यत्रोन्नदन्तःशुकसारसाद्याः
पठन्ति दिव्यां गुणचित्रसत्कथाम् ।
शाखास्थिताः कल्पमहीरुहाणां
मन्दानिलान्दोलितपल्लवश्रियाम् ॥ १६ ॥

जिस कालिन्दी के तीर पर कल्प वृक्ष की शाखा पर स्थित, ऊपर चोंच किए हुए शुक एवं सारस आदि पक्षि गण दिव्य गुणों और विचित्र प्रकार की सुन्दर कथा का पाठ कर रहे थे वहाँ मन्द-मन्द वायु से आन्दोलित पत्तों की श्री अत्यन्त सुहावनी लग रही थी ॥ १६ ॥

न यत्र शोको न भयं मृतिर्वा
कालो न यत्र प्रभवेदनन्तः ।
यदेत्य शोचन्ति पुनर्नहीश्वराः
कुञ्जेषु लीलावपुषोऽमलाशया ॥ १७ ॥

उस कालिन्दी के तट पर शोक या भय अथवा मृत्यु भी नहीं थी । जहाँ काल की माप नहीं थी । वह अनन्त था । जहां पर आकर ईश्व र भी पुनः वहां से लौटने की नहीं सोंचते थे । वहाँ के कुञ्जों में लीलावपुधारी भगवान् श्री कृष्ण विहार करते थे ॥ १७ ॥

प्रतप्तजाम्बूनदसुन्दरत्विषः
कटाक्षविक्षेपविलोभितेश्वराः ।
चरन्ति मूर्त्ता इव विद्युतः स्फुटा
घनेषु कुञ्जध्वनियोषिताङ्गणाः ॥ १८ ॥

वहाँ की युवतियाँ जाम्बूनद की सुन्दरता से प्रतप्त कान्ति वाली थीं । उनके कटाक्ष के विक्षेप से देवता भी लुभा जाते थे । वे जब आंगन में चलती थीं तब ऐसा लगता था कि मानों विजली सी मूर्तिमान होकर चल रही हो । उनकी मन्द ध्वनि से ऐसा लगता था कि मानों बादलों की घड़घड़ाहट हो रही है ॥ १८ ॥

प्रफुल्लचाम्पेय वनोल्लसल्लता·
शतोपशङ्कं ग्रथिता समीरणः ।
तनुष्विवानन्द परंपरां परां
तनोति तारुण्यभृतोन्नतद्भ्रुवाम् ॥ १९ ॥

फूली हुई चम्पा की लता के वन से शोभित और उधर से आई हुई सुगन्धि युक्त वायु ऊँची भौहों वाली तरुणियों के शरीर के आनन्द की परम्परा को और भी बढ़ा देती थी ॥ १९ ॥

सख्यः कुशेशयदृशो विलसद् विभूषाः
प्रोत्तुङ्गपीनकुचमण्डललम्बिहाराः ।
काश्मीरनीरलुलिताम्बररश्मिमाला
निर्भर्त्सितोदितदिवाकरबिम्बशोभाः ॥ २० ॥

कमल के समान लोचन वाली सखियाँ चित्र विचित्र वेषभूषा में शोभित थी । ऊँचे उठे हुए मोटे-मोटे स्तनों पर उसकी गोलाई तक हार लटक रहा था । काश्मीर [केसर] के नीर (जल) से आलोडित अम्बर रूप ललाट के तिलक की रश्मि

के समूहों से उदीयमान सूर्य की लाली की शोभा को तिरस्कृत करते हुए शोभित हो रहे वे ॥ २० ॥

दिव्यन्ति यत्र सुरसिद्धदुरापलोकाः
श्रुत्युल्लसत्कनककुण्डललोलगल्लाः ॥ २१ ॥

सुरसिद्ध–दुरायलोकों की अङ्गनाएँ सुनने में मधुर लगने वाले सुवर्ण के कुण्डलों से शोभित गलों से युक्त होकर जहाँ दिव्य आनन्द ले रही थी ॥ २१ ॥

'द्युमणिमणिसमुद्यत्कान्तिसन्दोहरम्याः
विशदमरकतानामंशुकिर्मीरिताश्च ।
प्रचलदचलशोभैः पद्मरागैः सरागैः
प्रकटपरमशोभा भूमयो यत्र भान्ति ॥ २२ ॥

सूर्यकान्त मणि से स्फुरित होने वाली कान्ति के समूह से रम्य और विशद मरकत मणि की किरणों से मिश्रित होकर वहाँ की भूमि शोभित थी। इस प्रकार वहाँ की भूमि मानों प्रकृष्ट रूप से चञ्चल किन्तु अचल शोभा से युक्त रञ्जित पद्मरागमणि द्वारा श्रेष्ठ प्रकट कमलों से शोभित हो रही थी ॥ २२ ॥

नीलाद्रिकान्तिसन्दोहैरूर्ध्वगैः सर्वतः प्लुतैः ।
दूरादाभाति वसुधा हरितृणमयाङ्कुरा ॥ २३ ॥

नीले पर्वत की कान्ति के सन्दोह [संघात] से सभी ओर ऊपर उठती हुई पृथ्वी की आभा दूर से ऐसी लगती थी मानों हरित तृण सभी ओर अङ्कुरित हों ॥ २३ ॥

परापरविभागेन नीलपुष्पमयौ गिरी ।
नानाश्चर्यमयौ दिव्यौ दिव्योद्यानमनोहरौ ॥ २४ ॥

नीचे और ऊपर के विभाग से ऐसा लगता था मानों सम्पूर्ण पर्वत नीले रंग के पुष्पों से युक्त हो। दोनों ही, नाना प्रकार के आश्चर्यों से युक्त दिव्य और दिव्य उद्यान से युक्त मनोहर लग रहे थे ॥ २४ ॥

स्फुरन्मयूखमालाभिः प्रकाशितदिगन्तरः ।
पद्मरागाचलः श्रीमानास्ते यत्र महार्द्धिमान् ॥ २५ ॥

ऊपर उठती हुई किरणों की कान्ति से दिक् और दिगन्तर प्रकाशित थे। जहाँ श्री से युक्त पद्मराग के पर्वत महान् समृद्धि से युक्त थे ॥ २५ ॥

सरांसि यत्र भूयांसि चित्सुधारसवन्ति च ।
विलसन्ति महारत्नशिलाबद्धानि सर्वतः ॥ २६ ॥

---

१. द्युमणिः—अम्बरमणिः, सूर्य इत्यर्थः, द्युमणिमणि—सूर्यकान्तमणिः ।

जहाँ के बहुत से सरोवर चित् सुधा रस से युक्त थे। महारत्नों की शिला से बँधे हुए वे चारों ओर से सुशोभित थे ॥ २६ ॥

यत्रोद्यानलताकुल्या वमन्ति मधुरां सुधाम् ।
यूथशः खेलमानास्ताः पिबन्त्यानन्दनिर्भराः ॥ २७ ॥

जहाँ पर उद्यान, लता और झरने मधुर अमृत की धारा बहा रहे थे। आनन्द में विभोर होकर वे सखियाँ झुण्ड झुण्ड में खेलते हुए जलपान करती थीं ॥ २७ ॥

यत्रैव कुञ्जसदनानि हसन्मुखानि
व्याकीर्णकाञ्चनभुगासनमण्डितानि ।
प्रत्याहसन्मणिविजृम्भितकुट्टिमानि
कूजद्विहङ्गमकुलानि शिवानि नित्यम् ॥ २८ ॥

जहाँ पर कुञ्जों के गृह हँसते हुए मुख वाली सखियों से युक्त थे। वे गृह बिखरे हुए सोने की भूमि से मानों मण्डित थे। नित्य प्रति जहाँ की मणि जटित फर्शों पर फुदकती हुई कल्याणकारी चिड़ियों के झुण्ड कूर्दन किया करते थे ॥ २८ ॥

स्फूर्जन्मणिप्रविततिर्वितनोति लक्ष्मीं
विस्फूर्जदूरुशशिकान्तशिलातलेषु ।
कूलप्ररूढनलिनीदलरश्मिबिम्बा
रूढेषु कामपि नितान्त मुदः प्रणाली ॥ २९ ॥

चन्द्रकान्तमणि की शिलाओं के ऊपर स्फुरित होती हुई कान्ति अन्य मणियों की ऊपर उठती हुई शोभा को बढ़ा रही थी। झरनों के तट पर उगे हुए नलिनी दल की रश्मि के प्रतिबिम्बों में मानों पुष्पों की कतारें बना रहे से प्रतिबिम्ब शोभित हो रहे थे ॥ २९ ॥

वैदूर्यवीरुध इह प्रतिभान्ति विष्वक्
यासूल्लसन्त्यरुणविद्रुमनर्त्तनानि ।
दूरादुपेतसितमौक्तिकरश्मिलेश
शोभां दधाति विमलां विलसन्तमार्याम् ॥ ३० ॥

वैदूर्यमणि की लताएँ यहाँ चारों ओर शोभित थीं जिसमें लाल-लाल मूँगे की छटा उल्लसित थी। दूर से सफेद मोतियों की रश्मि के लेशमात्र से युक्त होकर विमल एवं श्रेष्ठ शोभा को पर्वत धारण कर रहे थे ॥ ३० ॥

यत्रैव चम्पकवनानि जयन्ति विष्वक्
मत्तभ्रमद् भ्रमरदूरतरोज्झितानि ।
प्रत्युन्नदन्ति विटपेष्वनिशं द्विजेन्द्रा
गीतध्वनिं सुखसमीरसमुन्नमत्सु ॥ ३१ ॥

जहाँ पर चारो ओर चम्पा के फूल के वन सुशोभित थे। जिस चम्पक वन में मँडराते हुए मतवाले भ्रमर दूर से ही मानों बिखेर दिए गए थे। वहाँ के पेड़ों पर पक्षि सदैव कलरव कर रहे थे। सुख से मन्द-मन्द चलने वाला वायु मानों गीत ध्वनि को पैदा कर रहा था ॥ ३१ ॥

श्यामोदरद्युतिसरोजवनीस्थिताभिः
कान्तिच्छटाभिरभितोघृतदुर्दिनेषु ।
प्रोत्फुल्लपङ्कजकदम्बपरागपुञ्जो
विद्युच्छविं वहति गन्धवहः प्रणुन्नः ॥ ३२ ॥

श्याम वर्ण [उदर ?] की कान्ति वाले कमल के वनों में स्थित कान्ति वाले कमल के वनों में स्थित कान्ति की छटाएँ वर्षा के दिनों में चारों ओर सुहावनी लग रही थी। वायु, विकसित कमलों के गुच्छों के पराग के पुञ्ज को धारण कर रही थी और वर्षाकालीन विद्युत की चमक से सम्पूर्ण वन सुशोभित हो रहा था ॥ ३२ ॥

क्रीडासरः स्फुटमुदञ्चति कुञ्जलीन-
गुञ्जद्द्विरेफपटलाकुलपङ्कजश्रिः ।
वप्रप्ररूढगुणरूढकदम्बलम्बद्
दोलासहस्रकमनीयगुणं गुणोरु ॥ ३३ ॥

दूराद्विहाद्रितनये कमलाकराणा-
मुद्यत्परागपटलैश्च समीरवेगात् ।
स्फारीभवत्सुरभिगन्धसुधामयाम्भः-
चेतःसरो रमयतीत्यनुरागिभावम् ॥ ३४ ॥

वर्षा ऋतु में मानों केलि क्रीडा का सरोवर स्फुट रूप से आलोडन कर रहा था। कुञ्ज में लवलीन एवं गुञ्जार करते हुए भ्रँमरों के झुण्ड के झुण्ड कमलों पर मँडराते हुए शोभित हो रहे थे। हे गुणवान् उरुओं वाली प्रिये ! सरोवर के किनारे पर उगे हुए कदम्ब के वृक्षों पर सहस्रों झूले लटक रहे थे। हे अद्रितनये ! (हिमालय की पुत्रि !) यहाँ के कमल के समूह से उठी हुई परागों की सुगन्ध से दूर-दूर तक वायु सुगन्धित होकर फैली हुई थी। चारो ओर व्याप्त सुरभि युक्त

सुगन्ध के अमृतमय वातावरण से चित्त का सरोवर भी रमणीय अनुराग के भाव में विभोर हो रहा था ॥ ३३-३४ ॥

मध्योल्लसद्विपुलविद्रुमदेहलीक-
विश्रान्तिमण्डपसमृद्धसमस्तभोगम् ।
सोपानवर्त्मसु निविष्टसखीसहस्र-
व्याहन्यमानमृदुमर्दलपूर्णकुञ्जम् ॥ ३५ ॥
उद्यन्मयूखमयशुद्धसुधातिवर्ष-
रत्नेन्दुरुल्लसति नित्यमनस्त भावः ।
नित्याभिरन्वितत मः स्वकलाभिरन्तः
शुद्धेतरप्रथितपक्षविपक्षधामा ॥ ३६ ॥

वहाँ मध्य में बहुत से मूँगों की देहली वाला विश्राम मण्डप समस्त भोगों से समृद्ध था। सीढ़ियों वाले उन मार्गों पर हजारों सखियाँ बैठी हुई मृदु एवं मर्दल पूर्ण कुञ्ज को आकीर्ण किए हुए थो। उठती हुई किरण से शुद्ध एवं अमृत की खूब वर्षा करने वाले रत्न रूप चन्द्र नित्य ही मन के अनुराग भाव को उल्लसित कर रहे थे। अपनी कलाओं से नित्य मिले हुए वे चन्द्र रूप से शोभित थे (शुद्धेतर धामा ?) ॥ ३५-३६ ॥

यत्रामृताम्भोनिधिमध्यविस्फुर-
द्रत्नोल्लसद् द्वीपनिवेशमद्भुतम् ।
चकास्ति तस्मिन्परमाद्भुतं मह-
न्नैकेन भास्वन्मणिना विनिर्मितम् ॥ ३७ ॥

यहाँ पर मध्य में मानों अमृत विस्फुरित हो रहा था। उस अमृत समुद्र में रत्नों की छटा अद्भुत द्वीपों को मानों उपस्थित कर रही थी। उस परमानन्द समुद्र के मध्य महान् एवं अद्भुत तथा अनेक भास्वर मणियों से विशेषतया निर्मित भवन चमक रहा था ॥ ३७ ॥

निजालयं मन्दिरमद्भुताकृति
महामणिस्तम्भविराजमानम् ।
समोदितानेकदिवाकरेन्दुरुक्-
प्रभावनिर्भर्त्सनरत्नमण्डितम् ॥ ३८ ॥
नानाविधानन्दविहारभूमिका
दशैव यस्मिन् प्रतिभान्ति पेशलाः ।
विहारशय्यासनचारुचामरा-
मृतानुलेपोत्तमगन्धसाधना ॥ ३९ ॥

आनन्दघन परमात्मा का स्वयं का धाम अद्भुत आकृति वाला ऐसा मन्दिर था जिसमें महामणि के खम्भे शोभित थे। वह भवन ऐसा रत्नों से मण्डित था जिसमें अनेक सूर्य और चन्द्रमा की किरणों की छवि भी धूमिल हो जाती थी। वह मन्दिर नाना प्रकार के आनन्द के विहार की भूमि वाला था जिसमें दस प्रकार के मृदु द्रव्य उपलब्ध थे। वहाँ विहार के लिए शय्या एवं आसन थे। वह मन्दिर सुन्दर चामर तथा अमृतमय अनुलेप और उत्तम सुगन्ध साधनों से परिपूर्ण था ॥ ३८-३९ ॥

गवाक्षमालापथचारिभिर्महा-
गरुद्रुवैर्धूमवरैः सुगन्धिभिः ।
इतस्ततः केलिवनानिलोद्धतैः
सुवासयन्त्यो वनपुष्पसम्पदः ॥ ४० ॥

उस मन्दिर के गवाक्षों से निकलने वाले अगरु के धूएँ से वातावरण अत्यन्त सुगन्धि से सुवासित था। इधर-उधर केलि वन की वायु से उठे हुए वन पुष्प की सुगन्ध से सम्पूर्ण वातावरण सुवासित हो गया था ॥ ४० ॥

क्वचिद्दिनमणिज्योत्स्नाजालैर्मध्याह्नसूचकम् ।
क्वचिदञ्जनसङ्काशैर्मणिभिर्दर्शितक्षपम् ॥ ४१ ॥

कहीं पर लताओं के मध्य से आती हुई सूर्य की किरणों के जाल से ऐसा लगता था कि मध्याह्न हो गया है। कहीं पर अञ्जन के लगने से मणियों द्वारा प्रदर्शित रात्रि का भान हो जाता था ॥ ४१ ॥

उदितार्कमिवान्यत्र पद्मरागप्रभारुणम् ।
सन्ध्यायमानमेकत्र इन्द्रनीलमणित्विषा ॥ ४२ ॥

अन्यत्र कहीं उदित होते हुए सूर्य के समान पद्मराग की प्रभा से वह मन्दिर अरुण था और अन्यत्र कही इन्द्रनील मणि की प्रभा से सन्ध्या की प्रतीत होती थी ॥ ४२ ॥

जलजाकृतिमत्यम्ब चतुरस्रा च वेदिका ।
तस्याश्चतुर्षु कोणेषु हेमकुम्भाः सुधाभृताः ॥ ४३ ॥

वहाँ की चतुरस्र वेदिका पर कमल की आकृति बनी हुई थी उसके चारों कोनों पर अमृतमय सुवर्ण कलश सुशोभित थे ॥ ४३ ॥

रत्नपङ्कजसंशोभैर्मुखा यत्र चकासते ।
मुक्तामयवितानानि मणिभूमिप्रभाङ्कुरैः ॥ ४४ ॥

वनिताओं के मुख रत्न कमल के समान प्रकाशमान थे। उस मन्दिर का

वितान (छत) मोती जड़ा हुआ था। मणिमय भूमि की प्रभा से दूर्वा के अङ्कुर की प्रतीत होती थी ॥ ४४ ॥

निर्भिन्नानीह लक्ष्यन्ते नानाचित्राकृतीनि च ।
कर्णिकावन्महासौधं परितस्तस्य सुन्दरि ॥ ४५ ॥

हे सुन्दरि ! नाना प्रकार के चित्रों की आकृतियाँ प्रत्यक्ष रूप से पास-पास दिखाई दे रही थीं । उस मन्दिर की चहार दिवारी चारो ओर कर्णिका के समान थी ॥ ४५ ॥

द्वादशैव सहस्राणि प्रियाणां सौधपङ्क्तय ।
प्रवालदेहलीकानि मणिद्वाराणि पार्वति ।
मुक्तातोरणवन्त्युच्चैर्नानाश्चर्यमयान्यपि ॥ ४६ ॥

हे पार्वति ! प्रियाओं की सौधपङ्क्तियाँ बारह हजार थी । उन भवनों की देहली मूँगे की और द्वार मणियों के बने थे । मोतियों के तोरण से युक्त द्वार नाना प्रकार के आश्चर्यमय सजावट से युक्त थे ॥ ४६ ॥

नानावर्णैर्महाचित्रैश्चित्रितानि समन्ततः ।
गवाक्षमालाविलसन्मणिदीपोज्ज्वलानि च ॥ ४७ ॥
दीर्घिकाभिश्च दीर्घाभिर्विकचोत्पलपङ्क्तिभिः ।
गाहमानाभिरनिशं सखीवृन्दैर्विभूषितैः ॥ ४८ ॥

चारो ओर द्वार पर नाना वर्ण के बड़े-बड़े चित्र चित्रित थे और गवाक्षों की पङ्क्ति मणि दीपों के प्रकाश से प्रकाशित थी । बड़ी-बड़ी दीर्घिकाओं से युक्त वह भवन सदैव सखीवृन्द से विभूषित था ॥ ४७-४८ ॥

क्वणत्कनकभूषाढ्यैः कौशम्भाम्बरशोभितैः ।
नानाकेलिरसास्वादविघूर्णितविलोचनैः ॥ ४९ ॥

स्वर्ण के बजते हुए आभूषणों से युक्त वे सखियाँ कुसुम्भी रंग की साड़ियाँ पहने हुए सुन्दर प्रतीत हो रही थीं । वे सखियाँ नाना प्रकार के केलि क्रीडा के रस के आस्वाद से मत्त लोचनों वाली थी ॥ ४९ ॥

महाद्वारमहं वन्दे भास्वद्रत्नकपाटकम् ।
सन्मुखं दूरतो यस्य विभाति यमुना नदी ॥ ५० ॥

इस प्रकार के मन्दिर के सिंहद्वार की मैं वन्दना करता हूँ जिसमें चमकते हुए रत्नों से जटित दरवाजे लगे थे । जिस सिंहद्वार के सम्मुख यमुना नदी शोभित हैं मैं उसे प्रणाम करता हूँ ॥ ५० ॥

तत्प्राङ्गणं कुङ्कुमपङ्कपिच्छलं
समुद्यदादित्यसहस्रभास्वरम् ।
मुक्तामयूखावलिमिश्रितैर्महा-
मणिप्रकाशैररुणीकृतान्तरम् ॥ ५१ ॥

वहाँ का आँगन कुङ्कुम के कीचड़ से फिसलन वाला हो गया था। उस रक्तिम फर्श पर ऐसा लगता था कि मानों हजारों भास्वर सूर्य उदित हो रहे हों। मुक्तामणि की किरणों को पङ्क्ति से मिश्रित होकर महामणि के प्रकाश से आँगन का सभी भीतरी भाग लाल वर्ण का हो रहा था ॥ ५१ ॥

यत्र कार्त्तस्वरमयी पर्यस्तमणिमौक्तिका।
परमानन्दभवन विभाति विविधास्थली ॥ ५२ ॥

जहाँ पर मानों कार्तस्वर करती हुई मुक्तामणि बिखरी हुई थी। वहाँ विविध प्रकार की भूमि परम आनन्द भवन के रूप में शोभित हो रहीं थी ॥ ५२ ॥

सव्यापसव्ययोर्यस्य पुरश्च सुरवन्दिते ।
कुट्टिमानि विचित्राणि भान्ति भूयांसि यत्र वै ॥ ५३ ॥

हे सुरवन्दिते ! सम्मुख तथा बाईं ओर और दाहिनी तरफ की विविध प्रकार की चित्रित फर्श शोभायमान थी ॥ ५३ ॥

यत्र जाम्बूनदस्तम्भेष्वारोपितमणिव्रजाः ।
प्रपुष्णन्ति महीदीपशोभामधूतवर्चसः ॥ ५४ ॥

जहाँ पर जाम्बूनद के स्तम्भों पर मणियों के समूह लगाए गए थे। इस प्रकार वे मणि वहाँ की पृथ्वी में बिना हिले हुए लौ वाले दीपों की शोभा को मानों पुष्ट कर रहे थे ॥ ५४ ॥

तन्मध्यतो जयति कश्चिदनर्घ्यमुक्ता
माणिक्यराशिरचितो विलसत्पताकः ।
वैदूर्यविद्रुमविनिर्मितदेहलीकः
श्रीमण्डपः कुसुमराशिभिरुद्यतश्रीः ॥ ५५ ॥

उस मण्डप के बीच में कोई अनमोल मुक्ता एवं माणिक्य आदि रत्नों से खचित पताका शोभा पा रही थी। वैदूर्य मणि और मूँगे से निर्मित देहली वाला और पुष्पों की राशि से समृद्ध वह श्री-मण्डप अत्यन्त कान्तिमान था ॥ ५५ ॥

नृत्यन्ति कूजदलघुध्वनिनूपुराणां
केयूरचारुवलयावलिभासुराणाम् ।
यूथानि सस्मितमुखद्युतिनर्त्तकीना-
मादर्शिताभिनयमुच्चलकुण्डलश्रीः ॥ ५६ ॥

(जिस मण्डप में) केयूर (बाजूबन्द) और सुन्दर कंगनों के समूह से प्रकाशित हाथों वाली तथा मन्द मन्द नूपुरों की आवाज से गुँजार करती हुई नृत्याङ्गनाए नाच रहीं थी। मन्द-मन्द मुस्कान से युक्त नर्तकियों के समूह के अनेक झुण्ड, अपने कुण्डलों को हिलाते हुए शोभायमान-श्री से युक्त अभिनय दिखा रहे थे । ५६ ॥

यत्रेन्द्रनीलमणिनिर्मितनीलपद्मे-
षूद्भ्रान्तभृङ्गवनितापटलीविभाति ।
यत्रोल्लसत्स्फटिकभूमितलोपविष्टा-
हंसाविशेषमभजन्पदचञ्चभासा ॥ ५७ ॥

इन्द्रनील मणि से निर्मित नील पद्मों में उद्भ्रान्त होकर घूमती हुई भौंरों की भ्रमरियों के झुण्ड से जहाँ की भूमि शोभित था और जो शोभायमान स्फटिक की भूमि तल पर बैठे हुए हंस विशेष के पद और चञ्चु की कान्ति युक्त थी ॥ ५७ ॥

आमोदमोदितदिगन्तरभृङ्गसङ्घ-
कल्पद्रुकोमलपरागसरागमार्गे ।
मन्मानसं गिरिसुते सितसैन्धवीयः
खण्डो निमज्जतु महामणिमण्डपान्तः ॥ ५८ ॥

सुगन्ध से सुगन्धित दिगन्तर में भ्रमरों के समूह से युक्त और कल्पवृक्षों के समान कोमल पराग से लालिमायुक्त मार्ग में, हे गिरिसुते ! श्वेत उदधि रूप हमारा मन महामणि के मण्डप के भीतर अवगाहन करे ॥ ५८ ॥

यमुनायाः परे कूले निज धाम प्रतिष्ठितम् ॥ ५९ ॥
अपरस्मिन् महेशानि धाम स्यादक्षरस्य तु ॥ ६० ॥

यमुना के एक किनारे पर भगवान् कृष्ण का निजधाम प्रतिष्ठित है और हे महेशानि ! दूसरे किनारे पर अक्षर [ब्रह्म] का धाम है ॥ ५९-६० ॥

धाम्नोभिमुखमीशानि वनान्युपवनानि च ।
चिदानन्दमयी वापी मणिमण्डपमण्डिता ॥ ६१ ॥

हे ईशानि ! उन दोनों धामों के अभिमुख वन और उपवन विद्यमान हैं। मणिमण्डप से मण्डित चित् और आनन्दमयी वापी वहाँ सुशोभित है ॥ ६१ ॥

पारिजातवनं यत्र प्रवालकुसुमोज्ज्वलम् ।
पद्मरागमयाकारनानावृक्षैर्विराजितम् ॥ ६२ ॥

मूँगे के समान लाल (एवं श्वेत वर्ण के) उज्ज्वल फूलों से पुष्पित जहाँ पारिजात के वन शोभायमान थे। पद्मराग युक्त आकार वाले नाना प्रकार के वृक्षों से वह वन शोभायमान था ॥ ६२ ॥

वैदूर्यमयवल्लीनां पद्मरागपलाशकैः ।
मुक्तास्तबकयुक्तैश्च काञ्चनाङ्कुरसंगतैः ॥ ६३ ॥

वैदूर्यमणि से युक्त लताओं के पद्मराग से युक्त पत्तों से एवं मुक्तामणि के गुच्छों से युक्त तथा सुवर्ण के अङ्कुर से सम्पन्न (वह वन था) ॥ ६३ ॥

यूथैर्विराजितं विष्वक् नानाक्रीडारसालयम् ।
सपादलक्षयोजनानां संख्यायां विमलं सरः ॥ ६४ ॥

चारो ओर से सखियों के झुण्ड से शोभायमान उस वन का विमल सरोवर नाना प्रकार की क्रीडा-केलि का आलय था जो संख्या में सवा लाख योजन तक विस्तृत था ॥ ६४ ॥

मणिरत्नशिलाबद्धमणिकुट्टिममण्डपम् ।
प्रवालपद्मरागाद्यैः क्लृप्तसोपानसुन्दरम् ॥ ६५ ॥

मणि तथा रत्न की शिला से आबद्ध और मणियों से निमित फर्श के मण्डप वाला, मूँगा एव पद्मराग आदि से निर्मित सुन्दर सीढ़ियों से युक्त होने से शोभायमान सरोवर था ॥ ६५ ॥

तत्रस्था भर्तुरुद्दाम यशो गायन्ति योषितः ।
काश्चिल्लम्बन्ति दोलाभिर्गायन्त्यो मधुरस्वरम् ॥ ६६ ॥

वहाँ पर स्थित कुछ वनिताएँ अपने स्वामियों के उत्कृष्ट यश का गायन कर रही थी और कुछ झूले से झुलती थी तथा कुछ मधुर स्वर में गायन कर रही थी ॥ ६६ ॥

काश्चिन्मृदङ्गवीणाद्यैर्नानाक्रीडारसोज्ज्वलाः ।
खेलन्ति परमानन्दाः सखीसख्यो मुदान्विताः ॥ ६७ ॥

कुछ सखियाँ अपनी सखियों के साथ मृदङ्ग तथा वीणा आदि बजाते हुए नाना प्रकार के क्रीडा रस से प्रसन्न परमानन्द में खेल रही थी ॥ ६७ ॥

महापद्मवनं यत्र पद्मरागमयाम्बुजम् ।
वैदूर्यदण्डपत्रालिस्फुरद् वैडूर्यपद्मिनी ॥ ६८ ॥

जहाँ पर महापद्म का वन पद्मराग से युक्त कमलों वाला था तथा वैदूर्यमणि के दण्ड एवं पत्ते की पङ्क्तियों से सुशोभित था । वैदूर्य वर्ण की पद्मिनी वहाँ पर सुशोभित थी ॥ ६८ ॥

प्रवालकेसरोद्भासिदिव्यगन्धमनोहरम् ।
सृजद्वितानमाकाशे रजोभिर्वायुनोद्धतैः ॥ ६९ ॥

वायु से उठे हुए रजों से युक्त आकाश में मानों मण्डप का सृजन करता हुआ मूँगे के समान केसर से उद्भासित दिव्यगन्ध के कारण वह सर मनोहर लग रहा था ॥ ६९ ॥

संख्यया परितो देवि लक्षयोजनविस्तृतम् ।
यद्गन्धानन्दसंसर्गात् ब्रह्मानन्दपरम्परा: ॥ ७० ॥

हे देवि ! संख्या में चारो ओर एक लक्ष योजन विस्तृत वह आनन्द सरोवर था, जहाँ पर सुगन्ध के आनन्द-संसर्ग से ब्रह्मानंद की परम्परा विद्यमान थी ॥ ७० ॥

अप्रार्थनीयतमाभान्ति केनचित्सर्वथा सदा ।
रमते भगवान् क्वापि सप्रियाभिः समन्वितः ॥ ७१ ॥

किसी सखि के प्रार्थना न करने पर भी अपनी प्रियाओं से समन्वित भगवान् कृष्ण कहीं पर किसी के साथ सर्वथा रमण करते थे ॥ ७१ ॥

वसन्ते कुंकुमाम्भोभिर्जलयन्त्रैर्विनिर्गतैः ।
वसन्तपुष्पाभरणैः स्फुरन् मुक्ताविभूषणैः ॥ ७२ ॥

वसन्त ऋतु में कुंकुम युक्त जल से जल यन्त्र द्वारा निकली हुई और वसन्त ऋतु के पुष्पों के आभरणों से युक्त तथा चमकते हुए मोतियों के अलङ्करणों से युक्त श्री कृष्ण (रमण करते थे) ॥ ७२ ॥

प्रच्छन्नाभिः प्रकाशाभिः क्रीडाभिरितरेतरम् ।
नानापरिमलोद्गारैर्नानापक्षिगणस्वनैः ॥ ७३ ॥
पिककोलाहलैर्दिव्यैर्नित्यानन्दविवर्द्धनैः ।
स्फुरत्तडितमेघालिध्वनन्नभसि प्रावृषि ॥ ७४ ॥

प्रच्छन्न, प्रकाश एवं एक दूसरे से क्रीडा करते हुए नाना प्रकार के सुगन्ध-द्रव्यों से युक्त और नाना प्रकार के पक्षि गणों के कलरव से युक्त, कोयल की कूजन से युक्त, दिव्य तथा नित्यानन्द की वृद्धि से युक्त, वर्षा काल में चमकती हुई विद्युत् वाले मेघों के समूह के ध्वनि से युक्त आकाश में वे भगवान् क्रीडा रत थे ॥ ७३-७४ ॥

भूमिकासु सखीवृन्दैर्गीयमानः प्रमोदते ।
एवं क्रमेण भगवान् क्रीडते ऋतुचर्यया ॥ ७५ ॥

सखियों के समूह के साथ गाते हुए आनन्द करने वाले भगवान् इस प्रकार ऋतुचर्या के अनुसार क्रीडा कर रहे थे ॥ ७५ ॥

कदाचिन्मणिगेहस्थकुट्टिमे सुमनोहरे ।
चतुर्दिक्षुमहारत्नस्तम्भैः षोडशभिर्युतैः ॥ ७६ ॥

किसी समय सुमनोहर तथा मणिमण्डित गृह के फर्श पर वे चारो दिशाओं में महारत्न के १६ स्तम्भों से युक्त मण्डप में रमण करते थे ॥ ७६ ॥

अन्योन्यप्रतिबिम्बत्वादन्योन्येतरथागतैः ।
प्रियामध्यगतो भाति तारामध्ये यथा शशी ॥ ७७ ॥

उन स्तम्भों में एक दूसरे के प्रतिबिम्ब से एक दूसरे के भ्रम से वे भगवान् कृष्ण अपनी प्रियाओं के मध्य वैसे ही सुशोभित होते थे जैसे तारागणों के मध्य चन्द्रमा सुशोभित होते है ॥ ७७ ॥

नानानर्मविनोदैश्च नानाक्रीडाकुतूहलैः ।
रमते भगवान् यत्र स्वय रसमयः पुमान् ॥ ७८ ॥

भगवान् कृष्ण नाना प्रकार के हास्य एवं विनोदों के द्वारा अनेक क्रीडा-केलि के कुतूहलों से जहाँ रमण कर रहे थे वहाँ एक मात्र ही रसमय पुरुष वे स्वयं थे ॥ ७८॥

अक्षरः परमात्मा च पुरुषोत्तमसंज्ञकः ।
उभावप्येक एवार्थो लीलाभेदेन सुन्दरि ॥ ७९ ॥

हे सुन्दरि ! अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम नामक परमात्मा दोनों ही इस प्रकार लीला भेद से एक ही तत्त्व हैं ॥ ७९ ॥

अक्षरे सृष्टिकर्तृत्वान्न शृङ्गाररसोदयः ।
अमायत्वाद्रसात्मत्वान्नापरः सृष्टिकृत्प्रिये ॥ ८० ॥

अक्षर ब्रह्म में सृष्टिकर्तृत्व के कारण शृङ्गार रस का उदय नहीं होता। हे प्रिये ! माया से परे होने से रसात्मक होने से ब्रह्म सृष्टि कर्ता से अन्य कुछ और नहीं हैं ॥ ८० ॥

दिदृक्षा ह्यक्षरस्यासील्लीलाया दर्शने प्रिये ।
पूर्णप्रियाप्रेम पश्ये विलसत्पुरुषोत्तमे ॥ ८१ ॥

हे प्रिये ! लीला-दर्शन में अक्षर ब्रह्म की देखने की इच्छा ही कारण है। वही ब्रह्म पुरुषोत्तम में प्रिया के पूर्ण प्रेम को देखते हैं ॥ ८१ ॥

तज्ज्ञात्वा पुरुषः श्रेष्ठः प्रियास्विच्छां दधे प्रिये ।
प्रार्थयामासुरेतास्तं श्रीस्वामिन्या समन्विताः ॥ ८२ ॥

हे प्रिये ! उसे जानकर भी ब्रह्म पुरुष-श्रेष्ठ प्रिया में इच्छा को धारण करते हैं और वे उन श्री-स्वामिनियों से समन्वित होकर उनसे प्रार्थना किए जाते हैं ॥ ८२ ॥

सख्य ऊचुः

भो भो स्वामिन्परानन्द परात्परतर प्रभो ।
वयं प्रियाः प्रियोऽसि त्वं तस्मान्नः प्रियमाचर ॥ ८३ ॥

सखियों ने कहा—

हे स्वामि ! हे परमानन्द ! हे परात्पर ! हे प्रभु ! हम सभी [जीव] आपकी प्रिया हैं और आप हमारे प्रिय है । अतः आप हमारा प्रिय करें ॥ ८३ ॥

अक्षरात्मा तु भगवान् या लीलाः सृजते प्रभुः ।
अस्माभिर्नानुभूतास्ताः कीदृशीः किंविधा इति ॥८४॥

भगवान्, जो अक्षरात्मा हैं, वहीं प्रभु लीला का सृजन करते हैं। उन लीलाओं का हम लोगों ने अनुभव नहीं किया कि वे कैसी हैं और किस प्रकार की हैं ॥ ८४ ॥

तद्दिदृक्षितचित्तानां कामो नः प्रतिबाधते ।
कारयानुभवं तस्याः कारुण्येन कृपानिधे ॥ ८५ ॥

उन लीलाओं को देखने की इच्छा वाले हम जीवों को काम बाधित करता है अतः हे कृपानिधि ! आप कारुण्य से उन लीलाओं का हमें अनुभव कराइए ॥ ८५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

प्रियाः शृणुत मे वाक्यं सावधानेन चेतसा ।
न यूयं दर्शने योग्याः नित्यानन्दपदे स्थिताः ॥ ८६ ॥

श्री कृष्ण ने कहा—

हे प्रियाओ ! आप सभी सावधान चित्त होकर मेरे वाक्यों को सुनिए। नित्यानन्द के पद पर स्थित आप उन लीलाओं के दर्शन के योग्य नहीं है ॥ ८६ ॥

यत्रानन्दस्वरूपस्य हानिर्भवति सर्वथा ।
त्रिगुणायास्तु लीलाया दर्शनेन प्रियंवदाः ॥ ८७ ॥

हे प्रियवादिनि ! जहाँ त्रिगुणात्मक लीला के दर्शन से सर्वथा आनन्द के स्वरूप की हानि होती है ॥ ८७ ॥

मायावेशाद्विचित्रत्वं भावरूपात्मनां भवेत् ।
स्वलीलासहितं मां च न द्रक्ष्यथ कदाचन ॥ ८८ ॥

माया के कारण बिचित्र वह लीला भावरूपात्मक हो जाती है। अतः अपनी लीलाओं के सहित और मुझ परब्रह्म को साथ-साथ आप कभी भी नहीं देख सकती हैं ॥ ८८ ॥

दुःखानुभव एवास्ति न सुखस्य कदाचन।
विस्मरिष्यथ मां तत्र किमन्यत्तु वदामि भोः ॥ ८९ ॥

वह लीला दुःखानुभवात्मक ही है और कभी भी सुख का अनुभव कराने वाली नहीं है। क्योंकि मुझ परमात्मा को वहाँ आप विस्मृत कर देगीं। अतः हे प्रियाओ ! आप सब से अन्य क्या कहूँ ॥ ८९ ॥

इत्युक्तास्ताः प्रियाः सर्वाः प्रत्यूचुः पुरुषोत्तमम्।
तथापि प्रिय तत्सर्वं नानुभूतं कदाचन ॥ ९० ॥
तस्मादनुभवारूढं यथा भवति तत्कुरु।
दुःख कामो विना दुःखदर्शनं न निवर्तते ॥ ९१ ॥
विना दुःखं न च सुखं स्वरूपेण प्रतीयते।
तस्मात्साधय नः कामं गुणलीलानुदर्शने।
एवमुक्ते प्रियाभिस्तु तथास्त्विति जगाद सः ॥ ९२ ॥

इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
सप्तम पटलम् ॥ ७ ॥

---*---

इस प्रकार श्रीकृष्ण के कहने पर उन सभी प्रियाओं ने पुरुषोत्तम से इस प्रकार कहा—तथापि वह सभी प्रिय लीलाएँ हमलोगों द्वारा कभी भी अनुभूत नहीं हुई हैं। इसलिए जिस प्रकार हम सब उनका अनुभव कर सकें वैसा आप कीजिए। वस्तुतः दुःख की कामना वाला विना दुःख का दर्शन किए उसे नहीं अनुभव कर सकता है। फिर विना दुःख के सुख के स्वरूप की प्रतीति भी नहीं हो सकती। इसलिए हे प्रभु ! आप सगुण लीला का दर्शन कराकर हम लोगों की कामनाओं की पूर्ति कीजिए। इस प्रकार उन प्रियाओं के आग्रह पर उन भगवान् कृष्ण ने 'तथास्तु' कहा (और लीला प्रारम्भ की) ॥ ९०-९२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के सप्तम पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ७ ॥

---*---

अथ अष्टमं पटलम्

शिव उवाच

इच्छया ससृजे निद्रा त्रिगुणा मोहरूपिणी ।
तथा विस्रंसितज्ञानो मुमोह जगदीश्वरः ॥ १ ॥

शिव ने कहा —

[उस परब्रह्म ने अपनी] इच्छा से मोहरूपी [सत्त्व रज और तम रूप] त्रिगुणात्मिका निद्रा का सृजन किया। उस सृजित अज्ञान ने जगदीश्वर को ही मोह लिया ॥ १ ॥

मोहरूपं तदज्ञानं यस्य शक्तिद्वयं प्रिये ।
आवरणा प्रथमा देवि विक्षेपात्मा परा मता ॥ २ ॥

हे प्रिये ! उस मोह रूप अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं — (१) उसकी प्रथम शक्ति 'आवरणात्मक' है और (२) दूसरी शक्ति, हे देवि ! 'विक्षेपात्मक' है ॥ २ ॥

स्वप्रकाशं यथा दीपमभ्रपत्रावृतिर्यथा ।
निगुह्य तं जितानेन नानाभावान्प्रदर्शयेत् ॥ ३ ॥

जैसे दीपक अपने ही प्रकाश से अपने को आवृत कर लेता है। उसी प्रकार अपने आवरण से इस [मोह निद्रा] के द्वारा इसे ही जीतकर और उनके प्रकाश को छिपाकर नाना प्रकार के भावों का प्रदर्शन किया जाता है ॥ ३ ॥

एवं कूटस्थपुरुषमावृत्यावरणात्मिका ।
ततो विक्षेपरूपेण विश्वमात्मन्यदर्शयत् ॥ ४ ॥

इस प्रकार वह कूटस्थ परब्रह्म ही आवरणात्मक [मोहनिद्रा रूप अज्ञान] से आवृत हो जाता है और उसके बाद तब विक्षेपात्मक [अज्ञान] से अपने में ही सम्पूर्ण विश्व की स्थिति को देखने लग जाता है ॥ ४ ॥

शक्तिद्वयसमापेतमज्ञानमिति तद्विदुः ।
यथा शयानः पुरुषो जाग्रद्दृष्टं विमुञ्चति ॥ ५ ॥
तद्वासनावासितायां बुद्धौ स्वप्नं प्रपश्यति ।
यथा ददर्शविश्वात्मा स्वप्नारूढं जगत्प्रिये ॥ ६ ॥

ये शक्तिद्वय जो उसे आबद्ध कर लेती हैं विद्वान् लोग इसे ही 'अज्ञान' नाम से

अभिहित करते हैं। यह उसी प्रकार होता है जैसे—सोया हुआ पुरुष जागकर [भ्रमात्मक स्वप्न से] विमुक्त हो जाता है। उसी की वासना [सुगन्ध से] वासित [सुगन्धित] होने से वह प्रबुद्ध होकर भी स्वप्न देखता ही है उसी प्रकार हे प्रिये ? वह विश्वात्मा भी स्वप्नारूढ़ होकर समस्त चराचर जगत् को देखता है ॥ ५-६ ॥

यथाशयानः पुरुषः स्वप्ने राजा यथा भवेत् ।
राजदेहेन प्रकृतीः सर्वा एव नियच्छति ॥ ७ ॥

जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्न में राजा हो जाता है और उसी राजा के शरीर से सभी प्रकृति का नियमन करता है ॥ ७ ॥

तथा नारायणं रूपं धत्ते देवश्चिदात्मकः ।
तेन रूपेण देवेशि स्वप्नलीलां प्रपश्यति ॥ ८ ॥

उसी प्रकार नारायण रूप से चिदात्मक परब्रह्म शरीर धारण करते हैं, और उसी रूप से, हे देवेशि ! स्वप्न के समान लीलाओं को देखते हैं ॥ ८ ॥

सत्वं रजस्तम इति पृथिव्यादीनि सुन्दरि !
तत्र जातानि देवेशि येभ्योऽण्डमभवत्प्रिये ॥ ९ ॥

हे सुन्दरि ! पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत सत्त्व रज और तम रूप हैं। हे देवेशि ! हे प्रिये ! उसमें वही अण्ड होकर उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

तत्र जाता इमे लोकाः सप्त चोर्ध्वमधस्तथा ।
सप्तार्णवाः सप्तद्वीपा जम्बूद्वीपस्तु मध्यगः ॥ १० ॥

उसी (अण्ड) में ये सात लोक ऊपर में और सात नीचे उद्भूत हो जाते हैं। उन्हीं में सात समुद्र, सात द्वीप हैं जिनके मध्य में जम्बू द्वीप है ॥ १० ॥

तन्मध्ये भारतं वर्षं माथुरं तत्र मण्डलम् ।
तन्मध्ये गोकुलं जातं स्वाप्निकं सुरसुन्दरि ॥ ११ ॥

उस जम्बू द्वीप के मध्य में भारत देश हैं और उस [भारत] के मध्य में मथुरा मण्डल है। उस मथुरा मण्डल के बीच में गोकुल उत्पन्न हुआ और उनमें स्वप्न के समान ही देवाङ्गनाएँ भी उत्पन्न हुईं ॥ ११ ॥

बहिर्वत् भासते विश्वं निद्रयान्तर्गतं प्रिये ।
ब्रह्मसत्तैव तत्सत्ता पृथक् सत्ता न विद्यते ॥ १२ ॥

हे प्रिये ! उस परब्रह्म की निद्रा के अन्तर्गत यह विश्व बाह्य के समान भासता है। इस प्रकार ब्रह्म की सत्ता से ही उस बाह्यजगत् की सत्ता है। उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं हैं ॥ १२ ॥

भित्यन्तर्गतचित्राणि यथाधिष्ठानतः पृथक् ।
न सन्ति देवदेवेशि तदा त्रासमयान्यपि ॥ १३ ॥

एवं विश्वमयं चित्रं आत्मभित्तिर्मधिष्ठितम् ।
न पृथक् देवि कुत्रापि पृथक् जानन्त्यपण्डिताः ॥ १४ ॥

भित्ति के ऊपर बने भयावह चित्र भी जैसे उस अधिष्ठान [दीवार] से पृथक् सत्ता नहीं रखते, उसी प्रकार हे देव देवेशि ! यह सम्पूर्ण विश्वमय चित्र उस ब्रह्म की आत्मा रूप भित्ति पर ही अधिष्ठित है । उसकी कहीं भी पृथक् सत्ता नहीं है किन्तु हे देवि ! उसी को अज्ञानी जन पृथक् करके समझते हैं ॥ १३-१४ ॥

ब्रह्मगुह्यमिदं देवि वक्तुं जिह्वा जडायते ।
गात्राणि शिथिलायन्ते वाणी मे गद्‌गदायते ।
तथापि प्रेमवशगो दिङ्मात्रं प्रब्रवीमि ते ॥ १५ ॥

हे देवि ! वस्तुतः यह ब्रह्म रहस्यमय है । उसका प्रतिपादन करने में जिह्वा मूक हो जाती है । अङ्गप्रत्यङ्ग शिथिल होने लगते हैं और यहाँ तक कि मेरी वाणी गद्‌गद् हो जाने से अवरुद्ध हो जाती है । किन्तु फिर भी प्रेमवशात् मैं तुझसे कुछ संकेत मात्र कहता हूँ ॥ १५ ॥

एकदा पुरुषः साक्षात्पुरुषोत्तमसंज्ञकः ।
सखीनां मण्डलगतः स्वामिन्या श्लिष्टया प्रभुः ॥ १६ ॥

रत्नसिंहासनासीनः पदाक्रान्तमहीतलः ।
पाणिना भ्रामयन्पद्मं पदावष्टब्धविग्रहः ॥ १७ ॥

पुरुषोत्तम नामक वह साक्षात् पुरुष सखियों के मण्डल में आकर स्वामिनी [राधा] से आश्लिष्ट रत्नजटिल-सिंहासन पर आसीन थे । यह पृथ्वी तल उनके पैरों से आक्रान्त हुई थी । वह अपने हाथों में लीला कमल लिए हुए थे । उनका शरीर पैरों आदि से विग्रहवान् था ॥ १६-१७ ॥

दिव्यक्रीडारसानन्दो दिव्यभूषणभूषितः ।
दिव्यमाणिक्यमुकुटो दिव्यकुण्डलमण्डितः ॥ १८ ॥

वह प्रभु दिव्य क्रीडा (देवों की क्रीड़ा) के रस में आनन्दित हुए । उनका शरीर दिव्य आभूषणों से भूषित था । उनका मुकुट दिव्य माणिक्य से युक्त था । उनके कर्ण दिव्य कुण्डलों से मण्डित थे ॥ १८ ॥

निश्चलालिकुलाकारकुटिलः स्निग्धकुन्तलः ।
शरत्पद्मलसद्वक्त्रो नयनानन्दवर्षणः ॥ १९ ॥

उनका विग्रह निश्चल सखियों से घिरा था और टेढ़ी आकृति का था। उनका वह वेष बहुत ही स्निग्ध तथा शरद् कालीन पद्म से शोभित था। उनकी इस टेढी आकृति में उनके नेत्र आनन्द की वर्षा कर रहे थे ॥ १९ ॥

दिव्यहीरालिदशनः प्रवालदशनच्छदः।
अनङ्गधनुराकारकुटिलभ्रूलतोत्सवः ॥ २० ॥

उनकी दन्तपङ्क्ति दिव्य हीरे के समान चमचमा रही थी जो मानो दिव्य मूँगों में जड़ी सी हो। साक्षात् कामदेव के धनुष के आकार का उनका भृकुटि विलास टेढ़ा सा था ॥ २० ॥

स्मितमाधुर्यविजितमाधुर्यरससागरः।
कम्बुकण्ठलसद्रेखात्रयशोभामनोहरः ॥ २१ ॥

वह प्रभु अपने मन्द स्मित के माधुर्य से माधुर्य रस के समुद्र को भी जीत रहे थे। उनका कण्ठ सुराही के समान घेरेदार था। उनके पेट पर त्रिवली से उनकी मनोहर शोभा हो रही थी ॥ २१ ॥

मुक्ताहारलसद्वक्षः स्फुरमाणमणिप्रभः।
कांचीकपालविस्फूर्जत्किंकिणीजालमण्डितः ॥ २२ ॥

उनका वक्षस्थल मुक्तामणि के हार से शोभित था। हार की मणियों से निकली दमदमाहट से प्रभावान् थे। कमर में करधनी आदि आभूषणों से वे मण्डित थे ॥ २२ ॥

वलयांगदकेयूरोर्मिकावृन्दविभूषितः।
सुनासः सुन्दरमुखः स्मितोदारमुखाम्बुजः ॥ २३ ॥

हाथों में कंगन और भुजाओं में बाजूबन्द और सिर पर मोर के पंख का मुकुट आदि विभूषित था। सुडौल नाक और सुन्दर मुख तथा मन्द हास से उनका मुख कमल उदरता से परिपूर्ण था ॥ २३ ॥

दिव्यगन्धानुलिप्तांगो दिव्याम्बरविभूषितः।
सुधासमुद्रलहरीशीतलाकृतिसुन्दरः ॥ २४ ॥

सम्पूर्ण शरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग में दिव्य गन्ध का लेप था। उनका शरीर दिव्य वस्त्र से विभूषित था। सुधा समुद्र के लहरों से शीतल लगने वाली सुन्दर आकृति थी ॥ २४ ॥

गंभीरावर्तनाभ्युद्यत्तनुरोमलतांकुरः।
स्वामिनी संस्थिता तस्य वामदेशे सहासना ॥ २५ ॥

उनकी नाभि गहरी और भँवर के समान गोलाकार थी। शरीर रूपी लता में रोमावली अंकुर के समान सुशोभित थी। उन्हीं के साथ आसन पर उनके बाएँ ओर स्वामिनी राधा बैठी थी ॥ २५ ॥

अचञ्चलतडित्कोटिद्युतिभूषणभूषिता ।
दिव्यधात्रीफलस्थूलनासानटितमौक्तिका ॥ २६ ॥

चाञ्चल्य विहीन विद्युत की कोटि-कोटि कान्ति से वह भूषित थीं। उनकी नासिका दिव्य धात्री फल (आंवला) के समान स्थूल थी। मौक्तिक से युक्त नथ उनकी नासिका में सुशोभित था ॥ २६ ॥

शृङ्गाररससम्पूर्णनेत्रान्दोलनविभ्रमैः ।
विलुम्पन्तीव देवेशि भर्त्तुश्चित्तगभीरताम् ॥ २७ ॥

शृङ्गारस से परिपूर्ण चलायमान नेत्रों के विलासों से, हे देवशि ! वह भर्ता के चित्त की गम्भीरता को विचलित कर रही थी ॥ २७ ॥

मधुरोल्लापमाधुर्यविनिर्भर्त्सितकच्छपी ।
मन्दस्मितप्रभापूरमज्जत्प्राणेशमानसा ॥ २८ ॥

प्रभु के साथ मधुरालाप के माधुर्य में डूबी हुई कच्छपी के समान थी। मन्द-मन्द मुस्कान की प्रभा से परिपूर्ण प्राणनाथ के मानस सरोवर में वह मानों स्नान कर रहीं थी। २८ ॥

मुखामोदविलुब्धालिझङ्कारोद्विग्नलोचना ।
भ्रूलताजितकन्दर्पवरकार्मुकविभ्रमा ॥ २९ ॥

मुख की सुगन्ध से लुभाए हुए भ्रमर की झंकार से उनके लोचन उद्विग्न से थे। उनकी सुन्दर भ्रूलता मानों कामदेव के श्रेष्ठ धनुष के विलास को भी जीत रही थी ॥ २९ ॥

मणिमञ्जीरनिर्ह्लादविमोहितमरालिका ।
नखेन्दुरुचिसंदोहमज्जन्नूपुरमण्डला ॥ ३० ॥

मणि के नूपुर से निकली हुई कान्ति से भ्रमर पंक्ति मोहित हो रही थी। नखरूपी चन्द्र की कान्ति के संदोह में नूपुरमण्डल मानों स्नान कर रहा था ॥ ३० ॥

आनन्दसागरोद्वेलविधूपममुखाम्बुजा ।
कुचकुम्भलसन्मुक्ताहारभारमनोहरा ॥ ३१ ॥

आनन्द रूपी समुद्र में मुखकमल रूपी चन्द्र उद्वेलित हो रहा था। घड़े के समान गोलाकार शोभायमान पयोधर मुक्तामणि के हार के भार से मनोहर सा लग रहा था ॥ ३१ ॥

ग्रैवेयाभरणोद्दीप्ता कम्बुकण्ठी शुचिस्मिता ।
सख्यः प्रियां पुरस्कृत्य प्राहुः प्राणेश्वरं मुदा ।। ३२ ।।

ग्रैवेयक मणि के आभरण से उद्दीप्त उनका कण्ठ कम्बु (सुराही के आकार का घेरेदार) था। सुन्दर स्मित से वह युक्त थी। वहाँ पर सखियों ने प्राणेश्वर से प्रिया को आगे करके प्रसन्नता से कहा—

सख्य ऊचुः

प्राणनाथ प्रियायास्ते मनोरथमहाद्रुमः ।
फलितो नैव दृश्येत त्वयि भर्त्तरि किं पुनः ।। ३३ ।।

सखियों ने कहा—

हे प्राणनाथ ! हम आपकी प्रिया हैं। हम लोगों के मनोरथ का महान् वृक्ष है। किन्तु जब आप भर्ता के रहते, वह फलीभूत होता नहीं दिखाई देता तो फिर और की तो बात ही क्या है ।। ३२-३३ ।।

मनोरथविघातेन धुनोत्येव प्रियामनः ।
बाललीलादिदृक्षास्मान् बाधते हृदयस्थिता ।। ३४ ।।

मनोकामना की पूर्ति न होने से आपकी प्रिया का मन अन्यमनस्क सा हो रहा है। हृदय में स्थित आपकी बाल लीलाओं को देखने की हम सभी की इच्छा बाधित हो रही है ।। ३४ ।।

यथेन्दोश्चन्द्रिकायाश्च यथा कुसुमगन्धयोः ।
शब्दार्थयोर्यथैवेश यथा वह्न्यर्चिषोः प्रभो ।। ३५ ।।

अनाद्यभेदो देवेशि स्वामिन्यापि तथैव ते ।
अस्माकमपि भो स्वामिन् स्वामिन्यापि तथैव सः ।। ३६ ।।

हे प्रभो ! जैसे चन्द्रमा की चाँदनी और फूलों की सुगन्ध, शब्द से अर्थ और शरीर से वेष तथा वह्नि से उसकी ज्वाला अलग नहीं है।

हे देवेशि ! उसी प्रकार स्वामिनी और आप में अनादि अभेद है और हे स्वामिन् ! उसी प्रकार हम सब और स्वामिनी भी हैं अर्थात् उनमें और हम में भी कोई भेद नहीं है ।। ३५-३६ ।।

कस्य हेतोर्न कुरुषे तन्मनोरथपूरणम् ।
अविलम्बितमेवैतत्कुरुष्व हृदयस्थितम् ॥ ३७ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे अष्टमं पटलम् ॥ ८ ॥

——*——

अत: हे प्रभो ! आप किस कारण से उस मनोरथ की पूर्ति नहीं कर रहे हैं। हमारे हृदय में स्थित इस मनोरथ की आप अविलम्ब पूर्ति करें ॥ ३७ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के अष्टम पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

——*——

अथ नवमं पटलम्

श्री शिव उवाच

अथ श्रुत्वा सखीवाक्यं दर्शनावश्यकं प्रिये ।
तूष्णीं स्थितोऽपि मनसा मेने सर्वं भवत्विति ।। १ ।।

भगवान् शङ्कर ने कहा--

इसके बाद सखियों के वचनों को सुनकर और उन्हें लीला दिखाना आवश्यक समझकर, हे प्रिये ! चुपचाप रहकर भी मन में उन्होंने यह माना (=इच्छा किया कि 'यह सभी होवे' ।। १ ।।

स्वामिनीसहिताः सर्वाः सख्यस्तन्मुखपङ्कजम् ।
वीक्ष्यमाणा इवातस्थुः प्रभुश्चापि तथा स्थितः ।। २ ।।

अतः स्वामिनी [राधा]के सहित सभी सखियाँ उनके मुख कमल की ओर देखती रहीं और प्रभु भी उनकी ओर देखते रहे ।। २ ।।

वासनांशैर्गताः सर्वा मथुरामण्डलस्थिते ।
गोकुले गोपिका जाता गोपगेहेषु ताः पृथक् ।। ३ ।।

वे सभी वासना से पराभूत होकर मथुरा मण्डल स्थित गोकुल में गोपों के घरों में अलग अलग गोपिकाएँ हुईं ।। ३ ।।

वृषभानुगृहे जाता राधिकेति च विश्रुता ।
स्वामिनीवासनालेशः केनाप्यंशेन सुन्दरि ।। ४ ।।

[स्वामिनी] राधा नाम से [राजा] वृषभानु के गृह में उत्पन्न हुई। हे सुन्दरि ! वह स्वामिनी कुछ अंश से उन प्रभु को वासना का लेश मात्र थी ।। ४ ।।

तत्सख्यश्चापि सञ्जातास्तासां नामानि कानिचित् ।
कथयिष्यामि देवेशि शृणुष्वैकाग्रमानसा ।। ५ ।।

उनकी सखियाँ भी वहाँ उत्पन्न हुईं। उनमें से कुछ के नाम मैं कहूँगा, हे देवेशि ! आप एकाग्र मन से उन्हें सुने ।। ५ ।।

सुन्दरी स्वर्णवर्णा च रम्याङ्गी स्वर्णमालिनी ।
ललिता चित्रवर्णा च विशाखा विजया जया ॥ ६ ॥
सुकुण्डला कुण्डलिनी मालिनी स्वर्णमञ्जरी ।
मञ्जुघोषा विचित्रा च देवसेना वरूथिनी ॥ ७ ॥
गौरी चित्राम्बरा तन्वी चन्द्रलेखा मनोजवा ।
अजिता जयिनी श्यामा बलाकी विमलप्रभा ॥ ८ ॥
तारा कुरङ्गनयना कमला वनमालिका ।
नित्या विलासिनी ताम्रा अनङ्गानङ्गमालिनी ॥ ९ ॥
अनङ्गमेखला माध्वी मोहिनी मदनावती ।
पुष्पावती हेमलता हेमभाला मनोजवा ॥ १० ॥
कर्पूरगन्धा काश्मीरी पद्मगन्धा विहारिणी ।
हंसिनी चित्रिणी चित्रा सुनन्दा बिन्दुमालिनी ॥ ११ ॥
मनोजापाङ्गलालित्या वैताली विमलप्रभा ।
पद्मरागा विचित्राङ्गी नित्यानन्दा निरङ्कुशा ॥ १२ ॥

उनके नाम थे—सुन्दरी, स्वर्णवर्णा, रम्याङ्गी, स्वर्णमालिनी, ललिता, चित्रवर्णा, विशाखा, विजया, जया, सुकुण्डला, कुण्डलिनी, मालिनी, स्वर्णमञ्जरी, मञ्जुघोषा, विचित्रा, देवसेना, वरूथिनी, गौरी, चित्राम्बरा, तन्वी, चन्द्रलेखा, मनोजवा, अजिता, जयिनी, श्यामा, बलाकी, विमलप्रभा, तारा, कुरङ्गनयना, कमला, वनमालिका, नित्या, विलासिनी, ताम्रा, अनङ्गा, अनङ्गमालिनी, अनङ्गमेखला, माध्वी, मोहिनी, मदनावती, पुष्पावती, हेमलता, हेमभाला, मनोभवा, कर्पूरगन्धा, काश्मीरी, पद्मगन्धा, विहारिणी, हंसिनी, चित्रिणी, चित्रा, सुनन्दा, बिन्दुमालिनी, मनोजा, अपाङ्ग लालित्या, वैताली, विमलप्रभा, पद्मरागा, विचित्राङ्गी, नित्यानन्दा और निरङ्कुशा ॥ ६ १२ ॥

इत्येव कोटिशः ख्याताः सख्यः कुवलयेक्षणाः ।
न संख्यया परिच्छेद्या नित्यवृन्दावनाश्रयाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार कमल के समान नेत्रों वाली कोटिशः सखियाँ वहाँ उत्पन्न हुई अतः उन्हें गिनना कठिन है। वे नित्य ही वृन्दावन में रहती है ॥ १३ ॥

तासां द्वादशसाहस्री सख्या प्रोक्ता तथापि या ।
अन्तःपुरगतानां च रहोमिलितचेतसां ॥ १४ ॥

तथापि अन्तःपुर में रहने वाली और एकान्त में मिलने वाली उन सखियों की संख्या बारह हजार बताई गई है ॥ १४ ॥

जाग्रत्स्वप्नं गताः सर्वाः स्वात्मानं ददृशुस्तदा ।
नन्दव्रजमिवोपेतमनुल्लङ्घितकेतनाः ॥ १५ ॥

जागते हुए वे सभी स्वप्नावस्था में हो गई। तब उन्होंने अपने को ही उस स्वप्न में देखा। नन्द के व्रज के अपने घरों से उन्होंने अपने को मुक्त सा पाया ॥ १५ ॥

यथा समीरवेगेन नीयते पद्मसौरभः ।
न पद्मस्याधिकं किञ्चिन्न्यूनं वा भवति प्रिये ॥ १६ ॥
तथा मोहेन ता नीता अपि स्वप्नं परात्मनः ।
अनुभूतवन्त्यस्तास्तत्र स्वप्नमायामनोरथम् ॥ १७ ॥
परात्मा भगवांश्चापि लीलामेतां ददर्श सः ।

वस्तुतः जैसे वायु के वेग से कमल की सुगन्ध ले जाई जाती है और हे प्रिये। वह सुगन्ध उस कमल से कुछ अधिक या कम नहीं होती है उसी प्रकार मोह के कारण वे परात्मक स्वप्नावस्था में भी ले जाई गई। उन्होंने वहाँ उस माया रचित स्वप्न में अपने मनोरथ की अनुभूति की और उस परमात्मा भगवान् ने भी इन लीलाओं को देखा ॥ १६-१८ ॥

पार्वत्युवाच—

नन्दगोपव्रजं प्राप्ताः सख्यो या भवलोबिताः ।
कूटस्थलीलानुभवप्रकारं वद शङ्कर ॥ १८ ॥

माँ जगदम्बा ने कहा—

हे कल्याण करने वाले! नन्द और गोपों के घर पर उत्पन्न हुई जो उनसे उत्पन्न सखियाँ थीं, उनके और कूटस्थ के बीच हुई लीला की कुछ अनुभूति का प्रकारकहिए ॥ १८ ॥

परात्मा भगवांश्चापि कथं लीलां ददर्श सः ।
कीदृशी सा भवेल्लीला सगुणानिर्गुणापि वा ॥ १९ ॥

उस परमात्मा भगवान् ने भी कैसे लीला का दर्शन किया? वह लीला कैसी थी? वह सगुण लीला थी या निर्गुण लीला थी? ॥ १९ ॥

अनित्या वाथ नित्या वा यथार्थं ब्रूहि शङ्कर ।

शिव उवाच—

शृणु पार्वति वक्ष्यामि तव प्रश्नान् सुगोपितान् ॥ २० ॥

वह लीला नित्य थी अथवा अनित्य थी? हे शङ्कर! जो यथार्थ बात हो वह कहिए।

भगवान् शङ्कर ने कहा—

हे पार्वति ! तुम्हारे रहस्यमय प्रश्नों का उत्तर मैं कहूँगा, उसे सुनों ॥ २० ॥

न नास्तिकेभ्यो धूर्तेभ्यो हैतुकेभ्यः सुरेश्वरि ।
न वेदनिन्दकेभ्यश्च नाविश्वासाय कर्हिचित् ॥ २१ ॥

हे सुरेश्वरि ! इसे नास्तिकों धूर्तों और अनिच्छुकों को कभी भी नहीं बताना चाहिए। किसी भी प्रकार इसे वेद की निन्दा करने वालों या [वेद में] अविश्वास रखने वालों को नहीं ही करना चाहिए ॥ २१ ॥

वेदशास्त्रपुराणादिश्रद्धापूतान्तरात्मने ।
अनिन्दकाय शुद्धाय सर्वत्र ब्रह्मदर्शिने ॥ २२ ॥

इसका रहस्य वेद, शास्त्र और पुराण आदि में श्रद्धा रखने वाले पवित्रात्मा को, [पर] निन्दा से विरत रहने वाले, शुद्ध एवं सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करने वाले को ही बताना चाहिए ॥ २२ ॥

अलोलुपाय शान्ताय निर्मलाय महेश्वरि ।
कृतज्ञाय क्रियाकाण्डाचारसंशुद्धचेतसे ॥ २३ ॥

हे महेश्वरि ! [इन्द्रियों के प्रति] लोलुपताविहीन, शान्त चित्त वाले, निर्मल एवं कृतज्ञ व्यक्ति को तथा क्रिया - काण्ड [क्रियापद्धति], आचार विचार से शुद्ध अन्तरात्मा वाले व्यक्ति को ही इसका रहस्य बतलाना चाहिए ॥ २३ ॥

स्नानदानदयादाक्ष्यदमाद्यमलमूर्त्तये ।
परीक्ष्य शतधा देवि दद्यान्नान्यत्र कर्हिचित् ॥ २४ ॥

जो व्यक्ति स्नान, दान, दया, दाक्षिण्य [=उदारता], दम [इन्द्रियों के दमन] से निर्मल शरीर वाला हो उसी को इसका कथन करे। हे देवि सौ बार परीक्षा करके ही इसे योग्य व्यक्ति को ही देना चाहिए। कभी भी इसे अयोग्य को न देवे ॥ २४ ॥

स्नेहाद्वा धनलोभाद्वा अज्ञानाद्वा भयादपि ।
प्रकाशयति मूढात्मा नारक्याचन्द्रतारकम् ॥ २५ ॥

स्नेहवशात् या धन के लोभ से अथवा अज्ञान से किंवा भ्रम से यदि कोई मूढ इसे बता देता है तो उसकी तब तक नारकीय गति होती है जब तक सूर्य और तारे रहते हैं ॥ २५ ॥

तस्मात्त्वयापि देवेशि गोपितव्यं सुरेश्वरि ।
सखीनां ब्रह्मलीलाया दर्शनं तु यथा भवेत् ॥ २६ ॥

तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसा ।
मथुराधिपतिः कंसः उग्रसेनसुतः खलः ॥ २७ ॥
श्रुत्वात्ममृत्युं देवक्याः पुत्रद्वारेण दुष्टधीः ।
भगिनीं हन्तुमारेभे खड्गेन तरसा बली ॥ २८ ॥

इसलिए, हे देवेशि तुम्हें भी इसका गोपन ही करना चाहिए। हे सुरेश्वरि सखियों को ब्रह्मलीला का जैसा दर्शन होता है, उसका प्रकार मैं तुमसे कहूँगा। उसे एकाग्र मन से सुनो—

उग्रसेन का पुत्र मथुरा का राजा कंस बड़ा ही दुष्ट प्रकृति का था। उस दुष्ट-बुद्धि वाले कंस ने अपनी मृत्यु देवकी के पुत्रों से जानकर उस बलवान् ने [ब्याह कर जाती हुई] अपनी ही बहन को तीक्ष्ण कटार से मार डालना चाहा ॥ २६-२८ ॥

वारितो वसुदेवेन नीत्या चाध्यात्मशिक्षया ।
न निवृत्तः खलः पापस्तदोपायमचिन्तयत् ॥ २९ ॥

[उन देवकी के पति] वसुदेव ने उसे आध्यात्मशिक्षा दे कर ऐसा करने से रोका। फिर भी वह दुष्ट पापी [उस क्रूर कर्म से] निवृत्त नहीं हुआ और उसका उपाय सोचने लगा ॥ २९ ॥

न चास्यास्ते भयं वीर पुत्रेभ्यश्चेद्भयं तव ।
समर्पयिष्ये तान्पुत्रान्यानसौ प्रसविष्यति ॥ ३० ॥

वसुदेव ने कहा—हे वीर ! तुम्हें इससे तो कोई भय नहीं है और जिन पुत्रों से तुम्हें भय है उन पुत्रों को, जिसे यह जन्म देगी, मैं लाकर तुम्हें सौंप दूँगा ॥ ३० ॥

न सन्देहस्त्वया कार्यो यतः सत्यमयः पुमान् ।
सत्ये नष्टे स्वयं नष्टो विशतेन्धं महत्तमः ॥ ३१ ॥

मेरी इस बात में तुम्हें सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि पुरुष सत्य से युक्त ही होता है। सत्य के नष्ट होने पर स्वयं वह नष्ट हो जाता है और वह महान् अन्धकारमय गर्त में गिर पड़ता है ॥ ३१ ॥

इत्युक्तो मोहितमतिर्मुमोच भगिनीं खलः ।
तया प्रसूतः समये पुत्रः पावकसन्निभः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार कहने पर मोह ग्रस्त बुद्धि से उस दुष्ट ने अपनी बहन को छोड़ दिया। उसके द्वारा प्रसूत पुत्र जन्म के समय अग्नि के समान तेजवान् था ॥ ३२ ॥

तमादाय गतः कंसं वसुदेवः प्रसादयन् ।
अर्पयामास तनयं कंसायात्मजमृत्यवे ॥ ३३ ॥

उसे लेकर वसुदेव कंस को प्रसन्न करने के लिए उसके पास गए और उसकी मृत्यु के कारणभूत उस पुत्र को कंस को दे दिया ॥ ३३ ॥

औग्रसेनिस्तु तं दृष्ट्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
प्रत्यपर्यन् सुतं प्राह प्रसन्नोऽहं तवानघ ॥ ३४ ॥

उग्रसेन के पुत्र कंस ने उसको देखकर प्रसन्न होकर उसे पुनः वसुदेव को ही देकर कहा कि 'हे पापरहित मैं तुमसे प्रसन्न हूँ' ॥ ३४ ॥

न चास्मान्मे भयं शूर तस्मान्नो हन्मि ते शिशुम् ।
युवयोरष्टमाद्गर्भान्मृत्युर्मे संश्रुतः पुरः ॥ ३५ ॥

हे शूरवीर ! मुझे इस पुत्र से भय नहीं है । इसलिए मैं तुम्हारे इस बालक को नहीं मारूँगा । हमने तुम्हारे आठवें गर्भ से अपनी मृत्यु को पहले सुना है ॥ ३५ ॥

वृथा किमर्थं ते बालान् हन्मि लोकविगर्हितः ।
अष्टमस्तु यदा पुत्रो भविष्यति तवानघ ॥ ३६ ॥
तदा मां तूर्णमासाद्य निवेदयतु वै भवान् ।
स्वस्त्यस्तु ते चिरं याहि मा भयं धेहि सर्वथा ॥ ३७ ॥

अतः मैं व्यर्थ में तुम्हारे बालकों की हत्या क्यों करूँ ? यह कार्य लोक के द्वारा गर्हित है । अतः हे निष्पाप ! जब तुम्हारा आठवाँ पुत्र होगा, तब शीघ्र ही आप आकर उसके होने की सूचना मुझे दें । तुम्हारा सदैव कल्याण हो । अतः जाओ और सर्वथा भय का त्याग कर दो ॥ ३६-३७ ॥

इति कंससमादिष्टो वसुदेवो महाशयः ।
निवृत्तः सुतमादाय कंसवाक्ये ससंशयः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार कंस से समादिष्ट होकर महाशय वसुदेव अपने पुत्र को लेकर भय से निवृत्त हो गए । किन्तु कंस की वाणी पर उन्हें सन्देह ही था ३८ ॥

ततो नारदवाक्येन विमोहितमतिः खलः ।
अहनत्तं सुतं भूयस्तत्र गत्वा रुषान्वितः ॥ ३९ ॥
जग्राह निगडे चोभौ वसुदेवं च देवकीम् ।
यान्यान्पुत्रान्प्रसुषुवे मारयामास तान् खलः ॥ ४० ॥

इसके बाद महर्षि नारद के द्वारा उस दुष्ट की बुद्धि मोहयुक्त होने से क्रोधयुक्त होकर पुनः जाकर उनके बालक की हत्या कर दी और कारागार में उन दोनों वसुदेव और देवकी से उस दुष्ट ने कहा कि जो जो पुत्र तुम्हें उत्पन्न होंगे मैं उन्हें मारूँगा ॥ ४० ॥

दधार सप्तमं गर्भं शेषसंज्ञं सुदुःसहम् ।
आदिष्टा देवदेवेन योगमाया महेश्वरि ।
गर्भमाकृष्य देवक्या रोहिणीं प्रणिनाय सा ॥ ४१ ॥

शेष संज्ञक सातवें दुर्धर गर्भ को जब उन्होंने धारण किया तब हे महेश्वरि ! देवों के देव प्रभु के आदेश से योगमाया ने देवकी के गर्भ से निकालकर रोहिणीं के गर्भ में डाल दिया ॥ ४१ ॥

स्वयं प्रादूरभूत्तस्मिन् देवकीजठरे प्रभुः ।
शङ्खचक्रगदापद्मधरश्चारुचतुर्भुजः ॥ ४२ ॥
पीतवासा घनश्यामः स्फुरन्मकरकुण्डलः ।
स्फुरन्माणिक्यमुकुटो वलयाङ्गदभूषितः ॥ ४३ ॥

तब प्रभु उस देवकी के गर्भ में स्वयं प्रादुर्भूत हुए । वह प्रभु शङ्ख, चक्र, गदाधारी थे । उनकी चार भुजाएँ थी । वह पीला वस्त्र पहने थे । उनका वर्ण घन के समान श्याम वर्ण का था । उनके कानों में मकर की आकृति का कुण्डल दीप्तिमान था। उनका मुकुट माणिक्य से जाज्वल्यमान था । उनकी भुजाओं में वलयाङ्गद [आभूषणविशेष] सुशोभित था ॥ ४२-४३ ॥

वसुदेवस्तु तं दृष्ट्वा विस्मयोदारलोचनः ।
तुष्टावोपनिषद्वाग्भिस्ततस्तुष्टोऽब्रवीद्वचः ॥ ४४ ॥

विष्णुरुवाच—

त्वयाहं तोषितः पूर्वं तपसा दुष्करेण हि ।
पृश्निगर्भेति विख्यातो नाम्ना पुत्रोऽभवं तव ॥ ४५ ॥

वसुदेव ने अत्यन्त आश्चर्यचकित नेत्रों से उन्हें देखकर उपनिषद् के वचनों से उनकी स्तुति की ! तब उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर प्रभु ने इस प्रकार कहा—

भगवान् विष्णु ने कहा—

तुमसे पहले से ही तुम्हारी दुःसाध्य तपस्या से प्रसन्न होकर मैंने तुम्हें कहा था कि मैं 'पृश्निगर्भ' नाम से प्रसिद्ध तुम्हारा पुत्र होऊँगा ॥ ४४-४५ ॥

द्वितीये जन्मनि तथा कश्यपस्त्वं प्रजापतिः ।
उपेन्द्र इति विख्यातिं गतोऽहं यदुनन्दन ॥ ४६ ॥

दूसरे जन्म में आप प्रजापति कश्यप थे । वहाँ हे यदुनन्दन ! मैं उपेन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ४६ ॥

वसुदेव तृतीयेऽस्मिन् भवे जातो भवद्गृहे ।
मुक्तिदानाय भवते प्रादुर्भूतोऽस्मि साम्प्रतम् ॥ ४७ ॥

वसुदेव नाम से इस तृतीय जन्म में आप के घर पर पुनः हमने इस जगत में जन्म लिया है। वस्तुतः मैं आप लोगों को मुक्ति प्रदान करने के लिए इस समय प्रादूर्भूत हुआ है ॥ ४७ ॥

नय मां गोकुलं यत्र यशोदा नन्दगेहिनी ।
तत्र जाता महामाया तां नयस्व स्वकं गृहम् ॥ ४८ ॥

अतः मुझे आप गोकुल ले चलें जहाँ यशोदा नन्द की गृहिणी हैं, और वहाँ महामाया देवी ने जन्म लिया है उसे अपने घर पर आप लावें ॥ ४८ ॥

तव मास्तु भयं क्वापि कंसान्मज्जन्मशङ्कितात् ।
इत्युक्त्वा देवदेवेशो दम्पत्योः पश्यतोः पुरः ॥ ४९ ॥
अक्षरस्य तु या चित्तवृत्तिर्लीलावलोकने ।
तदुपाधिकतत्सत्तारूपे व्यूहत्त्वमागतः ॥ ५० ॥

मेरे जन्म से सशंकित कंस से आपको कभी भी भय नहीं होगा—इस प्रकार उन देवदेवेश प्रभु ने उन दम्पतियों के देखते देखते साक्षात् रूप से कहकर उन अक्षर ब्रह्म कीं लीला के अवलोकन की जब चित्तवृत्ति हुई, तब उसी की उपाधि रूप से उसी की सत्ता रूप में माया का व्यूहन किया ॥ ४९-५० ॥

बभूव द्विभुजः सद्यः शिशुभावं गतः प्रभुः ।
तस्मिन्नाविविशे साक्षाद्रसरूपी स्वयं प्रभुः ॥ ५१ ॥

वह प्रभु उसी समय दो भुजा वाले बालक रूप में हो गए। वह स्वयं ही उस रस रूप समुद्र में अवशिष्ट हो गए ॥ ५१ ॥

निनाय गोकुले नन्दगेहं निद्राविमोहिते ।
आदाय योगनिद्रां तां वसुदेवो गृहं गतः ॥ ५२ ॥

[वसुदेव ने भी उन्हें प्रभु के आदेशानुसार] गोकुल में नन्द के घर में लाकर सभी के निद्रा में सोए हुए ही उस योगमाया देवी को लेकर पुनः अपने कारागृह में वापस आ गए ॥ ५२ ॥

देवकीप्रसवं प्रातः कंसायाचख्युरुत्सुकाः ।
गृहपाला ध्वनिं श्रुत्वा बालस्येति त्वरान्विताः ॥ ५३ ॥

देवकी के प्रसव की बात प्रातःकाल उत्सुक लोगों के द्वारा कंस तक पहुँचा दी गई। कारागृह के रक्षक ने बालक की रुदन की ध्वनि सुनकर शीघ्र ही कंस को सूचित किया ॥ ५३ ॥

कंसस्त्वरितमागम्य हठादाक्षिप्य तां खलः ।
भूपृष्ठे प्रोथयद्देवीं ततः सा दिवमुत्पतत् ॥ ५४ ॥

सा प्रोवाच वचः क्रुद्धा हरिजातस्तवान्तकृत् ।
यो वेदधर्मरक्षार्थं पाखण्डविनिवृत्तये ॥ ५५ ॥

दुष्ट कंस भी शीघ्र ही आकर हठात् उसे लेकर ज्यों हि उस देवी को भूमि पर पटकना चाहा उसी समय हाथ से छूटकर जब देवी ने आकाश की ओर जाते हुए क्रोधित होकर कहा— तुम्हारे मारने वाले भगवान् विष्णु उत्पन्न हो गए हैं। जो वेद एवं धर्म की रक्षा के लिए और पाखण्ड की निवृत्ति के लिए जन्म ले चुके हैं ॥ ५४-५५ ॥

असुराणां विनाशार्थमाविर्भवति लीलया ।
युगान्ते तमसा ग्रस्तान् वेदानुद्धर्तुमिच्छया ।
मत्स्यरूपी स्वयं जातः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ॥ ५६ ॥

वह प्रभु असुरों को मारने के लिए ही लीला से आविर्भूत होते हैं। युगान्त में तम से ग्रस्त वेदों को उद्धार की इच्छा से वह सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ने ही स्वयं मत्स्य रूप में अवतार ग्रहण किया था ॥ ५६ ॥

कूर्मरूपेण यः पृष्ठे दधार मन्दराचलम् ।
उद्दिधीर्षुर्भुवं मूढ योऽसृजत् शौकरीं तनुम् ॥ ५७ ॥

कूर्म रूप से उन्होंने ही अपनी पीठ पर मन्दराचल धारण किया था। हे मूर्ख ! (कंस) पृथ्वी का उद्धार करने की इच्छा से ही जिन्होंने वराहावतार का सृजन किया था ॥ ५७ ॥

स्वभक्तद्रोहिणं हन्तुं त्रातुं भक्तजनं तु यः ।
नृसिंहरूपी यः स्तम्भात्प्रादुरासीत्कृपानिधिः ॥ ५८ ॥

अपने भक्त के द्रोही को मारने के लिए और भक्तजनों की रक्षा के लिए ही जिन कृपा के सागर भगवान् विष्णु नृसिंह रूप से खम्भे से आविर्भूत हुए ॥ ५८ ॥

आत्मानं वामनं कृत्वा भक्तकार्यार्थमुद्यतः ।
बलिं बध्वा मघवते त्रिलोकीमददात्प्रभुः ॥ ५९ ॥

भक्त के कार्य का साधन करने के लिए उद्यत होकर प्रभु ने अपने को वामन बनाकर बलि को बाँध कर इन्द्र को तीनों लोक दे दिया ॥ ५९ ॥

क्षत्रियान् दुर्नयान् दृष्ट्वा जमदग्निगृहे तु यः ।
जातश्चकार पृथिवीं क्षत्रबीजविवर्जिताम् ॥ ६० ॥

क्षत्रियों को दुष्ट जानकर जिन्होंने जमदग्नि के घर पर [परशुराम नाम से अवतार लेकर] पृथ्वी को क्षत्रिय बीज से विहीन कर दिया ॥ ६० ॥

योऽसौ दाशरथिर्भूत्वा रावणं लोकरावणम् ।
जघान समरे दुष्टं शरण्यः शत्रुसूदनः ॥ ६१ ॥

दशरथ के पुत्र [राम] होकर शत्रुओं को मारने वाले और भक्तों के शरणागत जिन भगवान् विष्णु ने लोकों को त्रस्त करने वाले दुष्ट रावण को युद्ध में मार डाला ॥ ६१ ॥

कलौ जनिष्यमाणानां असुराणां दुरात्मनाम् ।
वेदमार्गप्रवृत्तानां अतदर्हतया तु यः ॥ ६२ ॥
अरुच्युत्पादनार्थाय नानापाषण्डकल्पनाम् ।
कृत्वा विनाशमेतेषां करिष्यति परः प्रभुः ॥ ६३ ॥
स जातो यत्र कुत्रापि मृत्युस्तव विमूढधे ।
इत्युक्त्वान्तर्दधे माया कंसस्तु विमनाः स्थितः ॥ ६४ ॥

॥ इति श्रीपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे
शिवोमासंवादे नवमं पटलम् ॥ ९ ॥

—— —※— ——

कलियुग में उत्पन्न होने वाले दुरात्मा असुरों का और वेदों के बताए हुए मार्ग पर न चलने वाले तथा धर्म में अरुचि उत्पन्न करने वाले नाना प्रकार के पाखण्डियों का नाश करके वे प्रभु इस लोक का कल्याण करेंगे। हे मूर्ख बुद्धि तुम्हारी मृत्यु रूप परमात्मा कहीं न कहीं उत्पन्न हो गए हैं--ऐसा कहकर वह योगमाया अन्तर्धान हो गई और यह सब सुनकर कंस भी बहुत उदास हो गया ॥ ६२-६४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
सवाद के नवम पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

—— —※— ——

अथ दशमं पटलम्

शिव उवाच—

अथ नन्दगृहे जातः प्रातरेव महोत्सवः।
नन्दः स्नातः शुचिर्विप्रानाहूयागमपारगान्।
ददौ महामना गावो वासांस्याभरणानि च ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

इसके बाद नन्द के घर पर प्रातःकाल से ही महान् उत्सव हुआ। नन्द स्नान करके शुद्ध होकर आगम के पारगामी विप्रों को बुलाकर उन महामना ने बहुत से वस्त्रों, आभूषणों एवं गायों का दान किया ॥ १ ॥

गोपा गोप्यो ययुर्हृष्टा नानाभूषाम्बरावृताः।
नन्दं वर्धापयामासुराशीभिः सर्वतोमुखम् ॥ २ ॥

गोप और गोपियाँ अनेक वेष-भूषा से आवृत होकर प्रसन्न होते हुए नन्द के घर पर गयीं और उन नन्द को चारो ओर से आशीर्वचनों से वर्धापित किया ॥ २ ॥

यशोदां च महाभागां गत्वा गोप्योऽति हर्षिताः।
उत्सुकानि मनांस्यासां बभूवुः कृष्णदर्शने[1] ॥ ३ ॥

महान् भाग्यशाली यशोदा के पास जाकर गोपियाँ अत्यन्त हर्षित हुईं। उत्सुकतावश उनके मन में यह विचार आया कि किशोर रूप से श्रीकृष्ण ने आखिर दर्शन तो दिया ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णदर्शनानन्दनिमग्ना निजमूर्त्तयः।
बभूवुर्गोपिकाः सर्वाः निजलोकं गता इव ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन के आनन्द समुद्र में निमग्न होकर उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अपने स्वरूप में सबकी सब गोपियाँ मानों अपने लोक में ही चली गई हों ॥ ४ ॥

गृहे गृहे समभवन्महोत्सवपरम्पराः।
याचका वन्दिनः सूता मागधाः समुपाययुः ॥ ५ ॥

गोकुल के घर-घर में महान् उत्सव की शृङ्खला चल पड़ी। याचक, वन्दीजन

---

१. ब्रह्मसृष्टिभ्यः तदानीं किशोरस्वरूपेण श्रीकृष्णो निजदर्शनं दत्तवान्।

[स्तुति करने वाले], सूत [कथावाचक], और मागध [गायक] वहाँ आ गए ॥ ५ ॥

तेभ्यो ददौ महार्हाणि भूषावासांसि गोपराट् ।
अथ कंससमादिष्टा पूतना बालघातिनी ॥ ६ ॥
निघ्नन्ती बालकान् जातान् चचार परितो व्रजम् ।
शिशवस्ते पराभूताः प्रविष्टाः पूतनान्तरम् ॥ ७ ॥

गोपों के राजा नन्द ने उन्हें बहुत से वस्त्राभूषण भेंट किए । इसके बाद कंस के आदेशानुसार बालकों को मार डालने वाली पूतना राक्षसी व्रज के चारों ओर उत्पन्न बालकों को मारती हुई घूमने लगी । 'तुम्हारे बालक पराभूत होकर पूतना के अन्दर प्रविष्ट हो गए'–इस प्रकार हाहाकार मच गया ॥ ६-७ ॥

नन्दगृहे पुत्रजनिं श्रुत्वा तस्य जिघांसया ।
कृत्वा विमोहनं रूपं दिव्यालङ्कारचर्चितम् ॥ ८ ॥
दिव्यमालाम्बारधरं दिव्यगन्धमनोहरम् ।
मनोहरन्ती नन्दस्य प्रविवेश शनैर्गृहम् ॥ ९ ॥

वस्तुतः नन्द के घर पर पुत्र उत्पन्न हुआ है यह सुनकर उसे मारने की इच्छा से उसने मायावी रूप बनाकर दिव्य अलङ्कार से भूषित होकर, दिव्य माल्य और दिव्य वस्त्र धारण करके तथा मनोहर दिव्य गन्ध लगाकर मन का हरण करती हुई धीरे-धीरे नन्द के गृह में प्रविष्ट हुई ॥ ८-९ ॥

अथ सा सूतिकागारमभ्येत्य क्रूरनिश्चया ।
मोहयित्वा वचोभिस्तां बहिःप्रेमनिरूपितैः ॥ १० ॥

उस क्रूर निश्चय वाली राक्षसी ने सूतिका गृह में आकर उनको अपने दिखावटी प्रेम और मधुर वाणी से मोह लिया ॥ १० ॥

सुप्ताहिमिव जग्राह बालं कमललोचनम् ।
अङ्कमारोप्य बहुधा लालयन्ती शुचिस्मिता ॥ ११ ॥

सोए हुए सर्प के समान उस कमल के तुल्य नेत्र वाले बालक को उसने उठा लिया और मधुर-मधुर मुस्कुराहट के साथ वह अपने गोद में रखकर बहुत प्रकार से लाड़-प्यार करने लगी ॥ ११ ॥

ददौ हालाहलालिप्तं स्तनं तन्मुखपङ्कजे ।
तदन्तःस्थशिशून् प्राणान् पूतनायाः पपौ हरिः ॥ १२ ॥

फिर इसी लाड़ प्यार के ही मध्य उस बालक के मुख कमल में विष से लिपटे हुऐ स्तन को दे दिया । भगवान् हरि ने भी उस पूतना के प्राणों को अन्तःकरण से खींचकर पी लिया ॥ १२ ॥

सार्द्धयोजनविस्तारो देहस्तस्या महीतले ।
पपात पातध्वनिना कम्पयन् व्रजमण्डलम् ॥ १३ ॥

डेढ़ योजन लम्बा उसका शरीर बड़ी तेज आवाज के साथ सम्पूर्ण व्रजमण्डल को कँपाते हुए पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ १३ ॥

स्तन्यं हालाहलमयं हरये परमात्मने ।
दत्वापि सद्गतिं प्राप्ता किं पुनः साधुकारिणः ॥ १४ ॥

परमात्मा हरि को हालाहल से युक्त स्तन पिलाने वाली उस पूतना को भी सद्गति प्राप्त हुई तब फिर साधुजनों को सद्गति में क्या सन्देह है ॥ १४ ॥

पार्वत्युवाच—

व्रजस्थाः शिशवो ये च तया व्यापादिता इति ।
पूतनायां स्थितान् सर्वान् तत्प्राणैरपिबद्धरिः ॥ १५ ॥
इति यद्भवता प्रोक्तं के तेऽत्र शिशवः प्रभो ।

माँ जगदम्बा पार्वती ने कहा—

व्रज के अन्य जिन बालकों की उसने हत्या की थी, पूतना में स्थित उन सभी को उसके प्राणों के द्वारा श्री हरि ने पी लिया ॥ १५ ॥

ये जो आपने कहा, हे प्रभो ! वे शिशु कौन थे ।

शिव उवाच—

एकदा ब्रह्मणः सत्रे देवगन्धर्वपन्नगाः ॥ १६ ॥
सिद्धा विद्याधराः सर्वे समाजग्मु महर्षयः ।
आदित्या वसवो रुद्रा मरुतः पितरस्तथा ॥ १७ ॥
अग्नयो वायवश्चान्ये तेषामासीन्महासदः ।
जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १८ ॥

शिव ने कहा—

एक बार ब्रह्मा के यज्ञ में देव, गन्धर्व, पन्नग, सिद्ध, विद्याधर और सभी महर्षिगण आये थे ।

१२ आदित्य, अष्टवसु, ग्यारह रुद्र और (४९) मरुदगण तथा पितर लोग वहाँ उपस्थित हुए । अग्नि, वायु एवं अन्य बहुत से देव यज्ञ में महासभासद थे । वहाँ गन्धर्वों के स्वामियों ने गान किया तथा अप्सराओं ने नृत्य किया ॥ १६-१८ ॥

अप्सरोदर्शनक्षुब्धस्मरग्रस्तोन्यथा मतिः ।
न शशाक मनो यन्तुं यतन्नपि पितामहः ॥ १९ ॥

अप्सराओं के दर्शन से क्षुब्ध हुए तथा कामदेव से ग्रस्त हुए पितामह ब्रह्मा की बुद्धि विकृत हो अन्यथा हो गई और वे अपनी काम बासना को रोकने पर भी नहीं रोक सके ॥ १९ ॥

चस्कन्द रेतस्तस्याशु तपो विद्यामयं महत् ।
अज्ञात्वा तस्य संस्थानं कुण्डाग्नावजुहोत्प्रभुः ॥ २० ॥

उनका तप एवं विद्यामय महान् वीर्य शीघ्र ही स्खलित होने लगा जिसे उन्होंने उसके संस्थान को न जानकर एक कुण्ड की अग्नि में यजन कर दिया ॥ २० ॥

अग्निमध्यात्समुद्भूताः कुमारा वह्नितेजसः ।
बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे प्रणेमुस्ते पितामहम् ॥ २१ ॥

अग्नि के तेज से अग्नि के मध्य से ही अग्नि कुमारों का प्रादुर्भाव हुआ । उन कुमारों ने पितामह ब्रह्मा को बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम किया ॥ २१ ॥

ब्रह्मन् पितासि नः कामं वयं ते तनयाः प्रभो ।
उत्पादिताश्च भवता किंकुर्मस्तदुदीर्यताम् ॥ २२ ॥

उन्होंने उनसे कहा—हे ब्रह्मन् ! आप हमारे पिता हैं । हे प्रभु ! हम आपके कामज पुत्र हैं । आपने हमें उत्पन्न किया है । अतः कहिए कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ २२ ॥

ब्रह्मोवाच—

अग्नौ क्षिप्तं मया रेतस्तपोविद्यामयं शुभम् ।
तत्र जाता भवन्तो हि तस्मादग्निकुमारकाः ॥ २३ ॥

ब्रह्मा ने कहा—

तप एवं विद्यामय शुभ वीर्य से जो मेरे द्वारा अग्नि में आहुति दी गई थी उससे उत्पन्न हुए आप सब अग्निकुमार कहे जाएँगे ॥ २३ ॥

दण्डकारण्यमासाद्य तपश्चरत पुत्रकाः ।
इत्युक्ता ब्रह्मणा सर्वे दण्डकारण्यमाश्रिताः ॥ २४ ॥

अतः हे पुत्रों ! आप सब दण्डकारण्य जाकर तपस्या कीजिए । ब्रह्मा के द्वारा आदेश प्राप्त होने पर उन सभी अग्निकुमारों ने दण्डकारण्य की यात्रा की ॥ २४ ॥

तपः कुर्वन्तो यत्नेन ब्रह्मणोद्देशयन्त्रिताः ।
ततः कतिपये काले रामो दाशरथिः स्वयम् ॥ २५ ॥

फिर ब्रह्मा के उद्देश्य से नियन्त्रित उन लोगों ने वहाँ तपस्या की । कुछ काल के अनन्तर (त्रेता युग में) दशरथ के पुत्र राम स्वयं वहाँ पहुँचे ॥ २५ ॥

रावणं समरे हत्वा राज्यं कृत्वा बिभीषणे ।
विमानं वरमारूढो दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥

युद्ध में रावण को मारकर और विभीषण को राजा बनाकर वे विमान पर दण्डकारण्य पहुँचे ॥ २६ ॥

तत्रागस्त्याश्रमं रामो गत्वा चक्रेऽभिवादनम् ।
मुनिः सम्भावयामास कन्दैर्मूलफलादिभिः ॥ २७ ॥
रामस्य दर्शनं चक्रुर्मुनयोऽपि धृतव्रताः ।
उवास रामः कतिचिद्दिनानि मुनिसत्कृतः ॥ २८ ॥

दण्डकारण्य में वहाँ अगत्स्य के आश्रम पर जाकर राम ने उनका अभिवादन किया। अगत्स्य मुनि ने भी कन्दमूल एवं नाना प्रकार के फलों से उनका सत्कार किया। व्रतधारी उन मुनियों ने भी वहाँ पर राम का दर्शन किया। उन मुनियों से सत्कृत होकर राम भी वहाँ कुछ दिनों तक रहे ॥ २७–२८ ॥

एकदा जनकी दृष्टुं मुनीनामाश्रमान् शुभान् ।
जगाम मुनिपत्नीनां सौहार्देनापि सुन्दरि ॥ २९ ॥

हे सुन्दरि ! एक बार मुनियों के शुभ आश्रमों पर माता जानकी उनके दर्शन के लिए मुनिपत्नियों के पास अत्यन्त सौहार्द से गई ॥ २९ ॥

चक्रे रामकथाः पुण्याः रावणस्य वधं प्रति ।
सत्कृता मुनिपत्नीभिः मुनिभिः साधुभिस्तथा ॥ ३० ॥

वहाँ रावण के वध की पुण्य रामकथा हुई। वहाँ जानकी मुनिपत्नियों द्वारा और मुनियों तथा साधु-सज्जनों द्वारा सत्कृत हुई ॥ ३० ॥

निवृत्ता जानकी तत्र जगामाग्निकुमारकान् ।
द्रष्टुं तपस्यतः पूर्णान् मुनिकन्यासमावृता ॥ ३१ ॥

वहाँ से निवृत्त होकर जानकी अग्निकुमारों के पास गई। तपश्चर्या से पूर्ण हुए अग्निकुमारों को देखने के लिए जब वह वहाँ पहुँची तब मुनि-कन्याओं द्वारा घेर ली गईं ॥ ३१ ॥

जानकी तान्नमस्कृत्य कुमारानलप्रभान् ।
निषसाद क्षणं तत्र वनशोभाहितेक्षणा ॥ ३२ ॥

जानकी उन अग्निसदृश तेज वाले कुमारों को नमस्कार करके वहाँ की वन-शोभा को देखने की इच्छा से कुछ क्षण वहीं बैठ गईं ॥ ३२ ॥

ते विनिन्त्रेण दैवेन प्रेर्यमाणाः कुमारकाः ।
अमर्षजननं वाक्यमब्रुवन्कृतहेलनाः ॥ ३३ ॥

अहो सीते प्रभुः साक्षादीश्वरो जगतां पतिः ।
वेदरक्षाविधानार्थमवतीर्णो महीतले ।। ३४ ।।

उन कुमारों ने विचित्र दैव की गति से प्रेरित होकर उनका निरादर करते हुए असहनशीलता से भरे वाक्यों को कहा। ओह सीते ! प्रभु साक्षात् ईश्वर है और जगत् के स्वामी हैं। वे प्रभु पृथ्वी पर वेद की रक्षा के लिए ही अवतीर्ण होते हैं ।। ३३-३४ ।।

न यस्य स्वपरो वापि न द्वेष्यः प्रिय एव च ।
सत्यसन्धः क्षमी शूरो रामः कमललोचनः ।। ३५ ।।

जटीवल्कलसंवीतो मोहमग्नो वने वने ।
भ्रान्तश्चचार निर्विण्णः पृच्छमानो वनस्पतीन् ।। ३६ ।।

जिनका कोई अपना नहीं हैं, कोई द्वेषी नहीं है और न ही कोई प्रिय है। वह सत्य परायण, क्षमावान्, शूरवार एवं कमललोचन राम जटा धारण किए हुए वल्कल प[ह]नकर तथा मोहासक्त होकर वन-वन भ्रान्त होकर घूमते रहे। निर्विण्ण चित्त हो वनस्पतियों से आपको ही पूँछते हुए भटकते रहे ।। ३५-३६ ।।

इयं कान्तेति वै मत्वा मोहविभ्रंशिताशयः ।
क्वचित्पल्लविनीं हृद्यां लतामालिंग्य निर्वृतः ।। ३७ ।।

निवारितो लक्ष्मणेन नेयं कान्तेति जल्पता ।
दधाराम्भोनिधौ सेतुं सख्यं कृत्वा च वानरैः ।। ३८ ।।

त्वन्निमित्तमिदं सीते प्रभोरपि विडम्बनम् ।
तस्मात्स्त्रियः पापरूपा दोषैकनिलयाः सदा ।। ३९ ।।

'यह मेरी प्रिया है'—ऐसा समझकर मोह से भ्रमित हुए वे कभी-कभी पल्लविनी एवं हृद्य लता का आलिङ्गन करने लगते थे। तब लक्ष्मण के द्वारा वे यह कहकर हटाए जाते थे कि यह कान्ता नहीं है। उन्होंने ही वानरों से मित्रता कर समुद्र पर पुल बाँधा। हे सीते ! आपके लिए ही यह प्रभु की विडम्बना है। इसलिए स्त्रियाँ पापरूपा तथा सदैव दोषों का खजाना हैं ।। ३७-३९ ।।

न धार्या सुखमिच्छद्भिः कदाचित् क्वापि पण्डितैः ।
इत्येवं वचनं तेषां श्रुत्वा दाशरथेः प्रिया ।। ४० ।।

किसी भी पण्डित जन को, जो सुख चाहते हैं, कभी भी स्त्रियों को साथ नहीं रखना चाहिए। दाशरथि राम की प्रिया सीता उनके इस प्रकार के वचनों को सुनकर खिन्न हो गई ।। ४० ।।

चक्रोध रक्तनयना शापं दातुं मनोदधे ।

ऐसा सुनकर लाल-लाल नेत्रों वाली जानकी अत्यन्त क्रोधित हुई और शाप देने को उद्यत हुई ।

सीतोवाच—

मन्निन्दायाः फलं शीघ्रमवाप्स्यथ कुमारकाः । ४१ ॥

सीता ने कहा –

हे अग्निकुमारों ! आप लोग शीघ्र ही मेरी निन्दा का फल प्राप्त करोगे ॥ ४१॥

द्विधाविदीर्णदेहाश्च यूयं पण्डितमानिनः ।
पतन्तु भूतले सर्वे सर्वे स्वात्मकृतं भुजः ॥ ४२ ॥

हे मानी पण्डित कुमारो ! आप सभी का शरीर टूटकर द्विधा विभक्त हो जाय और आप सभी भूतल पर गिर जाइए और सभी की भुजा स्वात्मकृत हो जाय ॥ ४२ ॥

इत्युक्ते सीतया तूर्णं द्विधाभूतकलेवराः ।
शिशवः पेतुरुर्व्यान्ते मुनिपत्न्यो विसिस्मिरे ॥ ४३॥

सीता के इस प्रकार कहने पर शीघ्र ही उनके शरीर द्विधा विभक्त हो गए । और पृथिवी पर वे शिशु गिर पड़े । यह देखकर मुनिपत्नियों को महान् विस्मय हुआ ॥ ४३ ॥

हाहाकारो महानासीन्मुनीनां तत्र शृण्वताम् ।
एवं शप्त्वा कुमारांस्तान् ययौ सीतानिकेतनम् ॥ ४४ ॥

वहाँ पर जब मुनियों ने एसा सुना तो महान् हाहाकार मच गया । इस प्रकार से शापग्रस्त कुमार उन सीता के आवास पर गए ॥ ४४ ॥

रामः श्रुत्वाथ तां वार्त्तामप्रियां दुर्मना भृशम् ।
निनिन्द सीतां मनसा किमेतद्दुर्विनीतया ॥ ४५ ॥

राम ने जब उनको इस अप्रिय वार्ता को सुना तब वे भी अत्यन्त दुःखी हुए और मन ही मन सीता की निन्दा की कि इन्होंने यह दुर्नीति की बात क्यों कर दी ॥४५॥

अविचारितमेवेह कृतं नष्टविमर्षया ।
अहो मूढधियो दुष्टाः स्त्रियो दारुणचेतसः ॥ ४६ ॥

क्रोध के कारण भ्रष्ट बुद्धि से बिना बिचारे ही ऐसा इन्होंने कर दिया । ओह स्त्रियाँ दुष्ट तथा मूर्ख बुद्धि वाली तथा कठोर चित्त की होती हैं ॥ ४६ ॥

श्रेयसां परिपन्थिन्यो मायेयं दैवनिर्मिता ।
ससारान्मुक्तिकामानां याः स्वयं निगडोपमाः ॥ ४७ ॥

यह दैव निर्मित माया हैं जो कल्याण के मार्ग में बाधक हैं । संसार से मुक्ति की कामना वाले साधु जनों के लिए जो स्वयं बेड़ी के समान हैं ॥ ४७ ॥

महामोहस्य मञ्जूषा स्वार्थायानर्थतत्पराः ।
क्रोधलोभानृतधियो न विश्वस्ताः कदाचन ॥ ४८ ॥

ये स्त्रियाँ महान् मोह की पिटारी हैं। ये सदैव अपने स्वार्थ में तत्पर रहती हैं। अतः क्रोध लोभ तथा असत्य बुद्धि वाली स्त्रियाँ कभी भी विश्वास के योग्य नहीं होती ॥ ४८ ॥

न च ता विश्वसेत्क्वापि विश्वस्तान् घ्नन्त्यसंशयम् ।
अल्पार्थे बह्वनर्थेषु प्रवर्त्तन्ते दुराशयाः ॥ ४९ ॥

उन पर कभी भी साधक विश्वास न करे। यदि कभी विश्वास करता है तो वे निश्चय ही मार डालती हैं। ये दुष्ट बुद्धि स्त्रियाँ अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए बहुत अनर्थ में भी प्रवृत्त हो जाती हैं ॥ ४९ ॥

न विद्वान् स्त्रीवशं गच्छेद् वशं प्राप्तो विनश्यति ।
इत्याकलय्य हृदये जानकीं प्राह स प्रभुः ॥ ५० ॥

अतः विद्वान् पुरुष को चाहिए कि कभी भी वह स्त्री के वश में न आवे। यदि वे उसके वशीभूत हो जाते हैं तो निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं। यह सब हृदय में विचार कर प्रभु ने उन जानकी से कहा ॥ ५० ॥

राम उवाच—

किमेतत्साधुचरिते विनिन्दितमचीकरः ।
नास्माकमुचितं कर्म यत्कुमारविहिंसनम् ॥ ५१ ॥
तपोविद्याधृतधियो विनयाचारशालिनः ।
न चैते शापमर्हन्ति यदि घ्नन्त्यपि सुन्दरि ॥ ५२ ॥

राम ने कहा—

हे सुन्दरि ! कहाँ यह साधुओं का चरित और कहाँ यह आप द्वारा किया गया विनिन्दित कार्य ? यह हम लोगों के लिए उचित नहीं है कि इन अग्नि कुमारों की हिंसा की जाय। तप एवं विद्या की बुद्धि वाले विनय एवं आचार से युक्त साधुजन यदि हनन करें तो भी ये शाप के योग्य नहीं हैं ॥ ५१-५२ ॥

यथार्थवादिनां पुंसां श्रुत्वा वाचो यथार्थकाः ।
कुप्यन्ति ये मूढधियो न तेषां निष्कृतिः क्वचित् ॥ ५३ ॥

यथार्थवादी जनों के यथार्थ बचनों को सुनकर जो मूर्ख जन क्रोधित होते हैं उनकी निष्कृति कहीं भी नहीं होती ॥ ५३ ॥

सीते यथार्थमुक्त तैर्मामुद्दिश्य दयालुभिः ।
तेष्वमर्षः कथं जात ईदृशोनर्थदर्शनः ॥ ५४ ॥

हे सीते ! उन दयालु साधुओं द्वारा मेरे उद्देश्य से यथार्थ बात कही गई है।

अतः इस प्रकार का अनर्थकारी क्रोध उन पर कैसे हुआ ? ॥ ५४ ॥

यदि स्वल्पोपराधोऽपि तस्मिन् दण्डो महान् घृतः ।
न चैतदुचितं चण्डि क्षत्रियाणां दयावताम् ॥ ५५ ॥

यदि उनका थोड़ा अपराध है भी, तो आपने महान् दण्ड उन्हें दे दिया है । अतः हे चण्डि ! हम दयालु क्षत्रियों के लिए यह (शाप देना) उचित नहीं है ॥ ५५ ॥

वनचराणामस्माकं मुन्याश्रमवासिनाम् ।
साध्वीत्थमुक्ता रामेण लज्जया नम्रकन्धरा ॥ ५६ ॥
बद्धहस्ताञ्जलिः प्राह भर्तृवाक्यविबोधिता ।

ये हमारे वनेचर तथा आश्रमवासी मुनि हैं । ये साधु हैं – ऐसा राम के कहने पर कन्धे को झुकाए हुए लज्जा से नम्र जानकी अपने पति के समझाने से प्रवुद्ध होकर हाथ जोड़कर बोलीं ॥

सीतोवाच—

अपराधो महान् देव कृतो मे नात्र संशयः ॥ ५७ ॥
अदण्डेष्वप्यपापेषु यन्मया ह्युद्यमः[1] कृतः ।
अपि मे दुर्नयं देव क्षमस्व त्वं दयानिधे ॥ ५८ ॥
तेष्वनुग्रहमाधस्त्व साधुष्वपि तपस्विषु ।

सीता ने कहा—

हे देव ! निःसन्देह हमने महान् अपराध किया है । जो साधु दण्ड के योग्य नहीं हैं और जो पापात्मा नहीं हैं उन्हीं को हमने दण्ड देना चाहा । अतः हे देव ! निःसन्देह यह मेरा अपराध है, हे दयानिधि ! आप हमें क्षमा कर दें और उन साधु तपस्वियों पर अनुग्रह करें ॥ ५६-५९ ॥

राम उवाच—

न करिष्याम्यहं भद्रे कुमाराणामनुग्रहम् ॥ ५९ ॥
मया त्वनुग्रहीतानां मुक्तिः स्याज्जलवज्जले ।
वेदवेदान्तसङ्गीतः परमात्मा परः प्रभुः ।
करोत्वनुग्रहं तेषामनुभूतिर्यथा भवेत् ॥ ६० ॥

राम ने कहा—

हे कल्याण करने वाली ! हम कुमारों पर अनुग्रह नहीं करेंगे । क्योंकि मेरे अनुग्रह से तो ये उसी प्रकार मुक्त होकर सायुज्य को प्राप्त करेंगे जैसे जल में जल मिल जाता है । अतः वेद-वेदान्त एवं संगीत रूप परमात्मा परात्पर प्रभु इस पर

१. 'यन्मन्योर्दमः कृतः' इति मूल पाठः ।

ऐसा अनुग्रह करें कि इन्हें मुक्ति के समान अनुभूति हो जाय ॥ ५९-६० ॥

तस्मादिमे लिङ्गदेहमात्रशेषाः सुलोचने ।
मयि स्थास्यन्ति सततं कालाविर्भावहेतवे ।। ६१ ॥

इसलिए, हे सुन्दर नेत्रों वाली ! अब इनका मात्र लिङ्ग शरीर ही शेष रह जायेगा । अतः ये मेरे में समय पर अविर्भूत होने के लिए सदैव स्थित रहेंगे ॥ ६१ ॥

रामे च भगवत्येते विलीनास्ते ततः परम् ।
वसुदेवगृहे साक्षादवतीर्णे हरौ स्वयम् ।। ६२ ॥
तेवतीर्णा व्रजभुवि तद्देहस्थाः कुमारका ।
पूतनायां स्थिताः सर्वे तया व्यापादिता इति ॥ ६३ ॥
तत्प्राणैरपिबद् बालान् दक्षिणांगव्यवस्थितान् ।
वामांगभूताः सकलाः गौडदेशेऽभवन् स्त्रियः । ६४ ॥
कुमारीरानयामास परचक्रं जिघांसता ।
निरुद्धा राजधर्मेण नन्दस्तद्देशमागतः ।। ६५ ।

इतना ही कहने पर भगवान् राम में वे विलीन हो गए । वसुदेव के गृह में आज वहीं हरि स्वयं जब अवतीर्ण हुए तब कुमार भी जो उनके ही देह में विलीन हो गये थे, व्रज भूमि पर प्रगट हो गए । पूतना में स्थित वे सभी उसके द्वारा मार डाले गए हैं और उन्हीं बालकों के प्राणों को उन्होंने पी लिया जो दक्षिणाङ्ग में स्थित थे और वामाङ्गभूत सभी स्त्रियाँ गौड़ देश में पैदा हुईं। दूसरों को मारने की इच्छा से वे ही कुमारी लाइं गई हैं । राजधर्म के द्वारा नन्द ने अपने देश में उन्हें रोक लिया ।। ६२-६५ ॥

इति ते कथितं देवि यत्पृष्टोऽहं सुलोचने ।
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६६ ॥

इस प्रकार हे देवि ! जो आपने पूछा, उसे हमने आपसे कहा । अब हे सुन्दर नेत्रों वाली महेश की शक्ति ! आप और क्या सुनना चाहती हैं ? ॥ ६६ ॥

। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे दशमं पटलम् ॥ ८ ॥

——*——

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के दशवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

——*——

अथ एकादशं पटलम्

श्री शिव उवाच

हत्वाथ पूतनाप्राणान् सहबालान् कृपानिधिः ।
शकटं पातयामास पादपल्लवलीलया ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

इसके बाद पूतना के प्राणों का हरण करके बाल-गोपालों के साथ कृपानिधि भगवान् कृष्ण ने गाड़ी को पैर से पत्ता हटाने के समान लीलापूर्वक गिरा दिया ॥ १॥

तृणावर्त्तमथाकाशे हरन्तमहनद्धरिः ।
स्तनं पीत्वा यशोदायै जृम्भमाणस्तु केवलन् ॥ २ ॥
मुखे प्रदर्शयामास भुवनानि चतुर्दश ।
बाललीलाविनोदेन मृदमश्नन् कृपानिधिः ।
अकल्पयद्देहयोगं कुमाराणामलौकिकम् ॥ ३ ॥
नाश्नाति मृदमानन्दो दधिदुग्धान्यपि स्वयम् ।
पुष्टयर्थं च कुमाराणामकरोत्सकलं प्रभुः ॥ ४ ॥

आकाश में तृणावर्त नामक दैत्य को ले जाकर भगवान् हरि ने मार डाला। स्तन पीकर मात्र जम्हाई लेते हुए ही मुख में माता यशोदा को चौदहों भुवनों का दर्शन करा दिया। कृपानिधि भगवान् कृष्ण ने बालोचित लीला द्वारा खेल-खेल में ही मिट्टी खाते हुए कुमारों के अलौकिक देहयोग को कर दिया। उन्होंने आनन्द से मिट्टी ही नहीं खाई किन्तु दही दूध आदि भी स्वयं खाया। वस्तुतः उन प्रभु ने यह सब कुछ कुमारों की पुष्टि के लिए ही किया ॥ २-४ ॥

व्रजस्था गोपिकाः सर्वाः कृष्णलीलाहृताशयाः ।
विलोभयन्त्यः श्रीकृष्णं दास्ये दुग्धं दधीन्यपि ॥ ५ ॥
मृदूनि नवनीतानीत्युक्त्वा निन्युर्गृहान् स्वकान् ।
ततोप्येकान्त आहूय दत्वा दधिमधूनि च ॥ ६ ॥

कृष्ण की लीलाओं से हृतचित्त वाली व्रज में रहने वाली सभी गोपियाँ दूध और दही भी कृष्ण को देने के लिए प्रलोभन देती हैं कि 'यह बड़ा ही मृदु मक्खन है' ऐसा कहकर अपने अपने घरों पर लालच देकर उन्हें ले गई। इसके बाद भी एकान्त में बुलाकर दही और मधु देकर कृष्ण का आलिङ्गन किया ॥ ५-६ ॥

कृष्णमालिङ्गयामासुश्चुचुम्बुर्मुखपङ्कजम् ।
बालोभूत्वापि लोकस्य यशोदानन्दयोरपि ॥ ७ ॥

और उनके मुख कमल का चुम्बन किया। बालक होकर भी सम्पूर्ण संसार के और यशोदा एवं नन्द दोनों के [आनन्द का वे वर्धन करते थे] ॥ ७ ॥

आलिङ्गयत्यालिंग्यमानः प्रतिचुम्बति चुम्बितः ।
गोपिकाहृदयानन्दं वर्धयन् रतिचेष्टितैः ॥ ८ ॥
रतिज्ञमिव तं मत्वा गोपिका रतिचेष्टया: ।
कुतूहलनिमग्नास्ता न वक्तुं शेकुरुत्सुकाः ॥ ९ ॥

उन्हें वे आलिङ्गन करते थे और आलिङ्गित किए जाकर प्रतिचुम्बन से चुम्बित होते थे। अनेक प्रकार की रति चेष्टाओं से गोपिकाओं के हृदय का आनन्द बढ़ाते हुए रतिज्ञ के समान उन्हें जानकर वे गोपिकाए रतिचेष्टा से कुतूहल में निमग्न हुई उत्सुक हुई भी कुछ न कह सकी ॥ ८-९ ॥

अन्यापि गृहमानीय खाद्यपानैरतोषयत् ।
भूषयित्वांजनाकल्पैरङ्गरागैः सुगन्धिभिः ॥ १० ॥
शुभासने समारोप्य दत्वा ताम्बूलवीटिकाम् ।
इहैव बालकैरेतैः परिक्रीडस्व निर्भयः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार दूसरी गोपियाँ भी अपने घर पर उन्हें लाकर, खान-पान से उन्हें सन्तुष्ट किया। उन्हें आँख में आँजन लगाकर और सुगन्धित द्रव्यों एवं अङ्गरागों आदिसे सजाकर, सुन्दर आसन पर बैठाकर और पान का बीड़ा देकर कहती थीं कि 'यहीं पर इन बालकों के साथ निर्भय खेलो ॥ ११ ॥'

मान्यत्र गच्छ ते माता ज्ञापिता ताडयिष्यति ।
इत्याहुर्गोपिकाः काश्चित्प्रेमबद्धा व्रजार्भके ॥ १२ ॥

'दूसरे जगह न जाना। नहीं तो यदि तुम्हारी मां जान जाएगी तो पीटेगी'—इस प्रकार कोई प्रेम में आबद्ध गोपिका ने उन व्रज के छोटे बालक से कहा ॥ १२ ॥

व्रजेश्वरसुतं नीत्वा गृहमूचुः पराः स्त्रियः ।
यदि नृत्यति सत्कृष्ण भवान् दास्ये मनोरथम् ॥ १३ ॥

अन्य स्त्रियां व्रजराज के सुत भगवान् कृष्ण को अपने घर पर लाकर कहती हैं कि यदि हे कृष्ण आप नृत्य करें तो मैं आपको मनोवाञ्छित वस्तु दूँगी ॥ १३ ॥

इत्युक्तो नृत्यति स्मासौ रभसा वै मुदान्वितः ।
हरन् कटाक्षमालाभिर्भावपूर्णाभिरावृतः ॥ १४ ॥

वव्रे नृत्यविधानार्थं कामं देहि प्रतिश्रुतम् ।
कस्ते कामस्तयोक्तेसौ वव्रे कृष्णः स्ववांछितम् ॥ १५ ॥

त्वदीयहृदये भाति कन्दुकद्वयमुत्तमम् ।
देह्येतद्रमणार्थाय मित्रैः गोपसुतैः सह ॥ १६ ॥

ऐसा कहने पर वह बड़े ही आनन्द के साथ शीघ्र ही नाचने लगते हैं। नेत्रों के कटाक्ष की शृङ्खलाओं और भावभङ्गिमाओं से युक्त होकर उन्होंने उनके चित्तों का हरण करते हुए नृत्य विधान के लिए वर मांगा। तब कृष्ण कहते हैं कि मुझे मेरी मनोवाञ्छित वस्तु दो, जो आपने कहा था। स्त्रियाँ कहती हैं कि 'आपकी मनोवाञ्छित वस्तु क्या है ?' उनके ऐसा कहने पर कृष्ण अपनी वाञ्छित वस्तु का वरण करते हुए 'यह है' ऐसा कहते हैं—आपके हृदय में ये दो सुन्दर गेंद जो सुशोभित हो रहे हैं इन्हें ही हमें अपने मित्रों गोपसुतों के साथ खेलने के लिए दे दीजिए ॥ १६ ॥

जहास गोपीकृष्णस्य वाक्यश्रवणहर्षिता ।
वृषभानोः सुता देवि राधिकानामविश्रुता ॥ १७ ॥

बालक कृष्ण के इस प्रकार वाक्य को सुनकर अत्यन्त हर्षित होकर गोपियाँ बड़ी जोर से हँस पड़ी। हे देवि वस्तुतः वह गोपी राजा वृषभानु की कन्या 'राधिका' के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ १७ ॥

स्वामिनी वासना जाता श्रीकृष्णप्रेमविह्वला ।
द्वादशैवसहस्राणि याः सख्यः परिकीर्त्तिताः ॥ १८ ॥

तदंगभूतास्ताःसर्वाः वस्तुभेदो न किंचन ।
स्वामिन्यात्मा भवेत्कृष्णः कृष्णात्मा स्वामिनी हि सा ॥ १९ ॥

न तयोर्विद्यते भेदश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।
रसात्मकं रसभोक्तृ परं ब्रह्म श्रुतीरितम् ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण के प्रेम में अत्यन्त विह्वल होकर उन्होंने अपने को उनकी स्वामिनी बनना चाहा। बारह हजार सखियों से घिरी हुई जो उनको ही अङ्गभूत जान पड़ती थीं। उनमें लेशमात्र भी वस्तुभेद नहीं दिखता था। कृष्ण ने अपनी आत्मा में उन्हें स्वामिनी बनाया और वह कृष्ण की आत्मा होने से उनकी स्वामिनी हो गईं। उन दोनों में कोई भेद नहीं था। जैसे चन्द्र की चांदनी में और चन्द्र में कोई भेद नहीं मालूम होता। श्रुति में कहा है कि 'परब्रह्म ही रसात्मक है और वह रस का भोक्ता है' ॥ २० ॥

रसः श्रृगार एवोक्तो रसशास्त्रविशारदैः ।
संयोगो विप्रलम्भश्च श्रृंगारो द्विविधो मतः ॥ २१ ॥
[1]संयुक्तयोश्च संयोगो विप्रलंभो वियुक्तयोः ।
रसनित्यतया जातो वियोगस्तद्दलात्मकः ॥ २२ ॥
रसस्वभाव एवायं यत्सयोगवियोगवान् ।
अन्यथा ह्यक्षरे कस्माद्दिदृक्षा जायते तथा ॥ २३ ॥
कथं प्रियाणां च तथा रसस्तस्माद्धि तादृशः ।
सच्चिदानन्दकं ब्रह्म यदुक्त श्रुतिमौलिभिः ॥ २४ ॥

रसशास्त्र के पण्डितों ने इसे ही 'श्रृङ्गार रस' कहा है। वह श्रृङ्गार संयोग और विप्रलम्भ रूप से दो प्रकार का होता है। संयोग श्रृङ्गार वह है--जिसमें नायक नायिका संयुक्त हों और विप्रलम्भ श्रृङ्गार वह है-जिसमें नायक-नायिका वियुक्त हों। रस की नित्यता के कारण वियोग भी उसी श्रृङ्गार की कोटि का ही है। यह रस का स्वभाव ही है कि यह संयोग और वियोग से युक्त होता है। अन्यथा अक्षर रूप परब्रह्म में कैसे द्रष्टा बनने की इच्छा जागृत होए। कैसे प्रियाओं में वैसा रस हो और वैसा उनसे कैसे प्राप्त हो। यह इसलिए है कि श्रुतिशास्त्र के शिरोमणियों ने जो यह कहा है कि 'ब्रह्म सत्-चित् और आनन्द स्वरूप है' वह इसलिए कि--॥ २४ ॥

चिदानन्दौ तु कूटस्थे पुरुषोत्तमे एव च ।
उभावपि भवेद्ब्रह्म ब्रह्मभेदैर्विवर्जितम् ॥ २५ ॥

कूटस्थ (अविचल, इच्छारहित) पुरुषोत्तम में ही चित् और आनन्द हैं। दोनों ही ब्रह्म के भेदों से रहित होकर ब्रह्म ही होते हैं ॥ २५ ॥

सजातीयविजातीयस्वगतैश्च सुलोचने ।
ब्रह्मत्वे ह्यक्षरस्यापि आनन्दो द्विदलात्मकः ॥ २६ ॥

हे सुन्दर नेत्रों वाली ! स्वगत सजातीय और विजातीय भेद से आनन्द अक्षर रूप ब्रह्मत्व में दो दल होता है ॥ २६ ॥

सदंशबीजमूला च प्रकृतिर्ह्यक्षरात्मगा ।
न तस्माद्रसलीलायाः स्थितिः कूटस्थ ईश्वरे ।
प्रकृतेश्च परत्वाच्च निर्गुणत्वान्महेश्वरि ॥ २७ ॥
उत्तमे पुरुषे पूर्णे ह्यानन्दात्मनि केवले ।
लीला रसमयी रम्याः प्रतिक्षणनवा स्थिता ॥ २८ ॥

---

१. द्र० पृ० चतुर्विंशपटलम्, ११-१२ ।

१. सत्-अंशबीजमूल और २. अक्षरात्मक प्रकृति। इसीलिए रस लीला की स्थिति उस कूटस्थ ईश्वर में नहीं होती। हे महेश्वरि! प्रकृति के पर होने से और निर्गुण होने के कारण उत्तम एवं पूर्ण व आनन्दात्मक केवल पुरुष में रसमयी और रमणीय तथा प्रतिक्षण नवीन होने वाली लीला स्थित होती है ॥ २७-२८ ॥

दिदृक्षितान्तःकरणवृत्तिः स्यादक्षरस्य या।
पुरुषोत्तमावेशती जाता नन्दगृहे तु सा ॥ २९ ॥

उस अक्षर परब्रह्म की जो देखने की इच्छा वाली अन्तःकरण की वृत्ति थी वह पुरुषोत्तम नन्द के घर में आवेशवान् हुई ॥ २९ ॥

गुणलीलादिदृक्षायुक्वासनास्तत्प्रियासु याः।
ता एव व्रजसुन्दर्यस्ताभिः संक्रीडते रसः ॥ ३० ॥

सगुण की लीला को देखने की इच्छा से युक्त उनकी प्रिया में जो वासना थी वही व्रज सुन्दरियों के साथ सम्यक् रूप से क्रीडा में रस लेने लगी ॥ ३० ॥

स्वामिनीवासना राधा स्वयं वृन्दावनेश्वरी।
लवमात्रकालावच्छिन्नो विरहोऽभूद्रसात्मकः ॥ ३१ ॥

स्वामिनी बनने को वासना वाली राधा स्वयं वृन्दावन की ईश्वरी, लवमात्र काल से युक्त विरहरस (=विप्रलम्भ) को प्राप्त हुई ॥ ३१ ॥

नलिनीपत्रसंहत्याः सूक्ष्मसूच्याभिवेधने।
दले दले च यः कालः स कालो लववाचकः ॥ ३२ ॥

एक कमल की पखुड़ियों की संहति को बारीक सुई से यदि वेधा जाय तो एक-एक दल में सुई जाने से जो काल होगा वह काल 'लव' कहलाता है ॥ ३२ ॥

अत्रापि संयोगवियोगभावैः क्रीडति वै हरिः।
कृष्णो राधास्वरूपेण विरहाक्रान्तचेतनः ॥ ३३ ॥

यहाँ पर भी हरि संयोग एव वियोगस्थ भावों से क्रीडा करते हैं। वह कृष्ण ही हैं जो राधा स्वरूप से विरह से आक्रान्त चित्त होते हैं ॥ ३३ ॥

कथं सा संगता मे स्यादिति चिंतापरोऽभवत्।
तत्सखीकृतमैत्रस्तु तत्कथाः कुरुतेऽनिशम् ॥ ३४ ॥

ऐसी चिन्ता में वे रहते हैं कि वह कब मुझे मिल जाँय। उनकी सखी से, जिन्होंने मित्रता की है उन्ही की, सदैव कथा किया करते हैं ॥ ३४ ॥

नित्यं स्वरूपस्तवनैर्गतिहासनिरूपणैः।
वस्त्रमद्यतनं हृद्य तव सख्याः परिष्कृतम् ॥ ३५ ॥

इत्यावेदितहार्दास्ताः सख्यः प्राहुश्च राधिकाम् ।
राधे नन्दसुतः सोऽयं सुन्दरः प्रतिभाति मे ।। ३६ ।।

नित्य ही स्वरूप से, स्तवनों से और उनकी गति एवं हास आदि के निरूपणों से वे इस प्रकार कहते कि 'तुम्हारी सखी के द्वारा आज का पहना हुआ वस्त्र अत्यन्त हृदयाकर्षक है' इस प्रकार की हृद्य बात उनको सखियाँ राधिका से कहती हैं। वे कहती हैं कि 'हे राधे ! वही यह नन्द के पुत्र हैं जो मुझे सुन्दर लगते हैं' ।। ३५-३६ ।।

तव रूपानुरूपोऽयं चतुरो व्रजवल्लभः ।
नित्यं च त्वत्कथालापः त्वत्प्राणस्त्वन्मनाः सदा ।
त्वामेव ध्यायते चित्ते सङ्गमस्ते यथा भवेत् ।। ३७ ।।

तुम्हारे रूप के अनुरूप यह चतुर व्रजवल्लभ नित्य ही आपकी कथा कहते हुए आप में ही प्राण [श्वास-प्रस्वास] और आप में ही सदा मन लगाकर आपका ही चित्त में ध्यान करते हुए जैसे सङ्गम होवे वैसो ही चेष्टा किया करते हैं ।। ३७ ।।

राधोवाच—

कुत्र सङ्गतिरेतेन मम स्यात्सखि चिन्तय ।
अहमप्यस्य रूपेण सौन्दर्येण गुणेन च ।
मोहितास्मि क्षणं नैनं विस्मरामि कथचन ।। ३८ ।।

राधा ने कहा—हे सखि ! तुम्हीं सोंचो कि कहाँ पर इनसे हमारी सङ्गति होवे। क्योंकि मैं भी इनके रूप, सौन्दर्य और गुण से मोहित हो गई हूँ। मैं इन्हें किसी भी प्रकार विस्मृत नहीं कर पाती हूँ ।। ३८ ।।

यशोदानन्दनं कृष्णं स्वप्ने पश्यामि सन्ततम् ।
क्रीडमानं मया सार्द्धं पिबन्तमधरासवम् ।। ३९ ।।

मैं सदैव यशोदानन्दन श्रीकृष्ण को स्वप्न में देखती हूँ। वे मेरे साथ क्रीड़ा करते हुए और अधरामृत का पान करते हुए दिखाई पड़ते हैं ।। ३९ ।।

यस्मिन् दृष्टे ममांगेषु स्वेदरोमांचकंचुकम् ।
वेपथुः स्वरभङ्गो वा जायते साम्प्रतं सखि ।। ४० ।।

हे सखि ! 'वहाँ स्वप्न में उन्हें देखकर मेरे अंगों में स्वेद (पसीना) तथा कंचुक में रोमांच हो गया और इस समय कम्पन अथवा स्वरभंग हो रहा है ।। ४० ।।

यत्सौन्दर्यरसाम्भोधौ निमग्नं सखि मे मनः ।
न निवृत्तिमवाप्नोति विना तद्दर्शनं क्वचित् ।। ४१ ।।

हे सखि ! मेरा मन जिस सौन्दर्यरस के समुद्र में निमग्न है, उनका कहीं न कहीं दर्शन बिना किए वह मन निवृत्ति को नहीं प्राप्त हो रहा है ।। ४१ ।।

कृष्णमूर्ति प्रपश्यामि भ्रमान्निकटवर्तिनीम् ।
क्षणादन्तर्हितां दृष्टवा मदात्मा तप्यते भृशम् ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्ण की मूर्ति को मैं अपने आस-पास घूमती हुई देखती हूँ । क्षण भर के लिए भी यदि वह मूर्ति अन्तर्हित हो जाती है तो उसे देखकर मेरी आत्मा अत्यन्त कष्ट प्राप्त करती है ॥ ४२ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कस्याग्रे कथयाम्यहम् ।
नय मां नन्दतनयं कृष्णं प्राणाधिकं मम ॥ ४३ ॥

क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसके आगे अपनी गाथा कहूँ ? मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय नन्दतनय श्रीकृष्ण के पास मुझे ले चलो ॥ ४३ ॥

विरहाग्निमहाज्वालावलीढा मे वपुर्लता ।
कृष्णाधरसुधापूरप्लाविता शान्तिमेष्यति ॥ ४४ ॥

मेरी शरीर रूपी लता विरह की अग्नि की महनीय ज्वाला के द्वारा झुलसा दी गई है जो श्रीकृष्ण के अधरामृत में भरपूर स्नान से ही शान्ति को प्राप्त करेगी ॥ ४४ ॥

तस्य मे सङ्गमोपायं विचारय निजे हृदि ।
गच्छ कृष्णागमे यत्नं कुरु सङ्केतसद्मनि ॥ ४५ ॥

अतः अपने हृदय में उनसे मेरे सङ्गम का उपाय सोचो । जाओ और सकेत स्थल पर कृष्ण के आगमन के लिए यत्न करो ॥ ४५ ॥

इत्येवं राधया प्रोक्ता सखी प्राणपतिं ययौ ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे
शिवोमासंवादे एकादशं पटलम् ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीराधिका के द्वारा कही गई वह सखी प्राणपति भगवान् श्रीकृष्ण के पास गई ॥ ४६ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
सवाद के ग्यारहवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १० ॥

अथ द्वादशं पटलम्

शिव उवाच—

कृष्णस्तामागतां दृष्ट्वा हर्षाकुलितचेतसाम् ।
कार्यसिद्धिमिमां ज्ञात्वा हर्षादुल्लसितेक्षणः ॥ १ ॥
पप्रच्छ तां सखीं प्रेम्णा किमुक्तं राधया सखि ।
तदिदानीं ममाचक्ष्व श्रुत्वा सन्तोषमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

[कार्यसिद्धि के कारण] हर्षातिरेक में चित्त की आकुलता वाली उस सखि को अत्यन्त प्रसन्नता से उल्लसित नेत्रों वाले कृष्ण ने देखकर 'यह तो कार्यसिद्धि ही है' ऐसा जानकर उस सखि से पूछा—हे सखि ! श्रीराधिका के द्वारा प्रेम से क्या कहा गया ? उसे हमसे कहो, जिसे सुनकर मैं संतोष पाऊँ ॥ १-२ ॥

त्वयि गतायां यावन्तः कालस्यावयवा ययुः ।
तावन्त्येव युगान्यासन् विरहाकुलितस्य मे ॥ ३ ॥

हे सखि ! तुम जब से गईं हो तब से काल के जितने अवयव व्यतीत हुए हैं, विरह से व्यथित मेरे उतने ही युग मानों बीत गए ॥ ३ ॥

सख्युवाच—

त्वत्सङ्गविरहात्कृष्ण राधापि क्लिश्यतेतराम् ।
न निवृत्तिमवाप्नोति विना ते दर्शनं क्वचित् ॥ ४ ॥

सखि ने कहा—

हे कृष्ण ! आपके संगम के विरह से राधा भी अत्यन्त कष्ट पा रही हैं। आपके कहीं भी दर्शन के विना वह उस विरह से निवृत्त नहीं हो पा रही हैं ॥ ४ ॥

कृष्ण कृष्णेत्यमु मन्त्रं विरहाकुलया तया ।
जप्यतेऽहर्निशं मन्यमानया निकटे मृतिम् ॥ ५ ॥

उन विरह से व्यथित राधिका के द्वारा रात-दिन 'श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण' इस मन्त्र का जप यह मान कर किया जा रहा है कि अब मृत्यु सन्निकट ही है ॥ ५ ॥

विरहानलनिर्दग्धा शोभते न वपुर्लता ।
हिमक्लिष्टेव हेमन्ते मृदुला पद्मिनी यथा ॥ ६ ॥

उनकी शरीर रूपी लता विरह रूप अग्नि से झुलस जाने से शोभा को नहीं प्राप्त कर रही है। वह उसी प्रकार लग रही हैं जैसे हेमन्त ऋतु में मृदु कमलिनी हिमपात से क्लेश प्राप्त कर रही हो ॥ ६ ॥

दिवारात्रौ तु रहसि कृत्वा चित्रमयीं प्रभो।
मूर्त्ति निधाय हृदये शेते विरहकर्षिता ॥ ७ ॥

वह दिन-रात एकान्त स्थान में प्रभु की चित्रात्मक मूर्ति को हृदय में रखकर विरह से दुबले शरीर वाली होकर सोयी रहती हैं ॥ ७ ॥

शुष्कौ बिम्बाधरौ तस्यास्तन्द्रा लोचनयोः स्थिता।
अन्यथा भाषणं वक्त्रात् किमन्यत्कथयामि ते ॥ ८ ॥

उनके [बिम्ब फल के समान] दोनों लाल ओष्ठ सूख गए हैं। उनकी आखों पर सदैव तन्द्रा लगी रहती है और मुख से इधर-उधर की बड़बड़ाहट सी निकलती रहती है और इसके अतिरिक्त आप से क्या क्या कहूँ ? ॥ ८ ॥

नानुसन्धानमाधत्ते मनोवृत्तिर्मनागपि।
अन्यथासिद्ध एवासौ कामस्ते नन्दनन्दन ॥ ९ ॥

मनोवृत्ति जरा भी सोंच विचार करने में असमर्थ सी है। हे नन्द के नन्दन ! यह आपका काम ही अन्यथा सिद्ध है ॥ ९ ॥

तस्मात्तन्निकटं याहि सङ्केते कृतनिश्चयः।
इति सख्योदितं श्रुत्वा उल्ललास हृदि प्रभुः ॥ १० ॥

इसलिए 'पहले से निश्चित संकेत स्थल पर आ आप उनके निकट जावें'—इस प्रकार सखि के वचनों को सुनकर प्रभु मन ही मन अत्यन्त हर्षित हुए ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

अहं तत्रागमिष्यामि सङ्केते कृतनिश्चयात्।
तत्र तामानय क्षिप्रं वेषगुप्तिं विधाय च ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

मैं उस पहले निश्चित संकेत स्थल पर आ जाऊँगा। वहाँ पर तुम उन्हें शीघ्र ही गुप्त वेष पहनाकर लाओ ॥ ११ ॥

कस्यापि न भयं भीरु त्वया कर्त्तव्यमण्वपि।
वञ्चयिष्ये जनान् सर्वान् इन्द्रजालकलादिभिः ॥ १२ ॥

हे भीरु ! तुम्हें किसी का भी कुछ भी भय नहीं होना चाहिए। क्योंकि मैं सभी मनुष्यों को इन्द्रजाल आदि कलाओं से छल लूँगा ॥ १२ ॥

राधिकायै प्रणाम मे तत्र गत्वा निवेदय।
त्वं मे प्रियासि नितरां प्राणादप्यधिका मम ।। १३ ।।

श्री राधिका के लिए वहाँ जाकर मेरा 'प्रणाम' निवेदन करो और कहो कि 'तुम्हारा सदैव प्राणों से भी अधिक मैं प्रिय हूँ' ।। १३ ।।

नावयोरन्तरं किञ्चित् प्राणरूपात्मनामपि।
त्वन्नामस्मरणाच्चाहं यथा तुष्यामि सुन्दरि।
मत्सेवया मम ध्यानात्तथा तुष्टिर्न मे क्वचित् ।। १४ ।।

इत्यादि मम वाक्यानि राधिकायै निवेदय।
पुनर्याता सखी राधामुवाच सकलं हि तत् ।। १५ ।।

हम दोनों के बीच प्राणरूपात्मक भी अन्तर नहीं। हे सुन्दरि मैं तुम्हारा नाम लेते हुए जैसे—तैसे सन्तुष्ट करूँगा। मेरी सेवा से और मेरे ध्यान से भी उस प्रकार की सन्तुष्टि कहीं भी नहीं होगी' इस प्रकार के मेरे वचनों को राधा के प्रति निवेदन करो। अतः सखि राधिका के पास पुनः गई और वह सब कुछ उनसे कहा ।। १४-१५ ।।

सुधामाधुर्यधिक्कारक्षमं कृष्णवचोमृतम्।
पीत्वोल्ललास हृदयं ग्रीष्मतप्तेव भूर्यथा ।। १६ ।।

सुधारूपी माधुरी को धिक्कृत करने में समर्थ श्रीकृष्ण के वचनामृत को पीकर राधिका भी उसी प्रकार हर्षित हुई जैसे ग्रीष्मकाल में तप्त पृथ्वी वर्षा से प्रसन्न होती है ।। १६ ।।

अथ सङ्केतसदने शय्या पुष्पमयोचिता।
नानागन्धमहामोदपुष्पराजिविराजिते ।। १७ ।।

निर्दग्धागरुसद्धूमधूपिते च समन्ततः।
पानयोग्यरसैर्दिव्यैस्ताम्बूलैरङ्गलेपनैः ।। १८ ।।

इसके बाद संकेत गृह में पुष्पमयी शय्या बनाई गई। यह शय्या नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों और अत्यन्त मोद प्रदान करने वाले पुष्पों की पंक्ति से सुशोभित थी और यह चारों ओर जलाए गए अगरु के धूम से सुगन्धित व धूपित की गई थी। यह शर्बत आदि पान योग्य दिव्य रसों से परिपूरित; ताम्बूल एवं अंगराग से युक्त थी ।। १७-१८ ।।

सत्कृते सदने रम्ये राधा सख्यावृता ययौ।
तत्रासनगता राधा काङ्क्षन्ती प्रियसङ्गमम् ।। १९ ।।

अचञ्चलतडित्कोटिप्रभापिञ्जरिताम्बरा ।
समावृत्तसुवृत्तोरुजघनस्तनमण्डला ॥ २० ॥

इस प्रकार अच्छी तरह से सजाए गए रमणीय उस संकेत गृह में श्रीराधिका सखियों से आवृत्त होकर गईं । वहाँ आसन पर बैठ जाने पर राधा प्रिय के संगम की आकांक्षा से निश्चल विद्युत की कोठि-कोटि प्रभा से पिञ्जरित वस्त्रों से सुशोभित हो रही थीं । वह सुन्दर उरु, जघन और वृत्ताकार स्तनमण्डलों से समावृत थीं ॥ १९-२०

कटाक्षसरणीनिर्यद्रसमोहितमन्मथा ।
शुकाकारसमाकारनासाभरणभासुरा ॥ २१ ॥

वह कटाक्ष रूपी सरणी से निकले हुए रस से मोहित मन्मथ से युक्त थीं । उनकी नासिका शुक की नासिका के समान आकार वाली थी जो नथ आदि आभूषण से दीप्तिमान थी ॥ २१ ॥

दाडिमीबीजसन्देहकारिदशनहीरका ।
वीणारवघृणादायिनिजवाणीगुणोदया ।
कर्पूरबीटिकामोदसुगन्धितदिगन्तरा ॥ २२ ॥

अनार के बीज के सदृश निर्मित उनकी दन्तपक्ति हीरों से मानों युक्त थीं । वीणा के निःस्वन के सदृश आनन्ददायक उनकी वाणी थी । वहाँ पर चतुर्दिक कर्पूर एवं धूप के सुगन्ध से सुगन्धित वातावरण था ॥ २२ ॥

मणिदर्पणदर्पघ्नकपोलफलकप्रभा ।
मणिमङ्गलसूत्रेण विलसत्कम्बुकन्धरा ॥ २३ ॥

उनके कपोलरूपी फलक की कान्ति मणिरूपी दर्पण के अभिमान को भी नष्ट करने वाली थी । उनका गला और कन्धा मणियुक्त मंगलसूत्र से सुशोभित था ॥ २३ ॥

रत्नाङ्गुलीयनिवहोल्लसदङ्गुलिपल्लवा ।
कुचभारलसन्मध्यत्रिवलीललितोदरा ॥ २४ ॥

उनका अंगुली रूपी पल्लव रत्नजटित अँगूठी से शोभित था । कुचों के भार से सुशोभित उनका उदर पेट के मध्य त्रिवली (तीन रेखाओं से युक्त) अत्यन्त ललित लग रहा था ॥ २४ ॥

चन्दनागरुकस्तूरीकर्पूरादिसुगन्धिनी ।
निःश्वासहारिकूर्पासनिबद्धस्तनमण्डला ॥ २५ ॥

चन्दन, अगरु, कस्तूरी, और कर्पूर आदि से सुगन्धित निःश्वास वाली वे अत्यन्त मनोहारी चोली से निबद्ध स्तन मण्डलों से युक्त थी ॥ २५ ॥

कुचोपरिलसन् मुक्ताहारतारसुशोभिता ।
क्वणन्माणिक्यमञ्जीरप्रभाभिर्बद्धमण्डला ॥ २६ ॥

उनके कुचों के ऊपर मुक्तामणि के हार की पङ्क्ति से वक्षस्थल सुशोभित था। मणिमाणिक्य युक्त बजते हुए घुघुरुओं से युक्त करधनी की प्रभा से उनका मण्डल आबद्ध था ॥ २६ ॥

रेजे राधासनगता कथंचक्रे प्रियश्रया ।
कथं नाद्यावधि प्रेयान् नागतः सखि तर्कय ॥ २७ ॥
रुद्धः कयाचित्प्रियया किं वा त्वं तेन वञ्चिता ।
तद्वचः किमतथ्यं वा तथ्यं वा ज्ञायते कथम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्री राधा आसन पर बैठी हुई अत्यन्त सुशोभित हो रही थी। वह इसी विचार में मग्न थीं कि कैसे प्रिय का आश्रय प्राप्त होवे ? उन्होंने अपनी सखी से कहा—'हे सखि ! विचार करो कि क्यों अभी तक मेरे प्रिय नहीं आए ? क्या वे किसी अन्य प्रिया के द्वारा तो नहीं रोक लिए गए ? अथवा क्या तुम्हीं उनके द्वारा छली गई हो ? उनका वचन विश्वस्त है या अविश्वस्त यह हमें कैसे ज्ञात होगा ॥ २८ ॥

नागमिष्यति चेत्कान्तः प्राणांस्त्यक्ष्याम्यसंशयम् ।
वयस्यामेतदाश्राव्य कृत्वा करतले मुखम् ॥ २९ ॥
विरहाग्निशिखात्युष्णं निशश्वास प्रियंवदा ।
ताम्बूलगन्धपुष्पादिरतिसाधनमाहितम् ।
निनिन्द मनसा सर्वं वियोगज्वरविप्लुता ॥ ३० ॥

यदि मेरे कान्त नहीं आएँगे तो मैं निश्चित ही प्राणों का त्याग कर दूँगी। वह अपने हाथों पर मुँह को रखकर बोली कि 'हे सखि तुम इसे सुनाओ। इस प्रियवादिनी ने विरह रूप अग्नि की लपटों से गर्म हुआ अत्यन्त ऊष्ण निश्वास लिया और ताम्बूल, सुगन्धित द्रव्य एवं पुष्पादि रति के संसाधनों आदि सभी को वियोग रूपी बुखार से विलुप्त होकर मन में ही निन्दा की ॥ ३० ॥

तद्वक्त्रं हसितेन्दुमण्डलमतिस्फारं तदालोकितं
सा वाणीजितकामकार्मुकरवा सौन्दर्यमेतस्य तत् ।
इत्थं सन्ततमालि वल्लभतमध्यानप्रसक्तात्मन-
श्चेतश्चुम्बितकालकूटमिव मे कस्मादिदं मुह्यति ॥ ३१ ॥

उन [भगवान् कृष्ण] का मुख हँसते हुए पूर्ण चन्द्र मण्डल के समान है और उनका आलोक चारों ओर फैल रहा है। उनकी वाणी जीते जा सकने वाले काम के धनुष के टंकार के समान है। इस प्रकार इन भगवान् का वह सौन्दर्य है—

ऐसा निरन्तर सोंचते हुए उत्तम बल्लभ के ध्यान में प्रसक्त मन वाली सखी ने सोचा कि विष के चुम्बन के समान यह मेरा चित्त किससे भ्रमित हो रहा है ॥ ३१ ॥

तदैव कृष्णः सङ्केतं प्राप्तः प्राण इव स्वयम् ।
स्वासनात्तूर्णमुत्तस्थौ राधा कमललोचना ॥ ३२ ॥

तभी प्राण के समान स्वयं कृष्ण ने संकेत प्राप्त करके आगमन किया । कमल के समान आँखों वाली राधा अपने आसन से उन्हें देखते ही अत्यन्त शीघ्रता से उठ खड़ी हुई ॥ ३२ ॥

समानासनसमासीनौ परस्पररतिप्रियौ ।
भावपूरितदृक्प्रान्तनिक्षेपान्योऽन्यमोहितौ ॥ ३३ ॥

दोनों ही समान आसन पर अच्छी तरह से बैठे हुए, एक दूसरे में परस्पर रति एवं प्रीति युक्त थे । वे दोनों अपने भावों से परिपूर्ण भाव भंगिमा वाले नेत्रों के प्रान्त भाग से निक्षेप द्वारा एक दूसरे में मोहित हुए अत्यन्त सुशोभित हुए ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

प्रिये त्वद्विरहज्वालावलीढवपुरुषो हि मे ।
न शान्तये सुधाम्भोधिकोटिपीयूषसेचनम् ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे प्रिये ! तुम्हारे विरह की ज्वाला ने मेरा शरीर झुलसा दिया है । अमृत रूपी कोटि समुद्र के जल से भी सींचा जाकर वह शान्ति को नहीं प्राप्त कर रहा हे ॥ ३४ ॥

त्वदीयविरहे राधे प्रियमप्यास विप्रियम् ।
अमृतांशोरपिकराश्चण्डांशोरिव दारुणाः ॥ ३५ ॥
ग्लपयन्ति वपुर्वल्लीं विरहे तव सुन्दरि ।
शय्या पीयूषचित्ता वह्न्यङ्गारचितेव सा ॥ ३६ ॥
मलयालेपनं देहे व्यथते विस्फुलिङ्गवत् ।
कोटिकल्पायते रात्रिः पुष्पं सूचीफलायते ।
दावाग्निज्वालेव मरुत् शीतलो व्यथयेत्तनुम् ॥ ३७ ॥

हे राधे ! तुम्हारे विरह में प्रिय भी अप्रिय सा लग रहा है । चन्द्रमा की शीतल किरणें भी अत्यन्त प्रचण्ड सूर्य की किरणों के समान दारुण लग रही है । हे सुन्दरि ! तुम्हारे विरह में शरीर रूपी लता को वह सुखा रही हैं । अमृत के समान भी शीतल बनाई गई शय्या आग के अङ्गारों से बनी चिता के समान लग रही है, शरीर में चन्दन का लेप चिनगारी के समान व्यथा पहुँचा रहा है । रात्रि करोड़ों

कल्प के समान लग रही है और फूल सूई के समान चुभ से रहे हैं। शीतल-मन्द-समीर भी दावानल के ज्वाला के समान शरीर को अत्यन्त व्यथित कर रहा है ॥ ३५–३७ ॥

ध्यायामि त्वां दिवारात्रौ त्वत्प्राणस्त्वन्मनाः प्रिये ।
राधिके राधिके चेति महामन्त्रजपेन च ॥ ३८ ॥
विरहाहिविषं प्राणहारि प्रशमयाम्यहम् ।
अद्य लब्धासि भो कान्ते निधानमिव निर्धनैः ॥ ३९ ॥

दिन और रात तुम्हारा ही ध्यान करता हूँ। हे प्रिये ! तुम्हारे प्राणों का एवं तुम्हारे मन का ही ध्यान 'राधिके राधिके' महामन्त्र के जप द्वारा प्राणों का हरण करने वाले विरह रूपी विषधर सूर्य का मैं शमन करता हूँ। हे कान्ते, निर्धन को खजाना मिलने के समान आज मैं तुम्हें पा गया हूँ ॥ ३८–३९ ॥

विवेकविद्याविनयप्रसाद-
महेन्धने चाशुविदीप्यमाने ।
वियोगवातद्विगुणीकृतेन्तः
स्मरानले गोपि जुहोमि देहम् ॥ ४० ॥

अतः विवेक, विद्या, विनय एवं प्रसाद रूपी इन महान् इन्धन में विशिष्ट रूप से शीघ्र ही दीप्तिमान तथा वियोगरूपी वायु के द्वारा दुगुने किए गए अन्तः स्मर रूपी अग्नि में, हे गोपि !, मैं अपने देह की आहुति देता हूँ ॥ ४० ॥

इतः क्षणं वा च ततः क्षणं वा
गृहे क्षणं वा शयने क्षणं वा ।
बहिस्तथान्तः क्षणमात्मनस्त्वद्-
ग्रहगृहीतस्य निवृत्तिरस्ता ॥ ४१ ॥

कभी यहाँ क्षण भर और कभी वहाँ क्षण भर अथवा क्षणभर गृह में या शयन में क्षणभर या कभी बाहर और कभी अन्तरात्मा में तुम्हारे स्मरण रूपी ग्रह द्वारा गृहीत मुझको कहीं भी चैन नहीं है ॥ ४१ ॥

कियन्त्य एवात्र न सन्ति राधे
सुलोचना मां तु न हर्षयन्ति ।
पयोदबिन्दुप्रतिरुद्धबुद्धे-
र्विहङ्गमस्येव जलोपकण्ठम् ॥ ४२ ॥

हे राधे ! कितनी भी चारु नेत्रों वाली कामनियाँ यहाँ मेरे हृदय को हर्ष नहीं प्रदान करती है। हमारी दशा तो उसी प्रकार हो रही है जैसे जल के समीप भी बैठे पक्षी (चातक) को मेघ की बिन्दु की ही आवश्यकता होती है ॥ ४२ ॥

दिशां मुखेषु प्रमदे त्वदीयां
भ्रमोपनीतामपि वीक्ष्य मूर्त्तिम् ।
गतावधिव्याप्तिमुपैति चित्ते
हर्षस्य वैयर्थ्यमुदीक्ष्य शोकम् ।। ४३ ।।

हे प्रमदे ! दिशाओं के कोनों पर तुम्हारी मूर्ति भ्रम से मुझे दिखाई पड़ जाती है। पुनः जब यह पता लगता है कि वह तो भ्रमात्मक मूर्ति थी तो चित्त में आया हुआ हर्ष पुनः शोक में परिणत हो जाता है ॥ ४३ ।।

समुद्ररुद्रौ प्रथितौ जगत्यां
और्वेण हालाहलधारणेन ।
अहं तु कल्पान्तहुताशकल्प-
वियोगदग्धोऽपि न चित्रमेतत् ।। ४४ ।।

संसार में समुद्र का रौद्रत्व [ज्वारभाटे के समय] हालाहल रूप विष के धारण से वडवानल के कारण प्रसिद्ध है। किन्तु मैं तो कल्पान्त की वह्नि के समान वियोगरूप वह्नि से जल गया हूँ तो इसमें क्या विचित्रता है ॥ ४४ ॥

अपि प्रिये त्वद्विरहानलोत्थ-
ज्वालाहुतीभूतशरीरयष्टेः ।
त्वमेव[1] मे जन्मनि जन्मनि स्याः
प्रिया सखी चेति विधिर्व्यधत्ताम् ।। ४५ ।।

अतः हे प्रिये ! तुम्हारे विरह रूपी अग्नि से उसी ज्वाला में मैं अपनी शरीर रूपी समिधा की आहुति दे रहा हूँ और विधता से यही प्रार्थना है कि तुम्हीं जन्म-जन्मान्तर में मेरी प्रिया और सखी होओ ॥ ४५ ॥

अपि प्रिये केतककुड्मलौघाः
स्फुटन्ति मे हृदयेन साकम् ।
विलोचनाभ्यां तु समं पयोदाः
किरन्ति वारिप्रकरानमन्दान् ।। ४६ ।।

हे प्रिये ! केतकी पुष्प की कलियाँ एक साथ मेरे हृदय द्वारा प्रस्फुटित होती हैं और दोनों नेत्रों से नित्यप्रति मेघ वर्षा करते रहते हैं ।। ४६ ॥

वियोगदावानल एष एव
क्षणात् क्षिणोत्येव तनुं मदीयाम् ।

---

१. अत्र प्रतिपादिताक्षरातीताख्यस्य कृष्णस्यानवतारित्वेऽपि स्वप्रेममहिम-प्रदर्शनार्थमेवेत्थमुक्तं श्रीराधिका प्रतीतीति विवेकः।

यदा सुधारश्मिसहोदरास्य-
मसङ्कुचध्यानपथादपैति ॥ ४७ ॥

वियोग रूपी दावानल से ही यह मेरा शरीर क्षण भर में कृश हो गया है। जब चाँदनी की रश्मि के समान मधुर तुम्हारा मुखमण्डल मेरे ध्यानपथ से हट जाता है तो में विवर्णभाव (उदासी) को प्राप्त हो जाता हूँ ॥ ४७ ॥

धुन्वन् पयोदावलिविस्फुरन्तस-
तडित्प्रकाशाः शिखिनर्त्तनानि ।
सुकेतकामोदमुचश्च वाताः
सहस्रधा मे हृदयं दलन्ति ॥ ४८ ॥

वर्षाकालीन मेघमालाएँ और विद्युत की तड़कती हुई चमक तथा मयूरों का नृत्य एवं सुन्दर केतक पुष्प की सुगन्धी से पूरित वायु मेरे हृदय के हजारों टुकड़े कर डाल रहा है ॥ ४८ ॥

स्मराशुगीभूतविलोचने द्वे
भ्रूभ्यां धनुर्भावमुपागताभ्याम् ।
स्फुटं वहन्ती जनमोहविद्या
विद्या किमेषा मम मोक्षकर्त्री ॥ ४९ ॥

कामदेव के बाण रूप तुहारे नेत्रों की ये दोनों भौंहें, जो धनुषाकार रूप में है, मनुष्यों को मोहजाल में डाल देने वाली विद्या है। क्या यह विद्या मेरी मोक्षकर्त्री नही है ? ॥ ४९ ॥

स्मितोदयादर्शितदन्तपङ्क्ति-
प्रभावलीढाननपङ्कजेन ।
परिस्फुरल्लोचनषट्पदेन
विमोहयन्ती हृदयं मदीयम् ॥ ५० ॥

मुस्कुराने से प्रकट हुई दन्त पङ्क्ति की प्रभा से खिले हुए मुख कमल के द्वारा और उस कमल पर मँडराने वाले काले-काले भौरे रूप दोनों नेत्र मेरे हृदय को विमोहित कर लेते हैं ॥ ५० ॥

ध्येयं ममैतत्तवपादपङ्कजं
गेयं ममैतत्तव रूपसौभगम् ।
त्वत्तो न किञ्चित्प्रतिभाति तत्त्वं
त्वया विनाऽन्ध्यं जगतो विभाति ॥ ५१ ॥

मेरे लिए ध्यान के योग्य यह तुम्हारा चरण कमल है और मेरे लिए तुम्हारी

यह रूप माधुर गाने के योग्य है। इस चराचर जगत् में तुमसे भिन्न कोई और तत्त्व मुझे नहीं प्रतिभासित हो रहा है अर्थात् 'राधातत्त्व' से अलग कोई और भासमान तत्त्व नहीं है। इतना ही नहीं अपितु तुम्हारे बिना यह संसार मुझे अन्धकारमय भासित होता है ॥ ५१ ॥

इत्थं प्रियामनुनयन् वचोभिः प्रेमगर्भितैः।
रेमे कृष्णः कुचतटीपरिरम्भादिभिस्तथा ॥ ५२ ॥

। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
द्वादशं पटलम् ॥ १२ ॥

——*——

इस प्रकार प्रेमरस से परिपूर्ण वचनों से अपनी प्रिया राधा का अनुनय विनय करते हुए कृष्ण ने कुचमण्डल के परिरम्भण [मन्द-मन्द मर्दन] आदि से रमण किया ॥ ५२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के बारहवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १२ ॥

——*——

अथ त्रयोदशं पटलम्

शिव उवाच—

एकदा तु कुमार्यस्ता व्रतं चेरुः समाहिताः ।
कात्यायनीमर्चयन्त्यः कृष्णो भर्त्ता भवेदिति ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

एक बार उन राजकुमारी गोपियों ने समाहित चित्त होकर व्रत किया। 'कात्यायनी' देवी की अर्चना करते हुए यह कामना की कि 'मेरे पति कृष्ण होवें' ॥ १ ॥

मासान्ते फलदानाय गतः कृष्णः सरित्तटम् ।
तीरस्थितानि वासांसि हृत्वा नीपमथारुहत् ॥ २ ॥

उस मास के अन्त में भगवान् श्री कृष्ण सरिता के तट पर फलदान के लिए गए। तट पर स्थित जितने गोपियों के वस्त्र थे उन्हें चुराकर (नीप) कदम्ब वृक्ष पर चढ़ गए ॥ २ ॥

कुमार्यः कृष्णचरितं दृष्ट्वा प्रेमपरिलुप्ताः ।
लज्जितस्मेरवदनाः कृष्णमूचुः कदम्बकम् ॥ ३ ॥
कृष्ण, वासांसि नो देहि खिन्नाः स्म सलिले वयम् ।
त्वं वृद्धसम्मतो भूत्वा नैतत्कर्तुं त्वमर्हसि ॥ ४ ॥

कुमारी गोपियाँ इस प्रकार कृष्ण के चरित्र को देखकर अत्यन्त प्रेम से परिप्लुत हुई। कदम्ब स्थित कृष्ण से उन लज्जित एवं मुस्कुराती हुई कुमारियों ने कहा—हे कृष्ण ! हमारे वस्त्रों को दो क्योंकि हम लोग यहाँ पानी में अत्यन्त दुःखित हो रही हैं। तुम वृद्धसम्मत भाव वाले होकर इस प्रकार करने के योग्य तो नहीं हो ॥ ३-४ ॥

यदि जानाति वै कश्चित्तदायं दुर्नयो महान् ।
जानिष्यति यदा राजा कंसः क्रूरमतिर्मनाक् ॥ ५ ॥
तदा ह्यनर्थं एवायमस्माकं भवतोऽपि च ।

यदि किसी को यह मालूम हो जाय तो 'यह महान् दुर्नय होगा' और यदि मान लो कि कहीं अत्यन्त क्रूर बुद्धि वाले राजा कंस को यह पता लगेगा तब तो हमारा भी और तुम्हारा भी दोनों का ही महान् अनर्थ होगा ॥ ४-५ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

इहागत्य प्रतीच्छध्वं स्वं स्वं वासः सुलोचना ॥ ६ ॥

श्री कृष्ण ने कहा—हे सुन्दर नेत्रों वाली ! यहाँ आकर आप अपना अपना वस्त्र पहचान लो ॥ ६ ॥

अन्यथा न ददास्येव कंसभीत्या विभीषितः ।
निशम्य वचनं तस्य गोप्यो लज्जास्मितेक्षणाः ।
जलादुत्तीर्य वासांसि कृष्ण देहीति चाब्रुवन् ॥ ७ ॥

नहीं तो कंस के भय से भयभीत होकर भी मैं इन्हें नहीं दूँगा । उनके वचन को सुनकर लज्जा से स्मित नेत्रों वाली गोपियों ने जल से निकलकर कहा—'हे कृष्ण मेरे वस्त्र दो' ॥ ७ ॥

कृष्णः प्रीतमनास्ताभ्यो वासांसि पृथगाददौ ॥ ८ ॥

कृष्ण ने भी प्रसन्न होकर उन्हें पृथक् पृथक् रूप से उनके वस्त्रों को दिया ॥ ८ ॥

तत्तद्भागैश्च[1] ताः सर्वाः स्वान्तःस्थैः सन्नियुज्य च ।
चक्रे पूर्णतराः कृष्णो रसयोग्या रसप्रियः ॥ ९ ॥

कुमारियों के लिए अपने उन उन अंशस्वरूप के दान के लिए ही भगवान् कृष्ण ने चीरहरण लीला की । अतः उन उन गोपियों के द्वारा वे सभी लीलाएँ अपने अन्तःकरण में रखकर और सुनियोजित करके कृष्ण ने उन लीलाओं को रस योग्य, रसप्रिय एवं पूर्णतर बनाया ॥ ९ ॥

ततः प्रसन्नो भगवान् कुमारीभ्यो वरं ददौ ।

तब भगवान् ने प्रसन्न होकर कुमारियों को वर प्रदान किया ।

श्रीकृष्ण उवाच—

रात्रयो ह्याधिदैविक्यो मयि तिष्ठन्ति ताः प्रियाः ॥ १० ॥
पश्यध्वं रमयिष्यामि तासु वः पद्मलोचनाः ।
प्रतियात गृहं तस्मात्कामः कालेन सेत्स्यति ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा —

आधिदैविकी रात्रियों में वे प्रिया मेरे में स्थित होंगी । उनमें तुम पद्म के समान नयनों वाली गोपियों के साथ देखो मैं रमण करूँगा । उनके घर से पुनः लौटने पर कालानुसार काम का सेवन करूँगा ॥ १०–११ ॥

---

१. कुमारीभ्यः स्वगततत्तदंशस्वरूपदानायैव वस्त्रहरणलीलां कृतवान् भगवानिति ज्ञेयम् ।

ततो लब्धवराः सर्वा गोप्यः पूर्णमनोरथाः।
गृहं जग्मुः प्रगायन्त्यः कृष्णलीलां मुदान्विताः ॥ १२ ॥

तब वर प्राप्त करके सभी गोपियाँ पूर्ण मनोरथ होकर प्रसन्नतापूर्वक कृष्ण लीला का प्रकृष्ट रूप से गान करते हुए अपने अपने घर चली गईं ॥ १२ ॥

जनयन् मन्युमिन्द्रस्य कृत्वा गोर्वर्धनोत्सवम्।
इन्द्रोत्सृष्टजलैरन्नैः सङ्कर्षणमहीश्वरम् ॥ १३ ॥

इन्द्र के क्रोध को पैदा करके एवं गोवर्धन-उत्सव करके इन्द्र के उत्कृष्ट जल एवं अन्न से कृष्ण ने सङ्कर्षण एवं ब्राह्मणों को प्रसन्न किया ॥ १३ ॥

वर्षद्वादशकं योऽसौ त्यक्त्वाम्बुफलमूलकः।
तर्पयामास तं कृष्णः पुरुहूतमदं नुदन् ॥ १४ ॥

१२ वर्ष तक जिन्होंने इस जल, फल और मूल को छोड़कर इन्द्र के मद का मर्दन करते हुए उन कृष्ण ने उनको तर्पित किया ॥ १४ ॥

एकदा कृष्ण एवैको गतो वृन्दावनं शुभम्।
रमणाय मतिं चक्रे सखीभिः सह केवलम् ॥ १५ ॥
दृष्ट्वा वृन्दावनं रम्यं नम्रत्कुसुमपादपम्।
कूजत्पक्षिमरालालिप्रतिध्वनिमनोहरम् ॥ १६ ॥
प्रफुल्लमल्लिकाम्भोज मन्दमारुतकम्पितम्।
योगमायामथो कृष्णः कालमायाविनाशिनीम् ॥ १७ ॥

जाग्रदन्ते सुषुप्त्यादौ स्फुरणायोपलभ्यते।
तादृशीमकरोद् देवि लीलार्थं पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

एक बार कृष्ण अकेले ही शुभ वृन्दावन में गए। सखियों के साथ उन्होंने एकान्त में रमण करना चाहा। तब रमणीय एवं फलों से झुके हुए वृक्षों वाले वृन्दावन को उन्होंने देखा। पक्षियों से कूजित, हंस और भ्रमर से प्रतिध्वनित एवं मनोहर उस वन में प्रफुल्लित मल्लिका तथा कमल के पुष्प मन्द-मन्द समीर से कम्पित होते थे। तब वहाँ काल माया का विनाश करने वाली योगमाया को कृष्ण ने जाग्रत अवस्था के अन्त में और सुषुप्ति के आदि में स्फुरण के लिए उपालम्भन किया। उन पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण ने लीला के लिए उस प्रकार की देवी को प्रकट किया ॥ १५–१८ ॥

प्रकाशा चाप्रकाशा च द्विधा सेयं व्यवस्थिता।
दर्शनांशे प्रकाशा च दृषद्रुत्वाच्छादने तथा ॥ १९ ॥

बहिः प्रकाशं विच्छिद्य अन्तराकाशते यथा ।
योगमायेति विख्याता जाग्रत्स्वप्नमयोशितुः ॥ २० ॥

कालमाया हृता तूर्णं तया तच्चित्स्वरूपया ।
तत्कार्यमात्रमखिलं लीन स्थावरजङ्गमम् ॥ २१ ॥

प्रकाश और अप्रकाश—इन दो रूपों में वही व्यवस्थित हुईं । दर्शनांश में वह दृष्टत्व और आच्छादन में तो वे प्रकाश रूप में हैं । बाहर के प्रकाश का विच्छेदन करके जैसे वह अन्तःकरण में प्रकाश करती हैं । ईश की जाग्रत और स्वप्नावस्थामय यही योगमाया नाम से प्रसिद्ध हैं । इस के द्वारा शीघ्र ही दर्शनीय कालमाया उस चित्स्वरूप के द्वारा हृत होती है । उसका कार्य मात्र इतना ही है कि वह समस्त स्थावर एवं जङ्गम जगत् को लीन कर लेती है ॥ १९–२१ ॥

योगमायोद्भवं स्वप्नमक्षरः संददर्श ह ।
अन्यूनाधिकमीशानि भूतेन्द्रियगुणात्मकम् ॥ २२ ॥

दिव्यमाणिक्यमुकुटं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
दिव्यमुक्तामणिभ्राजन्नानाभूषणभूषितम् ॥ २३ ॥

कृष्णरूपमभूत्तत्र योगमायोपबृंहितम् ।
अलौकिकलतादिव्यकुसुमामोदवायुना ॥ २४ ॥

सेवितं सर्वतः श्रीमद् वृन्दावनमहाद्भुतम् ।
खगा मृगा लता वृक्षा वायवश्चन्द्रतारकाः ॥
ऋतुः पुष्पाणि रात्रिश्च सर्वमासीन्नवं प्रिये ॥ २५ ॥

उस अक्षर ने योगमाया से उद्भूत स्वप्न को देखा । वह स्वप्न न कम था न अधिक था । हे ईशानि ! वह भूतेन्द्रिय गुणात्मक था । योगमाया से उपबृंहित वहीं कृष्णरूप में प्रकट हो गया । यह कृष्ण दिव्य माणिक्य का मुकुट पहने थे । मकर के आकृति का कुण्डल उनके कानों में शोभा पा रहा था । वह दिव्य मुक्ता-मणि से देदीप्यमान और नाना प्रकार के आभूषणों से भूषित थे । अलौकिक लता, दिव्य कुसुम और आन्ददायिनी वायु से चारों ओर से सेवित वह महान् एवं अद्भुत वृन्दावन था । हे प्रिये ! पक्षी, पशु, लता, वृक्ष, वायु, चन्द्र और तारे, ऋतुएँ, पुष्प और रात्रि सभी कुछ नवीन थी ॥ २२–२५ ॥

प्रससारोत्सृजन्ती सा ग्रसन्ती विश्वमोजसा ।
उत्सारयन्ती तिमिरं यथा दीपशिखाम्बरे ॥ २६ ॥

आनन्द का सृजन करती हुई वह माया प्रकृष्ट रूप से फैल गयी तथा अपने ओज

से विश्व को ही निगलती हुई, जैसे—दीप की शिखा अन्धकार को हटाती है उसी प्रकार विश्व के अन्धकार को हटाती हुई जान पड़ी ॥ २६ ॥

योगमायाप्रपञ्चोऽपि सदेवासुरमानवः ।
तासु सङ्कल्पमकरोन्मनसा पुरुषोत्तमः ॥ २७ ॥

देवताओं के सहित असुर और मानव और उन योगमाया का प्रपञ्च भी मन से ही उनमें पुरुषोत्तम ने संकल्प करके बना दिया ॥ २७ ॥

अबोधयत्पूर्वकामं कामरूपतया हृदि ।
यावदङ्कुरितो भूयात् हृदि कामस्तु सुभ्रुवाम् ॥ २८ ॥
तावत्तद्वर्धनार्थाय वेणुनादमथाकरोत् ।
योगमायोद्भवाकाशे वेणुनादः प्रतिष्ठितः ।
तं नादमेव गोप्यस्ताः शुश्रुवुः प्रथमं प्रिये ॥ २९ ॥

हृदय में कामरूप से उन्होंने पूर्वकाम का उद्बोधन किया। ज्योंही उन सुन्दर भौंहों वाली गोपियों के हृदय में काम अङ्कुरित हुआ त्योंहि उसके बर्धन के लिए उन्होंने वंशी के ध्वनि बजाई। योगमाया से उद्भूत आकाश में वह वंशी-ध्वनि प्रतिष्ठित हो गयी। हे प्रिये ! उसी वंशी की ध्वनि को उन गोपियों ने प्रथमतः सुना ॥ २८-२९ ॥

अधरामृतसंसिक्तवेणुनादः सहानिलः ।
प्रविश्य कर्णरन्ध्रेण हृच्छयं समतेजयत् ॥ ३० ॥

अधर रूपी अमृत से ससिक्त वेणु के नाद ने वायु के सहित उनके कर्ण रन्ध्रों में प्रविष्ट होकर हृदय में सोये हुए काम को दीप्ति युक्त किया ॥ ३० ॥

ततस्ताः सहसा हित्वा शयनासनभोजनम् ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति विश्रुताः ॥ ३१ ॥
श्रुतिरूपा कुमार्यश्च आजग्मुर्नादमोहिताः ।
निषिद्धा अपि यत्नेन बन्धुवर्गैरनेकधा ॥ ३२ ॥

उसके बाद वे सभी सहसा शयन, आसन एवं भोजन छोड़कर सात्विकी, राजसी और तामसी नाम से—ये श्रुति रूप कुमारियाँ उसी वंशी नाद से मोहित होकर, यद्यपि बन्धु-बान्धवों ने बहुत प्रयत्न करके रोका, फिर भी वे, वहाँ आ गयीं ॥ ३१–३२ ॥

न निवृत्ता यथा वेगः सरितामर्णवं प्रति ॥ ३३ ॥

वे उसी प्रकार न रुक सकीं जैसे समुद्र की ओर जाने वाली नदी के वेग को नहीं रोका जा सकता ॥ ३३ ॥

बलात् रुद्धा अपि जहुः प्राणान् विरहकर्षिताः ।
काश्चिद्गोप्यः क्षणादेव दिव्यदेहाः समाययुः ॥ ३४ ॥

यदि बलपूर्वक वे रोक भी दी गयीं तो विरह से कर्षित होकर उन्होंने अपने प्राण छोड़ दिए और कुछ गोपियों ने क्षण में ही दिव्य शरीर प्राप्त कर लिया ॥ ३४ ॥

पुरः प्रकाशः पश्चात्तु शून्यमासीत् व्रजस्त्रियः ।
प्रविष्टा मण्डलं सर्वा योगमायिकमुत्तमम् ॥ ३५ ॥

उन व्रजस्त्रियों के सामने प्रकाश था और पीछे शून्य था । उन सभी ने योगमाया के उत्तम मण्डल में प्रवेश किया ॥ ३५ ॥

कुमार्यो द्वादश प्रोक्ताः सहस्राणि तथा पराः ।
तावन्त्यः किल विज्ञेयाः श्रुत्वा वेणुरवं निशि ॥ ३६ ॥

वे सभी कुमारियाँ बारह हजार कही गयीं हैं । उतनी ही हमें जाननी चाहिए जो रात में वेणु के स्वर को सुनकर वहाँ आयीं ॥ ३६ ॥

चत्वारिंशत्तु यूथानि तासां प्रोक्तानि योषिताम् ।
तासां द्वादशसाहस्री संख्या सयोगभावतः ॥ ३७ ॥

उन युवतियों का चालीस-चालीस का एक समूह कहा गया जिनकी संख्या संयुक्त होने से बारह हजार कही गयी है ॥ ३७ ॥

प्रियसङ्गार्हमेतासां माया वेषमरीरचत् ।
भूषामालाम्बराण्यासन् लोकसिद्धेतराणि च ॥ ३८ ॥

माया से इनकी वेष रचना प्रिय के सङ्गम के योग्य बनायी गयी थी । उनके आभूषण, मालाएँ और वस्त्र तथा अन्य सभी कुछ दिव्य लोक के योग्य थी ॥ ३८ ॥

समानवेषाभरणाः सर्वाः सवयसः प्रिये ।
समचित्ताः समरसाः कृष्णस्य निकटं ययुः ॥ ३९ ॥

हे प्रिये ! सभी गोपियाँ समान वेष और आभूषण पहने हुए सभी एक ही उम्र की थीं । वे सभी समान चित्त वाली और एक ही समान रस में सराबोर कृष्ण के निकट गयी ॥ ३९ ॥

वेदस्थित्यर्थमेवासौ क्रीडन्नपि समाहितः ।
मर्यादामुक्तवान् वाचा वागासीत्कारणोदया ॥ ४० ॥

समाहित चित्त क्रीडा करते हुए भी ये वेद स्थित अर्थ ही थीं । वाणी ही उदय का कारण है । अतः वाणी से ही उन्होंने मर्यादा को कहा ॥ ४० ॥

न निषिद्धाः स्वरूपेण स्वरूपं वागगोचरम् ।
रसभोक्तृरसात्मत्वं विरुद्धेदान्यथा प्रिये ॥ ४१ ॥

वह स्वरूप से निषिद्ध नहीं थीं। क्योंकि स्वरूप की प्रतीति वाक् से होती है। वस्तुतः हे प्रिये ! रस का भोक्ता और रसात्मत्व दोनों ही विरुद्ध और अलग धर्म हैं ॥ ४१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

किमर्थमागताः सर्वाः मिलिताश्च परस्परम् ।
रात्र्यामघटमानं तु वनेष्वागमनं स्त्रियः ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

आप सभी परस्पर एक दूसरे के साथ मिलकर यहाँ क्यों आयी हैं ? क्योंकि रात्रि में वन में स्त्रियों का आना अप्रत्याशित घटना है ॥ ४२ ॥

स्त्रीधर्मं सहसा हित्वा भर्तृसेवामयं शुभम् ।
ऐहिकं पारलौकिक्यं स्त्रियो नाशयति ध्रुवम् ॥ ४३ ॥

शोभनीय पति की सेवा रूप स्त्री के धर्म को सहसा छोड़कर आप लोगों ने इस लोक और परलोक को निश्चय ही नष्ट किया है ॥ ४३ ॥

येन संतुष्यते भर्त्ता स धर्म उचितः स्त्रियः ।
तं विहाय ध्रुवं नारी पतत्येव न संशयः ॥ ४४ ॥

स्त्रियों के लिए वही उचित धर्म है जिससे पति सन्तुष्ट हों। उसे छोड़कर निश्चित ही नारी (पातिव्रत धर्म से) पतित होती ही हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ४४ ॥

तस्माद्व्रजं स्त्रियो यात मदुक्त्या यन्त्रिताशयाः ।
गोप्यस्तद्वाक्यमाकर्ण्य तीक्ष्णं हालाहलोपमम् ॥ ४५ ॥
किं वज्रनिर्घातहता इव पेतुः क्षितेस्तले ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीपञ्चरात्रे माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे गुप्तसारे
शिवोमासंवादे त्रयोदशं पटलम् ॥ १३ ॥

———*———

इसलिए मेरी उक्ति से यन्त्रित आशय को समझकर सभी स्त्रियों को व्रज चला जाना चाहिए। किन्तु गोपियों ने उनके विष सदृश तीखे वाक्यों को सुनकर वज्र की चोट से आहत होने के समान पृथ्वी तल पर गिर पड़ी ॥ ४५–४६ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के तेरहवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १३ ॥

———*———

अथ चतुर्दशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

देवेश परमेशान धूर्जटे नीललोहित।
ततः किमभवत्तत्र तन्मे ब्रूहि सदाशिव ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे देवताओं के ईश, परम ईशान, धूर्जटि, नीललोहित, हे सदाशिव उसके बाद फिर क्या हुआ ? उसे मुझे बताइए ॥ १ ॥

शिव उवाच—

रूक्षं वचनमाश्रुत्य सहसा जातसम्भ्रमाः।
गतप्राणा इवासंस्ताः प्राणरूपी प्रियोऽभवत् ॥ २ ॥

शिव ने कहा—

इस प्रकार के एकाएक रूखे वचनों को सुनकर वे अत्यन्त सम्भ्रमित हुईं। वे उस समय प्राण के निकल जाने के समान सी हो गईं। उस समय मात्र प्रिय ही प्राण के आधार हुए ॥ २ ॥

दुःखाकुला रुद्धवाचो निरुछ्वासा व्रजस्त्रियः।
अश्रूण्यमुञ्चन्नेत्रेभ्यस्तापेनोष्णतराणि च ॥ ३ ॥

दुःख से व्याकुल और निरुद्ध कण्ठ होकर साँस प्रश्वास से लेते हुए व्रज की स्त्रियाँ (विरह से) अत्यन्त तप्त होकर अपनी आँखों से गरम-गरम आसूँ बहाने लगी ॥ ३ ॥

अब्रुवन् धैर्यमालम्ब्य तामस्यो विरहातुराः।
किमेवं भाषसे कृष्णविचाररहितं वचः ॥ ४ ॥

उन विरह से आतुर गोपियों ने धैर्य धारण कर इनसे इस प्रकार कहा—हे कृष्ण ! इस प्रकार विचाररहित वाणी आप क्यों बोलते हैं ? ॥ ४ ॥

अविचारितवक्तारो लोके मूर्खा इति स्थिताः।
तस्माद्विचार्य वक्तव्यं सर्वज्ञोऽसि यतः स्वयम् ॥ ५ ॥

बिना विचार के बोलने वाले लोक में 'मूर्ख' कहे जाते हैं। इसलिए, क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं, अतः विचार कर बोलना चाहिए ॥ ५ ॥

वयं गोप्यो भवद्दास्यस्त्वच्चित्तास्त्वत्परायणाः ।
त्वत्प्राणास्त्वन्मयाः कृष्ण नान्यत्पश्यामि किञ्चन ।। ६ ।।

हम गोपियाँ आपकी दासी हैं, तुम्हारा चित्त हैं और हम तुम में ही परायण हैं । हम तुम्हारे प्राण है, यहाँ तक कि हम गोपियाँ तुम-मय ही हैं । अतः हे कृष्ण ! तुमसे अलग करके हम और कुछ भी नहीं देख रहीं हैं ।। ६ ।।

नास्माकं पतयः पुत्रा भ्रातरो न च बान्धवाः ।
वयं त्वदेकशरणाः त्वन्न्यस्तात्मकलेवराः ।। ७ ।।

हमारे न पति हैं, न पुत्र, न भाई, और न तो बन्धु ही हैं । हम सब के लिए तो तुम्ही एकमात्र शरण हो, हम लोगों का शरीर तुम्हारा ही है ।। ७ ।।

अहं स्त्री मत्पतिश्चायमिति यासां मतिः स्थिता ।
तासामयं परो धर्मो यस्त्वया चोपदिश्यते ।। ८ ।।

'मैं स्त्री हूँ' 'आप मेरे पति हैं' यही जिस बुद्धि में स्थित हैं वही यह मेरा श्रेष्ठ धर्म है और जो आप से उपदिष्ट है ।। ८ ।।

यस्याधिकारो यद्धर्मे त्यजेत्त न कदाचन ।
नोचेत्सन्न्यासिनः कुर्युः कथं न गृहिवादिनाम् ।। ९ ।।

जिसका अधिकार जिस धर्म में है उसे कभी भी नहीं छोडना चाहिए । गृहस्थी करने वालों को क्या सन्यासिनी बनाना ठीक है ।। ९ ।।

देहातीता गृहातीता लोकातीता वयं प्रभो ।
त्वामेव शरणं प्राप्ताः कथमर्हन्ति लौकिकम् ।। १० ।।

फिरभी हमलोग देह से परे और गृह से परे और यहाँ तक कि लोक से भी परे हैं, क्योंकि हमलोगों ने तो तुम सर्वेश्वर भगवान् की शरण प्राप्त कर ली है । अतः क्या लौकिक लोगों के यह योग्य है ।। १० ।।

विकारेऽहमिति भ्रान्तिः पुत्रदारधनादिषु ।
तदध्यासवशात्तेषां देहधर्माधिकारिता ।। ११ ।।

वस्तुतः विकार आने पर 'हम' का भान भ्रान्ति वशात् पुत्र, स्त्री और धन में प्राप्त हो जाता है । उसी के अध्यास के कारण उनमें देह धर्म का मान होता है ।। ११ ।।

प्रवृत्ते ह्यधिकारे तु धर्मं लुम्पति यः खलः ।
पतत्येव न सन्देहो यतः स वासनान्तरे ।। १२ ।।

उस अधिकार में प्रवृत्त होकर भी जो खल धर्म को भुला देता है वह निःसन्देह रूप से अन्य तुच्छ वासना (के गर्त) में गिर जाता है ।। १२ ।।

अहं ममायमित्येषः पतिपुत्रादिषु स्थितः ।
समूलमाग्रहो नष्टः कथं तत्र नियुञ्जसि ॥ १३ ॥

पति और पुत्रों में 'मैं हूँ' और 'यह मेरा है'—ऐसी बुद्धि स्थित करने से उसका समूल नाश हो जाता है वहाँ नियोग कैसे--? ॥ १३ ॥

न प्रेम्णि बाधकं किञ्चित्प्रेमस्थितिरलौकिकी ।
वयं प्रेमसमाकृष्टा निशि प्राप्ता वनान्तरे ॥ १४ ॥

प्रेम में कोई भी वस्तुतः बाधक नहीं होता । प्रेम की स्थिति तो अलौकिक ही है । इसलिए रात्रि होने पर भी हमलोग प्रेम के कारण इस वनान्तर में प्राप्त हुई हैं ॥ १४ ॥

अविद्वानिव तद्विद्वानपि त्वं किं प्रजल्पसि ।
लोकवेदपथांस्त्यक्त्वा समूलान्विपिनान्तरे ॥ १५ ॥

निशि स्त्रियो वयं प्राप्तास्ता अपि त्यजता त्वया ।
विनाशिता प्रेमरीतिः कृतघ्नत्वमुपार्जितम् ॥ १६ ॥

मैं अनजान हूँ । फिर विद्वान् होकर भी आप यह क्या कह रहे हैं ? लौकिक वेद के पथ को मूल सहित छोड़कर विपिनान्तर में और मध्य रात्रि में हम लोग यहाँ आई हैं और उन्हें भी आप परित्यक्त कर रहे हैं । प्रेम की रीति का तुमने तो विनाश कर दिया और तुमने कृतघ्नत्व को प्राप्त कर लिया है ॥ १५-१६ ॥

वयं तु न गमिष्यामस्त्यक्तसर्वपरिग्रहाः ।
विरहाग्नौ तनूर्हुत्वा त्वामेष्यामो न संशयः ॥ १७ ॥

हम लोग सभी घर-बार आदि परिग्रहों को छोड़कर आई हैं अतः अब लौटकर नहीं जाऊँगी । इतना ही नहीं बल्कि विरह की अग्नि में अपने शरीर को जलाकर निसन्देह हम लोग आपको ही प्राप्त कर लूँगी ॥ १७ ॥

तस्माद्भजस्व गोविन्द नोपेक्ष्या गोपिका वयम् ।
त्यजाग्रहमिमं कृष्ण प्रेमरीतिं समाश्रय ॥ १८ ॥

इसलिए हे गोविन्द ! हम लोगों को स्वीकार करो ! हम गोपिकाएँ उपेक्षा के योग्य नहीं हैं । हे कृष्ण ! इस प्रेम की रीति के संक्षिप्त आग्रह का त्याग न करो ॥ १८ ॥

इत्यावेदितमाकर्ण्य गोपिकानां यथार्थतः ।
वचः पीयूषधाराभिस्तासामाह्लादयन्मनः ॥ १९ ॥

उवाच वचनं कृष्णो मधुरस्मितवीक्षणः ।
धन्यातिधन्या भो गोप्यो यूयं मत्प्राणवल्लभाः ॥ २० ॥

इस प्रकार गोपियों का यथार्थ निवेदन सुनकर उनके मन को अपने वाणी रूपी अमृत की धाराओं से आह्लादित करते हुए भगवान् कृष्ण ने मधुर मुस्कान और आवेक्षण से युक्त वचन कहा—हे गोपियों ! तुम धन्यों में भी अत्यन्त धन्य हो जो मेरी प्राणवल्लभा हो ॥ २० ॥

न निवार्याः कदाचिद्वा भवत्प्राणमयेन मे ।
निषेधो वाग्विलासोऽथो मयि युज्ज्यो न कर्हिचित् ॥ २१ ॥

तुम मेरी प्राणमय होने के कारण कभी भी निवारित करने योग्य नहीं हो । 'मेरे में कभी भी तुम युक्त न होवो'—यह निषेध तो मेरा वाणी का विलास है ॥ २१ ॥

जानेऽहं भवतीः प्रेमबद्धा एव मयि स्फुटम् ।
त्वद्वचः श्रोतुकामत्वान्निषेधोऽयं न वास्तवः ॥ २२ ॥

मैं यह जानता हूँ कि आप सब 'मुझसे प्रेम से आबद्ध हैं ।' यह निषेध वास्तविक नहीं है । यह तो आप लोगों की वाणी को सुनने की इच्छामात्र से ही किया गया था ॥ २२ ॥

जिज्ञासूनामसन्दिग्धो रूपितो धर्मनिर्णयः ।
पतिसेवापरं शास्त्रं मामेव पतिरूपिणम् ॥ २३ ॥

जिज्ञासुओं के लिए धर्म का निर्णय असंदिग्ध रूप से निरूपित किया गया है । शास्त्रों के वचन स्त्रियों के लिए पति सेवापरक ही हैं और मैं ही पति रूप हूँ ॥ २३ ॥

निरूपयत्यलब्धत्वाद् भावनामात्रमन्यतः ।
भवतीनां पतिस्तस्मादहमेव सनातनः ॥ २४ ॥

वस्तुतः मेरे अलभ्य होने के कारण ही दूसरे में मुझ पति की भावना मात्र को निरूपित करता है । इसलिए आप सब का मैं ही सनातन पति हूँ ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा मध्यगस्तासां रेमे रामाभिरन्वितः ।
पृथगालिंग्य ताः सर्वा बिम्बाधरसुधां पपौ ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर युवतियों से घिरे हुए उनके बीच में उन्होंने रमण किया । पृथक् पृथक् उन सभी का आलिंगन करके बिम्ब के समान अधरामृत का पान किया ॥ २५ ॥

हासयन् प्रहसन् कृष्णो नानाक्रीडाकुतूहलैः ।
नीवीराकर्षयन्कासां कासामास्यं पिबन्नपि ॥ २६ ॥

हँसाते हुए और हँसते हुए कृष्ण ने नाना प्रकार के क्रीडा-कुतूहलों से किन्हीं की नीवी को खींचते हुए और किन्हीं का अधरामृत भी पीते हुए रमण किया ॥ २६ ॥

आलिङ्गतीर्विहायान्या अन्यां आलिङ्गयन्नपि ।
पिबन्नधरपीयूषं कासाञ्चिद्ददद्भिराद्यशत् ॥ २७ ॥

एक के द्वारा आलिङ्गन किए जाकर, उसे छोड़कर दूसरे दूसरों का भी आलिङ्गन करते हुए, अधरामृत का पान करते हुए उन्होंने पुनः किसी गोपिका को दन्त क्षत किया ॥ २७ ॥

सीत्कृतान्यसृजन् गोप्यः अर्द्धमीलितलोचनाः ।
एवं रसवशः कृष्णो रेमे तन्मण्डले प्रभुः ॥ २८ ॥

उस समय अर्धनिमीलित नेत्रों वाली उन गोपियों ने सीत्कार किया। इस प्रकार रस के वशीभूत प्रभु भगवान् कृष्ण ने उनके मण्डल में रमण किया ॥ २८ ॥

अत्यातुरमिति ज्ञात्वा कृष्णं स्ववशमागतम् ।
मेनिरे गोपिकाः सर्वाः स भावोऽपि रासात्मकः ॥ २९ ॥

कृष्ण को अत्यन्त आतुर और अपने वश में आया जानकर सभी गोपियों ने उस रसात्मक भाव को भी मान प्रदान किया ॥ २९ ॥

रसः परिणतः सोऽयं मानरूपेण निश्चितम् ।
एषा शृङ्गारमर्य्यादा रसशास्त्रनिरूपिता ॥ ३० ॥

वही यह निश्चित रूप से मानरूप में परिणत हो गया। यही शृङ्गार की मर्यादा है जो रसशास्त्र के आचार्यों द्वारा बतलाई गई है ॥ ३० ॥

कारण शृणु तत्रापि यन्न वाच्यं कथञ्चन ।
अक्षरस्य दिदृक्षाय या पूरणार्थमपेक्षिता ॥ ३१ ॥

उसमें भी, हे देवि ! तुम उसका कारण सुनो, जो किसी भी प्रकार दूसरों से कहने योग्य नहीं है। अक्षर के देखने की इच्छा के लिए तथा सम्पूर्णता के लिए यह अपेक्षित है ॥ ३१ ॥

अन्तर्द्धानं च तत्रापि मानो हेतुतयोद्गतः ।
अथ मानवतीर्वीक्ष्य तासामेव हृदि प्रभुः ।
रसरूपो विलीनोभून्मानमुत्सादयन्निव ॥ ३२ ॥

वहाँ भी उनका अन्तर्द्धान हो जाना मान के हेतु से उद्गत है। इसलिए उन गोपियों को मानवती देखकर उन्हीं के हृदय में रसरूप प्रभु श्री कृष्ण मानो मान को हटाते हुए विलीन हो गए ॥ ३२ ॥

अक्षरस्य मनोवृत्तिरावेशरहिता पुनः ।
स्थानं प्राप्ता रासलीलावासनावासिता सती ।। ३३ ।।
तया विहितविज्ञानो मण्डलस्थमतर्कयत् ।
एवं ददर्श भगवान् रासक्रीडामहोदयम् ।। ३४ ।।

। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
चतुर्दशं पटलम् ।। १४ ।।

—*—

इस प्रकार उस अक्षर रूप परब्रह्म परमात्मा श्री कृष्ण की मनोवृत्ति पुनः आवेश से रहित हो गई और रास लीला को वासना से सुवासित होती हुई स्थान प्राप्त किया। उन गोपियों के द्वारा विशिष्ट प्रकार के ज्ञान से अपने मण्डल में विचार विमर्श किया गया। इस प्रकार भगवान् ने रासक्रीडा के महान् उत्सव को देखा ।। ३३-३४ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के चौदहवें पटल की डॉ॰ सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १४ ।।

—*—

अथ पञ्चदशं पटलम्

शिव उवाच—

अन्तर्भूते परमानन्दे द्विधा च हृदि मण्डले।
अदृष्ट्वा निजनाथं तमतप्यन्विरहातुराः॥ १॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

उन दो प्रकार के हृदयावस्थित और मण्डलावस्थित सर्वोत्कृष्ट आनन्द के अन्तर्भूत हो जाने पर और अपने उन स्वामी को न देखकर उनके विरह में वे अत्यन्त आतुर हो संतप्त होने लगीं॥ १॥

मनस्यानन्दसम्पूर्णे लतावृक्षादिषु स्फुटम्।
चैतन्यस्फूर्त्तिरभवत्ततोऽपृच्छंस्तरूँल्लताः॥ २॥

लता और वृक्ष आदि में स्फुट रूप से आनन्द की पूर्णता होने से उनमें भी चैतन्य का स्फुरण हो गया। मन के आनन्द से पूर्ण होने के कारण ही उन गोपियों ने उन वृक्षों और लताओं से 'श्री कृष्ण को देखा है'—ऐसा पूँछा॥ २॥

यो नादादुत्तरं तं तं निनिन्दुर्धृतनिश्चयाः।
कृष्णावेशात् कृष्णभावं गताः कृष्णोऽहमूचिरे॥ ३॥

जो नाद ब्रह्म से पर हैं उन ब्रह्म की भी निश्चय धारण करके निन्दा की। भगवान् कृष्ण का वेश धारण करने से कृष्ण के भाव को प्राप्त उन गोपियों ने 'मैं कृष्ण हूँ' 'मैं कृष्ण हूँ'– इस प्रकार कहा॥ ३॥

एवं नानाविधा लीलाः कुर्वन्त्यो विरहातुराः।
तामसीशिक्षया सर्वा एकीभूत्वाथ यूथशः॥ ४॥

इस प्रकार अनेक प्रकार की लीलाओं को करती हुई वे कृष्ण के विरह में आतुर हो गईं। तामसी शिक्षा से अभिभूत होकर वे सभी एकीकृत होकर एक एक झुण्ड में आ गईं॥ ४॥

व्रजस्य लीलानुकृतिं चक्रुस्तत्प्राप्तिसाधनम्।
पूतनावधमारभ्य यावद्दाम्ना निबन्धनम्॥ ५॥

वहाँ उन ब्रह्म की प्राप्ति के लिए लीला रूप साधन को व्रज की लीलाओं की अनुकृति में करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने वहाँ पर पूतना के वध से लेकर दामा के निबन्धन तक की कृष्ण-लीला की॥ ५॥

व्रजलीला[1] विधेर्भावविश्वित्तगो[2]ऽभूत्परात्मनः ।
नित्याखण्डा व्रजस्येयं लीला वेदेनुवर्णिता ॥ ६ ॥

[इस स्थल पर नवरङ्ग स्वामी का मत है कि रासलीला के अवसान में जल क्रीडा के अनन्तर जब भगवान् यमुना जी के तट पर मण्डप में सखियों के मध्य विराजमान थे तब सखियों के समूह ने यह कहा कि 'आप के अन्तर्हित होने पर हम लोगों ने विरह के समय सभी व्रज लीला कर डाली'—तब भगवान् ने भी सम्पूर्ण व्रज लीला का स्मरण किया] उस श्रेष्ठ व्रज लीला के स्मरण से वह भाव विभोर हो गए । क्योंकि वेद में वर्णित व्रज की यह लीला नित्य और अखण्ड हैं ॥ ६ ॥

पुनरक्षरचित्तवृत्तिराविष्टाविबभौ ततः ।
सखीनां मण्डलादेव विस्मितोदारमुखाम्बुजः ॥ ७ ॥

तब सखियों के मण्डल के मध्य में ही विस्मित और उदार मुख कमल वाले उन कृष्ण की अक्षर रूप चित्तवृत्ति पुनः आविर्भूत हुई ॥ ७ ॥

तडित्प्रकाशवसनस्तारहारविराजितः ।
स्फुरत्कटाक्षमालाभिः सुधाभिरिव शीलयन् ॥ ८ ॥

उन भगवान् का स्वरूप विद्युत के प्रकाश से जाज्वल्यमान था । वस्त्रों और हार से युक्त वे शोभित थे तथा कटाक्षों की शृङ्खलाओं से अमृत की मानों वर्षा कर रहे थे ॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा विरहाक्रान्ता दुःखमात्यन्तिकं गताः ।
पुनरानन्दसन्दोहमग्ना एव हि केवलम् ॥ ९ ॥

उन सखियों को विरह में पड़ी हुई और अत्यन्त दुःख में पड़ी हुई देखकर और पुनः आनन्द के समुद्र में ही निमग्न देखा ॥ ९ ॥

रुदन्तीनां मुखान्यश्रुप्रवाहकलुशान्यपि ।
स्ववस्त्राञ्चलमादाय करेणामृजदच्युतः ॥ १० ॥

क्योंकि उन भगवान् अच्युत ने स्वयं ही अपने पीताम्बर के अञ्चल से रोती हुई तथा मुख पर अश्रु की बहती धारा को पोंछकर मलिन मुख को भी साफ कर दिया ॥ १० ॥

---

१. 'व्रजलीलाविभवतश्चित्तगो' इत्यपि पाठः ।

२. रासलीलावसाने जलक्रीडानन्तरं श्रीयमुनातटमण्डपस्थसखीमध्यगतः भगवान् स्मृतरासमध्यान्तर्धानेन सखीगणेन अन्तर्हिते भवति मया सम्पूर्णतया व्रजलीला कृतेति' यदा विज्ञापितस्तदैव सम्पूर्णव्रजलीलां स्मृतिपथारूढां कृतवानिति सम्प्रसादो नवरङ्गस्वामी किलाज्ञापयति ।

आलिङ्गनानि चुम्बानि नानाभावनिदर्शनम् ।
चकार भगवांस्ताभी रसलीलामहोदयम् ।। ११ ।।

बार-बार आलिङ्गन और चुम्बन तथा नाना प्रकार के भावों को दिखाते हुए भगवान् ने उनके साथ महान् रस लीला की ।। ११ ।।

सखीभिर्विरहे दुःखमनुभूतमभूच्च यत् ।
तच्चानन्दसुधाम्भोधौ विलापितमभूदहो ।। १२ ।।

सखियों द्वारा विरह में जो जो अनुभव हुआ था उसका आनन्द के सुधा समुद्र में उन्होंने विलाप किया ।। १२ ।।

जलक्रीडां ततश्चक्रे यमुनाया जले शुचौ ।
तीरे स्थित्वा पुनर्गोप्यो विवादांश्चक्रिरे ततः ।। १३ ।।

उसके बाद यमुना के शुद्ध जल में जलक्रीडा की । उस यमुना के तीर पर पुनः बैठकर उन गोपियों में पुनः विवाद हुआ ।। १३ ।।

समाहिता भगवता परमानन्दसम्प्लुताः ।
इत्येषा रासलीलायाः स्थितिः प्रोक्ता तवानघे ।। १४ ।।

परम आनन्द में विभोर होकर समाहित चित्त उन भगवान् ने, हे निष्पाप ! इस रासलीला की स्थिति को तुम्हारे लिए कहा ।। १४ ।।

शिव उवाच—

अवशिष्टस्य कामस्य सखीनां पूरणाय च ।
आविश्चकार कालमायां पुनस्तां पुरुषोत्तमः ।। १५ ।।

शिव ने कहा—

उन पुरुषोत्तम ने शेष बचे हुए सखियों के काम की पूर्ति के लिए कुछ काल के लिए पुनः माया का आवरण डाल दिया ।। १५ ।।

अपश्यदक्षरः स्वप्नं कालमायाविजृम्भितम् ।
प्रातर्नन्दगृहे सुप्तः प्रबुद्धोऽस्मीति निश्चितम् ।। १६ ।।

कालमाया के विजृम्भण से अक्षर ने स्वप्न देखा । नन्द के घर पर सोए हुए वे प्रातःकाल उठे हैं ऐसा उन्हें जान पड़ा ।। १६ ।।

सखीश्च ददृशे सर्वा गोपगेहेभ्य उत्थिताः ।
न मूलावेशतः किञ्चित् कूटस्थस्यैव वासनाः ।। १७ ।।
उज्जृम्भिता बहुविधा तदद्भुतमिवाभवत् ।
कुमार्य्यः श्रुतयश्चापि कालमायाप्रपञ्चगाः ।। १८ ।।

सखियों ने भी स्वप्न देखा कि वे भी गोपों के घर में सवेरे उठी हैं। किन्तु कूटस्थ की वासना कुछ भी विचलित नहीं हुई। बहुत प्रकार से भी जम्भाइ आने पर बड़ा अद्भुत सा हुआ कि गोप कुमारी श्रुतियाँ भी कालमाया के प्रपञ्च में आ गईं॥ १८ ॥

अत्युग्रविरहावेशादुद्धवस्यापि शिक्षया।
कूटस्थान्तर्हृदि स्फूर्जद्व्रजलीलारसोदधौ ॥ १९ ॥

उद्धव की शिक्षा से और अत्यन्त विरह के आवेश से कूटस्थ के अन्तःकरण में में व्रजलीला का रस समुद्र निकल पड़ा॥ १९ ॥

निम्नगा इव तिष्ठन्ति तच्चित्तस्य रसस्पृशः।
अथ कंससमदिष्टो ह्यक्रूरो गोकुलं गतः ॥ २० ॥

नदी किनारे बैठी हुई उनके चित्त के रस का स्पर्श करती वे स्थित थी। इसके बाद कंस के आदेश से अक्रूर गोकुल गए॥ २० ॥

तेन साकं गते कृष्णे गोपिका विरहातुराः।
दुःखेन निन्युर्दिवसान् तत्कथा[1] ख्यापनादिभिः॥ २१ ॥

उनके साथ कृष्ण के चले जाने पर गोपियाँ विरह से व्याकुल हो गई। उन्होंने उन विरह के दिनों में उन भगवान् कृष्ण की लीलाओं का परस्पर कथन करते हुए अत्यन्त दुःख से दिनों को बिताया॥ २१ ॥

हत्वा कंसं मल्लयुद्धे चाणूरं मुष्टिकं तथा।
बद्धकच्छोल्लसद्धूलिधूसरश्चासृगांकितः॥ २२ ॥

कंस चाणूर और मुष्टिक नामक दैत्यों को मल्लयुद्ध में मारकर वे लंगोट पहने धूलि धूसरित होकर शोभित हुए॥ २२ ॥

पश्यतां सर्वलोकानां प्राप्तः कारागृहं गृहम्।
देवकी वसुदेवश्च यत्रैवासतुरुत्सुकौ॥ २३ ॥

वे सभी लोकों के देखते-देखते उस कारागार में पहुँच गए जहाँ देवकी और वसुदेव बड़ी ही उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे॥ २३ ॥

ववन्दे चरणौ मातुः पितुः प्रणयविह्वलः।
बद्धाञ्जलिर्जगादेदं क्षम्यतामिति मां प्रति॥ २४ ॥

अत्यन्त प्रेम से विह्वल होकर माता और पिता के चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़कर फिर कहा कि—'आप मुझे क्षमा कर दें॥ २४ ॥

---

१. तत्कथेल्लापनादिभिरित्यपि पाठः।

प्रसाद्य पितरं कृष्णो मातरं च विशेषतः।
यमुनायां ततः स्नात्वा शुचिदिव्याम्बरं दधौ। २५ ॥

पिता को और विशेषतः माता को कृष्ण ने प्रसन्न करके यमुना में तब स्नान करके शुद्ध-दिव्य वस्त्रों को पहना ॥ २५ ॥

जरासन्धादिकान् हत्वा समुद्वाह्य सुलोचनाः।
षोडशैव सहस्राणि शतमष्टोत्तरं तथा ॥ २६ ॥

जरासन्ध आदि राक्षसों को मारकर और सुलोचनों वाली सोलह हजार एक सौ आठ कन्याओं से विवाह किया ॥ २६ ॥

हत्वासुरभरं पृथ्व्याः यादवैरुपबृंहितम्।
भारं जिहीर्षुर्भगवान् कुले शापमपातयत् ॥ २७ ॥

असुरों को मारकर पृथ्वी का भार भगवान् ने उतार दिया। जब यादवों से सम्पूर्ण पृथ्वी उपबृंहृत हो गई, तब उन्हीं को शाप में डाल दिया ॥ २७ ॥

शापदग्धधियः सर्वे यादवाश्च परस्परम्।
विनेशुर्भगवांस्तत्र प्रभासे रहसि स्थितः ॥ २८ ॥

शाप से दग्ध बुद्धि वाले उन यादवों ने परस्पर ही लड़कर एक दूसरे का विनाश कर डाला। तब भगवान् गुप्त रूप से प्रभास क्षेत्र में चले गये थे ॥ २८ ॥

चतुर्भुजः कञ्जपलाशलोचनः
पीताम्बरः कौस्तुभशोभिताकृतिः।
स्वपाञ्चजन्याम्बजचक्रसद्गदः
प्रगल्भसङ्गीतगुणो बभौ हरिः ॥ २९ ॥

भगवान् की चार भुजाएँ और कमल के पत्तों के समान लोचन थे। शरीर पर पीताम्बर और कौस्तुभमणि शोभित हो रहे थे। उनके हाथों में उनका अपना पाञ्चजन्य नामक शङ्ख, कमल, चक्र और सुन्दर गदा थी। इस प्रकार उदात्त गुणों से युक्त भगवान् विष्णु शोभित थे ॥ २९ ॥

व्याधेन शरसंस्पृष्टः पादे मृगविशङ्कितः।
वैकुण्ठमगमत्साक्षद्धारिः कमललोचनः ॥ ३० ॥

कमल के समान लाल वर्ण के पैर को दूर से देखकर एक व्याध ने मृग समझकर बाण चला दिए। इस प्रकार साक्षात् रूप से कमललोचन भगवान् हरि बैकुण्ठ को चले गए ॥ ३० ॥

कालामायागृहीताङ्गा मूलसख्यस्तुयाः स्थिताः ।
ता अपि स्वप्नलीलायां विचित्राकृतयोऽभवन् ।। ३१ ।।

कालमाया से गृहीत अङ्गों वाली मूल रूप से जो सखियाँ स्थित थी वे भी स्वप्न लीला में विचित्र आकृति वाली हो गई ।। ३१ ।।

तद्वासनास्तासु लीना भविष्यन्ति यदा प्रिये ।
बोधमाप्स्यति कूटस्थः प्रलयोऽयं महान् शिवे ।। ३२ ।।

हे प्रिये ! उनकी वासना जब उनमें लीन होंगी तब कूटस्थ [ब्रह्म] प्रबुद्ध होगा। हे शिवे ! यही महान् प्रलय है ।। ३२ ।

मोहनाशे भविष्यन्ति सर्वे ब्रह्ममया इमे ।
इत्येतत्ते समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया शिवे ।। ३३ ।।

जब उनका मोह नाश होगा तब ये सभी [श्रुति रूपा] गोपियाँ ब्रह्ममय हो जायँगी। हे शिवे ! यह रहस्य तुम्हारे लिए मैंने उद्‌घाटित किया है जो तुमने पूँछा है ।। ३३ ।।

गुह्याद् गुह्यतरं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघे ।
गोपितव्यं प्रयत्नेन जननीजारगर्भवत् ।। ३४ ।।

।। इति माहेश्वरतन्त्रे ज्ञानखण्डे शिवोमासंवादे
पञ्चदशं पटलम् ।। १५ ।।

—:*:—

हे अनघे ! मैंने गुह्य से भी गुह्य इस शास्त्र को तुमसे कहा है। इसलिए इसे व्यभिचरित सन्तान के समान छिपाना चाहिए ।। ३४ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के पन्द्रहवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १५ ।।

—:*:—

अथ षोडशं पटलम्

देवेश भगवन् शम्भो यत्त्वयोक्तमलौकिकम् ।
तच्छ्रुत्वा हृदय मेद्य मज्जते विस्मयोदधौ ।। १ ।।

देवी पार्वती ने कहा—

हे देवों के ईश, भगवन्, शम्भु (जगत् का कल्याण करने वाले) जो आपने यह अलौकिक (कृष्ण की रास लीला की) बात कही है, उसे सुनकर आज मेरा हृदय विस्मय के सागर में स्नान कर रहा है अर्थात् मैं इस रास को सुनकर बहुत अश्चर्यान्वित हुई हूँ ।। १ ।।

तत्रोक्तं यत्त्वया देव प्रिया भगवतस्तु याः ।
कामशेषानुभूत्यर्थमिहासन्निति शङ्कर ।। २ ।।

अवशिष्टः कथं कामोऽनुभूतस्ताभिरीश्वर ।
कथं वा लक्षयेयुस्ता लक्षणैरिति तद्वद ।। ३ ।।

वहाँ, हे देव ! 'जो भगवान् की प्रिया काम की शेष अनुभूति के लिए थी' जो आपने, हे देव ! यह कहा, तो हे शङ्कर (कल्याण करने वाले) ! वे अवशिष्ट प्रियाएँ कैसी थीं और उनके द्वारा काम की अनुभूति कैसे की गई ! हे ईश्वर ! वे किन लक्षणों से लक्षित थीं ? उसे कहिए ।। २-३ ।।

मर्त्यलोक गतानां च कृष्णस्त्रीणां महेश्वर ।
गुरुभावं गतोऽसि त्वं प्रोक्तवानसि यद्रहः ।। ४ ।।
योगिनो ज्ञानिनो भक्ताः कर्मनिष्ठास्तपोधनाः ।
तेषां गुरुस्त्वमाद्यो हि तत्तत्तत्त्वोपदेशकः ।। ५ ।।

हे महेश्वर ! मर्त्यलोक में गई कृष्ण की स्त्रियाँ गुरुभाव को प्राप्त हुई थीं, यह जो आपने रहस्य की बात कही, वह कुछ ठीक नहीं लग रही है क्योंकि उन योगियों, ज्ञानियों, भक्तों, कर्मयोगियों और तपोधनों से भी बड़े आप ही हैं और उन उन लोगों को तत्त्व का उपदेश करने वाले भी आप ही हैं ।। ४-५ ।।

त्वामनादृत्य ये पापाः प्रवर्त्तन्ते स्वकर्मसु ।
न तेषां जायते सिद्धिः कोटिकल्पशतैरपि ।। ६ ।।

तुम्हें छोड़कर जो पापी अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं उन्हें सौ करोड़ कल्प में भी सिद्धि नहीं प्राप्त होती है ।। ६ ।।

त्वमेव सर्वधर्माणां कर्त्ता वक्ताभिरक्षिता ।
त्वद्भक्त्यैव हि संसिद्धिर्नृणां भवति कर्मजा ॥ ७ ॥

आप ही सभी धर्मों के कर्त्ता हैं, उनके वक्ता एवं रक्षक भी आप ही हैं। तुम्हारी भक्ति से ही, कर्म से उत्पन्न मनुष्यों को सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

त्वदुक्त्या बोधमाप्स्यन्ति भूतले भगवत्प्रियाः ।
मर्त्यदेहगतानां तु गुरुभूतोऽसि शङ्कर ॥ ८ ॥

भूतल में भगवान् की उन प्रियाओं को आपकी ही भक्ति से बोध की प्राप्ति होगी। हे शङ्कर ! मर्त्य शरीर वालों के लिए आप ही गुरु हैं ॥ ८ ॥

तस्मादवश्यमेवैतदुपदेष्टव्यमीश्वर ।
मय्यपि कृपया नूनं रहस्यमिदमद्भुतम् ॥ ९ ॥

इसलिए, हे ईश्वर ! उन्हें अवश्य ही आप द्वारा उपदेश देना चाहिए। मेरे ऊपर भी कृपा करके इस अद्भुत रहस्य को कहें ॥ ९ ॥

शिव उवाच—

धन्यासि देवदेवेशि ललितं ते परं वचः ।
श्रुत्वा प्रसन्नहृदयः कथयिष्ये कथां शुभाम् ॥ १० ॥
अहं लोकगुरुः साक्षात् धर्मवक्ता जगत्त्रये ।
तं मां निन्दन्ति ये मूढास्तेषां सिद्धिः कथं भवेत् ॥ ११ ॥

शिव ने कहा—

हे देव देवेशि ! तुम धन्य हो। तुम्हारी वाणी श्रेष्ठ और ललित है जिसे सुनकर हृदय अत्यन्त प्रसन्न हुआ है। अतः मैं शुभ कथा को कहूँगा। मैं सम्पूर्ण लोक का गुरु हूँ और तीनों लोको में साक्षात् रूप से धर्म का वक्ता भी मैं ही हूँ। इसलिए जो मूर्ख मेरी निन्दा करते हैं तो उनको कैसे सिद्धि प्राप्त होगी ॥ १०-११ ॥

नानादैवतसद्भक्त्या नानाधर्मैर्व्यवस्थिताः ।
तत्र तत्रोपदेष्टाऽहं तं मां निन्दन्ति पामराः ॥ १२ ॥
किं न कुर्वन्ति ते मूढाः यतो माया महेशितुः ।
बलीयसी विमोहार्हान् विमोहयति नापरान् ॥ १३ ॥

नाना देवताओं की भक्ति करने वाले जो हैं और नाना धर्मों में व्यवस्थित जो हैं— उन उनका मैं ही उपदेष्टा हूँ। अतः पामरजन ही मेरी निन्दा करते हैं। वे मूर्ख क्या नहीं करते हैं क्योंकि वे माया से संचालित होते हैं। वह बलवान् माया, मोह से विमुख रहने वाले उन को मोहित करती है। किन्तु अन्य (मेरे परायण) को मोहित नहीं करती ॥ १३ ॥

भविता फलरूपश्च येषां धर्मः सनातनः।
ते न निन्दन्ति देवांश्च धर्मान्वेदान्मतानि च ।। १४ ।।

जिनका सनातन धर्म है, वे देवों की, धर्मों की, वेदों को और अन्य मतों को निन्दा थोड़े-ही करते हैं। इसीलिए उनकी तपस्या फलरूप में परिणत हो जाती है ।। १४ ।।

पाखण्डवादनिरता वेदधर्मविनिन्दकाः ।
नरकं प्रतिपद्यन्ते न निवर्त्तन्ति कर्हिचित् ।। १५ ।।

किन्तु जो पाखण्ड में रत हैं और जो वेद एवं धर्म की निन्दा करने वाले हैं, वे नरकगामी होते हैं तथा कभी भी वहाँ से नहीं लौटते हैं ।। १५ ।।

इदमेव लक्षणं देवि मर्त्यलोकगतासु तत् ।
अक्षरः परमात्मा च स्वभिन्नौ पुरुषावुभौ ।। १६ ।।

हे देवि ! मर्त्यलोक में जाने वाले उन मनुष्यों का यही [धर्म की निन्दा करने वाले और धर्म की निन्दा न करने वाले का] लक्षण है। वस्तुतः वह अक्षर ब्रह्म परमात्मा इन दोनों प्रकार के पुरुषों से भिन्न है ।। १६ ।।

शब्दब्रह्म परब्रह्म ह्येतदप्यद्वयं प्रिये ।
शब्दब्रह्मोदिता धर्माः कर्मज्ञानादयः प्रिये ।। १७ ।।

हे प्रिये ! क्योंकि शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दोनों एक ही है। हे प्रिये ! कर्म एवं ज्ञान आदि का तथा धर्मों का उदय शब्द ब्रह्म से ही होता है ।। १७ ।।

ते सर्वे स्वात्मबोधाय यदि कामविवर्जिताः ।
धर्माऽनुष्ठातृनिन्दाभिर्धर्मा एव विनिन्दिताः ।। १८ ।।

वे सभी अपना स्व का बोध करने के लिए होते हैं यदि काम से रहित हों तो। धर्मानुष्ठान की निन्दा के द्वारा धर्म ही विनिन्दित होता है ।। १८ ।।

तत्र धर्मस्य निन्दाभिः शब्दब्रह्मैव निन्दितम् ।
तन्निन्दया परब्रह्म अक्षरः स्याद्विगर्हितम् ।। १९ ।।

वहाँ धर्म की निन्दा से शब्द ब्रह्म की निन्दा होती है और उनकी निन्दा से परब्रह्म अक्षर का भी अपमान होता है ।। १९ ।।

---

१. बहुधाधुनिका मूढधियः 'सुखमिति स्वर्गः' दुःखमिति नरक' इति अभिधायान्यत्र स्वर्गनरकस्थानं पृथक् न मन्यन्ते तदसत्, चतुर्दशलोकानां मध्ये इत ऊर्ध्वं तृतीयं स्वः, अधः सप्तमः पातालाख्यो लोकस्तत्रैव दक्षिणाशायां निरयाणामनकेषां स्थितिरिति सत्यम् ।

गर्हिते ह्यक्षरे देवि गर्हितः पुरुषोत्तमः ।
स्वभर्तृनिन्दया देवि तत्प्रियाणां कुतो गतिः ॥ २० ॥

अतः इस प्रकार अक्षर के गर्हित होने से, हे देवि ! वह पुरुषोत्तम भी गर्हित हो जाते हैं। इसलिए हे देवि ! यदि अपने पति की निन्दा की जाय तो उसके प्रिय की फिर क्या गति होगी ॥ २० ॥

न निन्देन्मनसा वाचा धर्मान्वेदपथांन् शिवान् ।
ब्राह्मणान्कर्मनिष्ठांश्च हविः कामदुघाश्च गाः ॥ २१ ॥

इसलिए, मन एवं वाणी से धर्मों की, वेदनिरत लोगों की, शिव परायण भक्तों की, ब्राह्मणों की एवं कर्मनिष्ठ लोगों की, हवि की और कामनाओं की प्रदाता गायों की निन्दा नहीं करनी चाहिए ॥ २१ ॥

तस्मादित्यादिकं सर्वं मनसा वेद्य तत्वतः ।
निन्दाद्वेषादिरहितो भजते पुरुषोत्तमम् ॥ २२ ॥

इसलिए इन सभी को तत्वतः मन से जानकर निन्दा-द्वेष से रहित होकर पुरुषोत्तम को भजना चाहिए ॥ २२ ॥

प्रतिविद्याद देवदेवेशि कृष्णस्यैव प्रियेति ताम् ।
सर्वमक्षरसम्भूतं विदित्वानन्यभावतः ॥ २३ ॥

हे देवों के देव ईश की अर्धाङ्गिनी ! उन्हें कृष्ण की ही प्रिया जानना चाहिए। सभी चराचर जगत् अक्षर से ही सम्भूत है— यह जानकर अनन्यभाव से उन्हीं पुरुषोत्तम की आराधना करना चाहिए ॥ २३ ॥

प्रणमेन्मनसा वाचा तमाहुः कृष्णवल्लभा ।
पातिव्रत्यमिदं देवि तदनन्यविभावनम् ॥ २४ ॥

वाणी और मन से उन्हें प्रणाम करना चाहिए। उन्हें विद्वत् जन कृष्ण की वल्लभा कहते हैं। हे देवि ! अनन्यभाव से उन्हीं का भजन करना पातिव्रत्य धर्म है ॥ २४ ॥

स एवेदं बभूवाग्र पश्चादप्येवमेव सः ।
क एवान्योऽस्ति देवेशि तत्त्वदृष्टयावलोकने ॥ २५ ॥

वह पति (बालक श्री कृष्ण) ही पहले विद्यमान थे और बाद में वही स्वामी रहेंगे। वस्तुतः, हे देवेशि ! तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर उन कृष्ण के अतिरिक्त भला अन्य कौन पति (पालन कर्ता) हो सकते हैं ॥ २५ ॥

तस्मादिदं पातिव्रत्यं कृष्णस्त्रीणां मयोदितम् ।
पातिव्रत्यपरिज्ञानं यो न जानाति केवलम् ।। २६ ।।
न तस्मिन्वासनालेशो निश्चितं सुरवन्दिते ।
पतिव्रताधर्ममिमं सद्गुरोः शास्त्रतोऽपि वा ।। २७ ।।

इसलिए मेरे द्वारा यह कृष्ण परायण स्त्रियों (भक्तों) के लिए पातिव्रत्य धर्म कहा गया । जो भक्त मात्र पातिव्रत्य का परिज्ञान नही करते हैं, हे सुरवन्दिते ! निश्चित ही उन साधक में (कृष्ण परक) भावना का लेशमात्र भी नहीं रहता है । यह पातिव्रत्य धर्म सद्गुरु अथवा शास्त्र से प्राप्त होना चाहिए ।। २६-२७ ।।

निशम्याप्नोति तन्निष्ठां तमाहुः कृष्णवल्लभा ।
केचिद्वदन्ति वै मूढाः पातिव्रत्यमितोऽन्यथा ।। २८ ।।

गुरुमुख से सुनकर जो भक्त उन भगवान् कृष्ण में निष्ठा रखता है उसे ही विद्वान् कृष्णबल्लभा' कहते हैं । कुछ मूर्ख बुद्धि के जन इस पातिव्रत्य धर्म को अन्यथा करके कहते हैं (यह ठीक नहीं हैं । २८ ।।

एक एव पतिः सेव्यो नान्यो मान्यः कदाचन ।
अन्यस्य सेवया लोके योषित्सा पतिता भवेत् ।। २९ ।।

एक ही पति की सेवा करना चाहिए । कभी भी अन्य को पति नहीं मानना चाहिए । लोक में अन्य व्यक्ति की सेवा से नारी पतिता हो जाती है ।। २९ ।।

पातिव्रत्यमिदं देवि लौकिकं न त्वलौकिकम् ।
अनीश्वरः परिच्छिन्नः सदोषो लौकिकः पतिः ।। ३० ।।
योषित्सापि तथा लोके पातिव्रत्यमतस्तथा ।
ईश्वरस्तु विभुः साक्षाद्विश्वात्मा विश्वविग्रहः ।। ३१ ।।

हे देवि ! यह लौकिक पातिव्रत्य-धर्म है । यह अलौकिक पातिव्रत्य नहीं है । लौकिक पति चारो ओर से दोष से युक्त है तथा सर्व सामर्थ्य युक्त नहीं है । अतः वैसा ही लोक में युवती का पातिव्रत्य-धर्म है । किन्तु ईश्वर तो सर्वव्यापी है और विश्व शरीर में तथा साक्षात् विश्व की आत्मा रूप से विद्यमान है ।। ३०-३१ ।।

स एव सर्वरूपैश्च नामभिः ख्यातिमागतः ।
सर्वनामस्वरूपं च ज्ञात्वा ब्रह्म सनातनम् ।। ३२ ।।
दृष्ट्याऽविषमया देवि सर्वत्र परिपश्यति ।
पातिव्रत्यमिदं भद्रे मयैतत्कथितं शुभम् ।। ३३ ।।

वह परमात्मा ही सभी रूपों और नाना प्रकार के नामों से विख्यात होते हैं । सर्वनाम-स्वरूप को जानकर हम सनातन ब्रह्म को ही, हे देवि ! अभेद दृष्टि से

सर्वत्र देखते हैं। यह शुभ पातिव्रत्य-धर्म हमारे द्वारा, हे कल्याण करने वाली देवि! कहा गया ॥ ३२-३३ ॥

इत्येतन्निर्णयाज्ञानाद्विभ्रमन्ति विमोहिताः।
षट् दर्शनानि मेऽङ्गानि पादौ कुक्षी करौ शिरः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार के ज्ञान के निर्णीत न होने से व्यक्ति अज्ञान के कारण विशेष रूप से मोहित होकर जन्म मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं। साधक को सदैव अभेद दृष्टि ही रखनी चाहिए। वस्तुतः छः दर्शन मेरे दोनों पैर एवं दोनों हाथ तथा दोनों कुक्षि और शिव के तुल्य मेरे अङ्ग हैं ॥ ३४ ॥

तेषु भेद तु यः कुर्यात् मदङ्गच्छेदको हि सः।
एव पतिव्रताधर्मं सम्यक् ज्ञात्वा गुरोर्मुखात् ॥ ३५ ॥

उन षड्दर्शनों में जो साधक भेद करता है तो वह मानों मेरे अङ्गों का ही विच्छेद करता है। इस प्रकार के पतिव्रत्य धर्म को गुरुमुख से भली प्रकार से जानकर जो साधक पति (पालक श्रीकृष्ण) की परिचर्या करता है उसे ही 'कृष्ण-वल्लभा' कहा जाता है ॥ ३५ ॥

पतिं परिचरेद्यस्तु तमाहुः कृष्णवल्लभा।
श्रुत्वा कृष्णकथालापं यद्वपुः पुलकाङ्कितम्।
आनन्दाश्रुजलं नेत्रे तमाहुः कृष्णवल्लभा ॥ ३६ ॥

वस्तुतः उसी साधक को 'कृष्णवल्लभा' कहा जाता है जिसका शरीर कृष्ण की कथा-लीला को सुनकर रोमाञ्चित हो जाय और आनन्द विभोर होकर नेत्रों में अश्रुजल डब-डबा जायँ ॥ ३६ ॥

श्री पार्वत्युवाच—

कामसङ्कल्परहितं कर्म वर्णाश्रमोचितम्।
कस्मात्करोति यस्येच्छा कामसङ्कल्पवर्जिता ॥ ३७ ॥
अनुद्दिश्य फलं देव न बालोऽपि प्रवर्तते।
ब्रह्मसृष्टि[1] गतो जीवः कस्माद् व्यर्थं प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

पार्वती ने कहा—

इस वर्णाश्रम में उचित तो यह है कि निष्काम कर्म किया जाय। तो जिस साधक की कामना रहित इच्छा है तो वह कैसे कर्म करता हैं। निष्प्रयोजन कर्म तो एक अबोध बालक भी नहीं करता है तो फिर ब्रह्म सृष्टि-गत जीव आखिर क्यों व्यर्थ ही इसमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ३७-३८ ॥

---

१. ब्रह्मसृष्टिवासनेह ह्युत्तमजीवानामुपरि सस्थिता मायामनु भवति।

मोहसृष्टिसमुद्भूताः स्वर्गादिफलमोहिताः ।
ते कर्मणि प्रवर्त्तन्ते न तच्चित्रं महेश्वर ॥ ३९ ॥

स्वर्गादि फल की कामना मोह सृष्टि से उत्पन्न हुई है। उन यज्ञ यागादि कर्मों में जो जन प्रवृत्त होते हैं तो, हे महेश्वर ! उसमें क्या आश्चर्य है ? ॥ ३९ ॥

कृष्णप्रियाः कृष्णरूपा[1] वासनाभिः समागताः ।
कथं ताः कर्मणि व्यर्थे नियोजयसि शङ्कर ॥ ४० ॥

अतः हे शङ्कर ! कृष्ण रूप वासना द्वारा आई हुई वे कृष्ण की प्रियाएँ उन-उन कर्मों में अपने को व्यर्थ ही कैसे नियोजित करती हैं ? आखिर उनका कुछ तो प्रयोजन होगा ? ॥ ४० ॥

शिव उवाच—

अप्रबुद्धः प्रबुद्धो वा कर्म कुर्यात्सदाहितम् ।
सकामं निन्दितं कर्म मुमुक्षुं प्रति मानिनी ॥ ४१ ॥

शिव ने कहा—

हे मानिनि ! चाहे व्यक्ति जागता हो या सोया हो, वह सदैव कर्म करता ही रहता है। किन्तु मोक्ष की आकाङ्क्षा वाले साधक के लिए सकाम कर्म करना निन्दित है ॥ ४१ ॥

क्रियावान् पुरुषः श्रेष्ठो भवाब्धिं तरते सुखम् ।
क्रियाविरहिता लोके धर्मभ्रष्टा विभान्ति मे ॥ ४२ ॥
अश्रद्दधानात् धर्मेषु विद्वांसः कृपया विभो ।
नोपदेश्यन्ति शास्त्रार्थमुषरे बीजवत्प्रिये ॥ ४३ ॥

वस्तुतः सदैव कर्म करते रहने वाला पुरुष इस संसार सागर को सुख से प्राप्त कर जाता है। मेरे अनुसार क्रियारहित व्यक्ति धर्म भ्रष्ट हुआ-सा लोक में कान्तिहीन रहता है। विद्वान् लोग परमात्मा की कृपा से धर्मों में श्रद्धा न करने वाले को कभी भी शास्त्र का उपदेश नहीं करते हैं क्योंकि हे प्रिये ! वह तो उषर भूमि में बीज बोने के समान ही निष्फल है ॥ ४२-४३ ॥

न च तत्वस्य निर्धारः शास्त्रहीनस्य जायते ।
तदर्थं निर्णयं शास्त्रं त्यक्त्वाऽन्यत् साधनं मुधा ॥ ४४ ॥

शास्त्रहीन व्यक्ति तत्त्व के निर्धारण में अक्षम ही होता है। इसलिए उसके निर्णायक शास्त्र को छोड़कर अन्य साधक तो ईश्वर प्राप्ति के लिए झूठे हैं ॥ ४४ ॥

---

१. कामनाभिरित्यपि पाठः ।

श्वपुच्छालम्बनं यद्वत्तितीर्षोः सागरं यथा।
विना तत्वस्य निर्धारं शङ्कापि न निवर्त्तते ॥ ४५ ॥

अन्य साधक को अपनाना तो कुत्ते की पूँछ पकड़कर सागर को पार करने की इच्छा के समान है। विना तत्त्व के निश्चय हुए तो (मन में आने वाली अन्यान्य) शङ्काए भी नहीं मिटाई जा सकती ॥ ४५ ॥

शङ्कापङ्काङ्कमलिने हृदये नैव सुन्दरि।
प्रेमार्कप्रतिबिम्बः स्याद्येन कृष्णः प्रभासते ॥ ४६ ॥

हे सुन्दरि! शङ्का रूप कीचड़ से मलिन हृदय कमल में प्रेम के सूर्य का प्रतिविम्ब भी नहीं पड़ता है जिसमें कृष्ण प्रतिभासित होवें ॥ ४६ ॥

तस्माद्वर्णाश्रमाचारभ्रष्टे नरचतुष्पदे।
नैव ज्ञानं तथा भक्तिर्यथार्थोदेति निश्चयः ॥ ४७ ॥

इसलिए वर्णाश्रम के आचार से भ्रष्ट व्यक्ति चौपाए जानवर के समान है। यह निश्चित है कि उस आचार भ्रष्ट साधक में न तो कर्म ही होता है और न ही भक्ति यथार्थ रूप से उदित होती है ॥ ४७ ॥

नित्यं नैमित्तिकं तस्मात्कर्तव्यं तदशङ्कया।
काम्यं निषिद्धं यत्कर्म तत्तुदूरात्परित्यजेत् ॥ ४८ ॥

इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि निःसन्देह रूप से नित्य और नैमित्तिक (श्राद्ध-व्रत आदि) कर्म जरूर करे। किन्तु काम्य कर्म जो निषिद्ध हैं, उन्हें दूर से ही त्याग दे ॥ ४८ ॥

नित्यं नैमित्तिकं कर्म फलं बध्नाति न क्वचित्।
अननुष्ठानमात्रेण प्रत्यवायस्तु जायते ॥ ४९ ॥

नित्य और नैमित्तिक कर्म कहीं भी फल को नही बाँधते हैं। उनके तो अनुष्ठान मात्र से ही प्रत्यवाय (बाधाएँ) हट जाती हैं ॥ ४९ ॥

अनुष्ठाने फलं नास्ति चित्तशुद्धि विनेतरत्।
काम्यादिकर्मकर्त्तारो देहभाजः पुनः पुनः ॥ ५० ॥

नित्य और नैमित्तिक कर्मों को करने से, यद्यपि कोई फल नहीं होता है, किन्तु विना उसके किए चित्त शुद्धि भी नहीं होती। जबकि काम्यादि कर्मों के कर्त्ता को (पुण्य की समाप्ति होने पर) बार-बार जन्म लेना पड़ता है ॥ ५० ॥

तस्मात्काम्यं परित्यज्य नित्यं विद्वान् समाचरेत्।
अप्रबुद्धदशायां च प्रबुद्धायामपि प्रिये ॥ ५१ ॥

कर्त्तव्यं सहजं कर्म न तान्विघ्नः प्रभूयते।
प्रबुद्धस्यापि यत्कर्म तत्र मे निर्णयं शृणु ॥ ५२ ॥

इसलिए विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि काम्य कर्मों का परित्याग करके नित्य कर्मों को करे। हे प्रिये ! अप्रबुद्ध दशा में अथवा प्रबुद्ध दशा में सहज (नित्य) कर्म करना चाहिए। उन कर्मों से विघ्न बाधाएँ नहीं आती हैं। अब प्रबुद्ध दशा में भी जो कर्म करना चाहिए, उसका निर्णय हमसे सुनिए ॥ ५१-५२ ॥

वार्त्तामात्रेण विज्ञानं प्रबोधो नैव वास्तवः।
साक्षात्प्रबोधे देवेशि देहः सद्यो विलीयते ॥ ५३ ॥

वार्ता मात्र से ही वास्तविक ज्ञान रूप विशेष प्रबोध नहीं होता है। वस्तुतः, हे देवेशि ! साक्षात् प्रबोध (विज्ञान) होने पर तो सद्यः देह विलीन हो जाता है (अर्थात् वह ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जाता है) ॥ ५३ ॥

तस्माच्छाब्दप्रबोधोऽयं परमार्थो न विद्यते।
संसारमोहनाशाय शाब्दबोधो न हि क्षमः ॥ ५४ ॥

इसलिए मात्र शाब्द प्रबोध (बात ही बात करने से) परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती है। वस्तुत संसार में मोह के नाश के लिए 'शाब्द प्रबोध' समर्थ नहीं है ॥ ५४ ॥

न निवर्त्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्त्तया।
ज्वलितः पतितो देही यदा विरहवह्निना ॥ ५५ ॥
तदा विद्यादात्मबोधमन्यथा शाब्द एव सः।
शाब्दप्रबोधमात्रेण नित्यं नैमित्तिकं त्यजेत् ॥ ५६ ॥

कभी भी मात्र दीपक की बत्ती से अन्धकार नहीं हटता है। वस्तुतः (श्रीकृष्ण के) विरह की अग्नि में जब गिरकर शरीर जल जाता है तभी साधक को आत्मबोध (=आत्मसाक्षात्कार) प्राप्त होता है, नहीं तो वह मात्र शाब्द प्रबोध ही रहता है। हाँ शाब्द प्रबोध मात्र से नित्य एवं नैमित्तिक कर्म का त्याग करना चाहिए ॥ ५५-५६ ॥

प्रत्यवायी स विज्ञेयो नासौ बोधमवाप्नुयात्।
यावद्देहाभिमानः स्यान्ममता तावदेव हि ॥ ५७ ॥

यदि ऐसा नहीं करता है तो उसे साधना में स्वयं को 'बाधक' समझना चाहिए और ऐसे व्यक्ति को कभी भी बोध नहीं होता है। वस्तुतः जब तक देहाभिमान रहता है, तभी तक ममता बनी रहती हैं ॥ ५७ ॥

तावद्देहानुबन्धित्वात्कर्म कर्तव्यमेव हि।
शास्त्रोक्तं कर्म कर्त्तव्यं विकर्मं विनिवृत्तये ॥ ५८ ॥

तभी तक देहाभिमान के कारण कर्म और कर्तव्य के प्रति ममता होती है। वस्तुतः निवृत्ति के लिए शास्त्रोक्त कर्म ही कर्तव्य हैं। तदतिरिक्त अन्य कर्म तो 'विकर्म' कहे जाते हैं ॥ ५८ ॥

विकर्मणि प्रवृत्तिस्तु नृणां स्वाभाविकी यतः।
विकर्मणः प्रभावेन देहभाजः पुनः पुनः ॥ ५९ ॥

मानवों की 'विकर्म' में प्रवृत्ति तो स्वभाविक होती है। अतः विकर्मों के प्रभाव से मनुष्य को पुनः पुनः देह धारण करना होता है ॥ ५९ ॥

नित्यं नैमित्तिकं देवि फलं सङ्कल्पवर्ज्जितम्।
चित्तं शोधयते साध्वि ! न तु देहाय जायते ॥ ६० ॥

हे देवि ! नित्य एवं नैमित्तिक कर्म के फल तो संकल्परहित होते हैं। हे साध्वि ! वे कर्म तो चित्त का शोधन करते हैं। वे शरीर के लिए नहीं होते हैं ॥ ६० ॥

का हानिस्तत्र देवेशि निष्कामाचरणे नृणाम्।
इत्येवं निर्णयाज्ञानान्मूढाः पण्डितमानिनः ॥ ६१ ॥
त्यजन्तः शोधनं कर्म पापचित्ता भ्रमन्ति वै।
सांसारिकसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम् ॥ ६२ ॥

हे देवेशि ! अतः मनुष्य को निष्काम कर्म करने में फिर हानि क्या है ? मात्र इतने का ही निर्णय न कर पाने के कारण अज्ञानवश मूर्ख और पण्डित मानी जन अपने चित्त के शोधक कर्म को छोड़ते हुए पापचित्त होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं और 'मैं ब्रह्म-ज्ञानी हूँ' यह कहते हुए सांसारिक सुखों में आसक्त रहा करते हैं ॥ ६१-६२ ॥

कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा।
देहेन्द्रियसुखासक्तो[1] ब्रह्मज्ञोऽस्मीति यो वदेत् ॥ ६३ ॥

इस प्रकार देह एवं इन्द्रिय में आसक्त जन, जो अपने को ब्रह्मज्ञानी बताते हैं उन 'कर्म एवं ब्रह्म' दोनों से भ्रष्ट हुए मूर्ख पण्डितों का उसी प्रकार परित्याग कर देना चाहिए जैसे चाण्डाल का त्याग कर दिया जाता है ॥ ६३ ॥

न तं वैज्ञानिनं मन्ये मणिभूषितगर्दभम्।
ब्रह्मवादं पुरस्कृत्य वर्णाश्रमनिबन्धनाः ॥ ६४ ॥

---

१. सुखासक्तमिति मूलपाठः।

उन भ्रष्ट जनों को उसी प्रकार ज्ञानी नहीं समझना चाहिए जैसे मणि से अलङ्कृत गदहे को कोई ज्ञानी नहीं समझता है। ब्रह्म के विचार को आगे आगे लेकर वे वर्णाश्रम में फंसे जन ही हैं ॥ ६४ ॥

विलुंपन्तः क्रियाः सर्वाः लोकनाशकरा हि ते।
ब्रह्मवादः कलियुगे गेहे गेहे जने जने ॥ ६५ ॥

उनकी ज्ञान सम्बन्धी क्रिया का लोप हो गया है। वे तो समस्त संसार को नष्ट करने वाले हैं। वस्तुतः कलियुग में 'ब्रह्म विचार' तो घर-घर में और जन जन में व्याप्त रहता है ॥ ६५ ॥

भविष्यति ततः काले धर्मकर्मविलोपनम्।
धर्मकर्मविहीनानां पापमेवानुसेवताम् ॥ ६६ ॥

इस कारण से काल क्रम से धर्म-कर्म का लोप हो जायेगा और धर्म-कर्म से विहीन व्यक्ति मात्र पाप कर्मों का ही सेवन करते हैं ॥ ६६ ॥

तेषामासुरजीवानां नरकं न निवर्त्तते।
तस्मादेवं सुनिर्णीय धर्मकर्मपरायणाः ॥ ६७ ॥

उन आसुरी जीवन जीने वालों के लिए उस नरक से निकल पाना मुश्किल है। इसलिए इस प्रकार का (=निष्काम कर्म रूप) सुन्दर निर्णय करके साधक को धर्म-कर्म में परायण होना चाहिए ॥ ६७ ॥

कृष्णमेवानुसेवन्तस्तान्मन्ये कृष्णवल्लभाः।
इति ते कथितं देवि वासनालक्षणं मया ॥ ६८ ॥
यज्ज्ञात्वा ह्यचिरादेव स्वात्मबोधः प्रजायते ॥ ६९ ॥

॥ इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती
संवादे षोडशं पटलम् ॥ १६ ॥

—*—

मात्र कृष्ण की सेवा करने वाले उन साधकों को ही 'कृष्णवल्लभा' जानना चाहिए। हे देवि ! इस प्रकार मैंने आपसे वासना का लक्षण बताया है जिसे जानकर साधक भक्त को शीघ्र ही आत्मबोध हो जाता है ॥ ६८-६९ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के सोलहवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १६ ॥

—*—

अथ सप्तदशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

भगवन् देवदेवेश निर्णयः साधुसंमतः ।
कथितोऽयं सदाचारलक्षणः पावनो नृणाम् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे भगवन्, हे देवदेवेश, आपने साधुसम्मत निर्णय किया है। आपने मनुष्यों को [अनाचार रूप पाप से मुक्त करके] पवित्र करने वाला यह सदाचार का लक्षण कहा है ॥ १ ॥

धर्मकर्मविहीनानां सदाचारं विमुञ्चताम् ।
मलीमसानां दुष्टानां ब्रह्मसिद्धिर्न जायते ॥ २ ॥

धर्म [=श्रुति में आस्तिकता रूप से] और कर्म [नित्य एवं नैमित्तिक] से विहीन और सदाचार छोड़कर जीवन पथ पर चलने वाले दुष्टात्मा एवं निकृष्ट बुद्धि वाले मनुष्य को 'ब्रह्मसिद्धि' नहीं होती है ॥ २ ॥

यथा जह्यात् शनैरम्भः सोपानानि क्रमात् क्रमात् ।
तथा देहानुसम्बन्धान् शनैर्जह्यात स पण्डितः ॥ ३ ॥

सोपान के क्रम से क्रमशः जैसे बादल धीरे-धीरे जल छोड़ते हैं वैसे ही धीरे-धीरे जो देह से सम्बन्ध [अर्थात् देह में आसक्ति] त्याग दे वही विद्वान् व्यक्ति है ॥ ३ ॥

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते स्वात्मनि स्वयम्
अश्मकाञ्चनयोस्तुल्यं भावप्राप्तौ समस्थितौ ॥ ४ ॥

इस प्रकार देहाभिमान के नष्ट हो जाने पर स्वयं अपनी आत्मा में अपने को जान लेने पर पत्थर और सुवर्ण में उसे समान भाव की प्राप्ति हो जाने पर समधिष्ठित उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

उदासीनारिमित्रेषु स्वानन्दानुभवोदये ।
न कर्मभिस्तदा कार्यं सम्राजो भिक्षया यथा ॥ ५ ॥

शत्रु और मित्र दोनों में ही उदासीन भाव रखने वाले को और अपने में आनन्द के अनुभव होने पर भी उदासीन होकर उसे कर्मों के द्वारा आसक्ति से कार्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि भिक्षा के द्वारा कार्य चलाने वाले को साम्राज्य से क्या ? ॥ ५ ॥

यथामृतेन तृप्तस्य नाहारेण प्रयोजनम् ।
स्वात्मानन्दोदये तद्वत्कर्माभिर्न प्रयोजनम् ।। ६ ।।

क्योंकि जैसे अमृत से तृप्ति प्राप्त हो जाने पर आहार करे या न करे उससे क्षुधा का प्रयोजन ही क्या है ? उसी प्रकार जब अपने में आनन्द का उदय हो गया हो तो कर्मों में कोई प्रयोजन नहीं होता ।। ६ ।।

तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ।
स्वात्मानन्दोदये जाते कर्मणा किं प्रयोजनम् ।। ७ ।।

यदि मलयाचल की वायु ही प्राप्त हो जाय तो पंखे का क्या प्रयोजन है ? उसी प्रकार अपने में ही आनन्द का उदय यदि हो जाय तो आसक्ति से कार्य करने का क्या प्रयोजन है ? ।। ७ ।।

पार्वती उवाच—

साध्वेतद्व्याहृतं देव त्वया भागवता प्रभो ।
परं वेदितुमिच्छामि सन्देहाकुलमानसा ।। ८ ।।
ब्रह्मवादः कलियुगे गेहे गेहे जने जने ।
धर्मकर्मविलोपार्थं भविष्यति न संशयः ।। ९ ।।

पार्वती ने कहा—

हे देव ! आप भगवान् प्रभु के द्वारा इस प्रकार ठीक ही कहा गया है । परन्तु सन्देह से आकुल मन वाली मैं यह जानना चाहती हूँ कि कलियुग में ब्रह्मवाद [ब्रह्मज्ञान] घर-घर में और जन-जन में धर्म कर्म के लोप के लिए ही होगा—इसमें सन्देह नहीं है ।। ८-९ ।।

इति यद्भवता प्रोक्तं तत्र मे संशयो महान् ।
ब्रह्मवादेन सदृशं पवित्रं नहि किञ्चन ।। १० ।।

इस प्रकार जो आपने कहा उसमें हमें महान् संशय यह है कि 'ब्रह्मवाद' के सदृश तो और कुछ भी पवित्र नहीं है ।। १० ।।

तपो दानं क्रिया योगः स्वाध्यायनियमा यमाः ।
समाप्यन्ते महेशान ब्रह्मज्ञानोदयादनु ।। ११ ।।

हे महेश, हे ईशान ! ब्रह्मज्ञान के उदय हो जाने के बाद तप, दान, क्रिया और योग, स्वाध्याय आदि नियम और यम [निरोध] समाप्त हो जाते हैं ।। ११ ।।

ब्रह्मज्ञानैकनिष्ठानां महादेव महात्मनाम् ।
सर्वं सम्पूर्णतां याति नित्यं नैमित्तिकं च यत् ।। १२ ।।

ब्रह्मज्ञान में एकनिष्ठ महात्मा जनों के लिए, हे महादेव ! नित्य नैमित्तिक आदि जो भी कर्म हैं वह सभी सम्पूर्णता को प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मज्ञानेन मुच्येत यदि चेद्विश्वघातकः ।
न तस्य कर्मलोपोऽस्ति पद्मस्येवाम्भसा यथा ॥ १३ ॥

यदि विश्व का घातक ब्रह्मज्ञान से छुटकारा पा जाता है तो उसके कर्म का लोप भी उसी प्रकार नहीं होता जैसे पद्म में जल का लोप नहीं होता है ॥ १३ ॥

कलिस्तु सुमहान् पापस्तामसात्मा मलीमसः ।
अधर्मे रमते नित्यं येन स्पृष्टा प्रजा भुवि ॥ १४ ॥

कलियुग महान् पापों वाला है । इसमें तामस हृदय के और मलिन बुद्धि के जन नित्यप्रति अधर्म में ही रमण करते हैं, जिससे प्रजा इस भूमि पर स्पृष्ट होगी ॥ १४ ॥

यत्रोदेष्यन्ति पाषण्डा धर्मनिर्नाशहेतवः ।
वर्णानां सङ्करो यत्र स्वस्वकर्मविलुम्पताम् ॥ १५ ॥

धर्म के निःशेष रूप से नाश के हेतुभूत पाखण्ड बहुत होंगे । वहाँ कलियुग में वर्णसंकर होगा । [ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के] अपने कर्मों का लोप हो जायगा ॥ १५ ॥

कन्या विक्रयिणश्चैव वेदविक्रयिणो द्विजाः ।
म्लेच्छाचाररता लोके म्लेच्छभाषाविशारदाः ॥ १६ ॥

लोग कन्या को बेच देने वाले होंगे और ब्राह्मण वेद का विक्रय करेंगे । लोक में जन म्लेच्छों के आचार में रत रहेंगे और वे म्लेच्छभाषा के पण्डित होंगे ॥ १६ ॥

म्लेच्छान्नपानपुष्टाङ्गा धर्मकर्मविनिन्दकाः ।
स्वाहास्वधाविरहिताः शिश्नोदरपरायणाः ॥ १७ ॥

म्लेच्छों के अन्न से और उनके [मदिरा आदि] पेय द्रव्यों से पुष्ट अंगों वाले वे धर्म कर्म के विशेष रूप से निन्दक ही होंगे । वे नित्य अग्निहोत्र और श्राद्ध आदि पितृ कृत्यों से भी विहीन होंगे । वे एकमात्र उदर के पोषण एवं मैथुन में लिप्त रहेंगे ॥ १७ ॥

परस्त्रीपरधनलोभाय हेतुवादपरायणाः ।
कलौ सर्वे भविष्यन्ति सर्वधर्मविवर्जिताः ॥ १८ ॥

पराई स्त्री एवं पराए धन के लोभ के लिए 'हेतुवाद' [तर्क द्वारा अवसरवादिता] में रत रहेंगे । इस प्रकार कलियुग में सभी लोग सभी धर्मों से विहीन होंगे ॥ १८ ॥

ब्रह्मवादः कलियुगे गेहे गेहे जने जने ।
असम्भाव्यमिवाभाति ममैतत्सुरपूजित ।। १९ ।।

इस प्रकार कलियुग में ब्रह्मवाद घर-घर एवं जन-जन में होगा । हे देवताओं से पूजित ! हमें तो यह असम्भावित ही सा लगता हैं ।। १९ ।।

कलावपि महापापे प्रवृत्तं ब्रह्मकीर्तनम् ।
तत्कथं धर्मलोपाय लोकानां मेऽत्र विस्मयः ।। २० ।।
विचार्य ब्रूहि मे देव कृपया करुणानिधे ।

महान् पापात्मक कलि में भी जब ब्रह्म के प्रतिपादन में लोग प्रवृत्त होंगे तो फिर धर्म का लोप कैसे सम्भव होगा—मुझे यही सन्देह हो रहा है । हे देव हे करुणानिधान ! आप सोंचविचार कर मेरे सन्देह की निवृत्ति करें ।। २०-२१ ।।

शिव उवाच—

साधु पृष्टं त्वया भद्रे सर्वलोकैकहेतवे ।। २१ ।।
तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसा ।
यस्य श्रवणमात्रेण धर्मश्रद्धा प्रजायते ।। २२ ।।

शिव ने कहा—

हे भद्रे ! तुमने सभी लौकिक जनों के कल्याण लिए अच्छा प्रश्न किया है । तुमको मैं वह कहता हूँ जिसके श्रवणमात्र से धर्म में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है । उसे तुम एकाग्र मन से सुनो ।। २१–२२ ।।

पुरा द्वादशवार्षिक्यामनावृष्टयामनम्भसि ।
दवाग्न्यर्कविनिर्दग्धवनकन्दादिसम्पदि ।। २३ ।।

प्राचीनकाल में एक बार बारह वर्षों का अकाल पड़ा । जल की वर्षा हुई ही नहीं । दवाग्नि और सूर्य से वन की कन्द-मूल आदि सम्पदा भी दग्ध हो गई ।। २३ ।।

[1]क्षुत्तृट्परीता वै काश्चित्प्रजा गिरिगुहाश्रिताः ।
परस्परं भक्ष्यमाणा मम्रिरे व्याधिकर्षिताः ।। २४ ।।

भूख और प्यास से सन्तप्त कुछ प्रजाजन गिरि की गुफा में चले गए, और परस्पर एक दूसरे को खाते हुए व्याधि से दुःखित होकर मर गए ।। २४ ।।

गौतमस्याश्रमे रम्ये तपतीतीरसंस्थिते ।
क्षुधार्ता ब्राह्मणाः प्राप्ता देहनिर्वाहकाम्यया ।। २५ ।।

---

१. 'क्षतृड्भ्यां च परीतापैः' इत्यपि पाठः ।

तपती नदी के तीर पर अवस्थित होकर गौतम के आश्रम पर क्षुधा से आर्त ब्राह्मणगण शरीर निर्वाह की कामना से आए ।। २५ ।।

अलक्षन् गौतममुनिं शिष्यराशिपरिवृतम् ।
ब्रह्मतेजःप्रभावेन ज्वलन्तमिव पावकम् ।। २६ ।।

अन्नान्युत्पाद्य तपसा पुष्णन्तं शिष्यसंहतिम् ।
प्रणेमुर्ब्राह्मणाः सर्वे निबद्धकरसम्पुटाः ।। २७ ।।

शिष्यों आदि से घिरे हुए गौतम मुनि को देखकर प्रज्ज्वलित अग्नि के समान ब्रह्म तेज के प्रभाव से शिष्यों की सहायता से अन्नों का उत्पादन करने वाले तप से पुष्ट मुनि को सभी ब्राह्मणों ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ।। २६-२७ ।।

ब्राह्मणा ऊचुः—

त्राहि त्राहि मुने प्राप्तान् शरण्यान् शरणप्रद ।
जाठरेणाग्निना तप्ता वयं सर्वे द्विजातयः ।। २८ ।।

ब्राह्मणों ने कहा—

हे मुनि ! आपकी शरण में आए हुए हम लोगों को शरण दीजिए । हम सभी ब्राह्मणजन जठराग्नि [भूख] से संतप्त हैं ।। २८ ।।

अलभ्य कन्दमूलादि निर्जले क्षितिमण्डले ।
न प्रवर्त्तन्त एवेह क्रिया निगमचोदिताः ।। २९ ।।

इस जलविहीन भूमितल पर कन्दमूल आदि भी नहीं प्राप्त हैं । अतः वेद से विहित क्रियाओं को भी हम नहीं संपादित कर पा रहे हैं ।। २९ ।।

अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः प्राणदोऽन्नं ददाति यः ।
तस्मादन्नप्रदानेन प्राणदो नः पिता भवान् ।। ३० ।।

अन्न ही प्राणियों का प्राण है अतः प्राणदायक अन्न को जो देता है उस अन्न प्रदान से प्राण देने वाले आप हमारे पिता ही हैं ।। ३० ।।

एकतः सकला धर्मा यज्ञाः सर्वस्वदक्षिणाः ।
तपांस्युग्राणि दानानि व्रतानि सुबहून्यपि ।। ३१ ।।
न तुलामधिगच्छन्ति ह्यन्नदानस्य वै मुने ।
क्षुत्पिपासे प्राणधर्मौ क्षुधया कृष्यते वपुः ।। ३२ ।।

सभी धर्म और यज्ञों की सभी दक्षिणा एक ओर ही रह जाती है । उग्र तप, बहुत से दानों और बहुत से व्रत भी, हे मुने ! अन्नदान से अधिक नहीं ही होते । भूख और प्यास तो प्राण के धर्म हैं । क्षुधा से शरीर दुर्बल हो जाता है ।। ३१-३२ ।।

वपुःकार्श्ये चेन्द्रियाणि कर्षितानि भवन्ति वै।
म्लानेन्द्रियमनोवृत्तेः विवशित्वं प्रपद्यते ॥ ३३ ॥

शरीर के दुर्बल पड़ जाने पर इन्द्रियाँ भी कमजोर हो जाती हैं और पुरुष म्लान इन्द्रियों से मन की वृत्तियों के वश में पड़ जाता है ॥ ३३ ॥

मनोम्लानौ बुद्धिलयस्ततो ध्यानं निवर्तते।
अध्यायतः कुतः स्वात्मानुभूतिर्भवति प्रभो ॥ ३४ ॥

वस्तुतः मन के म्लान होने से बुद्धि ही भ्रष्ट हो जाती है। अतः बुद्धि के लय के कारण ध्यान नहीं होता है। अतः हे प्रभो ! विना ध्यान के स्वात्मानुभूति कैसे सम्भव है ? ॥ ३४ ॥

तस्मादन्नेन सदृश दानं नास्ति जगत्त्रये।
म्लानेन्द्रियमनोवृत्तेः क्षुधया पीडितस्य च ॥ ३५ ॥
अन्नाभिकाङ्क्षिणो येन प्राणतृप्तिः कृता मुने।
तेन दत्तं हुतं जप्तं तपस्तप्तं शुभं कृतम् ॥ ३६ ॥

इसलिए तीनों लोकों में अन्न दान सदृश कोई भी दान नहीं है। म्लान इन्द्रिय रूप मनोवृत्ति से और क्षुधा से सन्तप्त अन्न की आकांक्षा वाले पुरुष को, हे मुने ! जिससे प्राण की तृप्ति हो और दिया हुआ, हुत, जप, तप, शुभ हो वैसा कीजिए ॥ ३६ ॥

पृथ्वी रत्नेन सम्पूर्णा तेन दत्ता द्विजातये।
तस्यैव ज्ञानसंसिद्धिर्भवतीति श्रुतं हि नः ॥ ३७ ॥

यह सम्पूर्ण पृथ्वी रत्न से भरी है अतः उसे द्विजाति को देना चाहिए। उसी से ज्ञान की सम्यक् रूप से सिद्धि होती है ऐसा हमने सुना है ॥ ३७ ॥

किमन्यज् ज्ञाप्यते तुभ्यं सर्वज्ञाय मुनीश्वर।
तथाविधेह्यंग तूर्णं यथा नः प्राणधारणा ॥ ३८ ॥

हे मुनियों में ईश्वर, आप सर्वज्ञ के लिए क्या कुछ ज्ञान कराने योग्य हैं ? इसलिए आप शीघ्रातिशीघ्र वैसा ही करें, जिससे प्राण को धारणमात्र हो जाये ॥ ३८ ॥

शरीरमूलमन्नं हि धर्ममूलमिदं वपुः।
चित्तशुद्धौ विशेषेण धर्म एव हि कारणम् ॥ ३९ ॥

वस्तुतः शरीर का मूल अन्न ही है और धर्म का मूल शरीर ही है और विशेष रूप से चित्त की शुद्धि में धर्म ही एकमात्र कारण है ॥ ३९ ॥

भक्तिर्ज्ञानं च वैराग्यं[1] शुद्धचित्तस्य जायते ।
सर्वार्थसाधनं तस्माच्छरीरमिदमुच्यते ।। ४० ।।

शुद्ध हुए चित्त वाले व्यक्ति से ही भक्ति, ज्ञान और वैराग्य संपादित होता है। इसलिए हे मुने ! यह शरीर ही सभी [अलौकिक या लौकिक] अर्थ की सिद्धि का एकमेव साधन कहा गया है ।। ४० ।।

पुनर्ग्रामं पुनर्वित्तं पुनः क्षेत्रं पुनर्गृहम् ।
पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनः पुनः ।। ४१ ।।

इस लोक में फिर से ग्राम हो सकते हैं, पुनः धन की प्राप्ति सम्भव है, पुनः खेत बनाए जा सकते हैं और घर भी फिर से बन सकता है। पुनः शुभ अथवा अशुभ कर्म तो कर सकते है किन्तु शरीर पुनः पुनः नहीं बनाया जा सकता है ।। ४१ ।।

शरीररक्षणायासः कर्त्तव्यः सर्वथा बुधैः ।
नहीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्टादिरोगिणः ।। ४२ ।।

इसलिए इस शरीर की रक्षा का प्रयत्न विद्वान् व्यक्ति को अवश्यमेव करना चाहिए। क्योंकि इस शरोर को तो कोई कुष्ठ आदि रोग से पीड़ित कुरूप व्यक्ति भी छोड़ना नहीं चाहता ।। ४२ ।।

तद्गोपितं स्याद्धर्मार्थं धर्मो ज्ञानार्थमेव च ।
ज्ञानं तु ध्यानयोगार्थमचिरात्तेन मुच्यते ।। ४३ ।।

इसलिए धर्म के लिए इस शरीर की सुरक्षा करनी चाहिए और धर्म (दिखावे के लिए नहीं अपितु) मात्र ज्ञान के लिए करना चाहिए। ध्यानयोग के लिए ज्ञान का प्रयोग करना चाहिए। उसी ध्यान योग को चिरकाल तक करने से ही मुक्ति प्राप्त होती है ।। ४३ ।।

तपः प्रभावमास्थाय पाह्यस्मान् कृपणानिह ।
इत्येवं वचनं तेषां ब्राह्मणानां तपोधनः ।। ४४ ।।

हे मुने ! तप के प्रभाव से आप हम कृपणों एवं दीनजनों की रक्षा कीजिए। इस प्रकार के उन तपोधन ब्राह्मणों के क्षुधा से आर्त हुए दीन वचनों को सुनकर गौतम मुनि अत्यन्त करुणा से आर्द्र हो गये ।। ४४ ।।

दीनानां क्षुधयार्त्तानां निशम्य करुणोऽभवत् ।

गौतम उवाच—

साधु साधु महाप्राज्ञा न्याय्यमेतद्वचो हि वः ।। ४५ ।।

---

१. 'शुद्धिश्चित्तस्य' इत्यपि पाठः ।

गौतम मुनि ने कहा—

साधु, साधु, हे महान् प्रज्ञावान् ब्राह्मणों आपके ये वचन निश्चित ही न्यायोचित एवं युक्तियुक्त हैं ॥ ४५ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं देह उच्यते ।
रक्षितव्यः प्रयत्नेन तस्माद्देहो मुनीश्वराः ॥ ४६ ॥

वस्तुतः यह शरीर ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का साधन कहा गया है । इसलिये, हे मुनीश्वरों ! इसकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

देहत्यागं न चेच्छन्ति ये भक्ता ये च साधकाः ।
महापापादिभिर्लिप्तः सर्वकर्मविनिर्गतः ॥ ४७ ॥

वस्तुतः जो साधक हैं और जो भक्त जन हैं, वे कभी भी इस अलभ्य शरीर के त्याग की इच्छा भी नहीं करते हैं । शरीर त्याग के लिये तो [प्रायश्चित स्वरूप में] उसे सोंचना चाहिये जो महान् पापादिकों में लिप्त हैं अथवा जो सभी कर्मों से विशेष रूप से विहीन है ॥ ४७ ॥

पृथिवीभारभूतो यो देहस्त्याज्यः स एव हि ।
पितृदेवातिथीनां च कर्मणि यः सुपुण्यकृत् ॥ ४८ ॥

ये पृथ्वी के लिये भार ही हैं और वे ही देह त्याग करने के योग्य हैं । जो श्राद्धादिकपितृ कार्य और अतिथियों के सत्कार में रत हैं वे सुन्दर पुण्य करने वाले हैं ॥ ४८ ॥

ईश्वरध्यानयोग्यश्च स कथं त्यागमर्हति ।
कर्मणापि निषिद्धेन देहः पोष्य इहा यदि ॥ ४९ ॥

इसलिए ईश्वर के ध्यान के योग्य वे पुण्यवान् जन कैसे शरीर त्याग के योग्य हो सकते हैं ? निषिद्ध कर्मों के द्वारा भी यदि हो सके तो यह शरीर पोषण के योग्य ही है ॥ ४९ ॥

दग्ध्वा तानि पुनः सोऽयं नयते हि गतिं पराम् ।
यावद्देहस्थितिर्लोके तावत्कुशलमाचरेत् ॥ ५० ॥

वह पुनः उन्हें जलाकर इस श्रेष्ठ गति को ही प्राप्त करते हैं । अतः इस लोक में जब तक शरीर की स्थिति रहे तब तक कुशल पूर्वक ही जीना चाहिये ॥ ५० ॥

जलबुद्बुदतुल्योऽयं यस्मादेषो विनश्वरः ।
अस्थिरेण शरीरेण स्थिरधर्मं समाचरेत् ॥ ५१ ॥

यद्यपि यह शरीर जल के बुलबुले के समान विशेष रूप से नश्वर ही है इसलिये तो उसे इस अस्थिर शरीर से स्थिर धर्म का आचरण करना चाहिये ॥ ५१ ॥

सर्वं ब्रह्ममयं पश्यन् मुच्यते मोहसङ्कटात् ।
स चाहं तपसा तस्मात्करिष्ये वः समीहितम् ॥ ५२ ॥

सभी चराचर जगत् को ब्रह्ममय देखते हुये वह धर्मात्मा व्यक्ति मोह जाल रूप महान् सङ्कट से छूट जाता है। अतः जो कुछ हो सके वह तपस्या से मैं आप लोगों के लिये उपलब्ध कराऊँगा ॥ ५२।

विज्वराः सन्तु भो विप्राः स्वस्वकर्मण्यतन्द्रिताः ।
धन्यस्य कृतपुण्यस्य द्वार्यायान्त्यर्थिनो जनाः ॥ ५३ ॥

अतः हे विप्र ! अपने-अपने कर्मों में अतीन्द्रिय आप सब विगत ज्वर होवें। क्योंकि पुण्यवान् और धन्य लोगों के ही द्वार पर अत्यन्त क्षुधार्तजन आते हैं ॥ ५३॥

तेन सम्भावनीयास्ते प्राणैरपि धनैरपि ।
पञ्चभूतात्मको देहस्त्वनित्यः क्षणभङ्गुरः ॥ ५४ ॥

इसलिये प्राणों और धनों से भी अधिक वे सम्भावनीय हैं। वस्तुतः यह पञ्च-भूतात्मक शरीर तो अनित्य और क्षणभर में ही नष्ट हो जाने वाला है ॥ ५४ ॥

अवश्यं नाशमायाति कीर्तिधर्मौ न सर्वथा ।
भूतद्रोहं परित्यज्य दया भूतेषु नो धृता ॥ ५५ ॥

किन्तु अवश्य ही, कीर्ति और धर्म सर्वथा नष्ट नहीं होते। इसलिये प्राणियों से द्रोह का त्याग करके हमें प्राणियों पर दया करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

नोपार्जितोऽपि सद्धर्मः स्फारितं न यशो भुवि ।
नात्मा विमर्शितः शुद्धो वेदविद्भिश्च साधुभिः ॥ ५६ ॥

इस पृथ्वी पर उपार्जित सद्धर्म भी यश का विस्तार नहीं करता। वेद वेत्ता और सज्जनों के द्वारा भी आत्मा शुद्ध और निर्मल नहीं की जा सकती ॥ ५६ ॥

भूमिभराय तज्जन्म जीवन्नेव मृतो हि सः ।
तस्मात्तपोव्ययेनाहमर्थिनां वो मुनीश्वराः ॥ ५७ ॥

परिचर्यां करिष्येहं यथा स्याद्देहधारणा ।
इत्युक्त्वा गौतमस्तान् वै दानमानार्हणादिभिः ॥ ५८ ॥

सम्भावयामास तदातिथ्यागमनहर्षितः ॥ ५९ ॥

॥ इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे
शिवोमासंवादे सप्तदशं पटलम् ॥ १७ ॥

——*——

उसका जन्म तो पृथ्वी के लिये मात्र भारस्वरूप ही है और वह तो जीते हुये भी मृत के समान है। इसलिये न खर्च होने वाले तप से, हे मुनीश्वरों, क्षुधा से अति दीन आप के शरीर का जैसे धारण हो सके वैसी मैं परिचर्या करूँगा। ऐसा कहकर गौतम ऋषि ने अतिथ्य प्राप्त करने आये हुए उन-ब्राह्मणों से हर्षित होकर उनकी दान, सम्मान एवं जरुरत की वस्तुओं के द्वारा रक्षा की ॥ ५७-५९ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के सत्रहवें पटल को डॉ० सुधाकर मालवीयकृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ १७ ॥

——*——

अष्टदशं पटलम्

शिव उवाच—

एवं सम्भावितास्तेन मुनिना मुनयस्तदा ।
असम्बाधे शिवे तस्मिन्नाश्रमे न्यवसन्सुखम् ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

इस प्रकार उन गौतममुनि के द्वारा उन मुनियों को अपनी क्षत्र छाया में ले लेने के बाद तब उन गौतम मुनि के उस विघ्नरहित एवं शुभ आश्रम में उन ब्राह्मणों ने सुख से निवास किया ॥ १ ॥

[1]प्रातरुप्तानि मध्याह्ने परिणामं गतानि च ।
अन्यान्यपरभागे तु तैर्मुनिस्तानजीवयत् ॥ २ ॥

उन गौतम मुनि ने प्रातः उठकर मध्याह्न में और दिन ढलने तक तथा अन्य और भी अपर भाग में उन ब्राह्मणों को जिलाया ॥ २ ॥

हव्यैर्देवान् पितॄन्कव्यैस्तर्पयन्तो मुनीश्वराः ।
ततः शेषामृतभुजो निन्युस्तेऽहर्गणान् बहून् ॥ ३ ॥

उन मुनियों ने भी हव्यों से देवों को और पितरों को कव्यों से तृप्त किया । फिर शेष बचे अमृत रूप भोजन से अपने को तृप्त करते हुए बहुत दिनों तक सुख से समय बिताया ॥ ३ ॥

ततो द्वादशवर्षान्ते वृष्टिरासीत्सुशोभना ।
साङ्कुरा सजला पृथ्वी पुनरासीद्यथा पुरा ॥ ४ ॥

इसके बाद बारहवें वर्ष के अन्त में खूब वृष्टि हुई । पृथिवी जैसे पहले थी वैसे ही जल युक्त तथा अन्न के अंकुरों से युक्त हो गई ॥ ४ ॥

प्रजाः स्थानानानि भेजुस्ताः पूर्वं गिरिगुहाशयाः ।
अन्नादिविरहान्नष्टो धर्मः प्रावर्तत प्रिये ॥ ५ ॥

पहले जो प्रजा गिरि के गुफाओं में चली गई थी वह भी अपने स्थानों पर आ गई । हे प्रिये ! अन्न आदि के अभाव में बन्द हुए धर्म कार्य पुनः होने लगे गए ॥ ५ ॥

---

१. 'प्रातरुत्थाय' इति वा पाठः ।

क्षितिरन्नादिसम्पूर्णा विश्वमासीत्सुमङ्गलम् ।
ततः कतिपये काले गन्तुकामाः मुनीश्वराः ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण पृथ्वी अन्नादि से पूर्ण हो गई समस्त विश्व में सुन्दर मङ्गल हो गया। तब कुछ काल के बाद उन मुनि गणों ने जाने की इच्छा व्यक्त की ॥ ६ ॥

प्रेमबद्धोऽन्वहं विप्रान्न्येषध्द्विरहाक्षमः ।
निषिद्धाः कतिचिन्मासान् न्यवसंस्ते मुनीश्वराः ॥ ७ ॥

प्रेम से आबद्ध एवं विरह सहने में असमर्थ मुनि ने उन विप्रों को नित्य जाने से रोका। उनके इस आग्रह को वे टाल न सके। इस प्रकार उनसे रोके गए वे मुनि गण कुछ और महीनों तक वहाँ रहे ॥ ७ ॥

पुनः पप्रच्छुरौत्सुक्यात्स्वस्वाश्रमगतिं प्रति ।
नेत्याह गौतमो विप्रान् विरहव्यथितो भृशम् ॥ ८ ॥

बारम्बार मुनियों ने बड़ी उत्सुकता से अपने-अपने आश्रमों को जाने के लिए गौतम मुनि से पूछा। किन्तु विरह से व्यथित होने की आशंका से गौतम मुनि ने पुनः पुन उन विप्रों को नहीं ही कहा ॥ ८ ॥

ततस्ते कृतसङ्केताः केचित्तेष्वपि वाडवाः ।
ऊचुः परस्परं येन मुनित्यागः कथं भवेत् ॥ ९ ॥

इसके बाद उनमें से कुछ ब्राह्मणों के दल ने एक सूझ का संकेत दिया। परस्पर एक दूसरे से वे कहने लगे कि आखिर मुनि का आश्रम से हम लोगों का जाना कैसे हो? ॥ ९ ॥

मुनिः स्नेहवशाद्बद्धः स्वयमस्मान्न सन्त्यजेत् ।
अस्माभिस्त्यज्यते सोऽयं तथा कुर्वध्वमादृताः ॥ १० ॥

मुनि तो स्नेहवश हमलोगों से आबद्ध है। अतः वे स्वयं हमें नहीं जाने देंगे। इसलिए हम लोग ही उन्हें छोड़ देवें ऐसा कार्य हमें करना चाहिए ॥ १० ॥

विमर्षतस्तथान्योऽन्यमुपायं मनसागमन् ।
अभिषापं मुनौ धृत्वा गमिष्यामो यथारुचि ॥ ११ ॥

एक दूसरे से इस प्रकार विचार विमर्श करने पर उनके मन में एक उपाय सूझा कि मुनि का अभिशाप धारण करके ही हमें यथारुचि यहाँ से चले जाना चाहिये ॥ ११ ॥

ते दैवनिहताः सर्वे परस्परममन्त्रयन् ।
कदाचिदथ मध्याह्ने कर्तुं मध्याह्निकीं क्रियाम् ॥ १२ ॥

ऋषिसङ्घैः परिवृतो जगाम तपतीं प्रति।
निर्मितां मुनिभिर्धेनुं जरठामतिवेपतीम् ॥ १३ ॥

वे दैव के मारे सभी ब्राह्मण परस्पर एक दूसरे से मन्त्रणा करने लगे। फिर किसी समय मध्याह्न की क्रिया करने के लिए ऋषियों के सङ्घों से घिरे हुए गौतम ऋषि तपती नदी के तट की ओर गए। वहाँ पर उन्होंने मुनियों के द्वारा मायानिर्मित अत्यन्त कृशकाय एवं वृद्ध गौ को काँपते हुए देखा ॥ १२-१३ ॥

सीदन्तीं कलिले वीक्ष्य गौतमः करुणोऽभवत्।
आसाद्य सुरभेः पार्श्वं यावत्तामस्पृशन्मुनिः ॥ १४ ॥
तावत्पपात सहसा मायाधेनुर्मृतिं गता।
तद्दृष्ट्वा मुनयः प्रोचुर्धिग्धिक् गौतम ते कृतिम् ॥ १५ ॥

कीचड़ में फँसी हुई गौ को देखकर गौतम ऋषि अत्यन्त करुणा से आर्द्र हो गए। उस गाय के पास आकर ज्योंहि उन मुनि ने उसका स्पर्श किया कि वह मायानिर्मित गौ सहसा गिर पड़ी और मर गई ॥ १४-१५ ॥

हिंसिता धेनुरबला किमतो निन्दितं भवेत्।
अद्य प्रभृति ते द्वारि जलमात्रार्थिभिर्नरैः ॥ १६ ॥

उस गौ को मरा देखकर मुनियों ने कहा—हे गौतम ! धिक्कार है, धिक्कार है, यह आपका कृत्य उचित नहीं है। अरे आपने इस अबला गौ को मार डाला। यह तो बड़ा ही निन्दित कर्म है। आज से आपके द्वार पर पुरुष जल भी ग्रहण नहीं करेंगे ॥ १६ ॥

न स्थातुमर्हाः किं कुर्मो गमिष्यामो वय ततः।
एवमुक्तो मुनिर्ध्यात्वा तत्कृतानर्थमाप सः ॥ १७ ॥

अब हम लोग भी यहाँ ठहरने के योग्य नहीं रहे। अतः हमलोग क्या करें ? अब हम लोग अपने-अपने आश्रमों पर चले जायँगे। इस प्रकार उनके कहने पर गौतम मुनि ने ध्यान करके उनके अनर्थ-कृत्य को जान लिया ॥ १७ ॥

उवाच वचनं क्रुद्धो ज्वलन्निव हुताशनः।
वेदबाह्या भविष्यध्वं कृतघ्नाः स्वेन कर्मणा ॥ १८ ॥

उन्होंने अग्नि की ज्वाला के समान उन पर क्रोधित होकर इस प्रकार वचन कहे—अपने ही कर्म से कृतघ्न आप सब वेद से तिरस्कृत हो जायँगे ॥ १८ ॥

वेदब्राह्मणगोमन्त्रनिन्दावादपरायणाः।
कलौ भविष्यथो मूढाः ब्रह्मवादपरायणाः ॥ १९ ॥

आप सभी कलियुग में वेद, ब्राह्मण, गो एवं मन्त्र की निन्दा में परायण रहेंगे। आपकी आस्था इनसे हट जायगी। आप सब मूर्ख होकर ब्रह्मवाद (अहं ब्रह्मास्मि आदि वेदान्त वाक्यों) में परायण रहेंगे ॥ १९ ॥

अन्तर्दुष्टा बहिः स्वच्छा हेतुवादपरायणाः।
ब्रह्मज्ञत्वाभिमानेन धर्मकर्मबहिर्मुखाः ॥ २० ॥

आप कृतघ्न ब्राह्मण अन्दर से दुष्ट प्रकृति के और बाहर से स्वच्छ दिखने वाले तर्कशास्त्र में परायण होंगे। ब्रह्मज्ञानी होने के अभिमान में आप सब धर्म एवं कर्म से बहिमुख होंगे ॥ २० ॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यनुवादविचक्षणाः।
मिथ्यात्वाज्जगतः किं स्यात्कर्मभिश्च शुभाशुभैः ॥ २१ ॥

'ब्रह्मसत्य' है और जगत् मिथ्या है'—इस वेदान्त वाक्य का मात्र अनुवाद करने में वे परायण रहेंगे। जगत् के मिथ्या होने से शुभ या अशुभ कर्मों से क्या लेना देना? इस प्रकार उनकी बुद्धि मूढ़ हो जायगी ॥ २१ ॥

इत्येवं नास्तिका मूढा दुर्हृदा वेदनिन्दकाः।
ब्रह्मवादविलासोत्थैर्वचनैर्भावगर्वितैः ॥ २२ ॥

इस प्रकार से नास्तिक, मूर्ख, दुष्ट हृदय और वेदनिन्दक ब्राह्मण हो जायँगे। ब्रह्मवाद में सराबोर एवं भावगर्वित वचनों से वे अभिमानी बने रहेंगे ॥ २२ ॥

साधुवेषेण शिक्षाभिः प्रियवाक्यामृतादिभिः।
एतैर्जवनिकाकारैः पापमावृत्य केवलः ॥ २३ ॥

साधु के वेष में शिक्षाओं द्वारा तथा अमृत सदृश प्रिय वाक्यों द्वारा लोगों को एक नट की तरह पाप से आवृत होकर वे ठगेंगे ॥ २३ ॥

ज्ञानित्वमात्मनो लोके ख्यापयन्तो दुराशयाः।
यूयं वैडालिनो लोके भवन्तु चरमे युगे ॥ २४ ॥

ये दुराचारी लोक में अपने ज्ञानी होने की प्रसिद्धि करने के फेर फार में ही व्यस्त होंगे। इस प्रकार आप सभी कृतघ्न ब्राह्मण लोक में कलियुग में वैडाल वृत्ति (=बिल्ली की तरह धोखा देकर छीना-झपटी करने) वाले होंगे ॥ २४ ॥

न तु वो वास्तवं ज्ञानमुदेष्यति कदाचन।
इति गौतमशप्तानां धर्मच्छेदोद्यमे ततः ॥ २५ ॥
वासना समभूत्तेषां गौतमं प्रतिकुर्वताम्।
अथ तद्वासनायुक्ताः कलौ पापयुगे शठाः ॥ २६ ॥

आप कृतघ्नों में कभी भी वास्तविक ज्ञान का उदय नहीं होगा। इस प्रकार गौतम ऋषि द्वारा अभिशप्त हुए वे उसके ही बाद से धर्म के ही उच्छेद में बुद्धि लगाने वाले हो गए। गौतम के प्रति जैसी कृतघ्नता उन्होंने की थी वैसी शठ बुद्धि वाले वे ब्राह्मण इस पाप युक्त कलियुग में उनके शाप से उत्पन्न हुए ॥ २५-२६ ॥

अवतीर्य क्षितितले[1] ब्रह्मसृष्टिमुपाश्रिताः।
वेदशास्त्रविरुद्धानि ह्याचरन्तीह पामराः ॥ २७ ॥

ये पामर ब्राह्मण पृथ्वी पर आकर ब्रह्मसृष्टि के आश्रित होकर भी वेदशास्त्र के विरुद्ध कर्मों का आचरण करने लग गए ॥ २७ ॥

द्विषन्त्याचारमास्तिक्यं यज्ञव्रततपांसि च।
द्रुह्यन्त्यन्योऽन्यमासाद्य नष्टज्ञाना विचेतसः ॥ २८ ॥

ये आचारवान्, आस्तिक एवं यज्ञ, तप तथा व्रतों के करने वाले लोगों से द्वेष करने लग गए। ज्ञान के नष्ट हो जाने से और बुद्धि के विपरीत होने से ये एक दूसरे के पास आकर द्रोह करते हैं ॥ २८ ॥

परद्रव्यपरद्रोहपरस्त्रीगमनोत्सुकाः ।
तत्सम्बन्धात् ब्रह्मसृष्टिर्मालिन्यमुपयास्यति ॥ २९ ॥

ये कृतघ्न परद्रव्य, परद्रोही तथा परस्त्रीगमन में उत्सुक रहते हैं। इनके सम्बन्ध से ब्रह्मसृष्टि में मालिन्य आ जायगा ॥ २९ ॥

यथा कालिमसम्बन्धात् स्फटिकोऽपि मलीमसः।
आभाति तद्वदेवेयं ब्रह्मसृष्टिस्तदाश्रयात् ॥ ३० ॥

जैसे कालिख के सम्बन्ध से स्फटिक भी मैला हो जाता है वैसे ही इन कृतघ्नों के सम्बन्ध से ब्रह्मसृष्टि भी मलिनता को प्राप्त करेगी ॥ ३० ॥

तस्माद् बुभुत्सुभिः साध्वि त्याज्यो बैडालिकाश्रयः।
समधर्मक्रियाछद्मधारिणस्ते तु कीर्तिताः ॥ ३१ ॥

इसलिए, हे साध्वि ! कृष्ण भक्त-साधक को इन बिडाल वृत्ति वाले कृतघ्नों से दूर रहना चाहिए। वे धर्म कर्मों में छद्म वेष धारण करने वाले कहे गए हैं ॥ ३१ ॥

अन्येऽपि सन्ति पाषण्डा आसुरं भावमाश्रिताः।
तेऽपि निन्दन्ति पापिष्ठा वेदधर्मं पुरातनम् ॥ ३२ ॥

---

१. वचनमिदमाकर्ण्य श्रीपूर्णपुरुषोत्तमसेवामतिक्रम्य वेदप्रतिपादितकर्मकाण्डादि चावलम्ब्य निजधाममार्गो ब्रह्मसृष्टिभिरिह नैव त्याज्यः, पतिसेवात्यागेन प्रत्यवायदर्शनात् अतो ब्रह्मसृष्टीनां निजपतिपुरुषोत्तमसेवैव परमो धर्मः।

अन्य भी पाखण्डी और आसुरी (मांस-मदिरा आदि तामसी) प्रकृत्ति के ब्राह्मण हैं। वे पापिष्ठ भी पुरातन वेद धर्म की निन्दा करते हैं। उन्हें छोड़ देना चाहिए॥ ३२॥

तांस्ते ब्रवीमि सङ्क्षेपात् श्रृणुष्वेकाग्रमानसा।
यत् शृण्वतां न पाखण्डो बुद्धि मोहयति क्वचित्॥ ३३॥

वे पाखण्डी कृतघ्न ब्राह्मण कौन से हैं उन्हें मैं संक्षेप से कहता हूँ। हे देवि! आप एकाग्रमन से सुने। जिसके सुनने से कभी भो पाखण्ड में बुद्धि मोहित नहीं होती है॥ ३३॥

पुरा देवासुरयुद्धे निर्जितेष्वसुरेष्वथ।
पाखण्डाधिकृताः सर्वे ह्येते सृष्टाः स्वयम्भुवा॥ ३४॥

प्राचीन काल को बात है कि देवों और असुरों के युद्ध में जब असुर लोग देवों के द्वारा जीत लिए गए तो वे असुर पाखण्डियों के रूप में ब्रह्मा द्वारा सृष्ट हुए॥ ३४॥

तपश्चरत्सु सर्वेषु असुरेषु जयार्थिषु।
विष्णुः सुदुस्तरां मायामास्थाय सुरनोदितः॥ ३५॥

मोहयामास योगात्मा तपोविघ्नाय तान्प्रभुः।
स मूढान् बुद्धरूपेण तानुवाच महामनाः॥ ३६॥

उन सभो विजय की आकाङ्क्षा वाले असुरों के तप करने से विष्णु ने सुन्दर किन्तु दुस्तर माया के द्वारा उन्हें मोहित कर लिया और उनके तप में विघ्न डालने के लिए बुद्ध रूप से उन महामना प्रभु ने उन मूर्खों से कहा॥ ३५–३६॥

शक्या जेतुं सुराः सर्वे युष्माभिरितिदर्शनैः।
बौद्धधर्मं समास्थाय शक्यास्ते बभूविरे॥ ३७॥

दर्शनों के द्वारा सभी देवता आप लोगों के द्वारा जीते जा सकते हैं। अतः आप सब बौद्ध धर्म में आस्थावान् होकर उन्हें जीत सकते हैं। बुद्ध भगवान् के ऐसा कहने पर वे बौद्ध धर्मावलम्बी हो गए॥ ३७॥

तानुवाचार्हतो मम यूयं भवत मद्विधाः।
ज्ञानेन सहितं धर्मं ते चार्हन्त इति स्मृताः॥ ३८॥

अर्हत हुए उन्होंने उन (असुरों) से कहा—जैसे मैं हूँ वैसे ही तुम सब हो जाओ। ज्ञान के सहित धर्म वाले वे 'अर्हत' कहलाए॥ ३८॥

बौद्धश्रावकनिर्ग्रन्थाः सिद्धपुत्रास्तथैव च ।
ऐते सर्वेऽपि चार्हन्तो विज्ञेया दुष्टचारिणः ॥ ३९ ॥

बौद्धश्रावक, निर्ग्रन्थी (=जैन सन्यासी), सिद्धपुत्र (=जैनी) आदि दुष्ट बुद्धि वाले वे सभी 'अर्हन्त' के नाम से जाने गए ॥ ३९ ॥

त्रयीक्लेशं समुत्सृज्य जीवतेत्यब्रवीत्तु यान् ।
जीवकानाम ते जाताः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ ४० ॥

जो असुर वेदनिन्दक होकर वेद छोड़ कर जीवित थे वे 'जीवत' सभी धर्मों से बहिष्कृत होकर 'जीवक' नाम अभिहित हुए ॥ ४० ॥

यान् भूत्वादित्यबद्व्योम्नि धर्मान्वै प्रतिपादयत् ।
कापिलास्तेपि सम्प्रोक्ताः कपिलो हि दिवाकरः ॥ ४१ ॥

आदित्य के समान जो आकाश में धर्मों का प्रतिपादन करते थे वे 'कापिल' (भूरे रङ्ग के) कहे गए क्योंकि दिवाकर कपिल हैं ॥ ४१ ॥

चरध्वं तानुवाचेदं मच्छासनमतिद्युति ।
चरकास्तेपि विज्ञेया अधर्माचारिणाः शठाः ॥ ४२ ॥

हमारे शासन में बुद्धि रखकर 'चरध्वम्' (=शासन मानों) ऐसा उनसे विष्णु ने कहा । वे अधर्माचारी और शठ असुर 'चरक' नाम से अभिहित हुए ॥ ४२ ॥

दीर्घंचरमिति प्रोक्त सूक्ष्मं वा धर्मरूपकम् ।
धर्मंचरध्वमित्युक्ता यस्मात्ते दीर्घचक्षुषः ॥ ४३ ॥

'दीर्घ आचरण करो' ऐसा धर्म का लक्षण सूक्ष्म रूप से कहा । धर्म का आचरण करो' ऐसा कहने से वे 'दीर्घचक्षु' कहलाए ? (अर्थ अस्पष्ट है) ॥ ४३ ॥

चीराणि चैव नीलानि बिभ्राणाश्चीरकास्ततः ।
एषश्चोक्षोतिसंशुद्धो धर्मस्तं श्रयतेति यान् ॥ ४४ ॥
उवाच मायया विष्णुस्ते हि चौक्षाः प्रकीर्त्तिताः ।
विट्भक्षाश्चैव ये केचित् कपालकृतभूषणाः ॥ ४५ ॥
तथेतरे दुरात्मानः सर्वेष्यासुरदेवताः ।
बौद्धश्रावकनिर्ग्रन्थाः सिद्धपुत्रास्तथैव च ॥ ४६ ॥

वे नील वस्त्रों को पहने थे । अतः वे चीरक' कहलाए । ये शुद्ध 'उक्ष' थे । जिनमें धर्म आश्रित था । अतः विष्णु की माया ने इस उक्ष असुरों को 'औक्ष' रूप से प्रसिद्ध कर दिया । मांस आदि विष्ठाभोजी और कपालों को अपना आभूषण बनाने वाले पाखण्डी तथा अन्य दुरात्मा एवं आसुरी वृत्ति वाले वे सभी देवता

बौद्ध सन्यासी और जैनी तथा जैन सन्यासी, आत्मा को न मानने वाले तथा कुत्सित ज्ञान वाले चार्वाक आदि कलियुग में रहेंगे और वे अधर्म में सदैव रत रहकर पुनः पुनः पैदा होते रहेंगे ॥ ४४–४६ ॥

नैरात्म्यवादिनः सर्वे अपज्ञानास्तिवादिनः ।
वर्त्तमानास्त्वधर्मेषु जायन्ते तु पुनः पुनः ॥ ४७ ॥
निरय प्राप्य तैरेव कर्मभिर्भावितैः पुनः ।
वृथा जटी वृथा मुण्डी वृथा नग्नाश्च ये नराः ॥ ४८ ॥
एतेऽन्ये च त्रयीबाह्याः पाखण्डाः पापचारिणः ।
पाशब्देन त्रयीधर्मः पालनाज्जगतः स्मृतः ॥ ४९ ॥
तं खण्डयन्ति यस्मात्ते पाखण्डास्तेन हेतुना ।
यदि ह्यनादरेणैषां न कथ्येता प्रमाणता ॥ ५० ॥
अशक्यैवेति मत्वान्ये भवेयुः समदृष्टयः ।
त्रयीमार्गस्य सिद्धस्य ये ह्यत्यन्तविरोधिनः ॥ ५१ ॥
अनिराकृत्य तान् सर्वान् धर्मशुद्धिर्न लभ्यते ।
पाखण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालान् हेतुकांस्तथा ॥ ५२ ॥
बकवृत्तांश्च यान् तान्वै वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ।
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ॥ ५३ ॥
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ते स्मृताः ।

वे नरक को प्राप्त कर अपने कर्मानुसार पुनः उत्पन्न होंगे । वे वृथा ही जटाधारी होंगे तथा वृथा ही सर मुड़वा लेंगे । ये वृथा ही नग्न रहने वाले और वेदत्रयी को न मानने वाले अन्य पाखण्डी तथा पापाचरण करने वाले लोग पुन पुनः जन्म लेंगे । वस्तुतः 'पा' शब्द से वेदत्रयी के धर्मानुसार जगत् का पालन करना कहा गया है । वे उसका खण्डन करते हैं अतः वे पाखण्डी कहलाए । यदि अनादरपूर्वक वेद का प्रामाण्य न स्वीकार करे तो उन्हें अशक्य के समान समझकर अन्य में समदृष्टि रखनी चाहिए । त्रयी मार्ग के अत्यन्त विरोधी जो सिद्ध हैं उन सभी बौद्धों (और जैनों आदि) का बिना त्याग किए धर्म शुद्धि प्राप्त नहीं होती है । अतः उन पाखण्डी सन्यासियों को जो विकर्म में लिप्त हैं तथा विडाल (नोंच खसोट कर खाने की) वृत्ति वाले हैं तथा जो कुतर्क करने वाले और जो बगुले के समान झपट कर खा जाने वाले हैं, व्यक्ति को कभी भी उनसे बात भी नहीं करना चाहिए । जो वेद से बाह्य स्मृति या कुदृष्टि वाले जो भी साहित्य हैं वे सभी निष्फल होकर अन्धकारमय जगत् की ही सृष्टि करते हैं । (अतः उन्हें नहीं पढ़ना चाहिए) ॥ ४७–५४ ॥

पुराणानि तथा सांख्यं योगः पाशुपतं तथा ।। ५४ ।।
देशजातिकुलानां च धर्माश्चान्ये महत्तराः ।
सर्वे वेदाविरोधेन प्रमाणं नान्यथा भवेत् ।। ५५ ।।

पुराण तथा सांख्य योग एवं पाशुपत (शैव) शास्त्र, देश, जाति एवं कुल तथा अन्य भी महान् धर्म सभी वेद से विरोध न रखने के कारण साधक के लिए प्रमाण हैं । वे अन्यथा नहीं होते ।। ५४–५५ ।।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः किञ्च प्रत्यवायस्य हेतवः ।। ५६ ।।

जो वेद से विरोध रखने वाली स्मृतियाँ अथवा कुदृष्टि वाले चतुर चालाक व्यक्ति हैं, वे सभी निष्फल होते हैं और साधक के कार्य में बाधक होते हैं । (अतः उन्हें छोड़कर मात्र वेद सम्मत साहित्य एव व्यक्ति से प्रयोजन रक्खे) ।। ५६ ।।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन देवि देवेन्द्रवन्दिते ।
त्यक्त्वा वेदविरुद्धानि वेदमेकं समाश्रयेत् ।। ५७ ।।

इसलिए, हे देवेन्द्रवन्दित देवि ! सभी प्रयत्न करके इन वेद विरुद्ध साहित्य को त्याग कर मात्र एक वेद की ही शरण लेनी चाहिए ।। ५७ ।।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्येति चतुर्दश ।। ५८ ।।

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और उनके अन्य अंगों वाली चौदह विद्याएँ वेद सम्मत होने से साधक के लिए धर्म ही हैं ।। (अतः उनका ही पठन पाठन करे) ।। ५८ ।।

यथा वेदास्तथा तन्त्रं धर्मनिर्द्धारहेतवे ।
तदुक्तमाचरन् देवि ! भवपाशाद्विमुच्यते ।। ५९ ।।

जैसे वेद हैं वैसे ही तन्त्र शास्त्र भी धर्म निर्धारित करने में हेतु हैं । अतः हे देवि ! उनके आचरण से साधक भव-पाश (माया मोह) से मुक्त हो जाता है ।। ५९ ।।

अतोऽन्यथा प्रवर्त्तन्ते ये मूढाः पापबुद्धयः ।
असुरास्तान्विजानीहि विष्णुना मोहिताः पुरा ।। ६० ।।

अतः जो मूर्ख एवं पाप बुद्धि वाले जन बौद्ध-जैन आदि अन्यथा धर्म में प्रवर्तित हैं, उन्हें असुर ही जानना चाहिए, क्योंकि वे पहले विष्णु भगवान् द्वारा मोहित किए जा चुके हैं ।। ६० ।।

ब्रह्मवादेषु वाचाला धर्मोच्छेदैकतत्पराः ।
तेषां मुखावलोकेन कुर्यात्सूर्यविलोकनम् ।। ६१ ।।

ब्रह्म चिन्तन में वाचाल और धर्म का उच्छेद करने वाले उन बौद्ध एवं जैनों का यदि दर्शन हो जाय तो सूर्य का अवलोकन करके ही साधक को शुद्ध होना चाहिए ।। ६१ ।।

तस्य संस्पर्शमात्रेण सवासा जलमाविशेत् ।
कलौ ते घोषयिष्यन्ति ब्रह्मवादं जने जने ।। ६२ ।।

यदि उनका स्पर्श हो जाय तो साधक वस्त्र सहित (सचैल) स्नान करे । क्योंकि ये ही जन कलिकाल में जन-जन में ब्रह्म चिन्तन की उद्घोषणा करेंगे ।

विमर्श—पहले प्रश्न किया गया था कि जब घर घर में ब्रह्मवाद होगा तो कैसे धर्म नष्ट हो जायगा ? उत्तर है कि बौद्ध-जैन आदि वेद विरुद्ध धर्मों से सनातन धर्म का लोप हो जायगा ।। ६२ ।।

इति मे कथितं देवि यत्त्वया पृष्टमुत्तमम् ।
समासेन महादेवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। ६३ ।।

। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
अष्टादशं पटलम् ।। १८ ।।

———*———

हे देवि ! इस प्रकार जो आपने पूँछा था उसे हमने आपसे संक्षेप में कहा है । हे महादेवि ! अब आप पुनः क्या सुनना चाहती हैं ? ।। ६३ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के अट्ठारहवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १८ ।।

———*———

अथ एकोनविंशं पटलम्

शिव उवाच—

अथेदानीं शृणु शिवे प्रियाणां कामनिर्णयम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण वैराग्यं देहगेहयोः ॥ १ ॥
मनोरथश्च यश्चासीत् प्रियाणां दुःखदर्शने ।
रासे प्रदर्शिते प्रायो ह्यसम्पूर्णोविशेषितः ॥ २ ॥

शिव ने कहा—

इसके बाद, अब हे शिवे ! प्रियों के कामनिर्णय को सुनो । जिसके श्रवणमात्र से शरीर और गृह से वैराग्य प्राप्त होता है । प्रिय लोगों के दुःख रूप दर्शन में जो मनोरथ था । प्रायः उसे रास में सम्पूर्ण रूप से और विशेष प्रकार से प्रदर्शित किया गया था ॥ १-२ ॥

तद्भोगार्थं पुनः सर्वाः प्रियास्ता रासविच्युताः ।
कालमायामयं देवि ब्रह्माण्डं विविशुः सह ॥ ३ ॥

उसे भोगने के लिए सभी प्रिया रास से च्युत हो गईं । हे देवि ! काल रूप मायामय ब्रह्माण्ड में उन्होंने साथ में प्रवेश किया ॥ ३ ॥

संभूता भारते वर्षे नैकत्र स्थितयोऽभवन् ।
मोहावेशवशाद् देवि ! दुस्तरादीशनिर्मितात् ॥ ४ ॥
विच्युतात्मानुसन्धाना बभूवुर्भगवत्प्रियाः ।
यथा स्वप्ने जनः कश्चिन्निद्रात्याजितसंस्मृतिः ॥ ५ ॥

उन्होंने भारतवर्ष में जन्म लिया । किन्तु हे देवि ! उनकी एक स्थान पर स्थिति न हुई । दुस्तर ईश निर्मित मोह जाल के कारण फिर भी वे विछुड़ी हुई भगवान् की प्रियाओं ने आत्मानुसन्धान किया । उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कोई मनुष्य स्वप्न देखते हुए जगकर उसकी पुनः स्मृति में संलग्न हो ॥ ५ ॥

स्वप्नलब्धगजाकार आत्मानं मनुते गजम् ।
मोहलब्धाकृतिस्तद्वल्लब्ध्वा तादात्म्यभावतः ॥ ६ ॥
उच्चावचासु योनीषु विभ्रमन्ति विचित्रधा ।
तत्र देहाभिमानोत्थकर्मसंसर्गदूषिताः ॥ ७ ॥

कर्मबन्धस्ततो जातो यथा स्यादुत्तरोत्तरम् ।
श्वकाकोलूकमार्जार खरगृध्रादियोनिषु ॥ ८ ॥
भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा मनुष्येषु भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः ।
जायन्ते च म्रियन्ते च तेषामन्तो न विद्यते ॥ ९ ॥

स्वप्न में दिखने वाले गज के आकार में वह स्वयं को ही गज मान लेता है। स्वप्न की वस्तु से तादात्म्य के कारण मोह से उत्पन्न आकृति के समान आकृति को पाकर ऊँची एवं नीची विचित्र प्रकार की योनियों में भ्रमित होते हैं। वहाँ भी शरीर रूप अभिमान से प्राप्त कर्म के संसर्ग से दूषित होकर वे कर्म के बन्धन में उत्तरोत्तर बाधते हुए, कुत्ता, कौआ, उल्लू, बिल्ली, गदहा, और गिद्ध आदि योनियों में जन्म लेते हैं। इस प्रकार अनेक योनियों में भ्रमित होते हुए बार-बार मनुष्ययोनि में जन्म लेते हैं और मरते हैं। उनका अन्त फिर भी नहीं होता ॥ ९ ॥

जन्मदुःख जराःदुःख बाल्ये यद्दुःखमुल्बणम् ।
देहत्यागनिमित्तं च दुःखमाप्ताः पुनः पुनः ॥ १० ॥
क्वचिद्धर्मः क्वचिच्छोको रागद्वेषादिकं क्वचित् ।
क्वचिद्बन्धः क्वचिन्मोक्षो राजसन्ताडनं क्वचित् ॥ ११ ॥

इस तरह उन जन्म के समय और वृद्धावस्था में भी अथवा-बाल्यकाल में या देह त्याग में भी बारम्बार दुःख ही प्राप्त होता है। इस संसार में कहीं धर्म है तो कहीं शोक है, और कहीं राग है तो कहीं द्वेष है, कहीं बन्धन है तो कहीं मोक्ष है। कहीं राज्य का प्रताड्न है ॥ १०–११ ।

अन्नादिकाङ्क्षया क्वापि दरिद्रेणापि विद्रुताः ।
म्लानेन्द्रियमुखाकारा दैन्यभावं समागताः ॥ १२ ॥

अन्न आदि जरूरत की वस्तुओं की आकाङ्क्षा से घूमते हुए वे दरिद्रता से भी दुःखी रहते हैं। इस प्रकार म्लान इन्द्रियों के कारण उदास मुखाकृति में वे दैन्यभाव को प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

पुत्रमित्रकलत्रादिनाशोत्थं दुःखमद्भुतम् ।
प्राप्य हाहेति हाहेति परितापात् जुषन्ति ताः ॥ १३ ॥
बृहत्सेनस्य राजर्षेर्यथा राज्ञी पतिव्रता ।
अधौतपादा चोच्छिष्टा सुष्वाप विधिमोहिता ॥ १४ ॥

इस संसार में पुत्र, मित्र और स्त्री आदि की मृत्यु से प्राप्त अद्भुत दुःख प्राप्त करके 'हा, आह' आदि रूप से विलाप करते हुए वे चारों तरफ से दुःख से पीडित होते हैं। जैसे —[इस सम्बन्ध में एक कथा इस प्रकार है] बृहत्सेन नाम राजर्षि

की महिषी पतिव्रता नारी थीं। किन्तु एक दिन विधि के विधान से मोह को प्राप्त करके बिना पैर एवं मुँह धोए ही जूँठे मुँह सो गई ॥ १३-१४ ॥

यक्षः कश्चिन्निशाचारी प्रसुप्तामहरच्च ताम्।
समुद्रद्वीपमानीय यक्षमायामयं महत् ॥ १५ ॥
ददर्श नगरं दिव्यं दिव्याट्टालकगोपुरम्।
यक्षस्तिरोदधे तस्यां तदावेशविमोहिता ॥ १६ ॥

इस दोष के कारण वह किसी रात में विचरण करने वाले यक्ष के द्वारा सोते हुए हरण कर ली गई। किसी समुद्र के द्वीप में लाई गई उन्होंने यक्ष की महान् माया से व्याप्त एक नगर को देखा। उस दिव्य नगर में गोपुर से युक्त दिव्य अट्टालिकाएँ थी। वहाँ पर जाकर यक्ष ने उन्हें आवेश से मोहित कर उस नगरी में छिपा दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये ॥ १५-१६ ॥

सैका बभ्राम नगरे गृहे गृहे विचेतना।
यत्र यत्र गता सा तु जनैस्तत्र बिभीषिता ॥ १७ ॥
तमिस्रायां तमोमय्यां भ्रमन्ती भ्रान्तमानसा।
हृतवस्त्राम्बरा क्वापि प्रसह्य परिपन्थिभिः ॥ १८ ॥

वह अकेली ही इधर-उधर नगर में घर-घर भ्रमित हुई। जहाँ-जहाँ वह गई, वहाँ सभी लोगों के द्वारा डराई गई। तमोमयी तामिस्र नामक रात्रि में वह भ्रान्तचित्त होकर भ्रमित हो रही थी कि किन्हीं पथिकों ने वस्त्राच्छादन आदि जबरदस्ती छीन लिया ॥ १७-१८ ॥

मुक्तकेशा वस्त्रहीना धूलिधूसरविग्रहा।
पिशाचिनीव नगरे बभ्रामैका दिवानिशम् ॥ १९ ॥

अन्ततः वह उस नगर में खुले बालों से वस्त्रहीन होकर एवं धूलि से धूसरित शरीर से पिशाची के समान होकर अकेले ही दिन-रात घूमने लगी ॥ १९ ॥

रुदन्ती करुणा दीना ताड्यमाना जनैर्मुहुः।
क्षुत्तृड्व्याकुलचित्ता सा वल्गन्तीव जनाज्जनम् ॥ २० ॥
महाजनैश्च विपिने नगरात्तु विवासिता।
व्याघ्रसिंहध्वनिं श्रुत्वा भीषणं त्रस्तमानसा ॥ २१ ॥

वे रोती हुई, करुणा से दीन हुई, बारम्बार वहाँ के लोगों के द्वारा प्रताड़ित होती हुई, भूख और प्यास से व्याकुल चित्त होकर जनजन से दुतकारी जाकर बहुत लोगों के द्वारा नगर से वन में निकाल दी गई। वहाँ पर सिंह, चीता आदि वन्य प्राणियों की आवाज सुनकर वे भयंकर रूप से भयभीत हो गई ॥ २१ ॥

दृष्ट्वा तांस्तु पुनः साध्वी वृक्षखण्डेष्वेवलीयत ।
वृक्षकोटरगैः सर्पैर्दंशिता विवशाभवत् ।। २२ ।।

फिर उन्हें देखकर वह सती साध्वी वृक्षों की आड़ में छिप गई। किन्तु वृक्षों के कोटरों में रहने वाले सर्पों से डसी जाकर अत्यन्त विवश हो गई ।। २२ ।।

अशेत भूमिशयने विषव्याघूर्णमानसा ।
भूविलोत्थैर्वृश्चिकाद्यैः सन्दष्टा सर्वसन्धिषु ।। २३ ।।
एवं नानाविधांस्तापान् प्राप्ता नृपसुन्दरी ।
कर्कराकण्टकैर्विद्धपादाम्भोजा महावने ।। २४ ।।

विष से भ्रमित होकर वह भूमि पर सो गई। भूमि के बिल आदि से निकलकर बिच्छू आदि से सभी जोड़ों में डसी जाकर वह नृपति सुन्दरी अनेक प्रकार के कष्टों को प्राप्त हुई। उस महान् अरण्य में कर्करा के काटों से उसके पद कमल विद्ध हो गए ।। २३-२४ ।।

का त्वं कस्यासि वामोरु ! पृष्टा सप्तर्षिभिस्तु सा ।
नाहं विदामि चात्मानं न तातं मातरं पतिं ।। २५ ।।
दुःखातिदुःखपाथोधौ मग्नास्मीत्यभ्यभाषत ।
भृशं नागरिकैर्दुष्टैः पीडिता भर्त्सिता पुनः ।। २६ ।।

वहाँ सप्तर्षियों ने उससे पूँछा—हे वामोरु ! तुम कौन हो ? और किसकी पत्नी हो ? उसने कहा—मैं अपने को नहीं जानती। मैं अपने माता-पिता एवं पति को भी नहीं जानती। मैं तो अत्यन्त दुःख रूप पाप के समुद्र में डूबी हुई हूँ। मैं यहाँ पर दुष्ट नागरिकों के द्वारा बारम्बार दुतकारी गई हूँ और पीड़ित की गई हूँ ।। २५–२६ ।।

तस्करैर्वस्त्रभूषादि दुष्टैरपहृतं हि मे ।
क्षुत्तृट्परीता पापिष्ठैर्नगराच्च विवासिता ।। २७ ।।

दुष्ट लुटेरों के द्वारा मेरे आभूषण आदि लूट लिए गए। भूँख और प्यास से व्याकुल मुझे पापिष्ठों ने नगर से निकाल दिया है ।। २७ ।।

याता महावनं भ्रान्ता व्याघ्रसिंहभयाकुला ।
भुजङ्गवृश्चिकैः क्रूरैर्विषव्यापादितान्तरा ।। २८ ।।

व्याघ्र, सिंह आदि वन्य प्राणियों से भयकारक महावन में इसलिए मैं भ्रमित होकर आ गई हूँ। उसके बाद क्रूर सर्प और बिच्छूओं के द्वारा विष से डसी गई हूँ ।। २८ ।।

भ्रमाम्यहं दिवारात्रौ न जाने विदिशं दिशम् ।
अतः कुरुध्वं साहाय्यमनाथायाः कृपालवः ॥ २९ ॥

दिशा-दिशा में मैं न जाने कहाँ-कहाँ रात दिन भ्रमित हो रही हूँ। अतः हे कृपालु सप्तर्षियों ! आप मुझ अनाथ की सहायता करें ॥ २९ ॥

एवमुक्तं तया साध्व्या कृपया पीडिता भृशम् ।
कमण्डलुजलेनौक्षन् यक्षोघ्नेन मुनीश्वराः ॥ ३० ॥

इस प्रकार उस साध्वी रानी के कहने पर उन मुनोश्वरों ने बहुत दुःखित हो कृपा करके कमण्डलु के जल से प्रोक्षण [छींटा] किया ॥ ३० ॥

लीनायां लक्षमायायां आत्मानं समपद्यत ।
सस्मार मातरं तातं बृहत्सेनं पतिं तथा ॥ ३१ ॥

तभी यक्ष की माया में लीन वह अपने-आप में सुस्थिर हुई। फिर माता और पिता को और पति बृहत्सेन को स्मरण किया ॥ ३१ ॥

व्रीडिताधोमुखी बाला मुनीन्द्रान् प्रत्यभाषत ।
सूर्यवंशप्रसूतस्य बृहत्सेनस्य धीमतः ॥ ३२ ॥
प्रियास्म्यहं विप्रदेवा उच्छिष्टा शयनं गता ।
केनचिज्जलधेस्तीरमानीता भयविह्वला ॥ ३३ ॥

इसके बाद लज्जा से अधोमुख उस बाला ने मुनियों से कहा—सूर्यवंश में उत्पन्न धीमान् बृहत्सेन की, हे विप्रदेवो ! मैं प्रिया हूँ। वस्तुतः जूँठे मुँह ही मैं सो गई थी। अतः किसी [यक्ष] के द्वारा मैं भयाक्रान्त करके समुद्र के किनारे लाई गई थी ॥ ३२-३३ ॥

तत्रैकं नगरं दिव्यं मया दृष्टं महाद्भुतम् ।
तत्रैकला विभ्रमन्ती लोकपीडासहानिशम् ॥ ३४ ॥

वहाँ हमने एक महान् अद्भुत एवं दिव्य नगर को देखा। वहाँ पर अकेले ही रात-दिन लोक की [नाना प्रकार] पीड़ा को सहती हुई घूमती रही ॥ ३४ ॥

ततो निष्कासिता पौरैः प्राप्तेदं विपिनं महत् ।
अस्तंगतात्मविज्ञाना भ्रान्ता दुःखमयेऽध्वनि ॥ ३५ ॥

वहाँ से उन पुरवासियों के द्वारा निष्कासित मैं इस महान् अरण्य में आ गई हूँ। यहाँ पर मेरा ज्ञान अस्तंगत हो गया है और मैं इस दुःखपूर्ण मार्ग में भ्रान्त हो गई थी ॥ ३५ ॥

भवद्भिर्नष्टमज्ञानं तमः सूर्यांशुभिर्यथा ।
नष्टं लब्धमिवात्मानं मेने भवदनुग्रहात् ।। ३६ ।।

किन्तु आपने हमारे अज्ञान को नष्ट कर दिया । जैसे ही आपकी सूर्य रूप किरणों से अज्ञान का अन्धकार दूर किया गया वैसे ही आपके अनुग्रह से अपने आप को मैंने पा लिया ।। ३६ ।।

सवस्त्रभूषणाकल्पं देहं चैव यथा पुरा ।
पश्यामि शयनोद्बुद्धा यथा स्वप्ने लयं गते ।। ३७ ।।

भवत्प्रसादाद् दुःखाब्धिमुत्तीर्णा भगवत्तमाः ।
इत्युक्त्वा मुनिपादाब्जं प्रणताभूत्पुनः पुनः ।। ३८ ।।

वस्त्राभूषण से युक्त पहले जैसा शरीर था वैसा ही मैं अब भी देख रही हूँ । जैसे कोई स्वप्न देखते हुए सोते हुए जग जाने के बाद देखता है । हे भगवत्तम ! आपकी कृपा से इस दुःखरूप समुद्र से मैं पार पा सकी । ऐसा कहकर वह मुनि के चरण कमलों पर पुनः पुनः प्रणत हुई ।। ३७-३८ ।।

ततः प्रोचुर्मुनिवराः सान्त्वयन्तश्च तां सतीम् ।
भयं मा कुरु कल्याणि पातिव्रत्यपरायणे ।। ३९ ।।

इसके बाद उन मुनिश्रेष्ठों ने उन सती को सान्त्वना देते हुए कहा—हे पातिव्रत-धर्म में परायण, हे कल्याणि ! मत डरो ।। ३९ ।।

अज्ञानप्रभवं विश्वं वस्तुतो नास्ति किञ्चन ।
यावदज्ञानमात्मस्थं तावद्दर्शयते भयम् ।। ४० ।।

वस्तुतः यह विश्व अज्ञान से उत्पन्न है । यह सब कुछ भी शाश्वत नहीं है । जब तक आत्मा में अज्ञान विद्यमान है तभी तक भय है ।। ४० ।।

मिथ्या स्वप्नोऽपि राजर्षिप्रिये ! भयकरो यथा ।
तथा मिथ्यापि संसारो भयकृत्तादृशा जुषाम् ।। ४१ ।।

हे राजर्षि की प्रिया ! जैसे झूठा स्वप्न भी भय प्रद होता है । वैसे ही यह झूठा संसार भी मनुष्यों को भय ही प्रदान करता है ।। ४१ ।।

अज्ञातैव यथा रज्जुः सर्पभूता भयप्रदा ।
अविद्यासबलब्रह्मविवर्तोऽयं प्रपञ्चकः ।। ४२ ।।

तदंशभूतजीवानामविज्ञातो भयङ्करः ।
स्वात्मत्वेन तु विज्ञातो भयं नोद्वहते पुनः ।। ४३ ।।

जैसे न जानकारी रहने पर रस्सी भी सर्पभूत होकर भयप्रद होती है वैसे ही यह सर्व प्रपञ्च अविद्याजनित सबल ब्रह्म का परिणाम रूप है। उसी परमेश्वर का अंशभूत यह जीव विज्ञान न होने से भय को प्राप्त करता है और अपनी आत्मा को जान लेने से फिर भय नहीं रहता है॥ ४२-४३॥

आत्मा शुद्धोऽव्ययः सूक्ष्मो व्यापी नित्यो निरञ्जनः।
स्वमायावरणाच्छन्नः स्वस्मिन् स्वप्नं प्रपश्यति॥ ४४॥

यह आत्मा शुद्ध है, अव्यय, सूक्ष्म, व्यापक, नित्य और निरञ्जन (निर्लेप) है। वस्तुतः अपनी ही माया के आवरण से आच्छादित हो अपने में ही वह स्वप्न देखता है॥ ४४॥

यथा तदुद्भवैश्छन्नं शैवालैः सलिलं भवेत्।
स्वमायया तथा छन्न अक्षरं ब्रह्मकेवलम्॥ ४५॥
मायावृतं परं ब्रह्म स्वप्नसाक्षितया पुनः।
स्वाप्नमण्डं प्रविश्याशु धत्ते नारायणाभिधाम्॥ ४६॥

जैसे पानी से ही उत्पन्न शैवाल (=पानी की घास) स्वयं पानी को ही ढक लेती है। वैसे ही अक्षर रूप ब्रह्म को स्वयं उन्हीं का माया ढक लेती है। माया से आवृत परब्रह्म स्वप्न के समान साक्षात् रूप से पुनः स्वप्नरूप अण्ड में शीघ्र ही प्रवेश करके 'नारायण' नाम से अभिहित होते हैं॥ ४६॥

तस्य नाभेरभूत्पद्मं तत्र जातश्चतुर्मुखः।
प्रवरो वेदविदुषां बीजं संसारभूरुहः॥ ४७॥

उन 'नारायण' के नाभि से ब्रह्मा पैदा होते हैं। यही ब्रह्मा वेदवेत्ताओं में प्रवर हैं और इस संसार रूप भूरूपी वृक्ष के बीजस्वरूप हैं॥ ४७॥

तत्र जाता वयं सर्वे स्वाप्निका एव भामिनि।
भ्रमामः कर्मभिर्नुन्नाः स्वप्नमायामये पथि॥ ४८॥
त्वयानुभूतमेतद्धि यथेदं यक्षमायिकम्।
तस्यापसरणे साध्वि स्वात्मालब्धो यथा पुरा॥ ४९॥
जीवाः सर्वे वयं तद्वद् ब्रह्माभासमया अपि।
मायाकार्यांशविलये भविष्यामोऽक्षरात्मकाः॥ ५०॥

उसमें हम सब; हे भमिनि! स्वप्न की तरह ही [असत्य रूप से] पैदा होते हैं। स्वप्न रूपी माया से व्याप्त पथ में कर्मों के द्वारा भ्रमित होते हैं। जैसा कि यक्ष के माया जाल में अभी-अभी तुम्हारे द्वारा अनुभव किया गया है। हे साध्वि!

जैसे तुम पहले थी वैसे ही उस माया के हटने से तुमने आत्मानुभूति की है। इसी प्रकार हम सब जीव उसी ब्रह्म के आभासक रूप हैं। माया के कार्यांश रूप से विलीन होने के बाद ही मैं अक्षरात्मक रूप से होऊँगा ॥ ४८–५० ॥

मायाकार्ये विद्यमाने दुःखशोको भयं शुचः।
धर्माधर्मौ पुण्यपापे सत्यमित्येव गम्यते ॥ ५१ ॥

माया के कार्य रूप में विद्यमान रहने पर दुःख, शोक और भय को शुद्ध रूप से आत्मा जानता है। किन्तु धर्म या अधर्म में, पुण्य अथवा पाप में 'सत्य' को जाना जाता है ॥ ५१ ॥

तस्मादवास्तवं दुःखं विज्ञाय हृदये दृढम्।
वीतशोका वीतभया भव भामिनि नित्यदा ॥ ५२ ॥

इसलिए, हे भामिनि! हृदय में यह दृढ़ता से विश्वास करो कि यह 'दुःख' अवास्तविक है। अतः नित्य ही भय और शोक से तुम मुक्त होओ ॥ ५२ ॥

इत्युक्त्वा तां मुनिश्रेष्ठा योगमायाबलेन च।
निमिषेण गृहं निन्युर्घटिकांतरितं प्रिये ॥ ५३ ॥

हे प्रिये! इस प्रकार कहकर वे मुनिश्रेष्ठ योगमाया के बल से पलक झपकते ही अन्तर्धान हो गए ॥ ५३ ॥

प्रिया राज्ञोऽपि तद्वृत्तं विचार्य च पुनः पुनः।
महाकुतूहलाक्रान्ता राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ॥ ५४ ॥

राजा ने भी अपनी प्रिया के उस कथानक को बारम्बार विचार करके महान् कौतूहल से आक्रान्त होकर अन्य सभी राजाओं से उसे बतलाया ॥ ५४ ॥

एवं ता देवदेवेशि प्रिया भगवतो हि ताः।
भ्रान्तात्मरूपविज्ञाना मायास्वप्ने परात्मनः[1] ॥ ५५ ॥

इस प्रकार, हे देवदेवेशि! वे भगवान् की प्रिया थीं जिन्होंने भ्रान्त आत्मरूप के माया रूपी स्वप्न में परमात्मा का विज्ञान प्राप्त किया था ॥ ५५ ॥

नानायोनिषु देवेशि संसरन्ति पुनः पुनः।
भ्रान्तात्मानश्च्युतानन्दाः संसारेऽप्यसति प्रिये ॥ ५६ ॥

हे देवेशि! इसी प्रकार जीव पुनः पुनः नाना योनियों में मरता और पैदा होता है। इस प्रकार, हे प्रिये! वह जीव इस असत् संसार में भ्रान्त आत्मा वाला होकर और [ब्रह्म के] आनन्द से च्युत होकर ही रहता है ॥ ५६ ॥

---

१. 'परात्मना' इत्यपि पाठः।

निजधाम्नि महानन्दे दुःखाभासो न विद्यते ।
न दुःखानुभवश्चापि तत्रत्यानां कदाचन ।। ५७ ।।

महान् आनन्द रूप में अपने धाम में आत्मा किसी भी दुःख का आभास भी नहीं होता है। उस [आनन्द] में विचरण करने वालों को कभी भी दुःख का अनुभव भी नहीं होता है ।। ५७ ।।

न कार्पण्यं न दुःखं च नोद्वेगो नारतिः क्वचित् ।
तत्प्रियाप्रार्थितं मत्वा निर्बन्धेन गिरीन्द्रजे ।। ५८ ।।

वहाँ न कार्पण्य [=कंजूसी] हैं न दुःख है, न किसी भी प्रकार के उद्वेग ही है, न कोई रति है। हे गिरिन्द्रजे ! उसे बन्धन रहित जानकर ··· ।। ५८ ।।

कूटस्थस्वप्नसम्बन्धमनो भावान्[1] प्रचक्रिरे ।
असन्नपि महेशानि स्वप्नोऽयं दुःखदो महान् ।। ५९ ।।

स्वप्न के सम्बन्ध से आत्मा में मनोभावों की उत्पत्ति होती है। हे महेशानि ! असत्य होते हुए भी यह स्वप्न महान् दुःखदायी होता है ।। ५९ ।।

स्ववासनाकामशेषो ह्यधुनापि निषेव्यते ।। ६० ।।

।। इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे
शिवोमासंवादे एकोनविंशं पटलम् ।। १९ ।।

——*——

क्योंकि [इन्द्रियजन्य] वासना और कामनाओं के शेष रहने से वह भी भोगता रहता है ।। ६० ।।

।। इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के उन्नीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। १९ ।।

——*——

---

१. 'भावः' इत्यपि पाठः ।

अथ विंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

अहो देव महादेव परात्मन् परमेश्वर।
त्वदुक्तमेतदाश्रुत्य मनो मे क्षुभ्यतेतराम् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे देव, महादेव, परमेश्वर आपके इस प्रकार के वचनों को सुनकर मेरा मन अत्यन्त क्षुभित हो रहा है ॥ १ ॥

निरीहस्यापि देवस्य कूटस्थपरमात्मनः।
दिदृक्षा यत्समुत्पन्ना रहःक्रीडावलोकने ॥ २ ॥

निस्पृह भी देव, जो कूटस्थ है और परमात्मा है, उसे 'रहःक्रीडा' के अवलोकन की इच्छा आखिर कैसे उत्पन्न हो जाती है ? ॥ २ ॥

नित्यानन्दविहाराणां प्रियाणां परमात्मनः।
दिदृक्षा यत्समुत्पन्ना केवलं दुःखदर्शने ॥ ३ ॥

नित्यप्रति आनन्द समुद्र में विहार करने वाले प्रिय परमात्मा की इच्छा केवल दुःखदर्शन की कैसे हो जाती है ? ॥ ३ ॥

इत्येतन्महदाश्चर्यं प्रतिभाति महेश्वर।
तन्निराकुरु देवेश मनः शल्यं महार्तिकृत् ॥ ४ ॥

हे महेश्वर ! यह मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है कि परस्पर विरोधी बातें कैसे होती हैं ? अतः हे देवेश ! इस मन के दुःखदायी काँटे को मेरे मन से निकाल दीजिए अर्थात् संशय का निवारण करें ॥ ४ ॥

पूर्णस्यैवाप्तकामस्य किन्तु क्रीडावलोकनैः।
तदङ्गभूतास्तत्तुल्याः प्रियास्तु परमात्मनः ॥ ५ ॥

पूर्ण और आप्तकाम [=जिसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हैं] वह भी क्रीडावलोकन मात्र में कैसे प्रवृत्त होता है ? उसके अङ्गभूत और उसके तुल्य वस्तु परमात्मा का प्रिय कैसे होता है ? ॥ ५ ॥

दुःखकामः कथं तासु केवलानन्दमूर्त्तिषु ।
न दुःखदर्शने कश्चिन्मूर्खो वा रमते क्वचित् ॥ ६ ॥

उन मात्र आनन्द की मूर्ति ब्रह्म में दुःखदर्शन की कामना कैसे जागृत होती है ? क्या कहीं भी कोई मूर्ख दुःख दर्शन की लालसा या उसमें रमण करने की कामना करता है ? ॥ ६ ॥

एतदाचक्ष्व भगवन् कृपां कृत्वा ममोपरि ।

शिव उवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ ७ ॥

अतः हे भगवन् ! मेरे ऊपर कृपा करके उसे मुझे बताइए ॥

शिव ने कहा—

हे देवि ! सुनो । मैं अत्यन्त अद्भुत रहस्य को तुमसे कहता हूँ ॥ ७ ॥

वेदागमपुराणेषु यत्तु गुप्ततरं प्रिये ! ।
अद्यप्रभृति कस्यापि नोक्तवानहमद्रिजे ॥ ८ ॥

वेद, आगम और पुराणों में, हे प्रिये, जो आजतक अत्यन्त गुप्त था और जिसे हमने आज तक, हे हिमवत् की पुत्री ! किसी से नहीं कहा ॥ ८ ॥

तव स्नेहवशाद् देवि ! प्रवक्ष्यामि न चान्यथा ।
त्वयापि गोपितव्यं हि स्कन्दाच्च गणपादपि ॥ ९ ॥

उसे मैं तुम्हारे स्नेह से वशीभूत होकर तुम्ही से कहता हूँ और किसी से नहीं । अतः तुम्हें भी स्कन्दकुमार और गणपति से भी इसे गुप्त रखना चाहिए ॥ ९ ॥

प्रकाशितं हरेद्धर्मं यशोलक्ष्मीसुखानि च ।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥ १० ॥

यदि इसको किसी को बता दिया जाता है तो उसके धर्म, यश, लक्ष्मी एवं सुख तक का हरण हो जाता है । यह सामान्य वेश्या आदि जन को वेदशास्त्र और पुराणों को प्रकाशित करने के समान हो जाता है ॥ १० ॥

इयं विद्या महाविद्या गोप्या कुलवधूरिव ।
सुगुप्तेयं महाविद्या ज्ञानसिद्धिकरी नृणाम् ॥ ११ ॥

यह ब्रह्म-विद्या महान् विद्या है । अतः इसका गोपन अच्छे कुल की वधू के समान करना चाहिए । वस्तुतः यह विद्या मनुष्यों को 'ज्ञानसिद्धि' प्रदान करने वाली है । अतः इस महान् विद्या का भली प्रकार से गोपन करना चाहिए ॥ ११ ॥

यथा प्रकाशितं द्रव्यं तस्करेभ्योपगच्छति ।
तथा प्रकाशिता विद्या पशुभ्य उपगच्छति ॥ १२ ॥

क्योंकि जैसे प्रकाशित कर देने पर द्रव्य लुटेरों के द्वारा लूट लिया जाता है वैसे ही प्रकाशित कर देने पर यह विद्या पशुवत् पुरुषों के पास चली जाती है ॥ १२ ॥

गोपितव्या ततो यत्नाद्विद्येयं ब्रह्मदर्शिनी ।
मन्त्रौषधक्रियाधर्माः गुप्ता एव फलन्ति हि ॥ १३ ॥

इसलिए ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली इस विद्या का यत्नपूर्वक गोपन करना चाहिए । क्योंकि मन्त्र, औषधि, [यौगिक] क्रियाएँ, और धर्म गुप्त रहने पर ही फलदायक होते हैं ।। १३ ॥

आवाच्यमपि ते वच्मि शृणुष्वैकाग्रमानसा ।
गणनाविषयानन्दो वर्त्तते केवलेऽक्षरे ॥ १४ ॥

सप्तद्वीपवतीं पृथ्वीं यः शास्ता व्याहतेन्द्रियः ।
निरामयो निःसपत्नो युवा राजेन्द्रवन्दितः ॥ १५ ॥
तदानन्दो हि देवेशि ! मनुष्यानन्द ईरितः ।
मनुष्यानन्दशतकं गन्धर्वानन्द उच्यते ॥ १६ ॥

अतः जिसे नहीं कहना चाहिए उसे भी मैं [तुम्हारे स्नेहवश] तुमसे कहता हूँ; उसे एकाग्रमन से तुम सुनो –

अक्षर रूप परब्रह्म में 'आनन्द' की गणना इस प्रकार होती है—यह पृथ्वी, सात द्वीपों वाली है उसका व्याहत [अजितेन्द्रिय] इन्द्रियों वाला, निरोग और शत्रु रहित जो राजाओं से वन्दित युवा शासक है उसके आनन्द को, हे देवेशि, 'मनुष्य का आनन्द' कहा गया है और मनुष्यानन्द से सौगुना अधिक 'गन्धर्वानन्द' कहा गया है ॥ १४–१६ ॥

गन्धर्वानन्दशतकं पित्रानन्द उदीरित।
पित्रानन्दशतेनैको ह्युपदेवस्य चोच्यते ॥ १७ ॥

गन्धर्वानन्द से सौ गुना अधिक पितरों का आनन्द कहा गया है । पित्रानन्द से सौ गुना अधिक 'उपदेवों का आनन्द' कहा गया है ॥ १७ ॥

उपदेवानन्दशतं देवानन्द उदीर्यते ।
देवानन्दशतं देवि ! वैरंच्यानन्द उच्यते ॥ १८ ॥

उपदेवों के आनन्द का सौ गुना अधिक 'देवों का आनन्द' कहा गया है । हे देवि देवानन्द का सौ गुना अधिक 'ब्रह्मा का आनन्द' कहा गया है ॥ १८ ॥

वैरंच्यानन्दशतकमानन्दो वैष्णवः स्मृतः ।
वैष्णवानन्दशतकं रुद्रानन्दस्तु उच्यते ॥ १९ ॥

ब्रह्म के आनन्द से सौ गुना अधिक 'विष्णु का आनन्द' विद्वानों ने कहा है। और वैष्णवानन्द से सौ गुना अधिक 'रुद्रानन्द' कहा गया है ॥ १९ ॥

रुद्रानन्दशतेनोक्तः ईशानन्दपरो महान् ।
ईशानन्दशतेनोक्त[1] शैवानन्दस्तु केवलः ॥ २० ॥

रुद्रों के आनन्द से सौ गुना अधिक ईश का महान् आनन्द है और 'ईशानन्द' से मात्र सौ गुना अधिक शिव का आनन्द है ॥ २० ॥

तच्छतेन भवेद् देवि ! प्रकृत्यानन्द उत्तमः ।
प्रकृत्यानन्दशतकं पुरुषानन्द उच्यते ॥ २१ ॥

उस [शैवानन्द] से सौ गुना अधिक 'प्रकृति का उत्तम आनन्द' होता है। प्रकृत्यानन्द से सौ गुना अधिक 'पुरुष' का आनन्द कहा है ॥ २१ ॥

पुरुषानन्दशतकं अक्षरानन्द उच्यते ।
अक्षरं परमं ब्रह्म ब्रह्मानन्दस्ततः स्मृतः ॥ २२ ॥

'पुरुषानन्द' से सौ गुना अधिक अक्षरारूप 'परब्रह्म का आनन्द' कहा गया है। विद्वानों ने इसे ही 'ब्रह्मानन्द' कहा है ॥ २२ ॥

ब्रह्मानन्दमयं विश्वं नानाभावो न विद्यते ।
मायोपाधिसमायोगान्नानात्वेन प्रतीयते ॥ २३ ॥

यह सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्मानन्दमय है जहाँ नानात्व भाव नहीं होते। किन्तु माया के आवरण से आच्छन्न होने से वही ब्रह्म नाना रूप में प्रतीत होता है ॥ २३ ॥

तत्प्रतीतिनिरासे तु परं ब्रह्मैव शिष्यते ।
तन्माया प्रकृतिर्देवि नित्या तत्सहधर्मिणी ॥ २४ ॥

उस नानात्व की प्रतीति के निवारण होने पर वह 'परब्रह्म' ही शेष रह जाता है। हे देवि ! उनकी माया रूप प्रकृति नित्य और सहधर्मी है ॥ २४ ॥

शुद्धसत्वप्रधाना हि निर्मला ज्ञानरूपिणी ।
तत्र यः प्रतिबिम्बोऽभूदक्षरस्य परात्मनः ॥ २५ ॥

वह शुद्ध, सत्त्वप्रधान, निर्मल और ज्ञान रूप है।

---

१. 'ईश्वरानन्दसंज्ञकः' इत्यपि पाठभेदः ।

तमाहुः पुरुषं देवि ! श्रुतिसिद्धान्तवादिनः ।
स एव कालरूपेण प्रकृतिक्षोभकारकः ॥ २६ ॥

उस [प्रकृति] में परमात्मा अक्षर का जो प्रतिविम्ब होता है उसे ही श्रुति सिद्धान्त के वक्ता, हे देवि ! 'पुरुष' कहते हैं। वही काल रूप से 'प्रकृति' को क्षुभित करने वाले है ॥ २५–२६ ॥

तस्मान्नारायणो जज्ञे स एव प्रणवाभिधः ।
हिरण्यगर्भमपि तं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २७ ॥

उन [काल रूप पुरुष] से नारायण हुए। वही 'प्रणव' नाम से पुकारे जाते हैं। मनीषि गण उन्हीं को हिरण्यगर्भ' भी कहते हैं ॥ २७ ॥

शब्दब्रह्ममयं प्राहुस्तमेवागमवेदिनः ।
तस्माद्वेदाः प्रवर्त्तन्ते शब्दब्रह्मात्मना प्रिये ॥ २८ ॥

आगमशास्त्री उसे ही 'शब्दब्रह्म' मय कहते हैं। इसलिए, हे प्रिये ! वेद शब्द॰ ब्रह्मात्मक रूप में प्रवर्तित हैं ॥ २८ ॥

आदौ शब्दात्मकं विश्वं ततश्चार्थमयं भवेत् ।
शब्दः प्रकृतिरूपश्च अर्थः स्यात्पुरुषात्मकः ॥ २९ ॥

वस्तुतः सबसे पहले शब्दात्मक विश्व की सृष्टि हुई। उसके बाद वह शब्दात्मक विश्व अर्थमय हुआ। शब्द प्रकृति रूप है और अर्थ पुरुषात्मक है ॥ २९ ॥

उभयात्मकः प्रपञ्चोऽयं तस्मात्स्त्रीपुंस्वरूपधृक् ।
त्वमहं च तथा विष्णुर्लक्ष्मीर्ब्रह्मा सरस्वती ॥ ३० ॥

यह प्रपञ्च उभयात्मक है। उसी से स्त्री और पुरुष रूप धारण करके हम [शिव] और तुम [पार्वती], विष्णु और लक्ष्मी, ब्रह्मा और सरस्वती उत्पन्न हुए हैं ॥ ३० ॥

सूर्यः सञ्ज्ञानलः स्वाहा पुरूहूतः पुलोमजा ।
अम्भोनिधिश्च मर्यादा वृक्षः पल्लविनी लता ॥ ३१ ॥

सूर्य रूप में अग्नि और स्वाहा, इन्द्र और इन्द्राणी तथा समुद्र पृथ्वी की मर्यादा रूप से तथा वृक्ष एवं लता-प्रतान उत्पन्न हुए ॥ ३१ ॥

महद्वाल्पतरं वापि तत्सर्वमुभयात्मकम् ।
अक्षरे शाश्वतावेतौ प्रकृतिः पुरुषस्तथा ॥ ३२ ॥

---

१. हिरगर्भः समवर्तताग्रे—ऋ०

छोटा या बड़ा सभी तत्त्व उभयात्मक रूप से उत्पन्न हुआ। मूल रूप 'अक्षर' में शाश्वत तो 'प्रकृति और पुरुष' ही हैं ॥ ३२ ॥

जाग्रत्स्वप्नविभेदेन प्रपञ्चपरिणामिनौ ।
नित्यत्वमुभयोर्देवि विवदन्तेऽत्र वादिनः ॥ ३३ ॥

जाग्रत और स्वप्न के विशेष भेद से यह सम्पूर्ण प्रपञ्च उसी [प्रकृति और पुरुष] का परिणाम है। हे देवि ! विद्वान् लोग दोनों में ही 'नित्यत्व' के विषय में विवाद करते हैं ॥ ३३ ॥

नित्यः प्रपञ्च एवेति ह्यनित्य इति केचन ।
अहङ्कारवशाद्देवि वादिनो मूढबुद्धयः ॥ ३४ ॥

'यह सम्पूर्ण प्रपञ्च नित्य ही है' कुछ विद्वान् ऐसा कहते हैं और कुछ उसे 'अनित्य' कहते हैं। हे देवि ! वे दोनों वादों के मानने वाले अहङ्कार के कारण मूढ़ बुद्धि के हैं ॥ ३४ ॥

नित्यानित्यं न जानन्ति स्व[1]पक्षाग्रहदोषतः ।
नित्यत्वात्कारणस्यापि प्रवाहे नित्यतास्तु वा ॥ ३५ ॥
श्रौतत्वाज्जन्यनाशस्य ह्यनित्यत्वेऽपि का क्षतिः ।
द्वैताद्वैते तथा देवि विवदन्ते कुबुद्धयः ॥ ३६ ॥

वस्तुतः अपने अपने पक्ष में आग्रह होने के दोष के कारण वे 'नित्य और अनित्य' को नहीं जानते। कारण के नित्यत्व प्रवाह में नित्यता यदि होती है तो श्रौत यज्ञ में जो पशुबलि दी जाती है उसके अनित्य होने से भी क्या क्षति है ? इसी प्रकार कुत्सित बुद्धि वाले लोग भी, हे देवि, द्वैत और अद्वैत के विषय में विवाद करते रहते हैं ॥ ३५–३६ ॥

ईश्वराज्जीवपार्थक्यमिति तत्त्वविदो विदुः ।
ब्रह्मैवाज्ञानवशतो जीवस्तत्प्रतिगीयते ॥ ३७ ॥

'ईश्वर से जीव पृथक् है'—ऐसा तत्त्वविद लोग कहते हैं। वस्तुतः ब्रह्म ही अज्ञान से आच्छन्न होने के कारण 'जीव' रूप से जाना जाता है ॥ ३७ ॥

न जीवं परमार्थेन विदुरद्वैतवादिनः ।
न विरुद्धमिदं देवि ! ह्यज्ञानावधिभेदतः ॥ ३८ ॥

अद्वैतवादी 'जीव' को परमार्थरूप से नहीं समझते। हे देवि, इसलिए अज्ञान रूप अवधि के भेद से यह [ब्रह्म का माया से आच्छन्न होकर सृष्टि करना और उसका नित्यत्व एवं अनित्यत्व] विरुद्ध नहीं है ॥ ३८ ॥

---

१. 'स्वमताग्रहदोषतः इत्यपि पाठः ।

ज्ञानेनाज्ञाननाशे तु लब्धेनेश्वरतुष्टितः ।
जाग्रत्स्वप्नस्य विलये स्वप्नसाक्षीव सुन्दरि ! ।। ३९ ।।

ज्ञान से अज्ञान के नाश हो जाने पर ईश्वर की प्राप्ति से सन्तुष्ट होने पर कोई विरोध नहीं जान पड़ता है । जैसे जग जाने पर स्वप्न का विलय हो जाता है वैसे ही, हे सुन्दरी ! यह जीव एवं जगत् स्वप्नवत् ही है ।। ३९ ।।

एकमेवावशिष्येत नित्यं ब्रह्मैव केवलम् ।
अद्वैतवादिनो ह्येवं श्रुतिमात्रावलम्बिनः ।। ४० ।।

श्रुतिमात्र को मानने वाले अद्वैतवादी इस प्रकार यही कहते हैं कि एकमात्र नित्य ब्रह्म ही [अज्ञान नाश के बाद] बच रहता है ।। ४० ।।

एकमेव परं ब्रह्म नाना नास्तीह किञ्चन ।
मृदेव सत्यमित्येवं नामरूपे विकारवत् ।। ४१ ।।

एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है । उसका नानात्व कुछ भी नहीं होता जैसे घड़े आदि मिट्टी के विकार मात्र हैं । वस्तुतः मिट्टी ही सत्यमेव सभी घड़ों में है ।। ४१ ।।

इत्यद्वैतं श्रुतिशतैरुद्घोषितमनेकधा ।
द्वैतवादरताश्चापि द्वासुपर्णावितीरणात् ।। ४२ ।।

इस प्रकार सैकड़ों श्रुति वाक्यों से अनेकधा अद्वैत का ही उद्घोष किया गया है और द्वैतवाद का भी प्रतिपादन श्रुति में 'द्वासुपर्णा'[1] आदि मन्त्र से किया गया है ।। ४२ ।।

द्वैतमेव प्रशंसन्ति ह्यभेदो भजनात्मकः ।
अद्वैतभूमिकाधस्तात्सोपानास्थास्तु ते प्रिये ।। ४३ ।।

इस प्रकार वह अभेद और भजनात्मक [अलग-अलग] रूप से द्वैत की ही प्रशंसा करते हैं । हे प्रिये ! ये अद्वैत की ही भूमि के नीचे सोपान हैं ।। ४३ ।।

तेषां नारायणः साक्षात्परब्रह्म श्रुतीरणात् ।
ब्रह्माभासमया जीवाः क्षुद्रोपाधिगुणाश्रिताः ।। ४४ ।।

इसलिये भगवान् नारायण ही साक्षात् रूप से श्रुति द्वारा 'परब्रह्म' रूप से प्रतिपादित हैं । उस ब्रह्म में ही क्षुद्रोपाधिगुण से आश्रित होकर [माया से आच्छादित] 'जीव' भासित होता है ।। ४४ ।।

---

१. ऋ० १.१६४.२१ ।

अस्वतन्त्राः पराधीना नित्या इत्यपि चक्षते ।
अव्याहतं च नित्यत्वं भ्रान्तिमूलमपि प्रिये ।। ४५ ।।

उसे ही अस्वतन्त्र, पराधीन और नित्य भी कहा गया है। हे प्रिये, उसे अव्याहत और नित्य एवं भ्रान्तिमूलक भी कहा गया है ।। ४५ ।।

निद्रोपलब्धभावानां निद्रा तावत्स्थितिः स्थिरा ।
इति यत् शास्त्रहृदयमज्ञात्वा विवदन्ति ये ।। ४६ ।।

निद्रा के पहले के भाव निद्रा आने के पहले तक ही स्थिर होते हैं। इस प्रकार जो शास्त्र को नहीं जानते वही विवाद करते हैं ।। ४६ ।।

द्वैताद्वैतविचारेऽस्मिन्न ते तत्त्वमवाप्नुयुः ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वशास्त्रैकनिश्चयम् ।। ४७ ।।

ज्ञात्वा भजन्ति देवेशि ! निःसन्देहः फलात्मकः ।
वाक्यभेदाननादृत्य बुद्धिक्लेशादहङ्कृतेः ।। ४८ ।।

अन्ततः इस द्वैत एवं अद्वैत के विचार में वे कुछ भी तत्त्व नहीं प्राप्त करते। इसलिए सभी प्रयत्नों के द्वारा सभी शास्त्रों के निचोड़ को जानकर, हे देवेशि ! वे निसन्देह और फलात्मक [ब्रह्म] का ही भजन करते हैं। वे वाक्य भेदों का अनादर करके बुद्धि के क्लेश के कारण अहङ्कार को छोड़ देते हैं ।। ४८ ।।

ये प्रवर्तन्त एवैते सशल्याः फलविच्युताः ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म द्विधा लीलाविभेदतः ।। ४९ ।।

जो उसमें प्रवर्तित होते हैं वे काँटों से युक्त होकर फल की प्राप्ति नहीं करते। एक ही ब्रह्म लीला के भेद से दो दिखाई देता है ।। ४९ ।।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च लीलाभेदे व्यवस्थिता ।
निवृत्तिः सुखसञ्ज्ञा हि सुखमानन्दरूपकम् ।। ५० ।।

वस्तुतः [संसार में] प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही लीला भेद से [माया के आवरण होने से ही] व्यवस्थित है। निवृत्ति सुख की संज्ञा है और सुख आनन्द रूप है ।। ५० ।।

प्रसङ्गात् प्रकृतेर्देवि प्रवृत्तिर्बहुरूपिणी ।
अजानतां वरारोहे ! दुःखरूपतया स्थिता ।। ५१ ।।
अक्षरस्य तु सा प्रोक्ता लीलान्यातीतधर्मिणी ।
प्रवृत्तिलीलालेशोऽपि नैवातीते परात्मनि ।। ५२ ।।

हे देवि ! प्रसङ्गात् प्रकृति की प्रवृत्ति ही बहुत रूपों वाली है। हे वरारोहे ! उसे न जानने के कारण ही जीव दु.ख रूप समुद्र में गिरा जान पड़ता है। वह [प्रकृति] अक्षर रूप ब्रह्म की ही अतीत धर्मिणी लीलाएँ कही गई हैं। लेश मात्र भी लीला होने से प्रवृत्ति अतीत परमात्मा में नहीं ही होती है ॥ ५२ ॥

आग्रहमात्रो देवेशि ! नित्यानन्दमहोदधेः।
लेश एव सदा तिष्ठेत्सकामो नित्यरूपधृक् ॥ ५३ ॥
कामरूपी सदानन्दः कामांशो लेश उच्यते।
तस्मादेवाक्षरे देवि ! नित्यकामो हि दर्शने ॥ ५४ ॥

हे देवेशि, नित्य आनन्द रूप समुद्र में वह आग्रहमात्र ही है। उसका 'लेश' सदैव रहता है और वह काम नित्यरूप धारण करने वाला है। कामरूप में वह सदानन्द है और काम के अंश रूप में वह 'लेश' कहा जाता है। इसलिये, हे देवि ! अक्षर में ही नित्य कामना का दर्शन होता है ॥ ५४ ॥

तस्मादेवाक्षरे जाता दिदृक्षा या तु पार्वति।
न चैककर्तृका सा तु परापरमयी हि सा ॥ ५५ ॥

इसलिए, हे देवि पार्वती ! उस अक्षर में जो देखने की इच्छा जागृत होती है वह एक कृत नहीं अपितु एक दूसरे से परस्पर भावित है ॥ ५५ ॥

अक्षरे ज्ञानतन्मात्रे स्वत इच्छा न जायते।
न प्रवर्तयते साक्षात्पूर्णात्मा पुरुषोत्तमः ॥ ५६ ॥

ज्ञान रूप तन्मात्र अक्षर में स्वतः इच्छा कभी भी नहीं होती हैं और कभी भी पूर्णपरमात्मा वह उत्तम 'पुरुष' प्रवर्तित भी नहीं होता ॥ ५६ ॥

सामरस्यमयीं प्राहुस्तस्मादागमवेदिनः।
आनन्दगा सामरस्यात् स्वपक्षविषयग्रहा ॥ ५७ ॥
साङ्गिनं तु परित्यज्य भृशमङ्गेष्वसर्पत।
स्वामिनीषु ततो जाता दिदृक्षा दुःखदर्शने ॥ ५८ ॥

इसलिए आगम के वेत्ता जन उसे समान रस वाली मानते हैं। आनन्द तुल्य रस से एवं अपने पक्ष के विषय के आग्रह से अपने संगी को छोड़कर बहुतायत से अङ्गों में सर्पण कर जाने से स्वामिनियों में दुःखदर्शन की इच्छा जागृत होती है ॥ ५७–५८ ॥

उभयव्यापिनी सा तु सर्वकारणकारणा[1]।
ततः कार्यप्रवृत्तिस्तु हेतोर्गुणनिबन्धिनी ॥ ५९ ॥
स्त्रीपुंभावात्मिका जाता ब्रह्मादिस्तम्बभेदतः।
इच्छया ससृजे निद्रा सापि जातोभयात्मिका ॥ ६० ॥

---

१. सर्वकारणकारणं इत्यपि पाठः।

वस्तुतः वह तो सभी कारणों की कारण उभय रूप से व्याप्त है। उससे कार्य में प्रवृत्ति तो हेतुगुण से निबन्धित होने पर वही ब्रह्मा आदि चराचर भेद से स्त्री और पुं भाव को प्राप्त होती है। इच्छा के द्वारा निद्रा का सृजन होता है। वह भी उभयात्मक होती है ॥ ५९–६० ॥

ज्ञानात्मिका स्वतः शुद्धा बहिर्वृत्तिविवर्जिता।
निद्रया सृजते मोहश्चेतनाचेतनो हि सः ॥ ६१ ॥

बाहरी वृत्तियों से रहित ज्ञानात्मिका, स्वतः शुद्ध ब्रह्म निद्रा के द्वारा उस [पुरुष] चेतन और अचेतन [जड़] में [अर्थात् चेतना रूप पुरुष और अचेतन रूप प्रकृति रूपी जीव में] मोह उत्पन्न हो जाता है ॥ ६१ ॥

सचैतन्यस्य कार्यस्य हेतुर्यच्चेतनात्मकः।
स एव जडहेतुश्च यस्मादयमचेतनः ॥ ६२ ॥

चेतनता से युक्त जो कार्य का हेतु है उससे वह चेतनात्मक और जड़ से युक्त कार्य के हेतु से वही अचेतनात्मक [जड़] है ॥ ६२ ॥

विद्याविद्ये स एवोक्त श्रृणु तत्रापि कारणम्।
चिदचिद्ग्रन्थिको ह्येषश्चिदाकारेण केवलम् ॥ ६३ ॥
यदा परिणमेद् देवि ! यदा विद्येति तां विदुः।
यदा चैतन्यमावृत्य केवलं मोहरूपधृक् ॥ ६४ ॥
जीवबुद्धिं समावृण्वन् अविद्येति च गीयते।
तमः कालुष्यमुत्सृज्य शुद्धसत्वप्रधानिका ॥ ६५ ॥
जीवबुद्धेर्भेदकरी मायेति कथिता प्रिये।
सात्विकांशं परित्यज्य केवलं चित्स्वरूपिणी ॥ ६६ ॥

उसमें भी, हे देवि ! तुम कारण को सुनो। वह ही 'विद्या' और 'अविद्या' रूप से प्रतिपादित हैं। क्योंकि चित् और अचित् रूप से ग्रथित यह चिदाकार के द्वारा ही जब परिणाम को [अर्थात् बदलाव] को प्राप्त करती है तब उसे 'विद्या' रूप से जाना जाता है और जब चैतन्य आच्छन्न होकर केवल मोह रूप में रहता है तब जीव बुद्धि समावृत्त होती हुई 'अविद्या' नाम से कही जाती है। वस्तुतः तम रूप कालिमा को छोड़कर शुद्ध एवं सत्त्वप्रधान जीव और बुद्धि में भेद करने वाली उसे, हे प्रिये ! 'माया' नाम से पुकारा जाता है और जब सात्विक अंश का उसमें परित्याग होता है तो वही केवल 'चित्' स्वरूप होती है ॥ ६६ ॥

अपरोक्षकरी विद्या ब्रह्मविद्येति तां विदुः।
तस्माद्विधा त्रिधा प्रोक्ता मया ते वरवर्णिनि ! ॥ ६७ ॥

यह अपरोक्ष ज्ञान वाली विद्या ही 'ब्रह्मविद्या' नाम से जानी जाती है। हे

वरवर्णिनि ! तुमसे वही दो प्रकार की ब्रह्मविद्या से समुत्पन्न तीन प्रकार (सत्व, रज एवं तम) मेरे द्वारा कहे गए हैं ॥ ६७ ॥

ततो गुणास्त्रयो जातास्तेऽपि तादृग्विधा शिवे ! ।
सत्वं तु चेतनं विद्धि तमो विद्यादचेतनम् ॥ ६८ ॥

ये तीन गुण उससे उत्पन्न हुए । हे शिवे ! वे भी उसी प्रकार के हैं । इस तरह चेतन को सत्व गुण वाला जानना चाहिए और अचेतन को तम गुणवाला जानना चाहिए ॥ ६८ ॥

रजस्तदुभयात्मत्वाच्चेतनाचेतनात्मकम् ।
भूतानि पञ्च जातानि तानि तादृग्विधान्यपि ॥ ६९ ॥

उन दोनों से ही समुत्पन्न चेतन और अचेतनात्मक को रजोगुण वाला जानना चाहिए । उन तीनों से उसी प्रकार से उद्‌भूत पञ्चभूतों [क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर] को जानना चाहिए ॥ ६९ ॥

अधिष्ठेयान्यधिष्ठातृतया द्वैविध्यवन्ति च ।
ब्रह्माण्डमभवत्तेभ्यस्तदेवोभयरूपधृक् ॥ ७० ॥

अधिष्ठेय और अधिष्ठातृ रूप से वही दो प्रकार के हैं । उन्हीं [ब्रह्म और माया या प्रकृति और पुरुष] से उन्हीं दोनों के उभयात्मक रूप वाले 'ब्रह्माण्ड' का सृजन होता है ॥ ७० ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया शिवे ! ।
समासेन महेशानि ! किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ७१ ॥

॥ इति श्रीपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती
संवादे विंशं पटलम् ॥ २० ॥

——*——

इस प्रकार जो तुमने पूँछा, हे शिवे ! 'वह सभी कुछ हमने संक्षेप में तुम्हें बतलाया । अब, हे महेशानि ! तुम और क्या पूँछना चाहती हो ? ॥ ७२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के बीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीयकृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २० ॥

——*——

अथ एकविंशं पटलम्

शिव उवाच—

अतोऽन्यत् शृणु देवेशि ! रहस्यं किञ्चिदुत्तमम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन यस्मै कस्मै न दर्शयेत् ॥ १ ॥

शिव ने कहा—

हे देवेशि ! अब कुछ और भी उत्तम रहस्य की बात सुनो। इसका प्रयत्न पूर्वक गोपन करना चाहिए। इस विद्या को जिस किसी को नहीं बताना चाहिए ॥१॥

परीक्षिताय वक्तव्यं ताडनैस्तर्जनादिभिः ।
ऋते पात्रमिदं ज्ञानं न तिष्ठति कदाचन ॥ २ ॥

ताड़ना और तिरस्कार आदि बहुत प्रकार से परीक्षा करके ही इसे किसी को बताना चाहिए। यह ज्ञान कभी भी सुपात्र को छोड़कर [कुपात्र में] नहीं रहता ॥ २ ॥

अविर्भूताक्षरे शक्तिरिच्छा नाम सुमङ्गला ।
अङ्गान्यावृत्य सत्प्रेमविरहौत्कण्ठ्यदर्शने ॥ ३ ॥

'अक्षर' में सुमङ्गला नाम की इच्छा शक्ति उत्पन्न होने पर सात्त्विक प्रेम के कारण अङ्गों को आवृत्त करके विरह और दर्शन के लिए उत्कण्ठा जागृत हो जाती है ॥ ३ ॥

रतिमुत्पादयामास ततः सा पुरुषोत्तमम् ।
प्रार्थयामासुरौत्सुक्यात्स्वामिन्या सह सङ्गता ॥ ४ ॥

तब वह रति को उत्पन्न करती है। स्वामिनी के साथ सङ्गत होने की उत्सुकता के कारण वह इच्छाशक्ति पुरुषोत्तम से प्रार्थना करती है ॥ ४ ॥

निवारिता बहुविधैर्वाक्यैरिच्छाविमोहिताः ।
न मेनिरे प्रियाः सर्वा प्रार्थयामासुरन्वहम् ॥ ५ ॥

वह इच्छा शक्ति बहुविध वाक्यों से निवारित होने पर भी विशेष प्रकार से मोहित हो जाती है। उन सभी प्रियाओं ने मान नहीं किया और नित्य प्रति अर्चना प्रार्थना ही की ॥ ५ ॥

प्रार्थना स्वीकृतास्तासामतीतेनाक्षराद्यदा ।
तदा सा पुनरासाद्य निद्रा चित्यन्वधाप्रिये ।। ६ ।।

अतीत अक्षर के द्वारा जब उनकी प्रार्थना स्वीकृत हो जाती है तब, हे प्रिये ! वह पुनः निद्रा में आकर 'चित्' में आ जाते हैं ।। ६ ।।

चिदात्मा पुरुषः साक्षान्मोहमय्यैव निद्रया ।
घूर्णितोशेत सन्मंचे पञ्चब्रह्ममये शुभे ।। ७ ।।

चिदात्मा पुरुष साक्षात् मोहमयी निद्रा के कारण पञ्च ब्रह्ममय और शुभ एवं सत् शय्या पर निद्रालु हो सो गए ।। ७ ।।

यदैव निद्रया घूर्णो विस्मृतात्माऽभवत् प्रिये ।
हृदयाब्जकर्णिकामध्ये विहरेतापरा हि सा ।। ८ ।।

जभी निद्रा से वे निद्रित हुए तब, हे प्रिये ! वे अपनी आत्मा को विस्मृत कर बैठे । क्योंकि अन्य वह हृदय कमल की कर्णिका के मध्य विहार करे ।। ८ ।।

व्यचिनोत्पञ्चधा देवि ! स्वरूपमपि चात्मना ।
उद्गारिणी पालिका च तथा संहारिकापि च ।। ९ ।।
विशाला व्यापिका चेति शक्तयः पञ्च कीर्तिताः ।। १० ।।

हे देवि ! उन्होंने पाँच प्रकार से अपने स्वरूप को भी विभक्त कर दिया—जो १. उदगारिणी [पैदा करने वाली], २. पालिका [पालन करने वाली], ३. संहारिका, ४. विशाला और ५. व्यापिका—नामक पाँच शक्तियाँ हैं ।। ९-१० ।।

रजः प्रधानहारिणी पालिनी सात्त्विकी मता ।
तमःप्रधाना संहर्त्री शुद्धसत्वा बिशालिका ।। ११ ।।

पालिनी और हारिणी (=उद्गारिणी) शक्ति रजःप्रधान और सात्त्विक गुणयुक्ता है । संहर्त्री और विशाला शक्ति तमः प्रधान और शुद्ध सत्त्वगुण वाली है ।। ११ ।।

निर्गुणा व्यापिका शक्तिरिच्छा पञ्चविधोदिता ।
एता एवोदिता देवि ! जाग्रति प्राकृतास्तथा ।। १२ ।।

व्यापिका शक्ति बिना गुण वाली पाँच प्रकार की इच्छा शक्ति को जन्म देती है । हे देवि ! इसी से जाग्रत तथा प्राकृता शक्ति उत्पन्न होती है ।। १२ ।।

इच्छामय्यस्तु शयने तस्मान्मञ्चो निरामयः ।
उद्गारिणीपालिकयोः स्कन्धयोस्तत्पदद्वयम् ।। १३ ।।

शयन में वह ब्रह्म इच्छामय होते हैं किन्तु उनका मञ्च निरामय [नी रोग]

होता है। उद्गारिणी और पालिका दोनों ही उनके दोनों कन्धे और पैर के समान है ॥ १३ ॥

[1]विशालाहारिणीकण्ठदेशे पाणिद्वयं स्थितम् ।
व्यापिका मञ्चफलकीभूताधारतया स्थिता ॥ १४ ॥

विशाला और हारिणी (=उद्गारिणी) शक्ति कण्ठ प्रदेश और दोनों हाथ में स्थित रहती है। किन्तु व्यापिका शक्ति मञ्च की चौकी पर आधार रूप से स्थित होती है ॥ १४ ॥

पञ्चसु प्रतिबिम्बोऽभूदक्षरस्य चिदात्मनः ।
बिम्बितं यत्तु चैतन्यं तस्मिन्नुद्गारिणी हि सा ॥ १५ ॥

अक्षर रूप चिदात्मा का उन पाँचों पर प्रतिबिम्ब पड़ता है। जो यह चैतन्य रूप प्रतिबिम्ब है उस रूप में वह 'उद्गारिणी शक्ति' होती है ॥ १५ ॥

दर्शयामास वेदास्याद्युपाधिमतिविस्तृतम् ।
बिम्बितं यत्तु चैतन्यं तस्मिन् या पालिनी शिवे ॥ १६ ॥
अदर्शयच्चतुर्भुजाद्युपाधिमतिविस्तृतम् ।
बिम्बितं यत्तु चैतन्यं तस्मिन् संहारिणी तु या ॥ १७ ॥
अदर्शयन्त्रिनेत्राद्युपाधिमतीव सुन्दरि ! ।
बिम्बितं यत्तु चैतन्यं तस्मिन् या तु विशालिका ॥ १८ ॥

उन्होंने उससे अतिविस्तृत आद्युपाधि मुख रूप वेदों को दिखलाया। हे शिवे ! 'पालिनी शक्ति' में इनका तो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह अतिविस्तृत आद्युपाधि चतुर्भुज रूप को प्रकट करता है। संहारिणी ['विशाला'] शक्ति में जो उनका चैतन्यरूप प्रतिबिम्ब पड़ता है उससे, हे सुन्दरि ! त्रिनेत्र आदि उपाधियों को प्रकट किया ॥ १६–१८ ॥

अष्टबाह्वाद्युपाधिं च दर्शयामास केवलम् ।
बिम्बितं यत्तु चैतन्यं तस्मिन् या व्यापिका मता ॥ १९ ॥

व्यापिका शक्ति में जो चैतन्यरूप प्रतिबिम्ब पड़ता है उससे मात्र अष्टबाहु आदि उपाधियों को प्रकट किया ॥ १९ ॥

दशबाहुं च पञ्चास्याद्युपाधिमसृजत्प्रिये ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥ २० ॥

हे प्रिये ! उसने इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पाँच मुख एवं दस हाथ की उपाधि का सृजन किया ॥ २० ॥

---

१. 'हारिणी' इत्युद्गारिणीशक्तेरपरं नाम ।

पञ्चपादत्वमापन्ना नित्यमुद्वहते परम्।
सृष्टिं स्थितिं च संहारं तिरोधानमनुग्रहम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार नित्यप्रति सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप से पाँच प्रकार से वह संपादित है ॥ २१ ॥

नित्यमेव प्रकुर्वन्ति भूताधिष्ठातृरूपिणः।
सृष्टचादित्रयसिद्धयर्थं त्रयाणां [1]बुभूजेंशतः ॥ २२ ॥

भूतों के अधिष्ठातृ रूप वाले ये नित्य ही सृष्टि [प्रलय और पालन] आदि तीन की सिद्धि के लिए अंशतः तीन का ही भोग करते हैं ॥ २२ ॥

तिरोधानानुग्रहौ तु मञ्चपादस्थयोर्विदुः।
पञ्चशक्तिप्रभेदेन परेच्छैव सुमङ्गला ॥ २३ ॥

ब्रह्मविष्ण्वादिरूपाणि धत्ते नानास्वरूपिणी।
अक्षरस्य तु रूपे द्वे पुरुषाक्षरभेदतः ॥ २४ ॥

तिरोधान और अनुग्रह को मञ्चपादस्थ ही जानना चाहिए। उस श्रेष्ठ ब्रह्म की सुमङ्गला इच्छा के ही पाँच भेद-प्रभेद से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप में नाना स्वरूपिणी सृष्टि संपादित होती है। वस्तुतः पुरुष और अक्षर भेद से अक्षर ब्रह्म [शब्द ब्रह्म] के ही दो रूप हैं ॥ २३–२४ ॥

नारायणस्तु पुरुषाज्जज्ञे स्वप्नेक्षिता स्वयम्।
नादबिन्दू शिवः शक्तिर्जातौ नारायणात्प्रिये ॥ २५ ॥

नादबिन्दुमयत्वेन त्रिधा नारायणः स्थितः।
सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः अनिरुद्धकः ॥ २६ ॥

चतुर्धा विष्णुरेवोक्तो ह्यंशभेदा ह्यनेकशः।
एकादश विभेदात्मा रुद्रोऽहमहमीश्वरि ॥ २७ ॥

मदात्मभेदाः शतशः कोटिशः सन्ति सुन्दरि।
सदाशिवेश्वरावेतौ आत्मभेदाविवर्जितौ ॥ २८ ॥

पुरुष से स्वयं ही स्वप्न रूप में 'नारायण' उत्पन्न हुए और हे प्रिये ! उन नारायण से नाद और बिन्दु एवं शिव तथा शक्ति प्रकट हुए। इस प्रकार नाद एवं बिन्दु रूप से नारायण ही तीन प्रकार से स्थित रहते हैं। संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, एवं अनिरुद्ध—ये चार अंशभेद से विष्णु के ही अनेकशः रूप कहे गए हैं।

---

१ 'बुभुत्रे' इत्यपि पाठः।

हे ईश्वरि, मैं रुद्र प्रधान रूप से एकादश रूप वाला हूँ। यद्यपि हे सुन्दरि! सदाशिव और ईश्वर मेरे इन दो रूपों को छोड़कर सैकड़ों और करोड़ों हमारे भेद हैं॥ २५–२८॥

वेदप्रणवभेदेन द्विधा नारायणोदभूत्।
नाद एव महेशानि बहु स्यामित्यवेक्षणात्॥ २९॥

वेद और प्रणव भेद से नारायण दो प्रकार में समद्भूत हुए। हे महेशानि! एक मैं बहुत होऊ इस इच्छा से 'नाद' प्रकट हुआ॥ २९॥

न भेदो विद्यते बिन्दौ अखण्डात्मनि सुन्दरि।
महत्तत्वमिदं भद्रे मनो नारायणस्य तत्॥ ३०॥

हे सुन्दरि! अखण्डात्मक 'बिन्दु' के भेद नहीं हैं। उन नारायण का यह मन ही 'महत् तत्त्व' है॥ ३०॥

मनसस्तु बहु स्यामित्यमन्यत यदा हि सः।
अहङ्कारस्ततो जज्ञे प्रसृतो बिन्दुतां ययौ॥ ३१॥

जब उन नारायण ने यह सोचा कि मैं बहुत होऊँ तो उनसे अहङ्कार पैदा हुआ जो फैलकर 'बिन्दु' बन गया॥ ३१॥

बिन्दुः शून्यात्मको ज्ञेयस्तस्माद्विश्वं निरर्थकम्।
व्याप्तोऽहङ्कार एवायं ब्रह्माभासेः दृश्यते॥ ३२॥

बिन्दु को शून्यात्मक जानना चाहिए। इसलिए विश्व निरर्थक [असत्य] है। वस्तुतः यह व्याप्त अहङ्कार ही ब्रह्म के आभास के रूप में दृष्टिगोचर होता है॥ ३२॥

ब्रह्माभासो निर्विकारो निष्प्रपञ्चो निरञ्जनः।
न करोति न लिप्येत प्रदीप इव भासकः॥ ३३॥

यह ब्रह्माभास, निर्विकार, निष्प्रपञ्च और निरञ्जन [निर्मल] है। वस्तुतः न वह कर्ता है और न तो यह लिप्त होता है। जैसे दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने वाला दीपक स्वयं उसमें न लिप्त रहता है और न तो उसका कर्ता है॥ ३३॥

अहङ्कारस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वमपि सुन्दरि।
धर्माधर्मौ पुण्यपापे बन्धमोक्षादिकं तथा॥ ३४॥

इसी प्रकार हे सुन्दरि! अहङ्कार का कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप एवं बन्धन तथा मोक्ष आदि वैसे ही आभासित है॥ ३४॥

अहङ्कारेण भिद्येत नानाभेदव्यवस्थया ।
अहङ्कारेण तादात्म्यादाभासेऽपीक्षते स्फुटम् ॥ ३५ ॥

नाना प्रकार के भेद की व्यवस्था से वह अहङ्कार द्वारा ही भेदित होता है। वस्तुतः अहङ्कार के तादात्म्य से वह स्पष्ट रूप से आभास की अवस्था में भी देखता रहता है ॥ ३५ ॥

अहङ्कारमयो ग्रन्थिर्यावन्नैव विभिद्यते ।
अविद्यमानः संसारः तथाप्येनं न मुञ्चति ॥ ३६ ॥

इस प्रकार अहङ्कार ग्रन्थि का भेदन जब तक नहीं होता, तब तक यह अविद्यमान संसार भी इस [जीव] को नहीं छोड़ता है ॥ ३६ ॥

स्फटिकस्यैव रागित्वं जपाकुसुमयोगजम् ।
नापगच्छति तद्देवि कुसुमापहृतिं विना ॥ ३७ ॥

जपा कुसुम के संश्लिष्ट होने से स्फटिक में पड़ने वाली लालिमा, हे देवि, तब तक नहीं हटती जब तक कि जपा (ओड़हुल) के लाल फूल को उससे दूर न हटा दिया जाय ॥ ३७ ॥

तथा संसरणं जीवे ह्यहङ्कारच्युतिं विना ।
निवर्तते न देवेशि कल्पकोटियुतायुतैः ॥ ३८ ॥

उसी प्रकार, हे देवि ! जीव में संश्लिष्ट अहङ्कार की च्युति के बिना करोड़ों कल्पों में भी असत्य संसार का भान नष्ट नहीं होता ॥ ३८ ॥

सोऽहङ्कारस्त्रिधा प्रोक्तो गुणभेदेन पार्वति ।
अहङ्कारोऽयमेवाहं तथा जीवगतो द्विधा ॥ ३९ ॥

हे पार्वति ! वह अहङ्कार ही गुण के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है। यह 'अहङ्कार' मैं ही हूँ जो दो प्रकार से जीव में रहता हूँ ॥ ३९ ॥

महत्तत्वं त्रिधा प्रोक्तं आध्यात्मादिप्रभेदतः ।
नारायणमनोरूपमाधिदैविकमुच्यते ॥ ४० ॥

अध्यात्म आदि भेद प्रभेद से 'महत्-तत्त्व' तीन प्रकार का है। नारायण का [जीव में] मन रूप में होना 'आधिदैविक' कहा गया है ॥ ४० ॥

जीवानां चित्तरूपं यदध्यात्म्यमिति चक्ष्यते ।
ब्रह्मणो देहरूपस्थमाधिभौतिकमुच्यते ॥ ४१ ॥

जीवों में 'चित्त' रूप से जो वह 'अध्यात्म' रूप से अभिहित होता है। ब्रह्म

का जो 'देहस्थ' रूप है वह 'आधिभौतिक' कहा जाता है ॥ ४१ ॥

नारायणेऽधिदैवेन रूपेण[1] परिनिष्ठितम् ।
आविर्बभूव तद्वर्णभेदैर्वेदस्वरूपतः ॥ ४२ ॥

आधिदैविक रूप से परिनिष्ठित नारायण ही उनके वर्णभेदों के द्वारा वेद स्वरूप में अविर्भूत होते हैं ॥ ४२ ॥

जीवगं यत्तु देवेशि चित्तरूपतया स्थितम् ।
सुषुम्णावर्त्तिना प्राणवायुना सह सङ्गतम् ॥ ४३ ॥

हे देवेशि, जीव में जो चित्त रूप से स्थित है वह सुषुम्ना में रहने वाली प्राण वायु से संगत है ॥ ४३ ॥

वायुस्तेन युतो देवि ब्रह्मरन्ध्राहतः पुनः ।
ताल्वोष्ठपुटनासादिभेदेन[2] परमेश्वरि ॥ ४४ ॥
वर्णात्मा विर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ।
ब्रह्मदेहतया यस्मात् स्थितं त्रैलोक्यकारणम्[3] ॥ ४५ ॥
अतस्तस्माज्जगज्जातं देवासुरनरोरगम् ।
इति तेऽभिहितं देवि रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ ४६ ॥

हे देवि ! उससे युक्त होकर वायु पुनः ब्रह्मरन्ध्र से आहत होकर, हे परमेश्वरि, तालु, ओष्ठ, पुट और नासिका के भेद से उत्पन्न होता है। उस तालु, ओष्ठ आदि से गद्य और पद्य आदि भेद के रूप में वही [शब्द ब्रह्म] वर्णात्मक रूप से अविर्भूत होता है। क्योंकि त्रैलोक्य का कारण रूप ब्रह्म देह रूप से स्थित है। अतः उससे देव, असुर, नर और सर्प आदि जीवों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार, हे देवि, परम अद्भुत रहस्य मैंने तुम्हें बताया है ॥ ४४–४६ ॥

श्रद्धाहीनाय दुष्टाय कृतघ्नाय दुरात्मने ।
नास्तिकायाविनीताय वेदशास्त्रोद्गताय च ॥ ४७ ॥
अविश्वस्ताय देवेशि दर्शयेन्न कथञ्चन ।
यदा राजा तु सर्वस्वं बलं कोशो महीगजान् ॥ ४८ ॥

---

१. 'नारायणे यदध्यात्मरूपेण' इत्यपि पाठः ।

२. 'देहेन' इत्यपि पाठः ।

३. 'तल्लोक' इत्यपि पाठः ।

निवेदयतु जिज्ञासुस्तदा तस्मै प्रकाशयेत् ।
अन्यथा सिद्धिहानिः स्यात् सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ४९ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपितव्यं त्वयापि हि ॥ ५० ॥

॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती
संवादे एकविंशं पटलम् ॥ २१ ॥

——*——

श्रद्धाविहीन, दुष्ट, कृतघ्न और दुरात्मा, नास्तिक, अविनीत एवं वेद शास्त्र को न जानने वाले को और अविश्वस्त पुरुष को, हे देवेशि, कभी भी यह ज्ञान नहीं देना चाहिए। यह ज्ञान तभी प्रकाशित करे जब कोई जिज्ञासु राजा अपना बल [=सेना] खजाना, पृथ्वी और हाथी आदि सभी कुछ निवेदित कर दे। नहीं तो सिद्धि समाप्त हो जाती है। यह निश्चय ही सत्य है। इसमें कोई संशय नहीं जानना चाहिए। इसलिए, हे प्रिये, तुम्हें भी सब प्रकार से इस (रहस्य) का गोपन ही करना चाहिए ॥ ४७–५० ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के इक्कीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २१ ॥

——*——

अथ द्वाविंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

यदुक्तं देवदेवेश त्वया पशुपते प्रभो।
प्रविश्य कर्णरन्ध्रेण चिदानन्दायते हृदि ॥ १ ॥

भगवती पार्वती ने कहा—

हे देव देवेश, हे पशुपति, हे प्रभु ! जो आपने (तत्त्व ज्ञान की) बात कही, वह कर्ण के छिद्रों से प्रविष्ट होकर हृदय में चित्त को अत्यन्त आनन्दित कर रही है ॥ १ ॥

तीर्थानां परमं तीर्थं ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
योगानां परमो योगो धर्माणां धर्म उत्तमः ॥ २ ॥

यह ज्ञान तीर्थों में भी परम तीर्थ, प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में भी उत्तम ज्ञान है। योगों में उत्कृष्ट योग और धर्मों में उत्तम धर्म है ॥ २ ॥

श्रोतव्यानां च परमं श्रोतव्यमिदमेव हि।
ज्ञातव्यानां च परमं ज्ञातव्यमिदमुच्यते ॥ ३ ॥

क्योंकि सुनने में यह सुनने योग्य मर्म है और ज्ञातव्य में यह परम ज्ञातव्य (ज्ञान) कहा जाता है ॥ ३ ॥

श्रुतं मया विशेषेण सोपपत्तिकमित्यपि।
न तथाप्यन्तरात्मा मे तृप्तिमायाति शाश्वतीम् ॥ ४ ॥

यह भी मैंने उपपत्तिपूर्वक विशेष रूप से सुन लिया, तथापि मेरी अन्तरात्मा शाश्वत तृप्ति को नहीं प्राप्त कर रही है ॥ ४ ॥

अतस्त्वां परिपृच्छामि विशेषं तत्र धूर्जटे।
तं च ब्रूहि महादेव प्रसादपरमो भव ॥ ५ ॥

अत। हे धूर्जटि ! आप से उस ज्ञान में विशेष ज्ञान को पूँछती हूँ। हे महादेव ! आप प्रसन्न हों और उस (विशिष्ट ज्ञान) को मुझसे कहें ॥ ५ ॥

स्वप्नभूतप्रपञ्चेस्मिन्नक्षरस्य परात्मनः।
प्रियाः सख्यो भगवतो वासनावशतो गतः ॥ ६ ॥

परमात्मा अक्षर के स्वप्नभूत इस प्रपञ्च में भगवान् को प्रिय सखियाँ भी वासना के वश (क्यों) हो गई ॥ ६ ॥

कियांस्तत्र गतः कालस्तासामागमनादनु ।
कियत्कालं च ताः सर्वा इह स्थास्यन्ति मोहिताः ॥ ७ ॥

उनके आगमन के अनन्तर कितना काल व्यतीत हुआ ? और वे ही मोह में प्राप्त होकर कितने काल तक रहेंगी ॥ ७ ॥

कथ ता बोधमाप्स्यन्ति कस्तासां प्रतिबोधकृत् ।
युगपद्वा गमिष्यन्ति पृथक वा परमेश्वर ॥ ८ ॥

वे कैसे प्रबद्धावस्था को प्राप्त होगी ? और कौन उन्हें प्रवुद्ध कराने वाला होगा ? हे परमेश्वर ! वे साथ-साथ ही जायेगो, अथवा अलग-अलग ॥ ८ ॥

एतत्सर्वं महादेव कथयस्व प्रसादतः ।
संशयो मे महानद्य तमपानुद शङ्कर ॥ ९ ॥

यह सब कुछ, हे महादेव ! आप प्रसन्न होकर मुझसे कहें । हे शङ्कर ! इसमें जो मुझे महान् सन्देह है उसका आप निराकरण करें ॥ ९ ॥

शिव उवाच—

श्रृणु पार्वति वक्ष्यामि तव प्रश्नानशेषतः ।
त्वं मे प्राणाधिकैवासि तस्माद्वक्ष्ये यथातथम् ॥ १० ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

हे पार्वति ! सुनो । तुम्हारे सभी प्रश्नों का समाधान मैं कहूँगा । तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो । अतः मैं तुमसे जैसा है वैसा ही कहूँगा ॥ १० ॥

विरञ्चेर्ब्रह्मणः पूर्वं अष्टवक्त्रोऽभवद्विधिः ।
शब्दब्रह्मेति य प्राहुर्वेदवेदान्तपारगाः ॥ ११ ॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पहले (चार न होकर) आठ मुख थे । जिसे वेद और वेदान्त के पारगामी विद्वानों ने 'शब्द ब्रह्म' के रूप से कहा है ॥ ११ ॥

द्विपरार्द्धावसानेस्य ब्राह्मः कल्पो महानभूतः ।
प्रलयोऽयं महेशानि प्रकृत्यवधिरुच्यते ॥ १२ ॥

दो परार्धों के बीत जाने पर इन ब्रह्मा का एक महान् 'ब्राह्म-कल्प' हुआ । हे महेशानि ! यह प्रलय है जो प्रकृति की अवधि कहा गया है ॥ १२ ॥

[1]एका शिष्टा च प्रकृतिः पुरुषाधिष्ठिता हि सा ।
कियत्कालं ततो देवि शून्यमासीदिति श्रुतिः ।। १३ ।।

वस्तुतः एक प्रकृति है जो पुरुष में अधिष्ठित होकर रहती है । श्रुति के अनुसार उसके बाद, हे देवि ! कुछ काल तक शून्य ही था ।। १३ ।।

आविर्भूता ततो निद्रा अक्षरे परमात्मनि ।
महत्तत्वमतस्तस्माद् अहङ्कृतिरजायत ।। १४ ।।

उस परमात्मा अक्षर में तब निद्रा आविर्भूत हुई । पहले महत्-तत्त्व उत्पन्न हुआ । तब उसके बाद अहङ्कार आया ।। १४ ।।

स एव च त्रिधा जातो गुणभेदेन सुन्दरि ।
सात्विकाच्च मनो जज्ञे देवताश्च दशैव ताः ।। १५ ।।

हे सुन्दरि ! गुण के भेद से वही तीन (गुण सत्त्व, रज, और तम) होकर उत्पन्न हुए । सात्त्विक गुण से मन और दस देवता उत्पन्न हुए ।। १५ ।।

राजसादिन्द्रियाण्यासन् भूतानि तमसोऽभवन् ।
तेभ्योऽण्डमभवेद्देवि तत्र नारायणः स्थितः ।। १६ ।।

राजस् गुण से इन्द्रियों का जन्म हुआ और तमोगुण से (पञ्च) महाभूतों की उत्पत्ति हुई । उन पञ्च महाभूतों से एक अण्ड की उत्पत्ति हुई । हे देवि ! वहीं भगवान् नारायण स्थित रहते हैं ।। १६ ।।

[2]तस्य नाभेरभूत्पद्म यत्र ब्रह्माभवत्स्वयम् ।
द्विपरार्द्धमितं चास्य परमायुर्निगद्यते ।। १७ ।।

उनके नाभि से कमल उत्पन्न हुआ । जहाँ स्वयमेव ब्रह्मा का अविर्भाव हुआ । इन ब्रह्मा की आयु दो परार्धों [अर्थात् एक युग का चार भाग करने पर दो भागों] तक कही गयी है ।। १७ ।।

अस्मिन् ब्रह्माण्डगोले हि जम्बूद्वीपे महेश्वरि ।
वर्षे भारतसंज्ञे हि प्रियाणां वासनाः स्थिताः ।। १८ ।।

हे महेश्वरि ! इस ब्रह्माण्ड रूप गोलक के जम्बू द्वीप में भारतवर्ष नामक देश में (कृष्ण की) प्रियाओं की वासना स्थित हुईं ।। १८ ।।

परार्द्धः प्रथमो जातो द्वितीयेस्मिन् महेश्वरि ।
निर्बन्धात्स्वामिनीनां च लीलामाविश्चकार ह ।। १९ ।।

---

१. 'एकावशेषा-प्रकृतिः' इत्यपि पाठः ।
२. 'तत्र' इत्यपि पाठः ।

हे महेश्वरि ! द्वितीय (परार्द्ध) में प्रथम परार्द्ध का जब आरम्भ हुआ तब बन्धन विहीन होने से उन स्वामिनियों की लीला आविष्कृत हुई ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णः परमानन्दो नन्दगेहेभवत्तदा ।
गोपकन्यामिषेणैव ह्याविर्भूतास्ततः प्रियाः ॥ २० ॥

तब भगवान् परमानन्द श्रीकृष्ण नन्द के घर पर उत्पन्न हुए और उनको प्रियाएँ तब वहीं ब्रज में गोप कन्याओं के रूप में उत्पन्न हुईं ॥ २० ॥

तत्कामपूर्त्तये साक्षात् श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमः ।
रासलीलां प्रकुर्वाणो रमयामास ताः प्रियाः ॥ २१ ॥

भगवान् कृष्ण पुरुषोत्तम ने उनकी कामनाओं की पूर्ति के लिए साक्षात् रूप से रास लीला करते हुए उन प्रियाओं से रमण किया ॥ २१ ॥

योगमायासमावेशान्मायाकार्यं विलुंपतः ।
ब्रह्मणोऽपि लये जाते यथापूर्वमभूदिदम् ॥ २२ ॥
पुनर्जातं ततः सर्वं ब्रह्मादिस्थावरान्तकम् ।
मनोरथस्य चापूर्त्या वासनाः कार्यमध्यगाः ॥ २३ ॥

योगमाया के समावेश के कारण माया का कार्य मोहग्रस्त था । ब्रह्म के भी विलीन हो जाने पर, जैसा यह ब्रह्म पहले था वैसा उस रास लीला में हुआ । उसके बाद पुनः ब्रह्म आदि स्थावर एवं जङ्गमात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई । तब मनोरथ की पूर्ति के लिए कार्य के बीच में रहने वाली वासना की उत्पत्ति हुई ॥ २२-२३ ॥

विचरन्ति यथा कालं यथादेशं यथारुचि ।
द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ॥ २४ ॥
विरञ्चौ मुक्तिमापन्ने प्रबुद्धे ह्यक्षरे प्रिये ।
प्रबुद्धा वासनास्ता हि भविष्यन्ति स्वबिम्बगाः ॥ २५ ॥

काल के अनुसार, देश के अनुसार और अपनी रुचि के अनुसार वह बासना विचरण करती रहती है, और द्वितीय परार्द्ध के बीत जाने पर स्थावर एवं जङ्गमात्मक जगत् के नष्ट हो जाने पर तथा ब्रह्मा के मुक्ति पा जाने पर, हे प्रिये ! वही प्रबुद्ध वासना अपने बिम्ब रूप से प्रबुद्ध अक्षर (ब्रह्म) में आ जाती है ॥ २४-२५ ॥

आविर्भावाच्च लीलाया द्वापरान्ते कलौ युगे ।
[1]असहिष्णुः स्वप्रियाणां दुःखलीलानुदर्शनम् ॥ २६ ॥

---

१. क्वचित्पुस्तके २६—२७ श्लोकयोः 'आस कृष्णः प्रियाणां च दुःखलीलानुदर्शने । तासामेका च परमा सुभगा सुन्दरी प्रिया । प्रबोधयिष्यति सा सर्वाः कथयित्वा विनिर्णयम्' । ईदृशः पाठभेदो भाति ।

द्वापर युग के अन्त में एवं कलि युग के प्रारम्भ होने पर लीला का आविर्भाव होता है। अपनी प्रियाओं के असहिष्णु होने पर तथा दुःख-लीला के दर्शन की इच्छा के कारण ऐसा भगवान् करते हैं ॥ २६ ॥

तासामेकां च परमां सुभगां सुन्दरीं प्रियाम्।
प्रबोधयिष्यतितरां कथयित्वा विनिर्णयम् ॥ २७ ॥

उन प्रियाओं में एक सुन्दर अङ्गों वाली उत्कृष्ट सुन्दरी प्रिया अपने (लीला दर्शन के) निर्णय को कहकर उन अक्षर ब्रह्म परमात्मा को प्रबुद्ध करेगी ॥ २७ ॥

ततस्तत्सम्प्रदायेन सर्वास्ता भगवत्प्रियाः।
स्वभर्तृविरहाक्रान्ताः त्यक्त्वा देहान् प्रपञ्चगान् ॥ २८ ॥
भगवल्लोकवैकुण्ठे स्थितिमाप्स्यन्ति यूथशः।
पद्मया रममाणास्ताः कालभोगे यथाविधि ॥ २९ ॥

इसके बाद वे सभी उस सम्प्रदाय वाली प्रियाएँ भगवान् की प्रिय होने से अपने भर्ता श्रीकृष्ण के विरह से आक्रान्त होकर अपने पाञ्चभौतिक शरीर को त्याग कर भगवान् के लोक वैकुण्ठ में एक-एक यूथ के रूप में स्थिति को प्राप्त करेंगी। पद्मा के साथ रमण करती हुई वे यथाविधि काल का उपभोग करेंगी ॥ २८-२९ ॥

दिव्यदेहानपि त्यक्त्वा भविष्यन्ति स्वबिम्बगा।
अक्षरोऽप्यनुभूयैतत्स्वप्नवत् परमेश्वरि ॥ ३० ॥
परमानन्दसम्मग्नो भविष्यति कृतार्थधीः।
सर्वा लीला नित्यरूपा भविष्यन्ति तदा प्रिये ॥ ३१ ॥

वहाँ वैकुण्ठ में भी अपने दिव्य शरीर को भी वे त्याग कर अपने बिम्ब रूप से वे प्रतिष्ठित होंगी। हे परमेश्वरि ! अक्षर (ब्रह्म) भी यह सब स्वप्न के समान अनुभव करके परम आनन्द में विभोर होकर अपने को कृतार्थ बुद्धि वाला समझेंगे। हे प्रिये ! तभी नित्य रूपा सभी लीला होंगी ॥ ३०-३१ ॥

भगवल्लोकमात्मानं दिव्यभावेऽपि सुन्दरि।
अविद्यालेशसम्बन्धादक्षरस्य परात्मनः ॥ ३२ ॥
निद्रांशस्यापि शेषत्वात् कियत्कालमवस्थितिः।
युगपद्देवि सर्वास्ता गमिष्यन्ति निजं गृहम् ॥ ३३ ॥

हे सुन्दरि ! दिव्य भाव होने पर भी भगवान् के अपने लोक में परमात्मा अक्षर में अविद्या के लेश मात्र सम्बन्ध से तथा निद्रा के कुछ शेष रहने पर कुछ काल

तक ही उनकी अवस्थिति रहती है। हे देवि ! वे सभी वासना रूपा बिम्ब को प्राप्त प्रियाएँ अपने गृह को चली जाएँगी ॥ ३२-३३ ॥

न कथञ्चन देवेशि गतिस्तासां पृथक् भवेत् ।
स्वप्नस्य विषये साम्यादैकात्म्याच्च तथा प्रिये ॥ ३४ ॥

हे देवेशि ! किसी भी प्रकार से उनकी गति उन अक्षर ब्रह्म से अलग नहीं होती है। हे प्रिये ! क्योंकि यह लीला अक्षर ब्रह्म की निद्रा में स्वप्न का विषय होने से और बिम्ब रूप प्रिया का उनमें एकात्म होने से पृथक् नहीं है अतः ॥ ३४ ॥

वैरस्याच्च विचित्रत्वे भर्तृ स्नेहाविशेषतः ।
न पृथक् गमनं तासां तस्माद्वैकुण्ठसंस्थितिः ॥ ३५ ॥

भर्ता श्री कृष्ण के अतिशय प्रेम के कारण और विचित्र लीला के वैरस्य के कारण उन प्रियाओं का पृथक् गमन नहीं होता। इसीलिए उनकी स्थिति वैकुण्ठ में होती है ॥ ३५ ॥

क्रमयोगेन देवेशि सर्वा यास्यन्त्यसंशयम् ।
तस्माद्देवि विशेषेण स्वपतिः पुरुषोत्तमः ॥ ३६ ॥

हे देवेशि ! निःसन्देह वे सभी प्रियाएँ क्रमपूर्वक वहाँ बैकुण्ठ में जाएँगी। हे देवि ! क्योंकि पुरुषोत्तम ही विशेष रूप से उनके पति हैं ॥ ३६ ॥

भजनीयो हि सततं वेदशास्त्रानुरोधतः ।
देहेन्द्रियस्वभावानामन्तं कर्माणि पार्वति ॥ ३७ ॥

अतः हे पार्वति ! वेदशास्त्र के अनुरोध के अनुसार साधक को देह एवं इन्द्रियों के स्वाभाविक कर्मों को करते हुए भी भगवान् कृष्ण का भजन करना चाहिए ॥३७॥

आत्मनोन्तं परब्रह्मध्यानश्रवणकीर्तनम् ।
स्वभावाज्जायते कर्म सदसच्चेति सर्वथा ॥ ३८ ॥

अपनी अन्तरात्मा में उन भगवान् का ध्यान, उनकी कथा का श्रवण तथा उनका कीर्तन करते हुए ही रहना चाहिए। इन्द्रियों के सत् या (मलमूत्र त्याग आदि) असत् कर्म तो स्वभाव से सर्वथा होते ही रहते हैं ॥ ३८ ॥

सत्त्यागादसदासङ्गान्नानायोनिभ्रमो भवेत् ।
आधिव्याधिदरिद्रोत्थपीडाविस्मारिततात्मनः ॥ ३९ ॥

जीव सत् कर्मों के त्याग से तथा असत् कर्मों के सर्वथा सङ्ग से नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। वह जीव परमात्मा से अलग होकर आधि, व्याधि और दारिद्रय से उत्पन्न पीडा से अपने स्वरूप को भूल जाता है ॥ ३९ ॥

उद्रिक्ततमसो देवि न शुभं स्यात्कदाचन ।
तस्मात्कर्तव्यमेवेह देहपर्यवसायि यत् ॥ ४० ॥

हे देवि ! बिना अन्धकार के हटे कभी भी शुभ कर्म नहीं हो सकता है । इसलिए जो देह में पर्यवसान करने वाले कर्म हैं, उन्हें छोड़कर भगवान् का ध्यान (कथा), श्रवण एवं कीर्तन आदि ही परमार्थ रूप से इस लोक में कर्तव्य हैं ॥ ४० ॥

देहान्ते कर्मसम्बन्धो न भविष्यति कर्हिचित् ।
प्रत्यवायनिवृत्त्यर्थमनिष्टाचरणस्य च ॥ ४१ ॥
नित्यं नैमित्तिकं कार्यं काम्यं कर्म परित्यजेत् ।
एवं यो वर्त्तते देवि निष्प्रत्यूहं स सिद्ध्यति ॥ ४२ ॥

देह के पञ्चभूत में विलीन हो जाने पर उन कर्मों का उस शरीर से कोई भी सम्बन्ध नहीं होगा । अतः प्रत्यवाय (बाधा) की निवृत्ति के लिए तथा उससे अनिष्ट का आचरण होने से देह के साथ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए । साधक को नित्य तथा नैमित्तिक कर्म तो करना चाहिए किन्तु काम्य कर्म का सर्वथा परित्याग करना करना चाहिए । हे देवि ! इस प्रकार से जो साधक साधना करता है उसे निःसन्देह सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ४१-४२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामलोलुपः ।
स सिद्धिमिह नाप्नोति परत्र न पराङ्गतिम् ॥ ४३ ॥

जो व्यक्ति काम लोलुप होकर शास्त्रों के अनुसार कर्म का परित्याग कर जीवन यापन करता है, वह यहाँ सिद्धि तो नहीं ही प्राप्त करता है और उसकी ऊर्ध्व गति भी बाधित हो जाती है ॥ ४३ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वया प्रिये ।
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
द्वाविंशं पटलम् ॥ २२ ॥

——*——

हे प्रिये ! इस प्रकार जो आपने पूँछा, वह सभी हमने आपको संक्षेप में बतलाया है । हे महेशानि ! अब आपक्या सुनना चाहती हैं ? ॥ ४४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के बाइसवें पटल को डॉ० सुधाकर मालवीयकृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २२ ॥

——*——

अथ त्रयोविंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि तन्मे ब्रूहि सदाशिव।
भूतले भगवद्भार्या नानायोनिषु संस्थिताः ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे सदाशिव पुनः मैं आपसे पूछना चाहती हूँ, उसे आप हमसे कहें। इस भूतल पर भगवान् की भार्या नाना योनियों में उत्पन्न है ॥ १ ॥

तत्र तत्र विचित्राणि कर्माण्यपि कृतानि च।
क्वचित्तीर्थं क्वचिद्दानं क्वचिद्धोमं क्वचिज्जपः ॥ २ ॥

क्वचिन्मखादिचरणं स्वाध्यायाचरणानि च।
पितृदेवार्चनं क्वापि ब्राह्मणा योः सताम् ॥ ३ ॥

उन-उन योनियों में वे विचित्र कर्मों को भी कर रही हैं। वे कहीं तीर्थ में, कहीं दान में, कहीं होम में तथा कहीं जप में रत हैं। वे कहीं यज्ञादि का आचरण या कहीं स्वाध्याय का आचरण करती हैं। वे कभी पितृदेव की अर्चना करने में, कभी ब्राह्मण तथा अतिथि के पूजन में संलग्न रहती हैं ॥ २-३ ॥

क्वचिन्निन्दादिकरणं देवब्राह्मणातिथिपूजनम्।
क्वचिद्दत्तविलोपश्च तथेन्द्रियविलोभनम् ॥ ४ ॥

असत्यभाषणं चैव पैशुन्यं भूतहिंसनम्।
स्वर्णस्त्येयादिकं चैव सुरामांसनिषेवणम् ॥ ५ ॥

कभी किसी की निन्दा करती हैं और कभी देव अथवा ब्राह्मण एवं सज्जनों की पूजा करती हैं। कभी भिक्षा आदि भी न देकर इन्द्रिय की तृप्ति में लुभायमान रहती हैं। कहीं वे असत्य का भाषण तथा निष्ठुर व्यवहार और जीव हिंसा में लगी हैं। कहीं स्वर्ण के लाभ में तथा सुरा एवं मांस का सेवन करती हैं ॥ ४-५ ॥

द्रोहमात्सर्यहिंसादिपाकभेदादिकं तथा।
स्वस्ववर्णाश्रमाचारोल्लङ्घनं कामवर्त्तनम् ॥ ६ ॥

कहीं वे किसी से द्रोह, मात्सर्य, हिंसा आदि तथा पक्षपात पूर्ण व्यवहार में लगी

हैं। कहीं अपने-अपने वर्णाश्रम के आचार के उल्लङ्घन तथा कामनाओं की तृप्ति में प्रवृत्त रहती हैं॥ ६॥

स्वगुणाख्यानमीशान पङ्क्तिभेदो वृथा क्रिया।
परेषां मर्मकथनं म्लेच्छान्नात्क्वाऽपिजीवनम्॥ ७॥

हे ईशान! वे कहीं अपने गुणों के कथन तथा पंक्तिभेद आदिक वृथा क्रियाओं में संलग्न हैं। कहीं दूसरे की रहस्यात्मक बात को कहने में और कहीं नीच जाति के म्लेच्छों के अन्न से जीवन यापन करती हैं॥ ७॥

निषिद्धाचरणं देव विहिताचारलङ्घनम्।
गोभूगजाश्वकन्यादेस्तथा विक्रयण प्रभो॥ ८॥

हे देव! वे शास्त्रों से निषिद्ध आचरणों को करने में तथा शास्त्रविहित कर्म के उल्लंघन में भी प्रवृत्त रहती हैं। हे प्रभु! वे गो, भू, गज, अश्व तथा कन्या आदि के विक्रय में संलग्न हैं॥ ८॥

वेदविक्रयणं चैव भूतसन्त्रासनं तथा।
आलस्यात्कर्मणस्त्यागस्तथैवाहङ्कृतेरपि॥ ९॥

वे कलियुग के जन वेद विक्रय में तथा जीवों को सन्त्रस्त करने में संलग्न हैं। वे जन आलस्य के कारण अपने कर्म का त्याग करते हैं तथा वे अहङ्कार में पड़े रहते हैं॥ ९॥

कर्मण्येतानि देवेश सदसन्ति महान्त्यपि।
प्रारब्धसञ्चितान्येव क्रियमाणानि यानि च॥ १०॥
तेषामन्तं न पश्यामि कल्पकोटिशतैरपि।
स्वरूपज्ञानमात्रेण सञ्चितक्रियमाणयोः॥ ११॥

हे देवेश! पूर्वोक्त कर्म में सत् हों या असत् या महान् भी हों तो वे प्रारब्ध कर्म या जो क्रियमाण कर्म सञ्चित होते हैं—उन सञ्चित कर्मों का अन्त सौ करोड़ कल्पों तक भी मैं नहीं देख रही हूँ। अतः आत्मस्वरूप के ज्ञान मात्र से सञ्चित और क्रियमाण कर्मों का नाश कैसे हो जाता है? १०-११॥

श्रुतिसिद्धो भवेन्नाशः प्रारब्धस्य तु न क्वचित्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कर्मणां भोगतः क्षयः॥ १२॥
इत्येवं शास्त्रसिद्धान्तः सर्वथैव त्वयोदितः।
प्रारब्धविद्यमानत्वात् स्वरूपस्मरणेऽपि च॥ १३॥

कथं वकुण्ठगमनं गोचरो[1] ग्रस्तकर्मणः।
अभुक्तान्येव कर्माणि विहाय यदि यान्ति ताः॥ १४॥

प्रारब्ध कर्म का कभी बिना भोग किए, नाश असम्भव है—यह बात श्रुति से सिद्ध है। कर्म का क्षय बिना भोगे नहीं होता, क्योंकि 'भोग से ही कर्म का क्षय होता है'—यह शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है जो आप द्वारा कहा गया है। जब उन भगवान् की प्रियाओं के प्रारब्ध कर्म विद्यमान थे तो मात्र स्वरूप के स्मरण मात्र से वे कैसे वैकुण्ठ चली गईं, जब कि उनका कर्म से ग्रस्त होना दृष्टिगोचर हो रहा है? उन विद्यमान कर्मों के बिना भोगे कर्मों को छोड़कर यदि वे वैकुण्ठ को जाती हैं तो कैसे?॥ १२-१४॥

न बिना कर्तृ[2] सम्बन्धं क्षणं तिष्ठन्ति तान्यपि।
इत्येनं संशयं देव छेत्तुमर्हसि मामकम्॥ १५॥

फिर बिना कर्म किए जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता—यह कैसे? हे देव! ये मेरे कर्म से सम्बन्धित संशय हैं जिन्हें आप काट देने में समर्थ हैं। अतः आप मेरे संशय को दूर करें॥ १५॥

शिव उवाच—

साधु पृष्टं त्वया भद्रे रहस्यं परमाद्भुतम्।
यस्य श्रवणमात्रेण कर्मबन्धाद्विमुच्यते॥ १६॥

शिव ने कहा—

हे भद्रे! आपने परम आश्चर्यजनक तथा रहस्य की सुन्दर बात पूछी है जिसके श्रवण मात्र से जीव कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है॥ १६॥

सञ्चितं क्रियमाणं च तस्य नश्यति सर्वथा।
विरहाग्न्याहुतीभूतशरीरा या हि केवलम्॥ १७॥

सञ्चित या क्रियमाण कर्मों का सर्वथा नाश, भगवान् के विरह की अग्नि में जो आहुति रूप से अपने शरीर को डाल दिया जाता है, उससे ही हो जाता है॥ १७॥

निक्षिप्य भूते भूतोत्थं तैजसं वपुरास्थिताः।
प्रारब्धसंहिता एव ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ताः॥ १८॥

जब जीव भगवान् के विरह की अग्नि में अपने शरीर को डालता है तभी

---

१. 'न्यस्तकर्मणः' इत्यपि पाठः।

२. 'कर्मसम्बन्धं' इत्यपि पाठः।

उस अग्नि से उसका तैजस शरीर प्रकट हो जाता है और वे अपने प्रारब्ध कर्मों के सहित वैकुण्ठ को पहुँच जाती हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्मलोकाद्यदा चोर्ध्वं गच्छन्ति भगवत्प्रियाः ।
वैकुण्ठनिकटे प्राप्ते बलीयान् पवनो ह्यवन् ॥ १९ ॥
तेनाविष्टास्ततः सख्यः कम्पयन्ति वपुर्लताः ।
वपुःकम्पेन देवेशि प्रारब्धानां च पङ्क्तयः ॥ २० ॥
वृक्षेभ्य इव पुष्पाणि क्षरन्ति क्रमशोऽपि च ।
कर्मसम्बन्धरहिता यान्ति वैकुण्ठमुज्ज्वलाः ॥ २१ ॥

वे भगवान् की प्रियाएँ जब ब्रह्मलोक से ऊपर का जाती हैं तब वैकुण्ठ के निकट आने पर एक बलवान् पवन आती हैं । उस पवन से आविष्ट होकर उनके तेजस शरीर की लता को वह सखा रूप से कँपाती हैं । हे देवेशि ! उस शरीर कम्पन से प्रारब्ध कर्मों की शृङ्खला उसी प्रकार समाप्त हो जाती है जैसे क्रमशः वृक्ष से हवा चलने पर पुष्प नीचे गिर जाते हैं और इस प्रकार वे भगवान् की प्रियाएँ (अर्थात् जीव) कर्म के सम्बन्ध से रहित होकर तथा उज्ज्वल होकर वैकुण्ठ को चली जाती हैं ॥ १९-२१ ॥

सदसन्त्यपि कर्माणि क्षरितानि शरीरतः ।
यानाश्रयन्ति सततं वक्ष्ये तान् त्वं शृणु प्रिये ॥ २२ ॥

शरीर से सत् या असत् सभी कर्म छूट जाते हैं । हे प्रिये ! जिनसे वे आश्रित होते हैं, अब मैं उनको कहूँगा उसे आप सुनें ॥ २२ ॥

यैः सेवाग्रहणादीनि स्तोत्राणि रचितान्यपि ।
उपकारः कृतो यैर्वा धनधान्याम्बरार्पणैः ॥ २३ ॥

जिनके द्वारा भगवान् की सेवा, उनकी भक्ति आदि कर्म तथा उनके लिए रचित स्तोत्र हाते हैं, वे उपकृत होते हैं, जो अपना धन-धान्य एवं वस्त्राभूषण उन भगवान् को अर्पित कर देते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते है ॥ २३ ॥

तद्गुणश्रवणे हृष्टास्तन्निन्दायां च दुःखिताः ।
सहभोज्याः सहवासाः सहयानाः सहासनाः ॥ २४ ॥

भगवान् के गुणों के श्रवण से जो आनन्दित होते हैं और उनकी निन्दा से दुःखित होते हैं वे ही साधक धन्य हैं । जो भगवान् के साथ भोजन, उनके साथ में वास, उन्हीं के साथ में जाना और उन्हीं के सन्निद्धय में बैठते हैं, वे साधक सिद्धि को प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥

तानाश्रयन्ते देवेशि सत्कर्माणि न संशयः ।
यैस्तु दुःखं कृतं तासां निन्दापारुष्यपैशुनैः ॥ २५ ॥

तदर्थहरणं चैव तद्दोषस्यैव कीर्तनम् ।
वृथापवादकथनं ताडन तर्जनं तथा ॥ २६ ॥

असत्कर्माणि सर्वाणि ह्याश्रयन्ते खलान् हि तान् ।
कर्मणां देहसम्बन्धो नात्मनस्तु कदाचन ॥ २७ ॥

हे देवेशि ! निःसन्देह सत्कर्म उन साधकों का आश्रयण करके रहते हैं, जिनके द्वारा निन्दा, कठोर वचन एवं पैशुन्य का दुःखद व्यवहार नहीं किया जाता है । उन्हीं के लिए हरण और उन्हीं के दोषों का कीर्तन तथा वृथा ही अपवाद (झठी बात) का कथन, ताड़ना देना, झिड़कना, आदि सभी असत् कर्म उन दुष्ट जनों का ही आश्रय बना कर रहते हैं । अतः कर्म का सम्बन्ध देह से होता है । आत्मा से कभी-भी नहीं ॥ २५-२७ ॥

स्तुतिर्निन्दापि देवेशि देहगा नात्मगोचरा ।
तस्माद्देहस्य संस्तुत्या निन्दया वापि पार्वति ॥ २८ ॥

प्राप्यते पुण्यपापानि तदीयानि न सशयः ।
पुण्यपापे निहत्यैवं वैकुण्ठे विहरन्ति ताः ॥ २९ ॥

हे देवेशि ! स्तुति एवं निन्दा भी देह से सम्बन्धित हैं । उनसे आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं । निःसन्देह रूप से, इसलिए, हे पार्वति ! व्यक्ति देह की स्तुति या निन्दा से ही पाप या पुण्य आदि प्राप्त करते हैं । अतः वे सखियाँ पुण्य या पाप का नाश करके ही वैकुण्ठ में विहार करती हैं ॥ २८-२९ ॥

वैष्णव धाम यास्यन्ति सात्विक्यो भगवत्प्रियाः ।
द्विपरार्द्धावसाने तु यास्यन्ति युगपद्धि ताः ॥ ३० ॥

वे भगवान् की सात्त्विक प्रियाएँ वैष्णव-धाम को प्राप्त करती हैं और ब्रह्मा के दूसरे परार्द्ध के अवसान पर एक साथ (वैकुण्ठ को) जाती हैं ॥ ३० ॥

राजस्यश्चापि वैरच्यं तामस्यो मन्निकेतनम् ।
न प्रकारविभेदोऽस्ति कर्महानौ गिरीन्द्रजे ॥ ३१ ॥

हे गिरिराज हिमालय की पुत्रि ! जो राजसी सखियाँ हैं वे ब्रह्मा को तथा जो तामसी प्रेमिकाएँ है वे मेरे निकेतन (शङ्कर के धाम) को जाती हैं । कर्म हानि होने पर भी उनमें किसी प्रकार का प्रकार-विभेद नहीं है ॥ ३१ ॥

गुणानुरूपाञ्च गतिं सर्वे यान्ति न संशयः ।
प्रकारं श्रृणु तत्रापि वैकुण्ठगमनं प्रति ।। ३२ ।।

उन सभी भगवत्प्रियाओं की गति, निसन्देह रूप से उनके गुणों के ही अनुरूप होती है। वे सभी भगवद्धामों को गुण के अनुसार प्राप्त करती हैं। उनके भी वैकुण्ठ जाने का प्रकार (क्रम) है, जिसे हे देवि ! आप सुनें ।। ३२ ।।

वासनालिङ्गमेतासां देहान्ते पृथिवीं विशेत् ।
कियत्कालं ततः स्थित्वा पार्थिवेन्द्रियसंयुता ।। ३३ ।।

वासना से युक्त इनका शरीर मृत्यु के बाद पृथ्वी पर पुनः जन्म लेता है। कुछ काल तक पार्थिव इन्द्रिय से संयुक्त होकर वह वहाँ रहता है ।। ३३ ।।

पार्थिवं विषयं देवि सेव्यमाना जलं विशेत् ।
कियत्कालं ततः स्थित्वा लब्ध्वा तत्रेन्द्रियं रसम् ।। ३४ ।।

हे देवि ! पार्थिव विषयों का सेवन कर वह लिङ्ग शरीर फिर जल में प्रविष्ट हो जाता है। वहाँ पर वह कुछ समय तक (इन्द्रियों का रस प्राप्त) करता है ।। ३४ ।।

अतिदिव्यं सेव्यमाना तेजस्तत्त्वं समाविशेत् ।
कियत्कालं ततः स्थित्वा तेजसेन्द्रियसंयुता ।। ३५ ।।

अति दिव्य विषयों का सेवन करते हुए वह तत्त्व तेज में समाविष्ट हो जाता है। वहाँ पर कुछ समय तक रहकर वह तैजस इन्द्रियों से संयुक्त होकर रहता है ।। ३५ ।।

विषयं रूपमासाद्य वायुतत्त्वं ततः विशेत् ।
कियत्कालं ततः स्थित्वा त्वगिन्द्रियसमन्विता ।। ३६ ।।

वह लिङ्ग शरीर 'रूप' विषय का प्राप्तकर वायु तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है। वहाँ पर त्वगिन्द्रिय से सयुक्त होकर वह रहता है ।। ३६ ।।

दिव्यस्पर्शं च विषयं सेव्यमाना खमाविशेत् ।
कियत्काल ततः स्थित्वा लब्ध्वा च श्रोत्रमिन्द्रियम् ।। ३७ ।।

वह लिङ्ग शरीर दिव्यस्पर्श विषय का सेवन करते हुए आकाश तत्त्व में प्रविष्ट हो जाता है। वहाँ पर वह कुछ काल तक श्रोत्र इन्द्रिय को प्राप्त कर स्थित रहता है ।। ३७ ।।

विषयं शब्दमासाद्य ततो भूतादिमाविशेत् ।
भूतादितामसं हित्वा राजसं याति सुन्दरि ।। ३८ ।।

वह श्रोत्र अपने विषय 'शब्द' को प्राप्त कर भूतादिकों में प्रविष्ट हो जाता है। हे सुन्दरि ! तामस भूतादि को छोड़कर वह राजस को प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

ततः सत्वमयं प्राप्य वैकुण्ठे रमते चिरम् ।
अनेन क्रमयोगेन गमिष्यन्ति हरेः प्रियाः ॥ ३९ ॥

उसके बाद वह लिङ्ग शरीर [शब्द ब्रह्म] सत्त्व मय रूप प्राप्त कर वैकुण्ठ में चिरकाल तक रमण करता है। इसी क्रम से हरि की प्रियाएँ भगवद्धाम वैकुण्ठ को जाती हैं ॥ ३९ ॥

एतत्तुभ्यं समाख्यातं वैकुण्ठगमनादिकम् ।
नाख्येयं यस्य कस्यापि तव स्नेहात्प्रकाशितम् ॥ ४० ॥

हे देवि ! यह वैकुण्ठ गमन का क्रम आदि मैंने आपसे कहा। इसे जिस किसी से कभी भी नहीं कहना चाहिए। यह तो मैंने आपके स्नेह वश होकर कहा है ॥ ४० ॥

त्वयापि गोपनीयं हि सत्यं सत्यं न संशयः ।
अपात्रायापि पुत्राय दत्त्वा पापमवाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ४२ ॥

। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
त्रयोविंशं पटलम् ॥ २३ ॥

———*———

अतः, हे देवि ! आपको भी निःसन्देह रूप से इस ब्रह्म विद्या का गोपन करना चाहिए। यह सत्य सत्य जानिए। अपात्र के [पात्र] पुत्र को भी यदि इसे दिया जाय तो पाप ही प्राप्त होता है। यह सब कुछ हमने आपसे कहा। अब आप पुनः क्या सुनना चाहती हैं ॥ ४१-४२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के तेइसवें पटल को डॉ० सुधाकर मालवीयकृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २३ ॥

———*———

अथ चतुर्विंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

देव देव महेशान धूर्जटे नीललोहित ।
भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि नित्यलीलाविनिर्णयम् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे देवों के देव, महेशान, धूर्जटे, हे नीललोहित पुनः मैं भगवान् की नित्यलीला का विशेषतः निर्णय सुनना चाहती हूँ ॥ १ ॥

निर्गुणे स्यात्कथं लीला लीला चेन्निर्गुणः कथम् ।
सगुणे वा कथं लीला नित्या गुणमयी यतः ॥ २ ॥

यदि भगवान् निर्गुण हैं तो फिर लीला कैसी ? और यदि लीला हैं तो फिर वह ब्रह्म निर्गुण कैसे हैं ? यदि सगुण (शरीरधारी) ब्रह्म हैं तो नित्य गुणमयी लीला कैसे ? ॥ २ ॥

यत्तु कालत्रयाबाध्यं तच्च नित्यं प्रचक्षते ।
कदाचिद्वा पुरा जाता लीलेयं वा भविष्यति ॥ ३ ॥

काल त्रय से जो अबाधित है, वही 'नित्य कहा जाता है क्योंकि कभी लीला हुई थी अथवा कभी यह लीला होगी ॥ ३ ॥

अथवा नैव जातेयं भविष्यति न वा पुनः ।
इदानीं लीला चेज्जाता जन्यकार्यं विनश्यति ॥ ४ ॥

अथवा यह न कभी हुई थी और न पुनः कभी होगी । यदि इस समय लीला हुई तो निश्चय ही जो लीला हो गई, वह पुनः कैसे होगी ? ॥ ४ ॥

कथं नित्येति तां वक्तुं शक्यते विदुषा प्रभो ।
यद्यक्षरस्य हृदये लीला नित्यत्वमागता ॥ ५ ॥

इस प्रकार, हे प्रभो ! उसे विद्वान् कैसे 'नित्य' कह सकते हैं ? जो लीला अक्षर रूप परब्रह्म के हृदय में नित्यत्व को प्राप्त है ॥ ५ ॥

पुरा ह्यविद्यामानत्वान्नित्यतायाः कथं स्थितिः ।
इति मे संशयं देव छेत्तुमर्हसि साम्प्रतम् ॥ ६ ॥

जब वह लीला पहले विद्यमान नहीं थी तो उसकी नित्यता की स्थिति कैसे ? हे देव ! अब इस संशय को आप दूर करें ॥ ६ ॥

त्वदन्यं नैव पश्यामि सन्देहविनिवर्त्तनम् ।
न तवाविदितं किञ्चित्सर्वज्ञोऽसि यतः स्वयम् ॥ ७ ॥

इस सन्देह को विशेष प्रकार से निवृत्ति करने वाला मैं किसी और को नहीं देख रही हूँ । वस्तुतः आप से कोई वस्तु छिपी नहीं है । क्योंकि आप स्वयं ही सर्वज्ञ हैं ॥ ७ ॥

शिव उवाच—

शृणु पार्वति वक्ष्यामि तव स्नेहादशेषतः ।
यस्य श्रवणमात्रेण भवेद्विज्ञानमुत्तमम् ॥ ८ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

हे पार्वति ! तुम्हारे अत्यन्त स्नेह के कारण मैं कहता हूँ, सुनो । जिसके श्रवण मात्र से ही उत्तम विज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

निर्गुणेप्यक्षरातीते लीलायाः किं विरुध्यते ।
सगुणस्य तु या लीला सगुणा सा निगद्यते ॥ ९ ॥

निर्गुणे या भवेल्लीला सा लीला निर्गुणा भवेत् ।
निर्णयं तत्र वक्ष्यामि लीलाया ब्रह्मणस्तथा ॥ १० ॥

अक्षरातीत निर्गुण ब्रह्म में भी लीला का क्या विरोध है ? वस्तुतः सगुण की जो लीला होती है उसे सगुण लीला कहते हैं और जो निर्गुण की लीला होती है वह लीला 'निर्गुण लीला' कही जाती है । ब्रह्म की लीला में क्या निर्णय है ? उसे मैं कहता हूँ, सुनो ॥ ९-१० ॥

रसरूपं भवेद् ब्रह्म वेदविद्यासु गीयते ।
संयोगविप्रलम्भात्मा रसः स्याद् द्विदलात्मकः[1] ॥ ११ ॥

वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म का रस के रूप में गान किया गया गया है ('रसो वै सः' – बृह०) और वह रस संयोग और विप्रलम्भ रूप से दो प्रकार का होता है ११ ॥

संयुक्तयोस्तु संयोगो विप्रलम्भो वियुक्तयोः ।
नानाभावात्मिका तत्र लीला भवति शाश्वती ॥ १२ ॥

जब दो वस्तुएँ संयुक्त होती हैं तो संयोग होता है और जब वे वियुक्त होती

१. द्रष्टव्य — ११.२१–२२ पृ० १२२ ।

हैं तो विप्रलम्भ होता है। इस प्रकार उन (दोनों) में नाना भावों वाली शाश्वत लीलाएँ हुआ करती हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मणो निर्गुणत्वाच्च नित्यत्वाच्चेति सुन्दरि ! ।
नित्या च निर्गुणा चैव लीलेयं न विरुध्यते ॥ १३ ॥

हे सुन्दरि ! ब्रह्म के निर्गुण होने से और उसके नित्य होने के कारण नित्य लीला और निर्गुण लीला है। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ १३ ॥

केचिदाहुर्निर्गुणस्य नैव लीलोपयुज्यते ।
लीलाविशिष्टं[1] सगुणं मायासम्बन्धभावतः ॥ १४ ॥

कुछ विद्वज्जन कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म की लीला नहीं ही होती है और माया से सम्बन्धित होने से वह लीला विशिष्ट-सगुण-होती है ॥ १४ ॥

निर्गुणं तु परं सूक्ष्ममवाङ्मानसगोचरम् ।
वर्णयन्ति विभागेन मायामोहितचेतसः ॥ १५ ॥

निर्गुण ब्रह्म तो अत्यन्त सूक्ष्म और मानस पटल पर गोचर होने (दिखाई देने) वाला नहीं है। फिर भी माया से मोहित चित्त वाले उसे विभाग करके वर्णित करते हैं ॥ १५ ॥

श्रुतेर्विरोधमाशङ्क्य विनियोगः पृथक् कृतः ।
रसश्रुतिविरोधं तु न ते पश्यन्ति मोहिताः ॥ १६ ॥

श्रुति में विरोध न हो इस आशङ्का से विनियोग अलग-अलग किया गया है। किन्तु वे माया से मोहित जन रसश्रुति ('रसे वै सः') का विरोध नहीं जान पाते हैं ॥ १६ ॥

निषेधयन्ति चाकारं श्रुतयः प्राकृतं प्रिये ।
आनन्दमात्रमाकारं रसश्रुतिरुपासते ॥ १७ ॥

हे प्रिये ! श्रुतियाँ ब्रह्म के प्राकृत आकार प्रकार का तो निषेध ही करती हैं। वस्तुतः रस श्रुति में आनन्द मात्र ही उसका आकार बताया गया है ॥ १७ ॥

अन्यथाद्विदलः सोऽयं श्रुतिसिद्धः प्रियंवदे ।
निराकारस्य देवेशि नोपयुक्तः कदाचन ॥ १८ ॥

हे प्रियवादिनि ! अन्यथा वही यह ब्रह्म दो प्रकार से श्रुतिसिद्ध हैं। हे देवेशि ! वह निराकार कभी भी उपयुक्त नहीं है ॥ १८ ॥

---

१. 'लीलाविष्टं च' इत्यपि पाठः ।

प्रलापाः शतशः सन्ति श्रुतियुक्तिमजानताम् ।
न तेषु रमते चित्तं रसज्ञस्य विवेकिनः ।। १९ ।।

श्रुति युक्तियों को न जानने वालों के सैकड़ों तरह के प्रलाप हैं । किन्तु विवेकी रसज्ञ पुरुष का मन उन प्रलापों में नहीं रमता है ।। १९ ।।

रसस्तादृग्विधो देवि लीलाभिर्योनुभूयते ।
तस्माल्लीलारसमयी रसो लीलामयः स्मृतः ।। २० ।।

हे देवि ! रस उसी प्रकार का होता है जो उस (सगुण ब्रह्म) की लीलाओं से ही अनुभूत होता है । इसीलिये लीला रसमयी कही गई है और रस लीलामय कहा गया है ।। २० ।।

तादात्म्यादेकरूपत्वाल्लीला ब्रह्ममयी भवेत् ।
लीलोपयोगिनो भावा विभावा व्यभिचारिणः ।। २१ ।।
आलम्बनानुभावाश्च तेऽपि तादृग्विधाः प्रिये ! ।
चन्द्रालङ्कारभूषादिमालालेपसमीरणाः ।। २२ ।।
दीर्घिकोपवनारामऋतुवृक्षलतादयः ।
वस्त्रपानाशनं भृङ्गशुककोकिलकूजितम् ।। २३ ।।
रसोत्पादनसामग्री रसरूपा हि सा स्मृता ।
लीलोपयोगिनस्तस्मात् पदार्था रसरूपिणः ।। २४ ।।

वस्तुतः [ब्रह्म से] तादात्म्य होने से और दोनों की एकरूपता के कारण लीला ब्रह्ममयी होती है । लीला में उपयोग में आने वाले भाव, विभाव और व्यभिचारि-भाव होते हैं । हे प्रिये ! वे भाव भी उसी प्रकार के आलम्बन अनुभाव से युक्त होते हैं । चन्द्र, अलङ्कार और वेषभूषादि, माला एवं सुगन्धित द्रव्यों का लेप, दीर्घिका, उपवन, आराम, ऋतुओं के वृक्ष एवं लता आदि, वस्त्र एवं विविध प्रकार की पेय तथा खाद्य वस्तुएँ, भौंरे,-तोते, तथा कोयल का कूजना आदि रसोत्पादक सामग्री हैं जो रसरूप ही कही गई है । ये सभी लीला की उपयोगी वस्तु है अतः ये सभी पदार्थ रस रूप ही हैं ।। २१-२४ ।।

द्रवीभूतः घनीभूतो रसस्य द्विविधा स्थितिः ।
द्रवीभूतः प्रियाधारो घनीभूतोक्षिगोचरः ।। २५ ।।

रस की दो प्रकार की स्थिति होती है १. द्रवीभूत रस और २. घनीभूत रस । द्रवीभूत रस प्रिया पर आधारित है और घनीभूत रस ही दृष्टिगोचर होता है ।। २५ ।।

तस्मात्प्रियाभीष्टभावान् स्वतः प्रकटयत्यसौ ।
द्रवीभूतः प्रियाधारः प्रियाभावात्मको रसः ।। २६ ।।

इसलिए प्रिया अभीष्ट भावों से युक्त होती है और इसको स्वयं ही प्राप्त हो जाती है अर्थात् वह रस को प्राप्त कर लेती है। द्रवीभूत रस प्रिया पर आधारित है अतः रस रूप प्रिया भावात्मक है ॥ २६ ॥

प्राधान्यं तत्र चेच्छन्ति घनीभूतादपि प्रिये ! ।
रसो नैव प्रसिध्येत प्रियालम्बनवर्जितः ।। २७ ।।

हे प्रिये ! घनीभूत रस से भी अधिक उसमें इसका प्राधान्य होता है और इसी की वे इच्छा भी करती हैं। प्रिया रूप आलम्बन से रहित होकर रस कभी भी अस्तित्व को नहीं प्राप्त करता है ॥ २७ ॥

प्रियादर्शे रसः पश्येत् स्वात्मानं प्रतिबिम्बवत् ।
आदर्शापसरे यद्वन्मुखस्यानुपलम्भनम् ।। २८ ।।
अङ्गहीनो रसस्तद्वत्स्वानुभूतिं न विन्दति ।
आनन्दो हि रसस्तस्मात्प्रियाप्रियदलद्वयम् ।। २९ ।।

अपने प्रतिबिम्ब की भाँति रस को प्रिया रूप शीशे में देखना चाहिए। जैसे शीशे को हटा देने पर मुख नही दिखाई पड़ता। उसी प्रकार [प्रियाविहीन] रस अङ्गहीन है और विना उसके रस की स्वानुभूति नहीं प्राप्ति होती है। इसीलिए आनन्द ही रस है। वह रस प्रिय और अप्रिय रूप से दो तरह का है ॥ २८-२९ ॥

आनन्दरूपा सामग्री सर्वभावात्मको रसः ।
न मायागुणसंसर्गः कदाचित्कुत्रचित्प्रिये ।। ३० ।।

सर्वभावात्मक रस की सभी सामग्री आनन्दरूप है। हे प्रिये ! उससे कभी भी माया रूप गुण का संसर्ग कहीं भी नहीं होता ॥ ३० ॥

रसरूपं निर्गुणं च नित्यलीलाविहारि यत् ।
अद्वैतं ब्रह्म परमं पुरुषोत्तमसंज्ञकम् ।। ३१ ।।

रस और निर्गुण ब्रह्म क्योंकि नित्य लीला में विहार करता है इसलिए अद्वैत ब्रह्म ही परम पुरुषोत्तम संज्ञक है ॥ ३१ ॥

अतीतानागता चासौ वर्तमानापि सुन्दरि ।
नित्या एवेति विज्ञेया लीलेयमनपायिनी ।। ३२ ।।

हे सुन्दरि ! भूत, भविष्य और वर्तमान भी उस ब्रह्म की अनपायिनो [सदैव

ऐक सी रहने वाली] लीला नित्य ही है—ऐसा जानना चाहिऐ ॥ ३२ ॥

इत्येतत्कथितं देवि प्रश्नमन्यं निशामय ।
यस्य श्रवणमात्रेण सन्देहो विनिवर्त्तते ॥ ३३ ॥

॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती
संवादे चतुर्विंशं पटलम् ॥ २४ ॥

——*——

हे देवि ! इस प्रकार यह सब मैंने तुमसे कहा । अब तुम अन्य प्रश्न करो जिसके श्रवणमात्र से ही सन्देह की निवृत्ति हो जाती है ॥ ३३ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के चौबीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २४ ॥

——*——

अथ पञ्चविंशं पटलम्

शिव उवाच—

पुरा ह्यविद्यमानत्वान्नित्यतायाः कथं स्थितिः।
इति यद्देवि ते प्रोक्त[1] तत्र मे निर्णयं[2] शृणु ॥ १ ॥

शिवजी ने कहा—

पहले जो प्रियाएँ विद्यमान नहीं थीं ! तो उनकी स्थिति नित्य कैसे हो गई ? यह प्रश्न जो आपने, हे देवि ! मुझसे पूँछा है उस प्रश्न का समाधान सुनिए ॥ १ ॥

अविद्यमानं यत्किञ्चिन्नैव प्रादुर्भविष्यति।
सर्वथा विद्यमानं हि वस्तु प्रादुर्भवेत्प्रिये ॥ २ ॥

जो अविद्यमान है, वह कभी भी प्रादुर्भूत नहीं होगा। हे प्रिये ! सर्वथा विद्यमान वस्तु ही प्रादुर्भूत होती है ॥ २ ॥

तस्मात्सदंशतो देवि प्रपञ्च उपवर्ण्यते।
घटो नास्तीत्युच्यमाने घटसत्ता तु लभ्यते ॥ ३ ॥

इसलिए, हे देवि ! सत् अंश से प्रपञ्च उद्भूत माना जाता है। जब यह कहा जाता है कि 'घट नहीं है' तो निश्चित ही यह ज्ञान होता है कि कभी घट की सत्ता प्राप्त थी ॥ ३ ॥

असच्छ्रुत्या तथा देवि प्रपञ्चः सन्निरूप्यते।
अपरोक्षपरोक्षत्व सदसच्छ्रुतिनोदितम् ॥ ४ ॥

अतः, हे देवि ! असत् श्रुति से सत् प्रपञ्च का निरूपण होता है। इस प्रकार अपरोक्ष और परोक्षत्व रूप से 'सत् एवं असत्' श्रुति कही गई है ॥ ४ ॥

तथा प्रपञ्चलीलेय रसलीलापि तादृशी।
सर्वास्ता नित्यरूपा हि विज्ञेया वेदवादिभिः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार यह जगत् प्रपञ्च की लीला है वैसे ही भगवान् की लीला भी है। वेद के ज्ञाता विद्वानों द्वारा वे सभी लीलाएँ नित्य रूपा ही बताई गई हैं ॥ ५ ॥

---

१. 'पृष्ठं' इत्यपि पाठः।

२. 'निर्णये' इ० पा०।

यथा मृदि घटस्येव प्रागभावः प्रकल्प्यते ।
मृत्सकाशात्समुत्पत्तिः पश्चात्तस्योपचर्यते ॥ ६ ॥

जिस प्रकार मिट्टी में घट का प्रागभाव पहले से रहता है तभी मिट्टी से उस घट की उत्पत्ति का बाद में उपचार समझा जाता है ॥ ६ ॥

न पुनस्तस्य देवेशि ह्यभावोऽत्यन्तसंज्ञितः ।
आम्रबीजस्थितो ह्याम्रस्तस्माद् व्यक्तो यथा भवेत् ॥ ७ ॥

हे देवेशि ! अतः उस घट का पुनः अत्यन्ताभाव नहीं कहा गया है । जैसे आम के बीज में स्थित आम प्रकट हो जाता है [वैसे ही यह प्रपञ्च भी उसी ब्रह्म में पहले था और बाद में प्रकट हुआ और पुनः उसी में विलीन भी हो जाता है] ॥ ७ ॥

अभूतमेव देवेशि यदि व्यक्तिं प्रयाति हि ।
आम्रबीजात्[1] छुद्छुदस्य कथं व्यक्तिर्भवेन्नहि ॥ ८ ॥

हे देवेशि ! यदि विना पहले से रहे ही व्यक्त हो जाता है तो फिर आम के बीज से क्यों छुद्छुद् नहीं प्रकट हो जाता है ! ॥ ८ ॥

व्यावहारिकी वास्तवी तथा च प्रातिभासिका ।
सत्ता तु त्रिविधा ज्ञेया देवि शास्त्रार्थकोविदैः ॥ ९ ॥

हे देवि ! शास्त्रार्थ के कोविदों द्वारा वस्तु की तीन प्रकार की सत्ता बतायी गई—१. व्यावहारिकी सत्ता, २. वास्तविकी सत्ता, ३. प्रातिभासिकी सत्ता ॥ ९ ॥

शुक्तौ रजतमित्येषा सत्ता स्यात्प्रातिभासिकी ।
गजाश्वादिमहासम्पत्[2] स्वाप्निकी वापि तद्द्विधा ॥ १० ॥

सीप में चाँदी होने का भान होना—'प्रातिभासिकी सत्ता' कही गई है । किंवा गज एवं अश्व आदि महान सम्पत्ति का स्वप्न में होना—स्वाप्निकी प्रातिभासिकी सत्ता हैं । इस प्रकार से यह दो प्रकार की है ॥ १० ॥

व्यवहारार्थमित्येषा जागर्ति व्यावहारिकी ।
ब्रह्मसत्ता तु देवेशि वास्तवी परिकीर्त्तिता ॥ ११ ॥

जगत् की सत्ता व्यवहार में देखी जाती है । अतः यह 'व्यावहारिकी सत्ता' है । हे देवेशि ! वास्तविकी सत्ता ब्रह्म की सत्ता है । अतः विद्वानों द्वारा ब्रह्म सत्ता को वास्तविकी सत्ता ही कहा गया है ॥ ११ ॥

---

१. 'आम्रबीजादुभ्रवस्य' इत्यपि पाठः ।

२. स्वप्नवत् इत्यर्थः ।

ब्रह्मसत्तावशाद् देवि लीलासत्यत्वमुच्यते ।
सत्यस्याभावमीशानि शक्तः कर्त्तुं न कश्चन ॥ १२ ॥

हे देवि ! ब्रह्मसत्ता के कारण ही यह लीला सत्य लीला कही जाती है । हे ईशानि ! किन्तु इस जागतिक लीला में सत्य का अभाव होने से व्यक्ति कुछ भी करने में असमर्थ है ॥ १२ ॥

तस्माद् देवि यथाकाल लीलाविर्भावमुच्यते ।
द्वादशद्वादशतमे स्वामिन्या वत्सरे प्रिये ॥ १३ ॥
आविर्भवति लीलेयं पौनःपुन्येन सर्वदा ।
एतावति गते काले ह्यक्षरे परमात्मनि ॥ १४ ॥
रहस्यरमणालोके जायते सा सुमङ्गला ।
ततः प्रियासु जायेत लीलाविस्तरणं ततः ॥ १५ ॥

हे देवि ! इसलिए यथासमय भगवान् की लीला का आर्विर्भाव कहा जाता है । हे प्रिये ! सदैव बारह-बारह वर्ष पर यह लीला बारम्बार होती है । इतना काल बीत जाने पर परमात्मा अक्षर में वह सुमङ्गला रहस्यरमणा नामक लोक में उत्पन्न होती है । तब लीला के विस्तर के लिए प्रियाओं के मध्य वह ब्रह्म आते हैं ॥ १४-१५ ॥

अक्षरात्मनि सा लीला ततश्चास्थिरतां व्रजेत् ।
स्मृतिमात्रा हि सा देवि न तु साक्षात्कदाचन । १६ ॥

वह लीला अक्षरात्मा में तब अस्थिरता को प्राप्त करती है । हे देवि ! वह लीला-स्मृति मात्र होती है । वह साक्षात् लीला नहीं होती है ॥ १६ ॥

गते द्वादशमे वर्षे स्वामिन्याः परमेश्वरि ।
पुनस्तथावलोकाय कामांशेना[1]त्मयोगतः ॥ १७ ॥
इच्छा प्रवर्त्तते देवि कूटस्थस्य परात्मनः ।
ततश्च [2]त्रिविधा लीला काले प्रादुर्भवेत्प्रिये ॥ १८ ॥

स्वामिनी के बारह वर्ष बीत जाने पर, हे परमेश्वरि ! पुनः उस लीला को देखने की इच्छा से आत्मयोग रूप कामांश से कूटस्थ ब्रह्म में इच्छा जागृत होती है । हे देवि ! उससे तीन प्रकार की लीला समय पर प्रादुर्भूत हो जाती है ॥ १७-१८ ॥

---

१. 'नामयोगतः इत्यपि पाठः ।

२. एतल्लीलात्रैविध्यं सुन्दरीतन्त्रे आलमन्दारसंहितायां श्रीशिवेन श्रीपार्वत्यै सुस्पष्टं निरूपितम् ।

श्वेतद्वीपस्य तु च्छाया मथुरायां प्रतिष्ठिता ।
वैकुण्ठप्रतिबिम्बस्तु द्वारिकायां तथा प्रिये ।। १९ ।।

हे प्रिये ! श्वेत द्वीप की छाया से मथुरा नगरी प्रतिष्ठित हुई और द्वारिका नगरी में वैकुण्ठ का प्रतिबिम्ब पड़ा है ।। १९ ।।

व्रजस्तु साक्षाद्देवेशि गोलोकप्रतिबिम्बजः ।
गोलोकातीत[1]लीला[2] च रसानन्दमयी शिवे ।। २० ।।

हे देवेशि ! व्रज तो साक्षात् रूप से गोलोकधाम का प्रतिबिम्ब ही है । हे शिवे ! वह लीला गोलोक लीला से भी अधिक रस वाली और आनन्दमयी है ।। २० ।।

आविर्भवति देवेशि समये समये हि सा ।
समयं तं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसा ।। २१ ।।

हे देवेशि ! वह लीला समय-समय पर आविर्भूत हो जाती है । अब मैं उस समय (स्वामिनी के बारह वर्ष) का विवेचन करूँगा । आप एकाग्रमन से सुनें ।। २१ ।।

परमाणुद्वयमणुः त्रसरेणुः त्रिभिश्च तैः ।
त्रयरेणुत्रयेणैव कालः स्यात् त्रुटितसंज्ञितः ।। २२ ।।

दो परमाणु का एक अणु और तीन अणुओं का एक त्रसरेणु होता है । तीन त्रसरेणु से काल की गणना आरम्भ होती है ।। २२ ।।

तच्छतेन भवेद्वेधः त्रिभिर्वेधैर्लवः स्मृतः ।
निमिषस्त्रिलवैर्देवि क्षणो ज्ञेयस्त्रिभिश्च तैः ।। २३ ।।

उस त्रसरेणु का सौ से वेध (= जितने देर में सौ त्रसरेणुओं का मेल) होता है और तीन वेध से एक 'लव' होता है । तीन लवों का एक 'निमिष' होता है । हे देवि ! तीन निमिषों का एक क्षण होता है ।। २३ ।।

---

१. तथैवोक्तं पुराणसंहितायां प्रथमेऽध्याये—

एवं ब्रह्मणि चिन्मात्रे निर्गुणे भेदवर्जिते ।
गोलोकसंज्ञके कृष्णो दिव्यतीति श्रुतं मम ।। ५४ ।।
नातः परतरं किंचिन्निगमागमयोरपि ।
तथापि निगमो वक्ति ह्यक्षरात् परतः परः ।। ५५ ।।
गोलोकवासिभगवानक्षरात्पर उच्यते ।
तस्मादपि परः कोऽसौ श्रुतिभिर्गीयते सदा ।। ५६ ।।

पाद्मेऽपि गोलोकलीलातोऽस्याः लीलायाः परत्वं पठ्यते ।

२. 'लीलेयं' इत्यपि पाठ ।

क्षणैश्च पञ्चभिः काष्ठा पञ्चभिर्दशभिस्तथा ।
काष्ठाभिर्लघु विज्ञेयं लघुभिर्दशपञ्चभिः ।। २४ ।।
घटिकैका तु विज्ञेया मुहूर्तो घटिकाद्वयम् ।
प्रहरः सप्तघटिकाश्चतुर्भिस्तैरहः स्मृतः ।। २५ ।।

पाँच क्षणों का एक 'काष्ठा' होता है। पन्द्रह काष्ठों का एक 'लघु' होता है। पन्द्रह लघुओं की एक 'घटिका' कही गयी है। दो घटी का एक 'मुहूर्त' जानना चाहिए। सात घटी का एक 'प्रहर' और चार प्रहर का एक 'दिन' होता है ।। २४-२५ ।।

पुनश्चतुर्भिः प्रहरैरुच्यते तदहर्निशम् ।। २६ ।।
दशभिः पञ्चभिः पक्षः पुनश्च दशपञ्चभिः ।
आद्यः शुक्लस्तथा कृष्णः पितृणां तदहर्निशम् ।। २७ ।।

पुनः आठ प्रहर का 'दिन और रात' होता है। पन्द्रह दिन दिन-रात का एक 'पक्ष' होता है। पन्द्रह और पन्द्रह अर्थात् तीस पक्ष का आद्य 'शुक्ल पक्ष' होता है तथा दूसरा 'कृष्ण पक्ष' होता है। कृष्णपक्ष की दिन और रात पितरों की होती हैं ।। २६-२७ ।।

मासः पक्षद्वयेनोक्तः तावेव द्वौ ऋतुः स्मृतः ।
ऋतुत्रयेणाप्ययनं दक्षिणं परिकीर्तितम् ।। २८ ।।

दो पक्षों का एक 'मास' होता है। दो मासों की एक 'ऋतु' कही गई है। तीन ऋतुओं (६ मास) का एक 'अयन' होता है। दूसरा अयन 'दक्षिण अयन' कहा गया है ।। २८ ।।

त्रयेणैवोत्तरं प्राहुर्देवानां तदहर्निशम् ।
संवत्सरस्तु ह्ययनद्वयं देवि निगद्यते ।
तच्छतं मानवानां च परमायुर्निरूपितम् ।। २९ ।।

पहले तीन ऋतुओं (६ मास) का एक देवों का 'उत्तर अयन' होता है। हे देवि ! दो अयन का एक 'संवत्सर' कहा जाता है। इन सौ संवत्सर की एक मानव की परमायु कही गई है ।। २९ ।।

दिव्यैर्द्वादशसाहस्रैर्वर्षाणां सुरवन्दिते ।
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चेति चतुर्युगाः ।। ३० ।।

हे सुरवन्दिते ! १२ हजार दिव्य वर्षों का कृत (सत्य), त्रेता, द्वापर और कलि नामक चार युग होता है ।। ३० ।।

चतुर्युगीसहस्रेण ब्रह्मणो दिनमुच्यते ।
तावत्येव भवेद्रात्रिस्त्रिलोकी यत्र लीयते ॥ ३१ ॥
ब्रह्मणो दिवसे जाता मनवस्तु चतुर्दश ।
प्रतिमन्वन्तरे देवि युगानामेकसप्ततिः ॥ ३२ ॥

एक हजार चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक युग कहा गया है। एक हजार ब्रह्मा के दिन की ३२ त्रिलोकी जब बीत जाती है तब ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। इस प्रकार एक-एक मन्वन्तर में ७१ युग होता है ॥ ३१-३२ ॥

प्रतिमन्वन्तरे देवि विष्णोरवतरणं भुवि ।
इन्द्राद्या देवताश्चैव तथा सप्तर्षयश्च ये ॥ ३३ ॥
मन्वन्तरविभेदेन भिन्ना एव भवन्ति हि ।
स्वायम्भुव स्वारोचिषोत्तमतामसरैवताः ॥ ३४ ॥
चाक्षुषश्चेति मनवो व्यतिक्रान्ताः षडम्बिके ।
वैवस्वतो मनुर्नाम सप्तमोऽद्य प्रवर्तते ॥ ३५ ॥

हे देवि ! एक-एक मन्वन्तर में पृथ्वी पर विष्णु का अवतार होता है। प्रत्येक मन्वन्तर के इन्द्र आदि देवता तथा जो सप्तर्षिगण होते हैं वे भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं। हे अम्बिके ! स्वायभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत और चाक्षुष्—ये छः और वैवस्वत् मनु सातवें है जो इस समय में हैं ॥ ३३—३५ ॥

चतुर्युगी व्यतिक्रान्ता तस्याष्टाविंशतिं प्रिये ।
अष्टाविंशतिके देवि कलौ लीलेयमागता ॥ ३६ ॥
परार्द्धः प्रथमोऽतीतो द्वितीयस्तु प्रवर्तते ।
तत्रापि प्रथमाब्दस्य नवमो मास उच्यते ॥ ३७ ॥

हे प्रिये ! २८ चतुर्युगी बीत चुकी है जिसमें अटठाईसवें चतुर्युग के कलियुग में यह लीला हुई है वही इस समय चल रहा है। प्रथम परार्द्ध बीत चुका है और द्वितीय परार्द्ध इस समय कलि का है। उसमें भी प्रथम वर्ष का यह नवम मास कहा गया है ॥ ३६-३७ ॥

दिन तु षोडश चैव यामस्तस्यद्वितीयकः ।
मुहूर्त्तं तृतीयं देवि वर्त्ततेऽद्य प्रियंवदे ॥ ३८ ॥

नवें महीने का सोलहवाँ दिन और उस दिन का द्वितीय याम, हे प्रिय बोलने वाली देवि ! उस याम का आज तृतीय मुहूर्त है ॥ ३८ ॥

एवं विधेरहोरात्रैर्ब्रह्मणो हि दिनं स्मृतम् ।
पक्षमासविभेदेन यावत्संवत्सरः प्रिये ।। ३९ ।।
एवं संवत्सरशत तदा स्याद् ब्रह्मणो लयः ।
विष्णोर्नेत्रनिमेषेण यात्यायुर्ब्रह्मणोऽखिलम् ।। ४० ।।

इस प्रकार से दिन और रात्रि की गणना से ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है। हे प्रिये ! पक्ष और मास के भेद से इस प्रकार से एक संवत्सर बीतें और इस प्रकार ब्रह्मा के जब सौ वर्ष होते हैं तब एक ब्रह्मा का लय हो जाता है। भगवान् विष्णु के एक निमेष (पलक झपकने) तक उपर्युक्त ब्रह्मा की सम्पूर्ण आयु बीत जाती है ।। ३९–४० ।।

तावन्निमेषमारभ्य लवक्षणविभेदतः ।
यावद्वर्षशत विष्णोर्मदीयः स्यान्निमेषकः ।। ४१ ।।

विष्णु भगवान् का जब तक सौ निमेष होता है तो मेरा (भगवान् शङ्कर का) एक निमेष होता है ।। ४१ ।।

मन्निमेषक्रमेणापि यावद्वर्षशतं भवेत् ।
निमेषमात्रमीशस्य तन्निमेषक्रमेण च ।। ४२ ।।
शतवर्षं भवेद्यावत्तावच्छिवनिमेषकः ।
तन्निमेषक्रमेणैव यावद्वर्षसहस्रकम् ।। ४३ ।।
अपाङ्गस्फुरणं तावत्स्वामिन्याः कृष्णविभ्रमे ।
तन्निमेषक्रमेणैव वर्षं द्वादशकं भवेत् ।। ४४ ।।

इसी क्रम से जब मेरे निमेष के सौ वर्ष होते हैं तो एक निमेष ईश का होता हैं और उसी क्रम से जब ईश के निमेष के सौ वर्ष होते हैं तो शिव का एक निमेष होता है। उसी क्रम से जब एक हजार निमेष बीत जाते हैं तब तक हे कृष्ण विभ्रमे उनकी स्वामिनियों का अपाङ्ग (नेत्र के कोने) का स्फुरण होता है। उस निमेष के क्रम से बारह वर्ष का परिमाण होता है ।। ४२-४४ ।।

लीलावलोकनार्थाय भूयः कामो भवेत्तदा ।
वर्षद्वादशकेऽतीते स्वामिन्याः सुरपूजिते ।। ४५ ।।
पौनःपुन्येन लीलायाः नित्याविर्भाव उच्यते ।
अक्षरस्यैव हृदये यः कामांशोऽप्यधिष्ठितः ।। ४६ ।।
तत्संयोगादिदृक्षास्य स्वस्वकाले भवेद्धि सा ।
एवं नित्यैव सा लीला रसरूपा प्रियंवदे ।। ४७ ।।

जब लीला के अवलोकन की पुनः कामना होती है तब, हे सुरपूजिते ! उन स्वामिनी के बारह वर्ष बीत जाने पर पुनः पुनः लीला का अविर्भाव होता रहता है। इसीलिए यह कृष्ण की लीला नित्य लीला कही जाती है। अक्षर ब्रह्म के हृदय में जो कामना का अंश रहता है उसके संयोग से इस लीला की देखने की इच्छा समय समय से होती है। हे प्रियंवदे ! इस प्रकार (ब्रह्म की) रस रूपा लीला नित्य होती रहती है ॥ ४५-४७ ॥

संयोगविप्रलम्भाख्यदलाभ्यां यानुवर्णिता।
रसो यदाविप्रलम्भदलं समधितिष्ठति ॥ ४८ ॥
तदेवाविर्भवत्येषा लीला च सुरपूजिते।
यदा तु संयोगदलं समधिव्याप्य तिष्ठति ॥ ४९ ॥
निजधाम्नि तदा लीला साक्षात्कृष्णकृता भवेत्।
यदा संयोगविश्लेषसन्धि याति रसः प्रिये ॥ ५० ॥
तदा प्रबोधसमयो निकटः कृष्णचेतसाम्।

संयोग तथा विप्रलम्भ नामक दो दलों में जो रस-लीला पहले वर्णित हुई है उनमें से जब विप्रलम्भ नामक दल में रस अधिष्ठित रहता है; हे सुरपूजिते ! तभी यह रस-लीला आविर्भूत होती है और जब संयोग नामक दल में रस व्यापक रूप से अधिष्ठित रहता है तब निजधाम में साक्षात् कृष्ण की लीला होती है। हे प्रिये ! जब संयोग और विप्रलम्भ के सन्धि काल में रस रहता है तब कृष्ण चित्त के प्रबोध का समय निकट होता है ॥ ४८-५१ ॥

गुरोः सत्सम्प्रदायेन शास्त्रार्थस्यानुरूपतः ॥ ५१ ॥
वर्त्तितव्यं ततो भद्रे साधनैरात्मलब्धये।

इस प्रकार गुरु के सत्सम्प्रदाय से शास्त्रों के आशय के अनुरूप साधक को चाहिए कि वह आत्म साक्षात्कार के लिए, हे भद्रे ! उसी प्रकार साधना करे ॥ ५१-५२ ॥

इत्येवं ते मया ख्यातं यत्पृष्टोऽहं सुलोचने ।। ५२ ।।
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ? ।। ५३ ।।

।। इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती-
संवादे पञ्चविंशं पटलम् ।। २५ ।।

——*——

हे सुलोचने ! इस प्रकार जो आपने पूँछा, वह हमने आपसे संक्षेप में कहा है । हे महेशानि ! अब आप क्या सुनना चाहती है ? ५२-५३ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के पच्चीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीयकृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। २५ ।।

——*——

अथ षड्विंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

महेश श्रोतुमिच्छामि साधनानां विनिर्णयम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वं हि सफलं भवेत् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे महेश ! मैं साधनों का विशेष निर्णय आपसे सुनना चाहती हूँ जिसके श्रवण-मात्र से ही सभी कार्य सफल हो जाते हैं ॥ १ ॥

श्रीशिव उवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि साधनस्य विनिर्णयम् ।
गुह्याद्गुह्यतरं साक्षान्न वाच्यं यस्य कस्य कस्यचित् ॥ २ ॥

शिवजी ने कहा—

हे देवि ! सुनो, मैं साधनों का विशेष निर्णय एवं विधान, जो रहस्य से भी रहस्यतर है और जिसे साक्षात् रूप से जिस किसी से कहना भी नहीं चाहिए, तुमसे कहूँगा ॥ २ ॥

तन्त्रार्थोऽयं रहस्यार्थो यस्तु वेदेषु गोपितः ।
ईश्वरात्तु मया लब्धः प्राप्तस्तेन सदाशिवात् ॥ ३ ॥

यह तन्त्र सम्बन्धी विधान है जिसका रहस्य अत्यन्त संगोपित और वेदों में छिपा हुआ है । मुझे भी यह ज्ञान ईश्वर से प्राप्त हुआ था । जिसे ईश्वर ने सदाशिव से प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

मञ्चे फलकमापन्नो लक्षयोजनविस्तृते ।
सदाशिवोऽशृणोदेतत्कूटस्थोपरिसंस्थया ॥ ४ ॥

एक लाख योजन विस्तृत फलक पर बैठे हुए मञ्च पर कूटस्थ एवं संस्थित चित्त होकर सदाशिव ने इसे सुनाया था ॥ ४ ॥

इच्छाशक्त्या तु देवेशि वर्ण्यमानं मया रहः ।
तच्च ते गदितं साध्वि शृण्वतः परमच्युत ॥ ५ ॥

हे देवेशि ! मेरी इच्छा शक्ति से यह एकान्त में कहने योग्य है । फिर भी हे साध्वि ! उसे मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

एकदा मे वितर्कोऽभूद्विजने स्मरतः प्रिये ।
अहमेवेश्वरो लोके मदन्यो वापि कश्चन ।। ६ ।।

एक बार एकान्त स्थान में चिन्तन करते हुए, हे प्रिये ! मुझे मन में वितर्क हुआ कि मैं ही संसार का स्वामी हूँ या मुझसे अन्य भी कोई है ।। ६ ।।

इति तर्कयता देवि समाधिर्हि मया धृतः ।
तस्मिन् युगसहस्राणि व्यतीयुः पञ्च सुन्दरि ।। ७ ।।

हे देवि ! ऐसा सोचते हुए मैं समाधिस्थ हो गया और हे सुन्दरि ! उस समाधिस्थ अवस्था में पाँच हजार युग बीत गए ।। ७ ।।

[1]समाधिस्थेन देवेशि श्रुतमीश्वरभाषितम् ।
तच्छ्रुत्वा हृदयं देवि निर्विकल्पमभून्मम ।। ८ ।।

हे देवेशि ! उस समाधि में मैंने ईश्वर के वचन सुने और उसे सुनकर हे देवि मेरा हृदय निर्विकल्प हो गया ।। ८ ।।

तदाप्रभृति देवेशि लीलामेनां रहःस्थितः ।
ध्यायामि ध्यानयोगेन निर्विकल्पेन चेतसा ।। ९ ।।

तभी से, हे देवेशि ! एकान्त में रहकर मैं इनकी लीला का ध्यान निर्विकल्प चित्त से किया करता हूँ ।। ९ ।।

समाधावीश्वरेणोक्तमिदं तन्त्रं यतो मम ।
तस्मान्माहेश्वरं तन्त्रमित्येवंख्यातिमागतम् ।। १० ।।

समाधिस्थ अवस्था में ईश्वर ने मुझे इस (माहेश्वर) तन्त्र को कहा था । अतः यह 'माहेश्वर तन्त्र' (अर्थात् माहेश्वर प्रोक्त तन्त्र) के नाम से जगत् में प्रसिद्ध हुआ ।। १० ।।

चतुःषष्टीनि तन्त्राणि मयैवोक्तानि पार्वति ।
मोहोच्चाटवशीकारमारणार्थानि तानि तु ।। ११ ।।

हे पार्वति ! मेरे द्वारा चौसठ तन्त्र कहे गए हैं, जिनमें मारण, मोहन एवं उच्चाटन तथा वशीकरण की प्रक्रिया वर्णित है ।। ११ ।।

सद्यःप्रत्ययहेतूनि नानामन्त्रमयानि च ।
मोहनानि तु लोकस्य इन्द्रजालकलादिभिः ।। १२ ।।

ये ६४ तन्त्र सद्यः विश्वास के योग्य तथा नाना मन्त्रों से युक्त हैं । इस प्रकार इन्द्रजाल आदि कलाओं से लोक को मोहित कर लेने वाली यह विद्या है ।। १२ ।।

---

१. 'समाधिगीतं' इ० पा० ।

तानि विस्तरतो देवि ! तदाग्रे कथितानि च ।
न तेषु विद्यते किञ्चित्परमार्थं सुरेश्वरि ।। १३ ।।

हे देवि ! उसी को मैं तुमसे विस्तार से पहले कह चुका हूँ ! किन्तु, हे सुरेश्वरि उसमें कोई परमार्थ नहीं है ।। १३ ।।

मायिक वर्णितं सर्वं [1]मायाजीवोपयोगिकम् ।
इदं माहेश्वरं तन्त्रं समाधौ यच्छ्रुतं मया ।। १४ ।।
प्रबोधसाधनीभूतं प्रियाणामिति मे मतम् ।
अन्य[2]थेश्वरविज्ञानान्नान्यदेतत्प्रयोजनम् ।। १५ ।।

माया में पड़े हुए जीवों के लिए उन तन्त्रों में मात्र मायावी-विद्या का ही वर्णन है । यह माहेश्वर तन्त्र, जिसे मैंने समाधि में सुना था, मेरा यही मत है कि यह ब्रह्मज्ञान के प्रिय जिज्ञासुओं के (तत्त्व ज्ञान) के प्रबोध का साधनीभूत है । इस माहेश्वर तन्त्र का ईश्वर के तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं है ।। १४-१५ ।।

वैष्णवान्यपि तन्त्राणि पञ्चरात्राभिधानि तु ।
विष्णुप्रोक्तानि देवेशि पञ्चविंशतिसंख्यया ।। १६ ।।

'पञ्चरात्र' नाम से विख्यात अन्य भी विष्णु प्रोक्त वैष्णव तन्त्र हैं, जो हे देवेशि ! संख्या में कुल पच्चीस हैं ।। १६ ।।

हयशीर्षं तन्त्रमाद्यं तन्त्रं संमोहनं तथा ।
वैभवं पौष्करं तन्त्र प्रह्लादं गार्ग्यगालवम् ।। १७ ।।
नारदीयं च श्रीप्रश्नं[4] शाण्डिल्यं चेश्वरं तथा ।
सत्योक्तं शौनकं तन्त्रं वाशिष्ठं ज्ञानसागरम् ।। १८ ।।
स्वायम्भुवं कापिलं च तार्क्ष्यं नारायणीयकम् ।
आत्रेयं[3] नारसिंहाख्य आनन्द[5] च तथारुणम् ।। १९ ।।
वैहायसं तथा ज्ञानं विश्वोक्तं चेति सुन्दरि ।
अत्यन्तस्खलितानाञ्च जनानां वेदमार्गतः । २० ।।

---

१. 'मया' इ० पा० ।
२. तन्महेश्वरविख्यातं 'तन्मयेश्वरविख्यातं' तन्मेश्वरविख्या वेत्यपपि पाठः ।
३. 'नारसिंहाक्षं' इति वा पाठः ।
४. वैष्णवं पौष्करं तन्त्रं प्रह्लादं गार्गमाणवम् ।
नारदीयं च श्री वत्सं ... इति वा पाठः ।
५. 'आदाक्षं' 'आटटाक्षं' इति वा पाठः ।

उनमें प्रथम हयशीर्षतन्त्र है, दूसरा संमोहन तन्त्र[1] है ३. वैभव, ४. पौष्कर-तन्त्र, ५. प्रह्लाद, ६. गार्ग्य, ७. गालव, ८. नारदीय, ९. श्रीप्रश्न, १०. शाण्डिल्य, ११. ऐश्वरतन्त्र, १२. सत्योक्त, १३. शौनक, १४. वसिष्ठतन्त्र, १५. ज्ञानसागर, १६. स्वायम्भुव, १७. कापिल, १८. तार्क्ष्य, १९. नारायणीय, २०. आत्रेय, २१. नार-सिंह, २२. आनन्द, २३. आरुण, २४. वैहायस,[2] २५. विश्वोक्त ज्ञान (तन्त्र) है। इस प्रकार हे सुन्दरि ये पच्चीस वैष्णव-तन्त्र वेदमार्ग से अत्यन्त स्खलित मनुष्यों के लिए कहे गए हैं, क्योंकि— ॥ १६-२० ॥

पञ्चरात्रादयो मार्गाः कालेनैवोपकारकाः ।
बौद्धतन्त्राणि देवेशि वर्त्तन्ते सुबहून्यपि ॥ २१ ॥

'पाञ्चरात्र' आदि के मार्ग समय पर ही उपकारक होते हैं। फिर हे देवेशि ! बहुत से बौद्धतन्त्र भी हैं ॥ २१ ॥

तानि प्रोक्तानि सर्वाणि बौद्धरूपेण विष्णुना ।
न तत्र धर्मलेशोऽस्ति मोहनानि दुरात्मनाम् ॥ २२ ॥

वे सभी बुद्ध रूप में विष्णु-प्रोक्त ही हैं। किन्तु उसमें भी धर्म (=आचार) का लेश मात्र भी नहीं है। वह तो मात्र दुरात्माओं के संमोहन के लिए ही है ॥ २२ ॥

अन्ते तु नरकायैव भविष्यन्ति न संशयः ।

पार्वत्युवाच--

किमर्थं देवदेवेन विष्णुना सत्वमूर्त्तिना ॥ २३ ॥
दयावतापि लोकस्य प्रतारणमहो कृतम् ।
निर्दोषे पुरुषे देव नानृतं स्यात्कदाचन ॥ २४ ॥

फिर इन मार्गों पर चलने वाले साधकों को अन्त में नरक ही प्राप्त होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पार्वती ने कहा—

सत्वमूर्ति, देवों के देव भगवान् विष्णु ने दयावान् होकर भी क्यों यह लोक के प्रतारण का कार्य किया ? फिर हे देव ! निर्दोष पुरुष में कभी भी असत्य नहीं देखा जाता है ॥ २३-२४ ॥

केन प्रयुक्तस्तु हरिर्मोहशास्त्रमरीरचत् ।
एतन्मे ब्रूहि सर्वज्ञ सन्देहविनिवृत्तये ॥ २५ ॥

मेरे सन्देह की निवृत्ति के लिए, हे सर्वज्ञ ! बस इतना बताइए कि हरि के द्वारा रचित इस मोहशास्त्र (=तन्त्र) का किसने प्रयोग किया है ? ॥ २५ ॥

---

१. त्रैलोक्यमोहन (अग्नि० पु०) २. बोधायन (अग्नि० पु०)

शिव उवाच—

श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि कारणं मोहकल्पने।
एकदा विधिविष्णू च स्वाभिमानावृतान्तरौ ॥ २६ ॥

भगवान् शंकर ने कहा—

हे देवि ! सुनो। इस मोह कल्पना का कारण मैं कहता हूँ। एक बार भगवान् विष्णु और ब्रह्मा स्वाभिमान में अपने को बड़ा कहते हुए झगड़ पड़े ॥ २६ ॥

नित्यं विवदमानौ तावन्योऽन्यं प्रतिचक्रतुः।
अहं ब्रह्मेति न भवानित्येवं पूर्णमानिनौ ॥ २७ ॥

नित्य एक दूसरे से यह कहते हुए पूर्ण रूप से मानी हो विवाद करने लग गए कि 'मैं ब्रह्म हूँ, आप नहीं' ॥ २७ ॥

क्रुद्धचित्तावुभौ देवि शेपतुस्तौ परस्परम्।

ब्रह्मोवाच—

यस्मात्त्वं मामवज्ञाय स्वात्मानं बहु मन्यसे ॥ २८ ॥
अपूज्यस्त्वं तु लोकेषु भविष्यसि न संशयः।
इत्येव दारुणं शापं निशम्य मधुसूदनः ॥ २९ ॥
क्रुद्धः शापं प्रतिददौ त्वमप्येवं भविष्यसि।
अन्योऽन्यं शापमाश्राव्य भवितव्येन मोहितौ ॥ ३० ॥

हे देवि ! वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर क्रोधाभिभूत होकर शाप देने लगे।

ब्रह्मा ने कहा—

क्योंकि आप हमारी अवज्ञा करके अपने को बहुत मानते हैं, इसलिए आप लोकों में निसन्देह रूप से पूजनीय नहीं होंगे। इस प्रकार के दारुण शाप को सुनकर मधुसूदन ने भी क्रुद्ध होकर शाप दिया कि आप भी लोकों में पूज्य न होंगे। होनी के कारण एक दूसरे को शाप देकर दोनों ही मोह ग्रस्त हो गए ॥ २८-३० ॥

मामेव शरणं यातौ परिम्लानमुखावुभौ।
व्यवस्था तु कृता देवि मया शापस्य वै तयोः ॥ ३१ ॥

तब दोनों ही म्लान मुख होकर मेरे शरण में आए। तब हे देवि ! उन दोनों के शाप की मैंने व्यवस्था दी ॥ ३१ ॥

ब्रह्मणो यन्मया प्रोक्तं तत्ते वक्ष्यामि संश्रृणु।
ब्रह्मन्नो वैष्णवं वाक्यमन्यथा भवति क्वचित् ॥ ३२ ॥
तस्मादपूज्यो लोकेषु भविष्यति भवान् किल।
पञ्चायतनपूजायां न शापस्ते भविष्यति ॥ ३३ ॥

ब्रह्मा से जो मैंने कहा, उसे मैं कहता हूँ, सुनो। हे ब्रह्मन् ! विष्णु का वाक्य कभी भी अन्यथा नहीं होता। इसलिए आप लोकों में पञ्चायतन की पूजा में निश्चित ही अपूज्य होंगे ॥ ३२-३३ ॥

केवलं भवतः पूजाबाधकं शाप एव हि।
त्वमेकं वपुराधत्स्व शापस्य विषयं हरे ॥ ३४ ॥

मात्र आप विष्णु की पूजा में यह शाप बाधक है। इसलिए आप, हे हरि, शाप के लिए एक अलग रूप का विग्रह धारण करिए ॥ ३४ ॥

तत्रैवास्तु च ते शापः सत्त्वमूर्त्तौ न सर्वथा।
एवमुक्ते मया चोभौ ययतुः स्वस्य केतनम् ॥ ३५ ॥

उसी एक में आपका शाप होगा। सभी सत्त्वमूर्ति में शाप नहीं होगा। इस प्रकार मेरे कहने पर दोनों अपने-अपने निवास पर चले गए ॥ ३५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवि देवासुरमहारणः।
बभूव तत्र समरे जिता देवैः सुरेतराः ॥ ३६ ॥

हे देवि ! इसी अन्तराल में देवों और असुरों में महान् संग्राम हुआ। उस संग्राम में देवों ने अन्य असुरों को जीत लिया ॥ ३६ ॥

जयोपाय प्रकुर्वाणास्तपस्तेपुर्महत्तरम्।
तपोविघ्नाय तान् देवो बौद्धरूप स्वयं गतः ॥ ३७ ॥

जय के उपाय को खोजते हुए उन्होंने महान् तप किया। उनके तप में विघ्न डालने के लिए विष्णु ने तब स्वयं बौद्ध-विग्रह धारण किया ॥ ३७ ॥

बौद्धतन्त्राणि निर्माय दैत्येभ्यः समदर्शयत्।
देहादन्यो न चात्मास्ति न मुक्तिर्मरणात् परा ॥ ३८ ॥

उसी बौद्ध रूप में बौद्ध तन्त्रों का निर्माण करके उन्होंने दैत्यों को दिखाया। (उन्होंने वेदविपरीत उपदेश दैत्यों को देते हुए कहा कि) शरीर से अन्य और कहीं भी आत्मा नहीं रहता। अतः मरण के बाद मुक्ति का प्रश्न ही क्या हैं ? ॥ ३८ ॥

न देवाः पितरः सन्ति मुधा वेदेन दर्शिताः।
स्ववृत्तये तु निगमः कल्पितो ब्राह्मणैरिह ॥ ३९ ॥

न तो [स्वर्ग लोक में] देवता हैं, न [पितृलोक में] पितर ही है। यह सब तो वेद की झूठी कल्पना है। वेद तो यहाँ ब्राह्मण लोगों के द्वारा अपनी वृत्ति (=आजीविका) चलाने के लिए कल्पना-प्रसूत हैं ॥ ३९ ॥

सर्वथा न प्रमाणत्वे धार्यः स्यादसुरेश्वराः।
एवं तन्त्रेषु नैरात्म्यवादमुख्येषु मोहिताः ॥ ४० ॥

अतः बिना प्रमाण के इस [वेद] को असुरों को नहीं धारण करना चाहिए। इस प्रकार के नैरात्म्यवाद [=आत्मा की सत्ता न मानने वाले] प्रधान तन्त्रों में दैत्यों की बुद्धि को विष्णु ने मोह में डाल दिया ॥ ४० ॥

असुराः समसज्जन्त बौद्धमायाहृताशयाः।
तदा प्रभृति तद्रूप अपूज्यत्वं हरेर्ययौ ॥ ४१ ॥

इस प्रकार भगवान् बुद्ध की माया से आहृत बुद्धि वाले असुर मोहग्रस्त हो गए। तभी से हरि का वह बुद्ध रूप [वेद मार्ग के साधक के लिए] अपूज्य हो गया। ४१ ॥

'बौद्धोपदेशस्य ग्रहो जातश्च परमेश्वरि।
तस्मात्तदुक्ततन्त्राणि नास्तिवादपराणि च ॥ ४२ ॥

हे परमेश्वरि ! इसीलिए बुद्ध के उपदेश [वैदिकों के लिए] अग्राह्य हैं। इसीलिए उक्त बौद्ध तन्त्र नास्तिक हैं ॥ ४२ ॥

न ग्राह्याणि बुधैर्देवि धर्माधर्मविचारणे।
इदं माहेश्वरं तन्त्रं सर्वतन्त्रोत्तमोत्तमम् ॥ ४३ ॥

हे देवि ! धर्म या अधर्म का विचार करने वाले विद्वान् को चाहिए कि वह (ग्राह्य का ही ग्रहण करे) अग्राह्य तन्त्रों का ग्रहण न करे। यह माहेश्वर तन्त्र सभी तन्त्रों में [तत्त्वज्ञान को बतलाने वाला] उत्तम तन्त्र ग्रन्थ है ॥ ४३ ॥

सामरस्येच्छया शक्त्या यथाभूतार्थमीरितम्।
अक्षरस्यासनीभूतस्तन्निशम्य सदाशिवः ॥ ४४ ॥

शक्ति की सामरस्य की इच्छा से जैसा था वैसा ही मैंने कहा है। सदाशिव के 'अक्षर' [ब्रह्म] होने के उस रहस्य को अब सुनो ॥ ४४ ॥

प्रोक्तवानीश्वरायैतत् यथाश्रुतमनिन्दिते।
समाधावीश्वरः प्राह मह्यं देवि यथाश्रुतम् ॥ ४५ ॥

हे अनिन्दित ! जैसा मैंने सुना था वैसा ही इसे ईश्वर के लिए कहा गया है। हे देवि ! मैंने जैसा सुना है कि 'मैं ही शङ्कर समाधी की अवस्था में 'ईश्वर' कहा जाता हूँ' ॥ ४५ ॥

---

१. 'शुद्धोदनस्य च गृहे जातस्य' इत्यपि पाठः।

मयापि च तव स्नेहादुच्यते नान्यथा प्रिये।
त्वया तु गोपनीयं हि न वाच्यं यस्य कस्यचित् ॥ ४६ ॥

हे प्रिये ! मेरे द्वारा भी यह रहस्य तुमसे तुम्हारे स्नेह के कारण ही कहा जा रहा है। नहीं तो यह किसी को कहने योग्य नहीं है। तुम्हें भी इसका गोपन करना चाहिए और जिस किसी से नहीं कहना चाहिए ॥ ४६ ॥

एतत्तन्त्रार्थविज्ञाने न सर्वे ह्यधिकारिणः।

पार्वत्युवाच—

अधिकारविहीनोऽपि यदि चात्र प्रवर्त्तते ॥ ४७ ॥

इस तन्त्र के तत्त्व को जानने के लिए सभी अधिकारी भी नहीं है।

पार्वती ने कहा —

अच्छा ! यदि अधिकारविहीन भी इसमें प्रवर्तित हो जाय तो क्या हानि है ? ॥ ४७ ॥

निःशङ्को निर्भयो भूत्वा प्रेमासक्तिसमन्वितः।
नित्यानन्दं च पुरुषं विभाव्य स्वपतिं हृदि ॥ ४८ ॥
तदीयविरहज्वालाग्लपितां तनुमुत्सृजेत्।
कां गतिं याति देवेश तन्मे साधु निरूपय ॥ ४९ ॥

निःशङ्क, निर्भय होकर प्रेमासक्ति से युक्त होकर अपने हृदय में अपने पति नित्य आनन्द रूप पुरुष का ध्यान करके उसी की विरहज्वाला में निगीर्ण शरीर का उत्सर्जन कर दे तो हे देवेश ! उसकी क्या गति होगी ? उसे आप ठीक-ठीक बताइए ॥ ४८-४९ ॥

शिव उवाच—

ब्रह्माभासमयः कश्चिद्यदि जीवः परिभ्रमन्।
अनेकजन्मसंसिद्धपुण्यराशिभिरूर्जितः ॥ ५० ॥
साधुसङ्गेन देवेशि यदिदं ज्ञानमाप्नुयात्।
जितेन्द्रियो निर्विषयः प्रेमासक्तिसमन्वितः ॥ ५१ ॥
त्यजन् देहमवाप्नोति कुमार्यः प्रापुरेव यत्।
न जले जलवत्तस्य लयो भवति चाक्षरे ॥ ५२ ॥

शिव ने कहा —

यदि कोई जीव अपने में ब्रह्म का आभास करता हुआ-सा परिभ्रमण करते हुए अनेक जन्म से प्राप्त किए हुए पुण्यराशि के प्रताप से तथा साधुजनों की संगति से यदि इस ज्ञान को, हे देवेशि ! प्राप्त कर लेता है तो वह जितेन्द्रिय, विषयों में निर्लिप्त,

भगवद् प्रेम को असक्ति से युक्त देह का त्याग करते हुए दिव्य देह प्राप्त करता है जैसे कि कुमारियों ने प्राप्त किया। उसका जल में जल के समान लय नहीं होता। किन्तु 'अक्षर' में ही उसका विलय हो जाता है ॥ ५२ ॥

यदय विरही जातो नित्यलीलाविहारिणि।
न पश्यति तथा चापि नित्यलीलाविहारिणम् ॥ ५३ ॥

यदि यह साधक विरही होता है तो नित्यलीला में विहार करने वाले [भगवान् कृष्ण] में उसका लय होता है। फिर भी वह नित्यलीलाविहारी को देख नहीं पाता है ॥ ५३ ॥

अक्षराभासमात्रत्त्वात् स्वस्यैव परमेश्वरि।
तस्माद् वृन्दावने देवि[1] कूटस्थहृदयङ्गमे ॥ ५४ ॥
लीलामनुभवन् तिष्ठेत् पुनरागविवर्जितः।
इति ते निर्णयः प्रोक्तोऽनधिकारिणि सुन्दरि ॥ ५५ ॥

हे परमेश्वरि ! अक्षर ब्रह्म के आभास मात्र से ही उस वृन्दावन रूप अपने हृदय में ही वह हे देवि ! कूटस्थ ब्रह्म को हृदयङ्गम करके रहता है और फिर सांसारिक राग से रहित होकर उन्हीं वृन्दावन विहारी श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुभव करते हुए आनन्दमग्न रहता है। यही [ब्रह्म के आभास और उसमें विलीन हो जाने का] निर्णय, हे सुन्दरि ! मैंने तुमसे कहा है ॥ ५४-५५ ॥

अतः परं च भजने निर्णयं वच्मि संशृणु ॥ ५६ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
षड्विंश पटलम् ॥ २६ ॥

——*——

इसके बाद मैं भगवान् श्रीकृष्ण के भजन में किसका अधिकार है ? उसे मैं कहता हूँ। [सावधान होकर] सुनो ॥ ५६ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के छब्बीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २६ ॥

——*——

१. 'अक्षरे हृदयङ्गमे' इत्यपि पाठः।

अथ सप्तविंशं पटलम्

शिव उवाच—

नित्यानन्दविहाराणां प्रियाणां परमेशितुः ।
स्वभर्त्तुर्भजनं देवि कर्त्तव्य सर्वथैव हि ।। १ ।।

शिव ने कहा—

नित्य भगवान् की लीला के आनन्द में विहार करने वाले परमेश्वर के प्रिय भक्त को, हे देवि ! सभी प्रकार से अपने स्वामी श्रीकृष्ण का भजन करना ही चाहिए ।। १ ।।

भजनाङ्गं सदाचारः कर्त्तव्यः कर्मशुद्धये ।
न सिद्धाः सिद्धिमवाप्स्यन्ति सदाचारविवर्जिताः ।। २ ।।

कर्म की शुद्धि के लिए सदाचार का पालन भजन के अङ्ग रूप में करना चाहिए । क्योंकि कोई भी साधक विना सदाचार के सिद्धि नहीं प्राप्त करते ।। २ ।।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा आचारहीनं न तपः पुनाति ।
आचारहीनं न पुनन्ति तीर्थान्याचारहीनस्य न चैव सिद्धिः ।। ३।।

वेद आचारहीन साधक को पवित्र नहीं करते हैं । तप आचारहीन साधक को पवित्र नहीं करता है । तीर्थ आचारहीन पुरुष को पवित्र नहीं करते हैं । फिर तो आचारहीन व्यक्ति को सिद्धि भी नहीं मिलती है ।। ३ ।

आचारः प्रथमो धर्म आचारो हन्त्यलक्षणम् ।
आचाराल्लभते शुद्धिं तस्मात्तं सततं चरेत् ।। ४ ।।

'आचार' ही प्रथम धर्म है जो साधक की बुराइयों को नष्ट कर देता है । फिर आचार से शुद्धि प्राप्त होती है । इसलिए निरन्तर आचारवान् होना चाहिए ।। ४ ।।

अनाचारेण मालिन्यं बुद्धिः समधिगच्छति ।
लीलावधारणं नास्ति मलिने बुद्धिदर्पणे ।। ५ ।।

आनाचार से 'बुद्धि' मालिन्य को प्राप्त करती है । फिर मलिनबुद्धि रूपी दर्पण में कभी भगवान् की लीला की अवधारणा नहीं होती ।। ५ ।।

आचारः कथितः सद्भिः सर्वधर्मेषु सर्वदा ।
आचाररहितो धर्मो ह्यधर्मत्वेन कल्प्यते ॥ ६ ॥

इसलिए सभी धर्मों में सर्वदा सज्जनों द्वारा आचार [के व्रत का पालन करने के लिए] कहा गया है । वस्तुतः आचारविहीन धर्म तो अधर्म के ही समान माना जाता है ॥ ६ ॥

आचाररक्षणं तस्मात्कर्त्तव्यं सर्वथा प्रिये ।
आचारो द्विविधः प्रोक्तो बाह्याभ्यन्तर एव च ॥ ७ ॥

अतः प्रिये ! सभी प्रकार से आचार की रक्षा ही करनी चाहिए । आचार दो प्रकार का कहा गया है १. बाह्य और २. आभ्यन्तर ॥ ७ ॥

भावसंशुद्धिमेवैकामाचारं ह्यान्तरं विदुः ।
तत्सिद्धये देहसाध्यो बाह्यः शौचादिरुच्यते ॥ ८ ॥

भाव की शुद्धि ही मात्र एक आचार आभ्यन्तर कहा गया है । उसी भाव की शुद्धि के लिए शरीर से किये जाने वाले शौच आदि [प्रयत्नों] को बाह्य शुद्धि कहते हैं ॥ ८ ॥

साध्यो भावः साधनं तु देहशुध्यादिकं प्रिये ।
तमाचारं प्रवक्ष्यामि येन संशुध्यते मनः ॥ ९ ॥

हे प्रिये ! शरीर की शुद्धि आदि से ही भाव की शुद्धि का साधन हो पाता है । अतः जिससे 'मन' की शुद्धि होती है मैं उस आचार को तुमसे अब कहूँगा ॥ ९ ॥

नाभाषेन्नावलोकेत शृणुयान्न कथञ्चन ।
न स्पृशेन्नोपजिघ्रेत नाश्नीयाद्विमतं च यत् ॥ १० ॥

[कृष्ण के गुण के अतिरिक्त] न कुछ भाषण करे, न कुछ देखे । कुछ भी न सुने । [कृष्ण के लीलाविग्रह प्रतिमा को छोड़कर] किसी भी अन्य वस्तु का स्पर्श न करे, न सूँघे और [सात्त्विक अन्न का ही भक्षण करे] जो गर्हित हो उसे नहीं खाना चाहिए ॥ १० ॥

यदेश्वरगुणान्वक्तुमीहते वाक् विजृम्भिता ।
तदैनां विध्यते पाप्मा विद्धा विमतभाषिणी ॥ ११ ॥

जो वाणी ईश्वर के गुण के बखान के लिए ही कल्पित है उस वाणी को विमत [=लौकिक वाग् जाल] भाषणरूप पाप विद्ध कर देता है ॥ ११ ॥

यदेश्वरं मूर्त्तिमन्तमालोकयितुमिच्छति ।
चक्षुस्तदा पाप्मविद्धं विमतं पश्यति प्रिये ॥ १२ ॥

जो साधक मूर्तिमान् ईश्वर को नहीं देखना चाहता है उसके चक्षु तभी, हे प्रिये पाप बुद्धि से आच्छन्न हो जाते हैं ॥ १२ ॥

यदेश्वरगुणान् श्रोतुमीहते श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
तदैव पाप्मना विद्धं जानीयाद्विमते च तत् ॥ १३ ॥

जो श्रोत्र इन्द्रिय ईश्वर के गुणों को सुनने की कामना नहीं करती है उसे तभी समझ लेना चाहिए कि वह पाप से आविद्ध मन है ॥ १३ ॥

यदा निवेदितान्नेन नियमं रसनेहते ।
तदैव पाप्मना विद्धा विमतं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब ईश्वर को निवेदित अन्न के द्वारा रसना इन्द्रिय का नियमन किया जाता है तभी पाप से विमत प्रतिपादित होता है ॥ १४ ॥

पापरूपं विजानीयाद्विमताचरणं च तत् ।
विमताचरणं पापमिन्द्रियमुपगच्छति ॥ १५ ॥

विमत (ईश्वर से अतिरिक्त अन्य) का आचरण जो भी है उसे पाप रूप ही समझना चाहिए । वस्तुतः विमत (अन्य का चिन्तन या मनन) पाप बुद्धि को ही जन्म देता है ॥ १५ ॥

निरावरणमेवैतद्ध्यानाभ्यासः प्रपद्यते ।
नियम्य चेन्द्रियाण्यादौ अभ्यासेन दृढीयसा ॥ १६ ॥

बिना [पापबुद्धि रूप]'आवरण के ही ध्यान [या तप] का अभ्यास होता है । अतः सबसे पहले [लौकिक चिन्तन से] इन्द्रियों को रोक कर उसे [अपने मन को] अभ्यास के द्वारा दृढ करना चाहिए ॥ १६ ॥

यदा सर्वेन्द्रियाणां च नियमं कर्तुमक्षमः ।
रसनेन्द्रियमेवैकं जेयं सर्वजिगीषया ॥ १७ ॥

जब साधक यह समझे कि सभी इन्द्रियों का नियमन नहीं हो सकता तो सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से उसे मात्र रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करनी चाहिए ॥ १७ ॥

जिते रसे जितः कामः जिते[1] कामे जितेन्द्रियः ।
जितजिह्वोपस्थरतेरसाध्यं किं तु[2] विद्यते ॥ १८ ॥

रसना के एकमात्र नियमन से वह 'काम' को जीत लेता है । फिर जब 'काम'

---

१. 'जिततृष्णे' इति पाठः ।
२. नु ।

को जीत लिया तो जितेन्द्रिय हो जाता है, क्योंकि जिह्वा और उपस्थ में रत व्यक्ति के लिए सभी कुछ असाध्य हो जाता है ॥ १८ ॥

सिसृक्षोर्ब्रह्मणः पूर्वं स्तनाद्धर्मो विनिर्गतः ।
वृषरूपश्चतुर्वेदचतुःपादः शुभाकृतिः ॥ १९ ॥

सृष्टि की इच्छा वाले ब्रह्मा से पहले उनके स्तन से धर्म की ही उत्पत्ति हुई । यह धर्म वृषभ रूप शुभ आकृति वाला है जिसके चार पैर चार वेद हैं ॥ १९ ॥

ज्ञानं वैराग्यमत्युग्र यस्य शृङ्गद्वयं प्रिये ।
सत्यं तपः कर्णयुग दमो दानं तु चक्षुषी ॥ २० ॥

हे प्रिये ! इस धर्म रूपी वृषभ के दो उग्र सींग ज्ञान और वैराग्य ही हैं । सत्य और तप दानों कान हैं और दम (इन्द्रिय नियमन) और दान इसके दो नेत्र हैं ॥ २० ॥

लांगूलमस्य चैश्वर्यं रोमावलिः पुण्यसन्ततिः ।
तेन स्पृष्टाः प्रजाः सर्वाः शुद्धसत्वा बभूविरे ॥ २१ ॥

इसकी पूँछ ऐश्वर्य (समृद्धि) है और पुण्य राशि इस धर्म रूप वृषभ की रोमावलि है । इस धर्म रूप वृषभ का स्पर्श करके ही सभी प्रजा शुद्ध मन वाली हुई ॥ २१ ॥

ज्ञानवैराग्यसम्पन्ना मोक्षमार्गपरायणाः ।
तं दृष्ट्वा भगवान् ब्रह्मा पश्चात्पापमथासृजत् ॥ २२ ॥

ज्ञान एवं वैराग्य से सम्पन्न मोक्षमार्ग में परायण उन प्रजा जनों को देखकर फिर भगवान् ब्रह्मा ने 'पाप' का सृजन किया ॥ २२ ॥

स पाप्मा महिषाकारस्तमोभूतः शरीरिषु ।
अज्ञानं चाप्यनैश्वर्यमवैराग्यमधर्मकम् ॥ २३ ॥

चत्वारस्तस्य वै पादा छलद्रोहौ[1] शृङ्गद्वयम् ।
क्रोधमोहौ कर्णयुगं कामलोभौ हि चक्षुषी ॥ २४ ॥

वह पाप तमोभूत शरीरों में महिष (=भैंस) के आकार में उत्पन्न हुआ । उस पापरूप महिष के अज्ञान, अनैश्वर्य, अवैराग्य और अधर्म रूप चार पैर हैं । छल और द्रोह उसके दो सींग हैं । क्रोध और मोह उसके दो कान हैं, काम और लोभ उसके दो नेत्र हैं ॥ २३-२४ ॥

---

१. 'श्रुतिद्वयम्' ।

मात्सर्यमुग्रलांगूलं ब्रह्महत्या शिरोऽस्य च।
सुरापानं च हृदय कटिः स्यादुपपातकम् ॥ २५ ॥

उसकी उग्र पूँछ मात्सर्य (=ईर्ष्या-द्वेष) हैं और इस पाप रूप महिष का सिर ब्रह्महत्या है। इसके हृदय सुरा पान है और अन्य अनेक उपपातक उसके कटि प्रदेश हैं ॥ २५ ॥

तेन स्पृष्टाः प्रजाः सर्वा नष्टसत्त्वा[1] मलीमसा।
ज्ञानवैराग्यरहिताः काम्यकर्मकृतश्रमाः ॥ २६ ॥

उस [पाप रूप तमोगुणी महिष] का स्पर्श करके सभी प्रजा तब मलिन मन वाली [तमोगुणी] हो गई। यह प्रजा ज्ञान एवं वैराग्य से रहित और काम्य कर्मों में ही श्रम करने वाली हुई ॥ २६ ॥

आसुरेष्वेव भावेषु व्यसज्जन्त विमोहिताः।
तस्मात्तं तु परिज्ञाय देहेन्द्रियचरं प्रिये ॥ २७ ॥
स्वाचारमाचरेत्प्राज्ञो यथा स्यादुज्ज्वलात्मधीः।
उज्ज्वलत्व तदा बुद्धेः समं पश्यति वै यया ॥ २८ ॥

वे सभी आसुरी प्रवृत्तियों में आसक्त होकर मोहग्रस्त हो गए। अतः, हे प्रिये ! उनको देह और इन्द्रियों में ही आसक्त जानकर प्रज्ञावान् साधक को अपने [धर्म के अनुरूप] आचार का आचरण करना चाहिए, जैसे कि ज्ञान से उज्ज्वल आत्मा वाले बुद्धिमान् व्यक्ति करते हैं। बुद्धि का निर्मल होना तभी जानना चाहिए जब सभी [स्थावर जङ्गम] को वह समभाव से देखता है ॥ २७-२८ ॥

सुखेषु विद्यमानेषु दुःखशोकभयादिकम्।
पश्यन् विरमते तेषु शुद्धत्वं च तदा धियः ॥ २९ ॥

बुद्धि की शुद्धता तभी दृष्टिगोचर होती है जब सुख और दुःख के आने पर दुःख, शोक एवं भय आदि से रहित संसार को [उसमें आसक्त न होते हुए] देखे ॥ २९ ॥

न व्यथेन्निन्दया चित्तं हर्षते न च सस्तुवैः।
उदासीनोरिमित्रेषु साम्य बुद्धिस्तदोज्वला ॥ ३० ॥

निन्दा से चित्त दुःखी न हो और स्तुति से मन हर्षित भी न हो, शत्रुओं में उदासीन-भाव रक्खे। अन्ततः [सुख-दुःख में] बुद्धि की साम्यावस्था जब हो तभी बुद्धि को निर्मल समझना चाहिए ॥ ३० ॥

---

१. मलीमसः इति पाठः।

अलोलुपत्वमास्तिक्यं मुमुक्षुत्वं गभीरता ।
प्रसादः स्वात्मना सौख्यं लोकसङ्गनिवर्त्तनम् ।। ३१ ।।
एकान्तसेवाभिरुचिर् दम्भमानविवर्जनम् ।
एतानि यत्र जायन्ते तस्य बुद्धिः समुज्ज्वला ।। ३२ ।।

[एक सफल साधक के गुण हैं उसका विषयों के प्रति] लोलुप न होना, आस्तिक बुद्धि, मोक्ष की इच्छा, गम्भीरता, प्रसन्नता, अपने में ही सुख का अनुभव करना और लौकिक सङ्गति का परित्याग, दम्भ एवं मान से रहित होकर एकान्त में [भगवान् की] सेवा में अभिरुचि होना—यदि ये सभी तत्त्व साधक में आ जायँ तो समझना चाहिए कि उसकी बुद्धि उज्ज्वल हो गई है ।। ३१-३२ ।।

आचारसेवनस्येह बुद्धिशुद्धिः परं फलम् ।
शुद्धायां ततो बुद्धौ लीलाध्यानेऽर्हतां व्रजेत् ।। ३३ ।।

आचार के सेवन का सबसे श्रेष्ठ फल है बुद्धि का शुद्ध हो जाना । उसके बाद बुद्धि के शुद्ध हो जाने पर भगवान् के लीला [विग्रह] का ध्यान करने के लिए बुद्धि योग्य हो जाती है ।। ३३ ।।

शास्त्रदुष्टं भावदुष्टं लोकदुष्टमथापि वा ।
वर्जयेन्मतिमान् देवि सत्वशुद्धिविधित्सया ।। ३४ ।।

[विषयों के प्रति आसक्त करने वाले] दुष्ट अर्थात् दुर्बुद्धि देने वाले शास्त्रों का, दुर्बुद्धि वाले भावों का और दुर्बुद्धिदायक लोक [व्यवहार] का बुद्धिमान् साधक को सात्त्विक-बुद्धि की इच्छा से, हे देवि ! सर्वथा त्याग करना चाहिए ।। ३४ ।।

गुह्यशौचं पादशौचं हस्तशौचं महेश्वरि ।
मुखशौचं चतुर्थं च कुर्यात्सर्वत्र सर्वदा ।। ३५ ।।

हे महेश्वरि ! गुह्याङ्ग की शुद्धि, पैर की शुद्धि, हाथों की शुद्धि और चौथी मुख-शुद्धि सदैव एवं सर्वत्र करना चाहिए ।। ३५ ।।

उच्छिष्टो न स्पृशेत् क्वापि सेवाद्रव्याणि शाम्भवि ।
प्रणम्य प्रविशेत्स्थानं निर्गच्छेच्च प्रणम्य च ।। ३६ ।।

कहीं भी, हे शम्भु की पत्नि ! उन सेवा द्रव्यों को जूठे हाथ से नहीं छूना चाहिए । भगवान् के सेवा स्थान में प्रणाम करके प्रवेश करे तथा प्रणाम करके ही लौटना चाहिए ।। ३६ ।।

निष्ठीवनं प्रलापं च अधोवायुविसर्जनम् ।
औदासीन्यं भयं क्रोधं न कुर्यात्तत्र संस्थितः ।। ३७ ।।

[पूजा स्थान में] थूकना, बातचीत करना और अधोवायु का त्याग करना, [पूजा में] उदासीनता तथा भय एवं क्रोध भी वहाँ रहकर न करे ॥ ३७ ॥

यथावर्णं यथाज्ञानं यथाज्येष्ठकनिष्ठकम् ।
तथैवोपविशेत्तत्र रागद्वेषविवर्जितः ॥ ३८ ॥

वहाँ [पूजा स्थान में] वर्ण के अनुसार [पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तब शूद्र] ज्ञान के अनुसार [पहले ज्ञानी लोग और बाद में अज्ञानीजन] और छोटे-बड़े के भेदानुसार उसी प्रकार से राग एवं द्वेष से रहित हो बैठना भी चाहिए ॥ ३८ ॥

न निन्देन्मनसा वाचा कुमारीं ब्राह्मणं गुरुम् ।
दया भूतेषु कर्त्तव्या न हिंस्यात्कमपि प्रिये ॥ ३९ ॥

मन एवं वाणी से कुमारी, ब्राह्मण तथा गुरु की कभी भी निन्दा नहीं करनी चाहिए। हे प्रिये ! प्राणिमात्र पर दया करनी चाहिए। उनकी हिंसा तो कभी भी न करे ॥ ३९ ॥

सर्वं सहेत परुषं देहानित्यत्वभावनात् ।
देहगेहकलत्राप्तमित्रद्रविणसम्पदः ॥ ४० ॥

स्वप्नविद्युन्निभाः पश्येन्नात्मानं तत्र सज्जयेत् ।
असदासक्तिवशतः संसारो न निवर्त्तते ॥ ४१ ॥

देह के अनित्यता को जानकर सभी कठोर वाक्यों को सह लेना चाहिए। शरीर, गृह, स्त्री, विश्वासपात्र-मित्र, धन एवं सम्पत्ति को स्वप्न तथा बिजली की कौंध के समान क्षणिक समझना चाहिए। उनमें अपनी बुद्धि को कभी आसक्त नहीं करना चाहिए। क्योंकि असत्य में आसक्ति के कारण साधक संसार (के मोह जाल) से छूट नहीं पाता ॥ ४०-४१ ॥

दानं दमो दया चेति न त्याज्यं सर्वथा त्रयम् ।
असत्यं न वदेद्वाक्यं वाचोऽपि मरणं हि तत् ॥ ४२ ॥

दान, दम (=जितेन्द्रियत्व) और दया—इन तीन का सर्वथा त्याग नहीं करना चाहिए। कभी भी असत्य वाणी न बोले, क्योंकि उसमें वाणी मृत हो जाती है ॥ ४२ ॥

मृता वाक् नहि योग्या स्याद् गुणालापे परेशितुः ।
न परस्त्रीमुखे क्वापि दृष्टिं भोगेच्छया क्षिपेत् ॥ ४३ ॥

मृत-वाणी परम पिता परमेश्वर की आराधना के लिए तथा उनके गुणों के कीर्तन

में योग्य नहीं होती है। कभी भी भोग को इच्छा से परस्त्री में दृष्टिपात भी न करे ॥ ४३ ॥

स्वस्मिन् स्त्रीभावनानश्येत्तस्मात्पातकमेव तत् ।
निर्विकाराणीन्द्रियाणि जातमात्रशिशोर्यथा ॥ ४४ ॥

फिर, अपने मन के स्त्री-भाव को [अर्थात् 'यह स्त्री है' या यह पुरुष है'—इस प्रकार के भेद को] नष्ट ही कर देना चाहिए क्योंकि उससे वही पातक होता है। उसे तो निर्विकार रूप से इन्द्रियों को पैदा हुए शिशु के समान [भेदरहित] ही देखना चाहिए ॥ ४४ ॥

ललनावृन्दमध्यस्थस्यापि चेतो द्विधा नहि ।
सखीभावः स्थिरस्तस्य विशुद्धश्च प्रियंवदे ॥ ४५ ॥

हे प्रियवादिनि ! उस [शुद्ध] साधक का चित्त स्त्रियों के बीच में रहकर भी द्विधा [स्त्री-पुरुष] बुद्धि नहीं प्राप्त होता है और वह उनके बीच सखोभाव से स्थिर चित्त होकर विशुद्ध रहता है ॥ ४५ ॥

विशुद्धस्त्रीस्वभावा ये दृश्यन्ते पुरुषा अपि ।
निश्चयादवगन्तव्या प्रिया भगवतो हि ते ॥ ४६ ॥

जो विशुद्ध स्त्री स्वभाव वाले पुरुष होते हैं तो निश्चय रूप से यह जान लेना चाहिए कि वे भगवान् के प्रिय ही होते हैं ॥ ४६ ॥

स्त्रीदुष्टान् समयभ्रष्टान् भावनाविमुखान् शठान् ।
नास्तिकान् दुर्नयान्दुष्टान् परस्त्रीगमनोत्सुकान् ॥ ४७ ॥

विरोधिनः क्रूरचित्तान् श्रद्धाप्रेमविवर्जितान् ।
असदालापकान् देवि न पंक्त्यामुपवेशयेत् ॥ ४८ ॥

न पिबेत्तत्र पानीयमेकपात्रेण कर्हिचित् ।
पादुकावसनं शय्याशयनासनसंस्थितिम् ॥ ४९ ॥

न कुर्यादेव तैः साकं दोषावेशोऽन्यथा भवेत् ।

उस साधक को, स्त्रियों में पाप रखने वाले, भ्रष्ट प्रतिज्ञा वाले, [भेद रहित] भावना से विमुख, शठों, नास्तिकों, दुर्बुद्धि रखने वाले दुष्टों, परस्त्री संगम के लिए उत्सुक, दूसरों से विरोध रखने वाले, क्रुद्ध चित्त तथा श्रद्धा एवं प्रेम से रहित और असत्य बोलने वाले लोगों के बीच, हे देवि ! कभी भी नहीं बैठना चाहिए। [यदि किसी प्रकार रहना भी पड़े तो] वहाँ एक ही पात्र में पानी तो नहीं ही

पीना चाहिए। उनका पहना हुआ जूता, उनके वस्त्र या शय्या तथा बिछौने का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से उनके साथ वह भी उनके दोष का भागीदार बन जाता है ॥ ४७-५० ॥

अदृष्टपुरुषैर्देवि देशान्तरनिवासिभिः ॥ ५० ॥
इन्द्रियार्थरतैर्दम्भच्छलेनापि समागतैः ।
न स्थितिः सह कर्त्तव्या परानन्दोत्सवे प्रिये ॥ ५१ ॥
अस्नातोऽधौतपादो वा ह्यनाचारो भयाकुलः ।

हे देवि ! अनजाने पुरुषों के साथ, अन्य देश के निवासी व्यक्तियों के साथ मात्र इन्द्रिय की तृप्ति में रत लोगों के साथ, दम्भ और छल से आए व्यक्तियों के साथ तथा उनके आनन्दोत्सव में भी, हे प्रिये नहीं रहना चाहिए ॥ ५१-५२ ॥

अधौतवसनो वापि नोत्सवं प्रविशेत्क्वचित् ॥ ५२ ॥

स्नानविहीन, पादप्रक्षालन से रहित, अनाचारी अथवा भय से व्याकुल, या वस्त्र न धोने वाले के भी साथ कभी भी उत्सव में प्रवेश न करे ॥ ५२ ॥

उत्सवे गुणगानादि कुर्यात्कृष्णकथाः शुभाः ।
न लौकिकीं कथां कुर्याद्विवदेन्न परस्परम् ॥ ५३ ॥

यदि उत्सव में जाए भी तो भगवान् के गुण-गान आदि को करे, अथवा कृष्ण को कल्याणकारी कथाओं को ही कहे। लौकिक कथा-वार्ता तो कदापि न करे और परस्पर विवाद भी न करे ॥ ५३ ॥

न मर्माणि वदेद्देवि न चोपद्रवमाचरेत् ।
परस्परं तु देवेशि स्वात्म्यैक्यं भावयेद्धिया ॥ ५४ ॥

कभी [कथा वार्ता के अतिरिक्त] अन्य लौकिक मर्म की गोपनीय बातें भी न करे। हे देवि ! [कभी भी किसी प्रकार के क्रोध में आकर] उपद्रव भी नहीं करना चाहिए। हे देवेशि ! ज्ञान से परस्पर एक दूसरे को अपना ही स्वजन समझना चाहिए ॥ ५४ ॥

रसावेशस्तदाभूयान्निर्विकारा यदा स्थितिः ।
तस्मात्तत्प्रवणं चेतः प्रकुर्वीत महोत्सवे ॥ ५५ ॥

जब निर्विकार की स्थिति हो तब रस का आवेश होता है। इसलिए [कृष्ण] महोत्सव में उस परब्रह्म परमात्मा में ध्यान लगाकर चित्त को कृष्ण में लीन करना चाहिए ॥ ५५ ॥

ध्यायन्ति केचन निमीलितपक्ष्मभारा
गर्जन्ति हेतिपरिलब्धगुरुप्रमाणाः ।
नृत्यन्ति तद्रसविलीनमनोरथार्था
भक्त्या द्रवन्त इव दृक्कमलैर्गलद्भिः ॥ ५६ ॥

[कृष्ण का ध्यान इस प्रकार है—]

कुछ भक्त जन [कृष्ण का आनन्द में विभोर होकर] अर्धनिमीलित नेत्रों से ध्यान करते हैं कुछ में गर्जन करते हैं, कुछ उन्हीं कृष्ण के आनन्द रस में विलीन मनोरथ वाले होकर नृत्य करते हैं—इस प्रकार [भक्ति रस के उद्रेक से] नेत्र-कमलों से गिरे हुए मानों रस का पान करते हैं ॥ ५६ ॥

तद्ध्यानदृष्टपदहृष्टधियः प्रसन्नाः
स्वानन्दसागरसमुच्छलदच्छभावाः ।
रोमाञ्चकञ्चुकविचित्रतनुप्रदेशा
जानन्ति नेदमखिलं च विभिन्नलिङ्गाः ॥ ५७ ॥

उन कृष्ण के ध्यान से हर्षित हृदय वाले भक्त प्रसन्न होकर मानो स्वानन्द के निर्मल भाव-सागर में हिलोरें लेते हैं। भक्ति रस के कारण रोमाञ्चित होकर विचित्र शरीर वाले वे [आत्मविभोर होने से] इस विभिन्न शरीर धारी अखिल जगत् को नहीं जानते हैं अर्थात् भूल जाते हैं ॥ ५७ ॥

यज्जातमुत्सवे किञ्चित् वृत्तान्तं साध्वसाधु वा ।
हृदयाद्विस्मृतमिव बहिर्नैव प्रकाशयेत् ॥ ५८ ॥

उस कृष्ण-महोत्सव में जो कुछ भी अच्छा या खराब वृत्तान्त अनुभूत हो उसे हृदय में ही विस्मृत के समान रखकर कदापि बाहर न प्रकाशित करे ॥ ५८ ॥

यथावर्णविभेदेन स्वीकुर्याच्च निवेदितम् ।
पृथगासनपात्राणि कारयेत् सुरवन्दिते ॥ ५९ ॥

वर्ण-विभेद के अनुसार निवेदित प्रसाद को स्वीकार करना चाहिए। हे सुरवन्दिते ! उनके आसनों एवं पात्रों को अलग रखना चाहिए ॥ ५९ ॥

परस्परं प्रणमेदेवं कुर्यान्महोत्सवोत्सवम् ।
स्वपुत्रस्त्रीजन्मदिने गुरोर्जन्मविपर्यये ॥ ६० ॥

परस्पर एक दूसरे को प्रणाम करना चाहिए इस प्रकार अपने पुत्र या स्त्री के जन्म दिन पर या अपने से बड़ों के जन्म दिन पर कृष्ण का महोत्सव रूप उत्सब मनाना चाहिए ॥ ६० ॥

मङ्गले सम्पदाविक्ये लाभे भक्तसमागमे ।
व्यतीपाते तथाष्टम्यामेकादश्यां च संक्रमे ॥ ६१ ॥

फिर कब उत्सव करें—इसका विधान करते हैं—

मङ्गल में, धनाढ्यता में अथवा धन के लोभ में, भक्तों के आगमन पर, व्यतीपात [महान् संकट] तथा अष्टमी और एकादशी के संक्रमण काल में महोत्सव करना चाहिए ॥ ६१ ॥

पुष्यार्के चैव हस्तार्के ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
कृष्णजन्माह्नि देवेशि राधाजन्मदिने तथा ॥ ६२ ॥

पुष्य नक्षत्र में जब सूर्य हो या हस्त नक्षत्र में सूर्य के होने पर और चन्द्र एवं सूर्य के ग्रहण के अवसर पर महोत्सव करे । हे देवेशि ! कृष्ण-जन्म और राधा के जन्म दिन पर महोत्सव करना चाहिए ॥ ६२ ॥

अवतारदिनेष्वेवं विष्णोरमिततेजसः ।
चैत्रे शुक्लस्य पञ्चम्यां भगवान्मीनरूपधृक् ॥ ६३ ॥
ज्येष्ठे शुक्ले द्वादश्यां ततः कूर्मस्वरूपधृक् ।
चैत्रे कृष्णनवम्यां तु हरिर्वाराहरूपधृक् ॥ ६४ ॥
वैशाखे शुक्लपक्षे तु चतुर्दश्यां दिनक्षये ।
प्रादुर्बभूव नृहरिर्भक्तरक्षार्थमुद्यतः ॥ ६५ ॥

अत्यन्त तेज युक्त विष्णु के विभिन्न अवतार के दिनों में भी महोत्सव करना चाहिए । उन अवतारों में मत्स्यावतार का दिन चैत्र शुक्ल पञ्चमी है । उसके बाद कूर्मावतार का दिन ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी है । चैत्र कृष्ण नवमी को विष्णु ने भगवान् बाराह का अवतार धारण किया था । वैशाख शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी के दिन भक्त [प्रह्लाद] की रक्षा के लिए उद्यत हो [स्तम्भ में से] भगवान् नृसिंह प्रगट हुए थे ॥ ६३-६५ ॥

वैशाखे शुक्लपक्षे तु तृतीयायां गिरीन्द्रजे ।
जमदग्निसुतो रामो रेणुकायामजीजनत् ॥ ६६ ॥

हे हिमालय की पुत्रि ! वैशाख मास के शुक्लपक्ष की तृतीया को जन्मदग्निसुत परशुराम को माता रेणुका ने जन्म दिया ॥ ६६ ॥

मासि भाद्रपदे देवि शुक्ले चैकादशी तिथिः ।
अदित्यां कश्यपाज्जातो वामनः सुरकार्यकृत् ॥ ६७ ॥

हे देवि ! भाद्रपद मास में शुक्लपक्ष की एकादशी तिथि को भगवान् वामन

को देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए कश्यप से अदिति ने जन्म दिया था ॥ ६७ ॥

चैत्रे शुक्लनवम्यां तु रामो दशरथात्मजः ।
रावणस्य वधार्थाय कौशल्यायां परः पुमान् ॥ ६८ ॥

दशरथ के पुत्र भगवान् राम ने चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को कौशल्या में प्रगट होकर रावण के वध के लिए श्रेष्ठ पुमान रूप अवतार ग्रहण किया ॥ ६८ ॥

श्रावणे बहुले पक्षे अष्टम्यां च महानिशि ।
कृष्णः प्रादुरभूद् देवि सुरकार्यचिकीर्षया ॥ ६९ ॥

भाद्रपद मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि को मध्य रात्रि में देव कार्य की इच्छा से, हे देवि ! भगवान् कृष्ण प्रादुर्भूत हुए ॥ ६९ ॥

नभसे तु द्वितीयायां बलभद्रोऽभवद्धरिः ।
पौषशुक्ले तु सप्तम्यां बौद्धः प्रादुर्भविष्यति ॥ ७० ॥

श्रावण मास [शुक्ल] द्वितीया को बलभद्र के रूप में हरि हुए । पौष शुक्ल सप्तमी को बौद्धावतार होगा[1] ॥ ७० ॥

माघशुक्लतृतीयायां कल्की प्रादुर्भविष्यति ।
एतेष्वन्येषु पुण्येषु दिवसेषु विशेषतः ॥ ७१ ॥
प्रकुर्यादुत्सवं देवि वित्तशाठ्यविवर्जितः ।
नोत्सवो भक्ष्यभोज्याद्यैर्न पुष्परचनादिभिः ॥ ७२ ॥
रसावेशो भवेद्यत्र तमाहुः परमोत्सवम् ।
निर्विकारं भवेच्चित्तं भगवज्ज्ञानगोचरम् ॥ ७३ ॥

माघ शुक्ल तृतीया को कल्की अवतार होगा । इस प्रकार इन अवसरों पर और अन्य भी पुण्य दिनों में विशेष रूप से हे देवि ! वित्त की शठता से रहित होकर (निःसंकोच खर्च कर) उत्सव मनाना चाहिए । भक्ष्य और भोज्य वस्तुओं से या माला फूल की सजावट से उत्सव नहीं होता है अपितु जहाँ आनन्द रस का आवेश हो (भक्ति हो) उसी को श्रेष्ठ उत्सव कहा जाता है । भगवान् के ज्ञान के अनुभव से भक्त का चित्त निर्विकार हो जाता है ॥ ७१-७३ ॥

[2]प्रेमैकरसिकं शुद्धं तत्रावेशो भवेद्ध्रुवम् ।
उत्सवे देवदेवेशि त्रिविधैव जनसङ्गमः ॥ ७४ ॥

---

१. इससे प्रतीत होता है कि यह तन्त्र ई०पू० ७ शताब्दी के पहले लिखा गया होगा ।

२. 'प्रेमैक्य रासिकं' इत्यपि पाठः ।

प्रियाणां वासनाश्चैको देवसर्गो द्वितीयकः ।
तृतीयो गौतमैः शप्ता ये च वैडालिनः स्मृताः ॥ ७५ ॥

जिस उत्सव में शुद्ध रूप से मात्र प्रेम रस के रसिक जन होते हैं वहाँ निश्चित रूप से रस का आवेश (आधिक्य) होता है। हे देव-देवेशि ! इस प्रकार के उत्सव में तीन प्रकार का जनसङ्गम होता है—पहला प्रिय लोगों की वासना वाला, दूसरा देवसर्ग, तीसरे गौतम ऋषि से अभिशप्त बनावटी हैं जिन्हें वैडालिन् कहा जाता है ॥ ७४-७५ ॥

वासनासु रसावेशः शुद्धो नैवात्र संशयः ।
देवेषु देवतावेशो भगवत्प्रेमवत्स्वपि ॥ ७६ ॥

[प्रेम] वासना वाले जन समुदाय में निश्चित ही शुद्ध रस का आवेश होता है। भगवत् प्रेम से युक्त देवों के जन समुदाय में देवता का आवेश होता है ॥ ७६ ॥

प्रेमहीना दुराचाराः परस्त्रीधनलम्पटाः ।
पिशुनाः वञ्चकाः क्रूराः कुटिलाः पापचारिणः ॥ ७७ ॥
आचाररहिता दुष्टा निर्लज्जाः कलहोत्सुकाः ।
आसुरं भावमापन्ना वेदशास्त्रार्थनिन्दकाः ॥ ७८ ॥
ते वै वैडालिनो देवि ह्यधिकारविवर्जिताः ।
असुरावेशिणस्ते तु मयोक्तमवधार्यताम् ॥ ७९ ॥

कुछ लोग जो प्रेम से रहित, दुराचारी, परस्त्री के लिए लोलुप, चुगलखोर, वञ्चक (धोखेबाज), क्रूर, टेढीबुद्धि के, पाप में रत, आचार से रहित, दुष्ट, लज्जा-रहित, कलह के लिए उत्सुक एवं आसुरी प्रवृत्ति वाले वेदशास्त्र के निन्दक होते हैं वे वैडालिन कहे जाते हैं। हे देवि ! उत्सव के लिए वे अनधिकारी हैं। वे तो असुर प्रवृति से आवेशित होते हैं। यह मेरा कहना तुम मानों ॥ ७७-७९ ॥

जानीयात्तत्तदावेशं तत्तच्चेष्टानुरूपतः ।
इत्येतान् त्रिविधान् ज्ञात्वा महोत्सवगतान् शिवे ॥ ८० ॥
व्यवहार्यं यथायोग्यं सङ्करो न भवेद्यथा ।
यथायोग्यं यथाकालं यथाद्रव्यं यथोचितम् ॥ ८१ ॥
तथा कुर्यान्महेशानि ह्यन्यथा पतितो भवेत् ।
इति तेऽभिहितं देवि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ८२ ॥

तदहं ते प्रवक्ष्यामि सुगुह्यमपि विस्तरात् ॥ ८३ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
सप्तविंशं पटलम् ॥ २७ ॥

——*——

इस प्रकार उन-उन के अच्छे बुरे भावावेश को जानकर उनकी चेष्टा के अनुरूप व्यवहार करे। हे शिवे ! महोत्सव में आए हुए इन तीन प्रकार के जन समुदाय को जानकर जैसा हो वैसा व्यवहार करे। इससे सभी अच्छे-बुरे का संकट नहीं होता है। यथायोग्य व्यक्ति के देशकाल के अनुसार, उचित द्रव्य के अनुसार ही व्यवहार करे। हे महेशानि ! इससे वह पतित नहीं होता है। हे देवि ! यह तो मैंने तुम्हें बतलाया है अब और क्या सुनना चाहती हो ? यदि वह गोपनीय भी हुआ तो मैं तुमसे उसे विस्तारपूर्वक ही कहूँगा ॥ ८०-८३ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के सत्ताईसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २७ ॥

——*——

अथ अष्टाविंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

पुनर्ब्रूहि महादेव यथा स्याद्भजनोदयः ।
कं वा गुरुमुपासीत कथं ज्ञानोदयो भवेत् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा –

हे महादेव ! जिस प्रकार भक्त में भजन का उदय होवे, उसे पुनः कहें, और किस गुरु की उपासना करनी चाहिए और किस प्रकार ज्ञान का उदय होवे ? उसे मुझसे कहें ॥ १ ॥

शिव उवाच—

साधु पृष्टं त्वया भद्रे प्रवक्ष्यामि यथातथम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दर्शयेन्नैव कस्यचित् ॥ २ ॥

शिव ने कहा—

हे कल्याणि ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है। जैसा ही मैं कहूँगा। इसका प्रयत्नपूर्वक गोपन करना चाहिए। [यदि कुछ ज्ञान भी हो तो कभी भी] उसका दिग्दर्शन जिस किसी से नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

मायाग्रस्तमिदं विश्वं नानादुःखभयातुरम् ।
अनित्यभवसन्तापपरितप्तं समन्ततः ॥ ३ ॥
कालदण्डभुजङ्गेन ग्रस्तमानमहर्निशम् ।
दृष्ट्वा विरक्तः सततं स्वात्मनः शिवहेतवे ॥ ४ ॥
सद्गुरोः शरणं यायात् शुद्धभावेन भामिनि ।
गुरवो बहवः सन्ति दीपवच्च गृहे गृहे ॥ ५ ॥
दुर्लभा गुरवो देवि ! सूर्यवत्सर्वदीपकाः ।
गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ॥ ६ ॥
विरला गुरवो देवि ! शिष्यहृत्तापहारकाः ।

यह सम्पूर्ण विश्व [भगवान् की सृष्टि] माया से ग्रस्त है। नाना प्रकार के दुःखों एवं भय से प्राणिमात्र आतुर है। इस अनित्य संसार के संतापों से चारो ओर लोग संतप्त हैं। काल रूपी सर्प द्वारा दिन-रात यह संसार ग्रसित है। यही देखकर

साधक को इस माया से विरक्त होकर अपने हित की कामना से सदैव, हे भामिनि ! उसे शुद्ध भाव से सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए। यद्यपि, जैसे घर-घर में दीप हैं, उसी प्रकार बहुत से गुरु संसार में हैं, किन्तु हे देवि ! सभी दीपकों को प्रकाश देने वाले सूर्य के समान गुरु दुर्लभ हैं। फिर शिष्यों के धन के लोलुप गुरुओं की तो कमी नहीं है। किन्तु शिष्य के चित्त के संताप का हरण करने वाले गुरु तो हे देवि ! विरले ही होते हैं ॥ ३-७ ॥

शुद्धान्वयः शुद्धचेत्ताः शद्धवेशः शुभाकृतिः ॥ ७ ॥

सद्गुरु के लक्षण

सद्गुरु शुद्ध जाति का ही वक्ता होता है। उसका चित्त [मोह, लोभ आदि दोषों से रहित] शुद्ध होता है, उसका वेश [चटक-मटक वाला न होकर] सादा होता है उसकी आकृति देखने में शुभ होती है ॥ ७ ॥

शुभवादी शुभाचारः शुद्धभावः शुचिः स्वयम्।
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो लोकसङ्गविवर्ज्जितः ॥ ८ ॥

वह शुभ वचनों का ही वक्ता होता है [अपशब्दों का प्रयोग वह कभी भी नहीं करता है]। वह शुभ आचारवान्, शुद्ध भावों वाला और स्वयं भी [क्रोध, मोह, लोभ आदि से रहित] शुद्ध होता है। वह वेद के एवं शास्त्रों के अर्थ के तत्त्व का ज्ञाता तथा लौकिक सङ्गतियों से रहित होता है ॥ ८ ॥

अलोलुपः सुशीलश्च दयादाक्षिण्यसंयुतः।
त्यागी विरागी गुणवान् गुणज्ञः शिष्यवत्सलः ॥ ९ ॥

सद्गुरु लोलुपता से रहित, सुशील, दया एवं दाक्षिण्य[1] [उदार] आदि गुणों से युक्त होता है। वह त्यागी, विरागी तथा गुणवान् और [अन्य लोगों के] गुणों का ज्ञाता तथा शिष्यों से स्नेह करने वाला होता है ॥ ९ ॥

येन केनापि सन्तुष्टः शरण्यः क्रोधवर्ज्जितः।
स्वसिद्धान्तार्थतत्त्वज्ञो मितवाक् लोकवल्लभः ॥ १० ॥

सद्गुरु जिस किसी से भी सन्तुष्ट हो जाने वाला, शरण देने वाला तथा क्रोध से रहित, अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अर्थ के मर्म का ज्ञाता, मितभाषी और सम्पूर्ण लोक का प्रिय होता है ॥ १० ॥

पवित्रः संशयच्छेत्ता कृष्णप्रेमपरिप्लुतः।
एवं विधं गुरुं ज्ञात्वा कृपापीयूषवर्षिणम् ॥ ११ ॥

---

१. उदार व्यक्ति कुछ भी दान करने में हिचकिचाता नहीं है।

फलपुष्पादिहस्तश्च गच्छेदभिमुखं गुरोः ।
गुरोर्मन्दिरमासाद्य नत्वा तद्देहलीं प्रिये ॥ १२ ॥
आज्ञया सद्गुरोर्देवि दक्षपाद पुरःसरम् ।
प्रविश्य तद्गृहं साक्षाद्दण्डवत्प्रणमेच्च[1] तम् ॥ १३ ॥

वह पवित्रात्मा, सन्देहों का निवारण करने वाला, तथा कृष्ण के प्रेम में मग्न रहने वाला होता है। इस प्रकार के कृपा रूपी अमृत की वर्षा करने वाले गुरु को जानकर उस गुरु के समीप [रिक्तहस्त न जाकर] फल एवं पुष्प आदि [माङ्गलिक द्रव्यों] से परिपूर्ण होकर जाए। हे प्रिये ! गुरु के घर पर पहुँचकर प्रथमतः उसके घर की देहली पर नमन करके सद्गुरु की आज्ञा से, हे देवि ! पहले दाहिना पैर आगे रखते हुए उस गृह में प्रवेश कर उनको साक्षात् दण्डवत् प्रणाम करे ॥ ११-१३ ॥

ओं नाथकरुणासिन्धो संसारार्णवतारक ।
भ्रान्तं संसारगहने नानातापसमाकुले ॥ १४ ॥
अत्यन्तदीनहृदयं सर्वसाधनवर्जितम् ।
अज्ञानपङ्कनिर्मग्नं मामुद्धर दयानिधे ॥ १५ ॥

हे स्वामी ! करुणा के सिन्धु ! हे संसार रूपी समुद्र से पार उतारने वाले ! इस संसार रूपी गहन वन में हम [विषयों में] भटके हुए हैं। यह संसार नाना प्रकार के दुःख रूप संताप से व्याकुल है। अतः, हे दया के निधान ! मुझ अत्यन्त दीन हृदय तथा सभी साधनों से रहित एवं अज्ञान रूपी कीचड़ में डूबे हुए मेरा इससे उद्धार करिए। इस प्रकार गुरु से प्रार्थना करना चाहिए ॥ १४-१५ ॥

अहं त्वां शरणं प्राप्तः शरण्यस्त्वं दयानिधिः ।
अविलम्बेन संसारविच्छेदं कुरु मे प्रभो ॥ १६ ॥

मैं अब आपकी शरण में आ गया हूँ और अब आप दया के निधान मेरे शरण दाता हैं। हे प्रभो ! आप अविलम्ब मेरे सांसारिक दुःखों का विच्छेद करिए ॥ १६ ॥

एवं सम्प्रार्थितः सोऽथ गुरुनाथः कृपानिधिः ।
पूर्वं परीक्षितं विप्रं वर्षेणैकेन सुन्दरि ॥ १७ ॥

इस प्रकार से प्रार्थना करने वाले ब्राह्मण साधक की, हे सुन्दरि ! पहले एक वर्ष तक वे कृपा के निधान गुरु परीक्षा करें ॥ १७ ॥

---

१. 'तत्' इत्यपि पाठः ।

वर्षाभ्यां क्षत्रियं देवि वैश्यं संवत्सरैस्त्रिभिः ।
चतुर्भिर्वत्सरैः शूद्रं बोधयेद्विरहातुरम् ॥ १८ ॥

यदि प्रार्थना करने वाला साधक क्षत्रिय हो तो दो वर्ष तक और हे देवि ! यदि वैश्य हो तो तीन वर्ष तक और यदि शूद्र हो तो चार वर्षों तक उस विरह से आतुर साधक को उद्बोधित करे ॥ १८ ॥

यदिचेद्वासनाजीवस्तदा बोध्यश्च सर्वथा ।
स्वाप्निकश्चेत्तदा त्याज्यः अधिकारविपर्ययात् ॥ १९ ॥

यदि साधक अधिक वासना युक्त हो तो ज्ञान द्वारा उसका सर्वथा उद्बोधन करना चाहिए । यदि वह स्वप्निक [दिन में स्वप्न देखने वाला] जीव होवे तो अधिकारी न होने से उसका त्याग कर देना चाहिए ॥ १९ ॥

परीक्षा लक्षणैर्देवि पुरा प्रोक्ता मयानघे ।
अपरीक्षितजीवाय वितरेद्यदि बोधनम् ॥ २० ॥

न गुरुं तं विजानीयात् वासनापि न सा भवेत् ।
शिष्येभ्यो धनमादाय सुखीस्यामिति यस्य धीः ॥ २१ ॥

हे अनघे (निष्पाप) देवि ! मेरे द्वारा पहले परीक्षा के लक्षणों का विवेचन कर दिया गया है । बिना परीक्षा किए हुए साधक को यदि गुरु उद्बोधित करने लगे तो उसे कभी भी गुरु नहीं समझना चाहिए । उस गुरु की मनोकामना भी ठीक नहीं होती है । केवल शिष्यों से धन लेकर 'मैं सुखी हो जाऊँ'–ऐसी ही उसकी बुद्धि होती है ॥ २०-२१ ॥

न गुरुं तं विजानीयात् केवलं धूर्त एव सः ।
धनाहारार्जने युक्ता दाम्भिका वेषधारिणः ॥ २२ ॥

ऐसे [धन लोभी] को कभी भी गुरु नहीं बनना चाहिए वह तो केवल धूर्त ही होता है । ऐसे व्यक्ति धन के अपहरण करने में आसक्त और [मात्र गुरु का] वेष धारण करने वाले दम्भी पुरुष होते हैं ॥ २२ ॥

भ्रामयन्ति जनान् सर्वान् ज्ञानिवत्प्रियदर्शनाः ।
शिष्येणापि गुरुर्देवि परीक्ष्यः सर्वथैव हि ॥ २३ ॥

ज्ञानी के समान प्रिय दिखलाई देने वाले वे सभी लोगों को भ्रमित करते रहते हैं । अतः हे देवि ! शिष्य के द्वारा भी सम्यक् रूप से गुरु की परीक्षा करनी चाहिए ॥ २३ ॥

यद्यज्ञानवशात् शिष्यो गुरुं लक्षणवर्जितम् ।
जानीयात्तत्क्षणं त्यक्त्वा गुरुमन्यं समाश्रयेत् ।। २४ ।।

यदि अज्ञान के कारण शिष्य गुरु को अपेक्षित लक्षणों से रहित जान ले तो तत्काल ही उसका त्याग करके अन्य गुरु की शरण में जाना चाहिए ।। २४ ।।

गन्धलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ।। २५ ।।

सुगन्ध का लोभी भ्रमर जैसे एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता रहता है उसी प्रकार ज्ञान के लोभी शिष्य को एक गुरु को छोड़कर दूसरे गुरु के पास निःसंकोच चले जाना चाहिए ।। २५ ।।

त्यजेन्मित्रममर्मज्ञं नारीं च व्यभिचारिणीम् ।
अहन्तादुष्टसम्बन्धं ज्ञानहीनं गुरुं त्यजेत् ।। २६ ।।

मर्म को न समझने वाले मित्र को तथा व्यभिचारिणी नारी को छोड़ देना चाहिए । अहंकारी दुष्ट से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानहीन गुरु का तत्क्षण त्याग कर देना चाहिए ।। २६ ।।

नदत्सु पञ्चवाद्येषु ब्राह्मणेषु पठत्सु च ।
गायन्तीषु तथा स्त्रीषु शिष्यं सम्बोधयेद् गुरुः ।। २७ ।।

दीक्षा की विधि—

पाँच प्रकार के वाद्य के बजते रहने पर, ब्राह्मणों के [वेद] पाठ करते रहने पर तथा स्त्रियों के गायन में संलग्न रहने पर गुरु को चाहिए कि शिष्य को सम्बोधित करे [इससे शिष्य के मन की एकाग्रता की परीक्षा होती है] ।। २७ ।।

आदौ शिष्यस्य देहं तु शोधयेन्निपुणो गुरुः ।
असंस्कृतशरीरस्तु न योग्यः स्यात्कथंचन ।। २८ ।।

इस प्रकार निपुण गुरु पहले शिष्य के शरीर का शोधन करे । क्योंकि अशुद्ध एवं असंस्कृत (=संस्कार रहित) शरीर कभी भी तत्त्वज्ञान के योग्य नहीं होता ।। २८ ।।

कृतस्नानं समाहूय मुखाग्रे स्थापयेच्च तम् ।
शुभासनश्वेतवस्त्रवसानं मलवर्जितम् ।। २९ ।।

स्नान किए हुए भक्त साधक को बुलाकर उसको सम्मुख स्थापित करे । शुभ आसन और निर्मल श्वेत वस्त्र उसे पहने रहना चाहिए ।। २९ ।।

बोधयेत्तद्धृदाम्भोजे प्रदीपकलिकाकृतिः ।
आत्मचैतन्यमीशानि तच्च स्वात्मनि योजयेत् ॥ ३० ॥

उसके हृत्कमल में खिली हुई कलिका की आकृति वाले आत्म चैतन्य को उद्बोधित करना चाहिए और हे ईशानि ! उसे अपने (हृत्कमल से) संयुक्त भी करे ॥ ३० ॥

ततोऽस्यपदयुगले भुवनानि चतुर्दश ।
लिङ्गप्रदेशेऽस्य भूतानि चिन्तयेत्परमेश्वरि ॥ ३१ ॥

इसके बाद इसके दोनों चरणों में चौदहों भुवनों का और लिंग प्रदेश में सभी भूतों का, हे परमेश्वरि ! उसे चिन्तन करना चाहिय ॥ ३१ ॥

अवशिष्टानि तत्त्वानि चिन्तयेद्धृदयाम्बुजे ।
कण्ठदेशे नादबिन्दुगुणांश्च परिचिन्तयेत् ॥ ३२ ॥

अवशिष्ट तत्त्वों का चिन्तन उसके हृत्कमल में उसे करना चाहिए और कण्ठ प्रदेश में [ॐ के] नाद एवं बिन्दु तथा गुणों का चिन्तन करना चाहिए ॥ ३२ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे पर ब्रह्म पुरुषं प्रकृतीश्वरम् ।
एवं संचिन्त्य देवेशि जुहुयात्तान्यनुक्रमात् ॥ ३३ ॥

प्रकृति के ईश्वर पुरुष का और परब्रह्म का चिन्तन उसे ब्रह्मरन्ध्र में करना चाहिए । इस प्रकार से, हे देवेशि ! उन-उन तत्त्वों का चिन्तन करके क्रमानुसार यजन करे ॥ ३३ ॥

जुहुयाल्लिङ्गदेशेस्य भुवनानि चतुर्दश ।
लिङ्गदेशस्थभूतानि हृदितत्वेषु होमयेत् ॥ ३४ ॥

चतुर्दश भुवनों का इसके लिङ्ग देश में यजन करे । किन्तु लिङ्गदेशस्थ भूतों का हवन हृदय के तत्त्वों में करना चाहिए ॥ ३४ ॥

[1]हृदयस्थानि तत्वानि बिन्दुनादे च ह्यर्पयेत् ।
ब्रह्मरन्ध्रे चिते देवि परब्रह्मणि निष्कले ॥ ३५ ॥

हृदयस्थ तत्त्वों को बिन्दु और नाद (ॐ) में अर्पण करे । हे देवि ! निष्फल परब्रह्म को ब्रह्मरन्ध्र तथा चित्त में अर्पित करे ॥ ३५ ॥

नादबिन्दुगुणान् हुत्वा प्रपञ्चविलयं स्मरेत् ।
निष्प्रपञ्चं तदा शिष्य बोधयेत्परमेश्वरि ॥ ३६ ॥

---

१. 'हृदये यानि' इति वा पाठः ।

इस प्रकार नाद, बिन्दु एवं गुणों का हवन करके सभी प्रपञ्च का अब [इसी शरीर में] विलय हो गया है यह भावना करे। तब, हे परमेश्वरि ! उस निष्प्रपञ्च शिष्य को [शुद्ध करके] उद्बोधित करे ॥ ३६ ॥

न वर्णेषु तदा कश्चित् ब्राह्मणक्षत्रियादिषु ।
न देवोऽसि न गन्धर्वो नासुरः पन्नगोऽपि वा ॥ ३७ ॥
न त्वं देहो न त्वद्देहो नेन्द्रियाणि तथा मनः ।
न च प्राणो न बुद्धिस्त्व नाहङ्कारो भवान्मतः ॥ ३८ ॥
क्षरः सर्वप्रपञ्चोऽयमक्षरे प्रतिबिम्बतः ।
अक्षरस्य दिदृक्षाभूद् ब्रह्मलीलावलोकने ॥ ३९ ॥
तत्प्रियायाऽभवत्कामोऽक्षरलीलानिरीक्षणे ।
तत इच्छा समुद्भूता ब्रह्मण्यज्ञानमसृजत् ॥ ४० ॥

उद्बोधन प्रक्रिया—

वह [निष्प्रपञ्च शिष्य] ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि वर्णों में से कोई भी नही है। [उसकी आत्मा तो परमात्मा से एकीकृत है। अतः गुरु उससे कहे कि] न तो तुम देव हो, न गन्धर्व, न असुर अथवा सर्प भी तुम नहीं हो। न तुम शरीर हो और न तो तुमसे शरीर है और इन्द्रियाँ या मन भी तुमसे [उद्भूत] नहीं हैं। न तो तुम प्राण हो, न तुम बुद्धि हो और न अहङ्कार ही हो। यह सम्पूर्ण [इन्द्रिय, मन आदि] प्रपञ्च क्षर [विनाशी] है जो अक्षर [अविनाशी रूप] में प्रतिबिम्बित होता है [अर्थात् सत्य रूप से प्रतिभाषित होता है किन्तु है वह असत्य]। वह जो अक्षर (अविनाशी आत्मा) है उसकी यह इच्छा होती है कि मैं ब्रह्म की लीला (रूप असत्य ससार) का अवलोकन करुँ। उस अक्षर (ब्रह्म) की लीला के निरीक्षण में उस (आत्मा) का प्रिय काम उत्पन्न होता है। उस (काम) से इच्छा उत्पन्न होती है जो ब्रह्म (रूप शरीर) में अज्ञान का सृजन करती है ॥ ३७-४० ॥

मोहाण्डं प्रविशन् साक्षी ददर्श स्वप्नगं जगत् ।
तत्र बृन्दावने रासलीलायां रमिता प्रिया ॥ ४१ ॥
अन्तर्हिते प्रिये कृष्णे दुःखाद्दुःखतरं गता ।
कालमायान्धकारोऽस्मिन् भ्रान्तासि बहुधा मुधा ॥ ४२ ॥
श्रीकृष्णस्य प्रिया चासि पूर्णस्य परमात्मनः ।
उद्बुध्य स्वप्नतश्चित्ते प्रियाभावं निजं श्रय ॥ ४३ ॥
[1]तिरोभूय च शनकैर्मायादेहमनीप्सितम् ।
क्षरं चैवाक्षरं हित्वा स्वपतिं पुनरेष्यसि ॥ ४४ ॥

---

१. तिरोभवित्री शनकैर्मायादेहमित्यपि पाठः ।

वह (ब्रह्म रूप आत्मा) मोह के (शरीर रूप) अण्ड में प्रविष्ट होकर साक्षी रूप से इस स्वप्निल संसार को देखती रहती है। वहाँ वृन्दावन में रास-लीला में रमी हुई प्रिया प्रिय कृष्ण के छिप जाने (अन्तर्हित हो जाने) से वह (आत्मा) दुःख से भी दुःखतर संसार में पड़ जाती है। वह इस काल रूप माया के अन्धकार (रूप जगत्) में बारम्बार असत्य रूप से भ्रमित होती रहती है। (अतः गुरु कहते है कि) तुम पूर्ण आत्मा पूर्ण परमात्मा श्री कृष्ण की प्रिया हो। अतः तुम स्वप्न से जग कर उठो और अपने प्रिया भाव को पुनः प्राप्त करो। इस (असत्य संसार) को धीरे-धीरे भूलकर तुम बेकार में इस माया रूप देह में पड़े हो। अतः अक्षर (ब्रह्म रूप आत्मा) क्षर (शरीर) को छोड़कर पुनः अपने स्वामी परमात्मा को प्राप्त करेगा ॥ ४१-४४ ॥

[1]ब्रह्मानन्दरसज्ञानां ब्रह्मज्ञानवतां सताम्।
पद्धतिं ब्रह्मसृष्टीनां वक्ष्यामि शृणु सुन्दरि ॥ ४५ ॥

[अब साधक के लिए पुरुषोत्तम-पद्धति को कहते हैं। शिष्य अब मन में निम्न प्रकार से सद्गुरु में ही ब्रह्म की भावना करे]

ब्रह्मानन्द रस के ज्ञाताओं के लिए और सज्जन ब्रह्मज्ञानियों के लिए ब्रह्म से सृष्ट पद्धति को कहता हूँ, हे सुन्दरि! सुनो ॥ ४५ ॥

गोत्रमुक्तं चिदानन्दं ब्रह्मानन्दो हि सद्गुरुः।
शिखा ज्ञानमयो प्रोक्ता सूत्रमक्षररूपकम् ॥ ४६ ॥

चिदानन्द की पहचान हमने बताई है। वस्तुतः सद्गुरु ही ब्रह्मानन्द स्वरूप है। उनकी शिखा (=ऊँचाई) ज्ञानमय कही गई है। उनका सूत्र अक्षर रूप [परब्रह्म] है ॥ ४६ ॥

किशोरी परमेष्टा च सेवनं पौरुषोत्तमम्।
पातिव्रत्यमनन्यत्वं साधनं समुदाहृतम् ॥ ४७ ॥

किशोरी [राधाजी]. परम ईष्ट का सेवन और पुरुषोत्तमत्व भाव पातिव्रत्य [ब्रह्मचर्य] और अनन्यत्व दूसरे में आसक्ति न होना ही [ज्ञानमार्ग का] साधन कहा गया है ॥ ४७ ॥

वृन्दावनं नित्यमुक्तं विलाससुखसञ्ज्ञकम्।
जाप्यं च युगलं नाम तारतम्यो (म्यो) मनुः स्मृतः ॥ ४८ ॥

---

१. क्वचित्पुस्तके ४४-५५ श्लोकयोर्मध्ये एते ४५-५४ श्लोका नोपलभ्यन्ते।

विलास-सुख नामक वृन्दावन नित्य कहा गया है। [राधा-कृष्ण का] युगल नाम तारतम्य पूर्वक जप करना ही मन्त्र कहा गया है ॥ ४८ ॥

ब्रह्मविद्या परा देवी देवो ब्रह्म सनातनम् ।
शाला गोलाक इत्युक्तो द्वारमूर्ध्वमुदाहृतम् ॥ ४९ ॥

हे देवि ! ब्रह्मविद्या ही परा [विद्या] है और ब्रह्म ही सनातन [=शाश्वत] है। गोलोक ही इस [परब्रह्म का] गृह [=शाला] कहा गया है। [ब्रह्म के घर] का द्वार ऊर्ध्व बतलाया गया है ॥ ४९ ॥

[1]स्वसंवेदः समादिष्टः फलं नित्यविहारकम् ।
दिव्यब्रह्मपुरं धाम परात्परमुदाहृतम् ॥ ५० ॥

आत्मसाक्षात्कार और नित्य [लीला] में विहार ही इस ब्रह्मविद्या का फल कहा है। दिव्य एवं परात्पर ब्रह्मपुर को ही इस [विद्या] का धाम कहा गया है ॥ ५० ॥

सद्गुरोश्चरणं क्षेत्रं सर्वशुद्धिकरं परम् ।
यमुनासञ्ज्ञकं तीर्थं मननं प्रेमलक्षणम् ॥ ५१ ॥

सद्गुरु का चरण ही इस ज्ञान का क्षेत्र है जो सभी [इन्द्रियों] को शुद्ध करने वाला एवं श्रेष्ठ है। इस ज्ञान का तीर्थ [घाट] यमुना नामक है। प्रेम रूप भावना ही मनन है ॥ ५१ ॥

श्रीमद्भागवतं प्रोक्तं श्रवणं सारमद्भुतम् ।
ऋषिः प्रोक्तो महाविष्णुर्ज्ञानं जाग्रत्स्वरूपकम् ॥ ५२ ॥

यह ज्ञान श्रीमद्भागवत प्रोक्त है। इसके सार का श्रवण अद्भुत है। यही ऋषिप्रोक्त महाविष्णु का ज्ञान जाग्रत् स्वरूप है जिसे शिष्य को ग्रहण करना चाहिए ॥ ५२ ॥

आनन्दाख्यं कुलं प्राप्तं नित्ये धाम्नि प्रकीर्तितम् ।
सम्प्रदायश्चिदानन्दो निजानन्दैः प्रकाशितः ॥ ५३ ॥

वह शिष्य आनन्दाख्य शरीर को प्राप्त करता है और यह नित्य धाम में रहता है। अपने ही [आत्मसाक्षात्कार से] आनन्द के द्वारा यह चिदानन्द सम्प्रदाय को प्रकाशित करता है ॥ ५३ ॥

एवं पद्धतिराख्याता पुरुषोत्तमसञ्ज्ञका ।
वर्तितव्यं ततो भद्रे साधनैरात्मलब्धये ॥ ५४ ॥

---

१. सुसंवेदः, सूक्ष्मो वेदः, इत्यपि पाठः। स्वसंवेद्यः' इत्यपि कश्चित् ।

इस प्रकार यह [ज्ञान प्राप्त करने की] पुरुषोत्तम नामक पद्धति विद्वानों द्वारा कही गई है। इसलिए हे कल्याणि ! आत्मसाक्षात्कार [जहाँ से आत्मा आई है उस परम धाम का ज्ञान] इन साधनों से साधक को जान लेना चाहिए ॥ ५४ ॥

प्रबोध्यैवं गुरुस्तस्मिन् चैतन्यं परमेश्वरि।
दिव्यदृष्टयावलोकेन स्थापयेत्पुनरेव तत् ॥ ५५ ॥

हे परमेश्वरि ! इस प्रकार से गुरु उस शिष्य में [आत्मा के] के चैतन्य को जगाता है। इस दिव्य दृष्टि के अवलोकन द्वारा वह पुनः उस [आत्मा] का [अपने सत्यरूप में जागृत कर] स्थापित करे ॥ ५५ ॥

ब्रह्मरन्ध्रपथा तस्मिन् चावतीर्णं इति स्मरन्।
कण्ठदेशे नादबिन्दू स्थापयेच्च ततः परम् ॥ ५६ ॥

यह स्मरण करे कि वह ब्रह्मज्ञान उसके ब्रह्मरन्ध्र [=शिर में शिखा स्थान पर एक रन्ध्र] से उसमें अवतीर्ण हो गया है। तब उसके बाद कण्ठ प्रदेश में नाद एवं बिन्दु [=ॐ] को साधक [हृत्कमल में] स्थापित करे ॥ ५६ ॥

तत्वानि हृदयाम्भोजे लिङ्गे भूतानि पञ्च च।
ततः पादप्रदेशे तु स्थापयेद्भुवनावलिम् ॥ ५७ ॥

[अपने] हृत्कमल में सभी तत्त्वों को और पञ्चभूतों को लिङ्ग में स्थापित करे। उसके बाद [अपने] पाद प्रदेश में [चौदहों] भुवनों की शृङ्खला को स्थापित करे ॥ ५७ ॥

एवं विराजं संस्कृत्य ततो मन्त्रं समादिशेत्।
मन्त्रोपदेशतः पूर्वं गुरुं सम्पूजयेत्प्रिये ॥ ५८ ॥

इस प्रकार शरीर [के आध्यात्मिक सौन्दर्य] को संस्कृत [सजा] कर तब मन्त्र का उपदेश करे। हे प्रिये ! मन्त्रोपदेश से पहले गुरु की पूजा करनी चाहिए ॥ ५८ ॥

सर्वस्वदक्षिणां दत्वा कृतकृत्यो भवेद्धि सः।
तदर्द्धं वा तदर्धं वा तदर्द्धार्द्धमथापि वा ॥ ५९ ॥

वह साधक इस गुरु पूजा में अपना सर्वस्व देकर कृतकृत्य होवे। या अपने धन का आधा अथवा उस [आधे] का भी आधा, किंवा उस आधे का भी आधा गुरु को समर्पित करे ॥ ५९ ॥

सन्तोषयेद् गुरुं भक्त्या धनधान्याम्बरादिभिः।
अन्येभ्योऽपि यथाशक्ति भूषावस्त्रादिक ददेत् ॥ ६० ॥

भक्ति पूर्वक गुरु को धन, धान्य एवं वस्त्र आदि से सन्तुष्ट करे। यथाशक्ति अन्य द्रव्य आभूषण एवं वस्त्र आदि भी उसे समर्पित करे ॥ ६० ॥

साष्टाङ्गं च ततो देवि ! दण्डवत्पतितो भुवि ।
प्रणमेद् गुरुमात्मीयं गुरुरुत्थापयेच्च तम् ॥ ६१ ॥

हे देवि ! इसके बाद पृथ्वी पर गिरकर अपने गुरु को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे और गुरु उसे उठावे ॥ ६१ ॥

उपवेश्य पुनः पार्श्वे लीलाभेदान् समादिशेत् ।
लीलाभेदा गुरुमुखाद्बोद्धव्या एव सुन्दरि ॥ ६२ ॥

पुनः अपने पास बैठाकर कृष्ण के लीला-भेदों का उसे उपदेश करे। हे सुन्दरि ! भगवान् कृष्ण की [रक्षा लीला, प्रेमलीला आदि] लीला भेदों को गुरुमुख से ही जानना चाहिए ॥ ६२ ॥

ततो रहो रहश्चैव संस्थितो भावयेच्च तान् ।
प्रियाभावो यदा बुद्धेः कृतकृत्यो भवेत्तदा ॥ ६३ ॥

इसके बाद एकान्त में शान्त होकर संस्थित चित्त से उन लीलाओं की मन में भावना [=चिन्तन] करे। जब [प्रेमलीला का चिन्तन करते-करते] बुद्धि में प्रिया का भाव जाग्रत हो जाय, तब अपने को कृत-कृत्य समझे ॥ ६३ ॥

इति तेऽभिहितं देवि गोप्याद्गोप्यतरं च यत् ।
समासेन महादेवि ! भूयः किं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६४ ॥

॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती-
संवादे अष्टाविंशतितमं पटलम् ॥ २८ ॥

———

हे देवि ! इस गुप्त से भी गुप्त ज्ञान को संक्षेप में मैंने तुमसे कहा है। हे महादेवि ! तुम फिर क्या सुनना चाहती हो ? ॥ ६४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के अट्ठाईसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीयकृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २८ ॥

———

अथ एकोनत्रिंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

ब्रूहि तं च महेशान् मन्त्रराजं महेश्वर।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वमन्त्रफलं भवेत् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे महेशान, हे महेश्वर उस मन्त्रराज को आप हमसे कहें जिनके श्रवणमात्र से ही सभी मन्त्रों का फल प्राप्त हो जाय ॥ १ ॥

श्रीमहादेव उवाच—

देवेशि मन्त्रराजोऽयं भाति गोप्यतरो महान्।
पातकानि प्रलीयन्ते सकृद्यस्य जपादपि ॥ २ ॥

श्री महादेव ने कहा—

हे देवेशि, यह मन्त्रराज अत्यन्त गोपनीय और महान् है। जिसका एक बार भी जप कर लेने से अनेक पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

सप्तकोटिमहामन्त्रास्तवाग्रे कथिता मया।
तेषु श्रीकृष्णमन्त्राश्च बहवः कीर्तितास्तव ॥ ३ ॥

मेरे द्वारा सात कोटि महामन्त्र तुम्हारे सामने कहे गए। उनमें से श्रीकृष्ण के मन्त्रों का तुमने वहुत प्रकार से यश कीर्तित किया है ॥ ३ ॥

रासलीलाप्रविष्टस्य[1] पुरा गोपालरूपिणः।
प्रोक्ता मन्त्रा महेशानि तत्रायं गोपितो मया ॥ ४ ॥
रहस्यत्वान्मया नोक्तः पुनस्तं परिपृच्छसि।
त्वयापि गोपितव्योऽयं न देयः स्यात्कथञ्चन ॥ ५ ॥

गोपाल रूप में पहले रासलीला में प्रविष्ट गोपाल के मन्त्रों को, हे महेशानि ! हमने कहा जो मेरे द्वारा वहाँ छिपाया गया था। मैंने गोपनीय होने से उसे नहीं कहा था। उसे पुनः तुम पूँछ रही हो। अतः तुम्हें भी उसका गोपन करना चाहिए। किसी भी प्रकार से इसे किसी को नहीं देना चाहिए ॥ ४-५ ॥

---

१. 'मया' इ० पा०।

लेखयित्वा ददेन्मन्त्रं न वाचोपदिशेत्प्रिये ।
ब्रह्महत्यासहस्राणां दत्त्वा पापमवाप्नुयात् ॥ ६ ॥

[यदि किसी को देना भी हो तो] लिखकर ही मन्त्र को दे दे। किन्तु हे प्रिये ! वाणी से उसका उपदेश न करे। देने से वह सहस्र ब्रह्महत्या के पाप को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

निर्धारत्वे वासनाया यदि प्रेमोद्गमो भवेत् ।
तदैवोपदिशेद्देवि ह्यन्यथा कृष्णघातकः ॥ ७ ॥

उत्कट वासना का यदि प्रेमोद्गम होवे तो हे देवि ! तभी [वाणी से] उपदेश करे। नहीं तो उपदेश करने वाला कृष्णघातक ही होता है ॥ ७ ॥

विधिः सर्वोऽपि कर्त्तव्यो मन्त्रदानं विना प्रिये ।
ततः[1] परीक्षिते काले योग्यत्वे मन्त्रमादिशेत् ॥ ८ ॥

मन्त्रदान की सम्पूर्ण विधि भी करे। हे प्रिये ! फिर समय की परीक्षा करके योग्य व्यक्ति को ही मन्त्र का उपदेश करे ॥ ८ ॥

शृणु मन्त्रं प्रवक्ष्यामि सावधानेन चेतसा ।
स्वर[2] आद्यश्चतुर्थश्च आकाशस्तदनन्तरम् ॥ ९ ॥
वायुबीजं ततः पश्चात् अग्निबीजमतः परम् ।
ततो वरुणबीजञ्च भूबीजं स्यात्ततः परम् ॥ १० ॥

सावधान चित्त से सुनो, अब मैं मन्त्र कहता हूँ—पहला स्वर (आ) और चतुर्थ स्वर (ई) अक्षर स्वर है। इसके बाद आकाश है। इस प्रकार 'आकाशोऽहम्' यह (व्योमबीज) है। उसके बाद वायुबीज है, उसके बाद अग्निबीज है। उसके बाद वरुणबीज है। उसके बाद भू बीज है ॥ ९-१० ॥

श्रीकृष्ण परमानन्द ते प्रियास्मीति वै वदेत् ।
मामङ्गीकुर्विति चोक्त्वा दर्शयेति द्वयं वदेत् ॥ ११ ॥

'हे श्रीकृष्ण ! परम आनन्द को देने वाले ! मैं आपको प्रिया हूँ' इस प्रकार कहे। 'मुझे अङ्गीकार करो' इस प्रकार कहकर दर्शय दर्शय' 'दिखाओ दिखाओ' ऐसा दो बार कहे ॥ ११ ॥

---

१. 'परिणते' इ० पा० ।

२. आद्यः स्वरोऽकारः, चतुर्थश्च दीर्घ इकारोऽर्धमात्रबिन्दुयोगेन, आकाशोऽहमिति व्योमबीजम् ।

प्रबोधयेति द्वितीयं मोहेति च ततो वदेत् ।
मपाकुरुद्वयं चोक्त्वा नमोन्तोऽयं महामनुः ॥ १२ ॥

इसके द्वितीय शब्द प्रबोधय 'जगाओ' और इसके बाद 'मेरे मोह को हटाओ' इस प्रकार कहकर 'आपको नमस्कार है'—ऐसा अन्त मे कहे ॥ १२ ॥

एकोनैकोनपञ्चाशद्वर्णैः सङ्घटितः प्रिये ।
आद्यबीजं महेशानि परमात्माक्षरः प्रभुः ॥ १३ ॥

हे प्रिये ! हे महेशानि ! परमात्मा अक्षर प्रभु के आद्य बीज को ४९-४९ वर्णों से संघटित करके कहे ॥ १३ ॥

तस्मात्सृष्टिर्वर्णमयी हकारान्ताविजृम्भिता ।
प्रतिलोमलये तस्याः स एव परिशिष्यते ॥ १४ ॥

इसीलिए यह सृष्टि अन्त में हकार से विजृम्भित वर्णमय कही गई है । उस सृष्टि के प्रतिलोम लय के बाद वही शेष रहता है ॥ १४ ॥

अनन्तत्वादात्मतत्त्वाद् व्यापकत्वान्महेश्वरि ।
न तस्यास्ति लयः क्वापि वर्णानामात्मनः प्रिये ॥ १५ ॥

हे महेश्वरि ! आत्म तत्त्व के व्यापक और अनन्त होने से उस वर्णात्मक आत्मा का लय कभी भी, हे प्रिये ! नहीं होता है ॥ १५ ॥

स्वरश्चतुर्थस्तन्माया ह्यूपर्यङ्कुरतां गता ।
ततो ज्ञानहरा देवि जाता सा विश्वमोहिनी ॥ १६ ॥

जो चतुर्थस्वर (ई) है वह माया है क्योंकि ऊपर में वही अङ्कुरत्व को प्राप्त होती है । वह माया, फिर, हे देवि ! ज्ञान को हर लेने वाली होती है और वही विश्व को मोह लेती है ॥ १६ ॥

मध्यबिन्दुसमायोगाच्छून्यरूपा हि साभवत् ।
शून्यत्वेधस्तना रेखा जगदङ्कुररूपिणी ॥ १७ ॥

किन्तु वह मध्य बिन्दु के समायोग से शून्य रूप हो जाती है । जगत्-अङ्कुर रूप से यही शून्यत्व अधस्तना रेखा है ॥ १७ ॥

अर्द्धबिन्दुसमायोगाद्योगमायात्मिका हि सा ।
एवं त्रितययोगेन ज्ञेयं तस्या गुणत्रयम् ॥ १८ ॥

वही माया अर्धबिन्दु के समायोग से योगमायात्मिका-माया हो जाती है । इस प्रकार तीनों के योग से उसे गुणत्रय वाली जानना चाहिए ॥ १८ ॥

प्रतिबिम्बवदाभासं[1] निर्मले परमात्मनि ।
यदा समरसाकारा विश्वयोनिस्तदा हि सा ॥ १९ ॥

निर्मल परमात्मा में वह प्रतिबिम्ब के समान आभासित होती है। जब वह 'सम-रस' आकार वाली होती है, तब वह विश्व को उत्पन्न करने वाली होती है ॥ १९ ॥

कोणत्रयसमायोगा ब्रह्मादित्रितयात्मिका ।
लोकत्रयात्मिका चैव तथा वेदत्रयात्मिका ॥ २० ॥

कोणत्रय के समायोग से वह ब्रह्मादि रूप से त्रयात्मिका, लोक त्रयात्मिका तथा वेदत्रयात्मिका है ॥ २० ॥

इच्छाज्ञानक्रियात्मा च कालत्रितयरूपिणी ।
अग्निसोमार्करूपा[2] च सर्वत्रितयरूपिणी ॥ २१ ॥

इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक रूप से वह कालत्रयरूपिणी है। वही अग्नि, चन्द्र और सूर्य रूप होने से सम्पूर्ण रूप से त्रयात्मिका है ॥ २१ ॥

अधोमुखा हि सा ज्ञेयावतरन्ती परात्मनः ।
यदा चोऽर्ध्वमुखी भूयाद्वह्निज्वालेव सा लये ॥ २२ ।

परम आत्मा से जब वह अवतरित होती है तो उसे अधोमुख जानना चाहिए और जब वह ऊर्ध्वमुखी होए तो प्रलय की अग्नि की ज्वाला के समान होती है ॥ २२ ॥

शून्यत्वेऽधस्तना रेखा जगदङ्कुररूपिणी ।
यदेव च महत्तत्त्वमित्याहुस्तन्त्रवादिनः ॥ २३ ॥
अहङ्कारस्तु रेखान्तस्तद्गुणोपाधिसङ्गतः ।
त्रिविधः स तु विज्ञेयस्तस्माद्भूतानि जज्ञिरे ॥ २४ ॥

शून्य में वह जगदङ्कुर रूप से अधस्तन रेखा होती है। तन्त्र के ज्ञाता विद्वान् उसी को 'महत्-तत्त्व' कहते हैं और उसकी गुणोपाधि से सङ्गत होकर रेखा के अन्तस्तल में विद्यमान होने से उसे 'अहङ्कार कहते हैं। इस प्रकार वह त्रिविध रूप से जानी जाती है। जिससे समस्त प्राणजात की उत्पत्ति होती है ॥ २३-२४ ॥

तद्वाचकान्यक्षराणि हकारादीनि पञ्च च ।
पुरतस्तानि दृश्यन्ते मन्त्रराजे महेश्वरि ॥ २५ ॥

---

१. 'भात' इ० पा० ।
२. 'अग्निष्टामार्क' इ० पा० ।

उसके वाचक हकार आदि (ह य व र ल) पाँच अक्षर होते हैं। उस मन्त्रराज के सामने, हे महेश्वरि वे रहते हैं ॥ २५ ॥

आकाशस्तु हकारस्थो देवता तु सदाशिवः।
गुणः शब्दस्तथा श्रोत्रं श्रोतव्या दिक् च सुन्दरि ॥ २६ ॥

आकाश हकारस्थ हैं और देवता सदाशिव हैं उसका गुण शब्द है और हे सुन्दरि ! उसे कानों से और दिशाओं में सुना जाता है ॥ २६ ॥

यकारे देवदेवेशि वायुरीश्वर एव च।
स्पर्शस्त्वगिन्द्रियं देवि स्पृष्टव्यं च महीरुहम् ॥ २७ ॥

हे देवदेवेशि ! यकार वायु है जो ईश्वर ही है। हे देवि ! स्पर्श त्वक् इन्द्रिय है जो वृक्षों के हिलने डुलने रूप स्पर्श से जाना जाता है ॥ २७ ॥

रकारेऽग्निरह देवि रूपं चक्षू रविस्तथा।
दृष्टव्यं चेति विज्ञेयं मञ्जूषामणिवत्तथा ॥ २८ ॥

और, मैं रकार रूप अग्नि हूँ। हे देवि रूप को जानने के लिए चक्षु इन्द्रिय सूर्य हैं। मञ्जूषामणि के समान इस इन्द्रिय से जानना चाहिए और देखना चाहिए ॥ २८ ॥

वकारे सलिलं विष्णु रसश्च रसनेन्द्रियम्।
रसितव्यं च वरुणो देवता चेति संस्थिता ॥ २९ ॥

वकार जलरूप है और विष्णु भगवान् रस रूप है जिन्हें रसनेन्द्रिय से जानना चाहिए और उसके देवता वरुण हैं ॥ २९ ॥

लकारे पृथिवीतत्वं ब्रह्मा गन्धश्च नासिका।
घ्रातव्यमश्विनौ देवि देवता चेति संस्थिता ॥ ३० ॥

लकार में पृथ्वी तत्त्व ब्रह्मा रूप से विद्यमान है और नासिका में वह गन्ध से सूँघकर जाना जाता है। हे देवि ! अश्विन द्वय उनके देवता हैं ॥ ३० ॥

इत्येवं पञ्चभूतानां बीजकार्यं तदीश्वरि[1]।
सदृशं[2] कथितं ते च यदाहुः क्षरसञ्ज्ञया ॥ ३१ ॥

इस प्रकार बीजरूप पञ्चभूतों के वही कार्य होते हैं। हे ईश्वरि ! उन्हीं को तुमसे हमने कहा है। जिसे विद्वत्जन 'अक्षर' नाम से सदृश अभिहित करते हैं ॥ ३१ ॥

अकारः परमं ब्रह्म कूटस्थं व्यापकं ध्रुवम्।
अनुत्तरं निर्विशेषं चिदंशस्तेन कथ्यते ॥ ३२ ॥

---

१. 'बीजोऽयं कार्यमीश्वरि' इ० पा०।

२. 'कथितस्तेन यमाहुःक्षरसंज्ञया' इ० पा०।

अक्षरातीतरूपोऽसौ शेषवर्णैर्मनुः स्मृतः ।
तस्मादहो सच्चिदानन्दरूपोऽय मन्त्रनायकः ॥ ३३ ॥

अकार ही परब्रह्म है जो कूटस्थ (अविचल), व्यापक और ध्रुव है। इसीलिए उसे उत्तररहित, निर्विशेष और चित् अंश रूप कहा गया है। अक्षर से परे यह मन्त्र रूप ही शेष वर्णों के द्वारा कहा है। इसलिए यह नायक मन्त्र, हे देवि! सत् चित् और आनन्द स्वरूप है ॥ ३२-३३ ॥

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारसङ्कटात् ।
यतः करोति संसिद्धो मन्त्र इत्युच्यते प्रिये ॥ ३४ ॥

संसार रूप संकट से बचने के लिए इसका मनन करना ही विश्व का विज्ञान है। इसीलिए, हे प्रिये! मन्त्र की संसिद्धि को कहा गया है ॥ ३४ ॥

मन्त्रचूडामणिं ज्ञात्वा मुच्यते सर्वसंशयात् ।
विज्ञाते मन्त्रराजेऽन्ये ज्ञातव्य नावशिष्यते ॥ ३५ ॥

इस प्रकार इस मन्त्रराज को जानकर वह सभी संदेहों से मुक्त हो जाता है। इस मन्त्रराज के जान लेने पर अन्य कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता है ॥ ३५ ॥

शाब्दं वपुः परानन्दवपुषः परमेश्वरि ।
मन्त्रचूडामणिरयं मया ते परिकीर्तितः ॥ ३६ ॥

हे परमेश्वरि! शब्द-शरीर वाले श्रेष्ठ आनन्दकारी शरीर रूप इस मन्त्रराज को तुमसे मैंने कहा है ॥ ३६ ॥

अकथ्यः पारमार्थ्येन तथापि कथितस्तव ।
गोपनीयः प्रयत्नेन जननी जारगर्भवत् ॥ ३७ ॥

परमार्थ तत्त्व कहने योग्य नहीं है। फिर भी तुमसे हमने कहा है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसका गोपन उसी प्रकार करना चाहिए जैसे माता व्यभिचरित गर्भ को छिपाती है ॥ ३७ ॥

पश्यन्ति ये शठधियो वर्णबुध्या महामनुम् ।
ते यान्ति नरकान् सर्वे यावदाभूतसम्प्लवम् ॥ ३८ ॥

जो शठ बुद्धि वाले लोग इस महा मन्त्र को 'वर्ण' बुद्धि से समझते हैं, वे सभी जब तक भूतों का लय न हो जाय, तब तक नरकों को प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

पुरुषं मन्त्रजप्तारं ये पश्यन्ति नराधमाः ।
तेषां पापानि नश्यन्ति ब्रह्महत्यादिकान्यपि ॥ ३९ ॥

जो नराधम भी मन्त्र जपते हुए पुरुषों को यदि देखते हैं तो उनके ब्रह्म हत्या आदि पापों का विनाश हो जाता है ॥ ३९ ॥

कोटिकल्पेषु पापिष्ठा नित्यं पापपरायणाः ।
तेऽपि शुध्यन्ति सम्पर्कान्मन्त्रजप्तुर्न संशयः ॥ ४० ॥

कोटि कल्पों में भी जो अत्यन्त पापी रहें हैं और जो नित्य पाप में ही दत्तचित्त रहे हों वे सभी इस मन्त्र के जप करने वाले के सम्पर्क में आने से ही शुद्ध हो जाते हैं। इसमें संशय नहीं है ॥ ४० ॥

लब्धे चिन्तामणौ देवि किमन्यैर्धनसञ्चयैः ।
तथा लब्धे मन्त्रराजे किमन्यैः साधनैर्भवेत् ॥ ४१ ॥
एतन्मन्त्रार्थविज्ञानं मन्त्रसिद्धान्तसूचकम् ।
यो नित्यं भावयेच्चित्ते वासना तस्य शुध्यति ॥ ४२ ॥

हे देवि, चिन्तामणि के प्राप्त हो जाने पर अन्य धन सम्पत्ति के सञ्चय का क्या लाभ है ? और जब मन्त्रराज की प्राप्ति हो गई तो अन्य साधनों को लेकर क्या होगा ? मन्त्रों के सिद्धान्त का सूचक यही मन्त्र का 'अर्थ-विज्ञान' है। इसलिए जो नित्य प्रति इस मन्त्र की भावना अपने चित्त में करता है तो उसकी सभी वासनाएँ शुद्ध हो जाती हैं ॥ ४१-४२ ॥

विहाय मायामालिन्यं देहेन्द्रियनिबन्धनम् ।
वासना सम्मुखीभूयाद्विवेकं प्रतिबिम्बवत् ॥ ४३ ॥

शरीर और उनकी इन्द्रियों के बन्धनों को तोड़कर माया रूप मालिन्य को छोड़कर उसकी वासना सम्मुख उपस्थित हो जाती है (अर्थात् वह जो इच्छा करता है वही होता है) और उसे प्रतिबिम्ब के समान विवेक प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

मन्त्रमाहात्म्यमेतत्तु मया ते परिकीर्तितम् ।
किमन्यत् श्रोतुमिच्छा ते तदिदानीं वद[1] प्रिये ॥ ४४ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
एकोनत्रिंशतितमं पटलम् ॥ २९ ॥

——*——

इस प्रकार इस मन्त्र के माहात्म्य को हमने तुम्हें बतलाया है। हे प्रिये ! अब तुम और क्या सुनना चाहती हो ? उसे कहो ॥ ४४ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के उन्तीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ २९ ॥

——*——

1. 'वदाम्यहम्' इ० पा० ।

अथ त्रिशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

भगवन्देवदेवेश श्रोतुमिच्छाम्यहं पुनः ।
मन्त्रस्य साधनं साक्षात् यत्कृत्वा साङ्गता भवेत् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे भगवन् ! देव, देवों के ईश ! मै पुनः मन्त्र के उस साक्षात् साधन को सुनना चाहती हूँ जिसे करके साङ्गता [सिद्धि] प्राप्त होवे ॥ १ ॥

शिव उवाच—

श्रृणु त्वं देवदेवेशि मन्त्रराजस्य साधनम् ।
ऋषिरस्य स्मृतो देवि परात्मा पुरुषोत्तमः ॥ २ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

हे देवदेवेशि ! तुम मन्त्रराज के साधन को सुनो । विद्वानों के द्वारा इस [मन्त्रराज] के ऋषि, हे देवि ! परमात्मा 'पुरुषोत्तम' कहे गए हैं ॥ २ ॥

छन्दोनुष्टप्समाख्यातं श्रीकृष्णो देवतास्य च ।
अहं बीजं नमः शक्तिर्विनियोगः प्रसादने ॥ ३ ॥

इसका छन्द अनुष्टुप् बताया गया है और इसके देवता भगवान् श्रीकृष्ण है । मैं बीज हूँ 'नमः' शक्ति है । इस प्रकार ('ॐ नमः शिवाय' मन्त्र राज से) प्रसन्न करने के लिए विनियोग करे ॥ ३ ॥

ऋषिः शिरसि विन्यस्य छन्दस्तु मुखमण्डले ।
देवता हृदये न्यस्य बीजं पादयुगे न्यसेत् ॥ ४ ॥

ऋषि का न्यास सिर में, छन्द का मुखमण्डल में और देवता का हृदय में न्यास करके बीज का दोनों पैरों में न्यास करे ॥ ४ ॥

कटिदेशे न्यसेच्छक्तिं नियोगः करसम्पुटे ।
एवं ऋष्यादिकं न्यस्य वर्णन्यासं ततश्चरेत् ॥ ५ ॥

अथ बीजं न्यसेन्मूर्ध्निन्यसेन्माया ललाटके ।
व्योमबीजं न्यसेत्कर्णयुगलेऽथ समीरणम् ॥ ६ ॥

न्यसेत्त्वचि ततो नेत्रे बह्निबीजं न्यसेत्प्रिये ।
जिह्वायां वारुणं बीजं पृथ्वीबीजं च नासयोः ॥ ७ ॥

शक्ति का न्यास कटि प्रदेश में और कर सम्पुट (हथेली) में नियोग करे। इस प्रकार ऋषि आदि का न्यास करके फिर वर्णों का न्यास करे। अब बीज का न्यास मूर्धा में करे। माया का ललाट में न्यास करे। आकाश बीज का कर्ण युगल में न्यास करे और वायुबीज का त्वगिन्द्रिय में न्यास करे। फिर हे प्रिये ! अग्नि बीज का न्यास दोनों नेत्रों में करे। जल बीज का जिह्वा में और पृथ्वी बीज का दोनों नासिकाओं में न्यास करे ॥ ५-७ ॥

श्रीकारं कण्ठदेशे तु क्रुकारं हृदये न्यसेत् ।
ष्णं पं न्यसेत्कुचद्वन्द्वे वामादि परमेश्वरि ॥ ८ ॥

कण्ठ में 'श्रीः' का और हृदय में 'क्रु' का न्यास करे। 'ष्ण' और 'प' का वक्षस्थल में, हे परमेश्वरि ! वाम आदि क्रम से न्यास करे ॥ ८ ॥

रकारं चैव माकारं कुक्षियुग्मे च वामतः ।
नकारं च दकारं च न्यसेत्कटचोस्तथैव हि ॥ ९ ॥

रकार और 'मा' का वाम क्रम से कुक्षियुग्म में और इसी प्रकार नकार और दकार का कमर के दोनों भागों में न्यास करे ॥ ९ ॥

तेकारं विन्यसेल्लिंगे प्रिया वर्णावुरुद्वये ।
स्मिमार्णद्वयं देवि जानुयुग्मे तथा न्यसेत् ॥ १० ॥

'त' और ए का लिङ्ग में विन्यास करे और 'प्रिया' वर्णों का दोनों उरुओं में न्यास करे और इसी प्रकार, हे देवि ! 'स्मिमा' इन दोनों वर्णों का जानुयुग्म में न्यास करे ॥ १० ॥

मं गी वर्णौ च देवेशि जङ्घायुग्मे प्रविन्यसेत् ।
कुर्वित्यक्षरयोर्द्वन्द्वं पार्ष्णिद्वन्द्वे नियोजयेत् ॥ ११ ॥

हे देवेशि ! 'मं' और 'गी' इन दोनों वर्णों का दोनों जङ्घाओं में विन्यास करे। 'कुरु' इन दो अक्षरों को पार्ष्णि अर्थात् पिण्डलियों में नियोजन करे ॥ ११ ॥

दकारं च शकारं च प्रपदद्वन्दके न्यसेत् ।
प्रकारं चैव बोकारं न्यसेत्पादतलद्वये ॥ १२ ॥

दकार और शकार दोनों का पैरों में विन्यास करे। 'प्र' और 'ब' अक्षरों का पादतल में न्यास करे ॥ १२ ॥

धं न्यसेदङ्गुलीष्वेव अङ्गुल्यन्तेषु यं न्यसेत् ।
तलादिजानुपर्यन्तं 'प्रबो'वर्णद्वय पुनः ॥ १३ ॥
जान्वादिनाभिपर्यन्तं 'धय'वर्णद्वयं न्यसेत् ।
मोकारं विन्यसेन्नाभौ हकारमुदरे न्यसेत् ॥ १४ ॥

'ध' का अङ्गुलियों में न्यास करे। 'य' का विन्यास अङ्गुलियों के अन्तिम भाग में करे। पुनः [पाद] तल से जानु पर्यन्त प्र और बो इन दो वर्णों का विन्यास करे। फिर जानु आदि से नाभिपर्यन्त 'धय' इन दो वर्णों का न्यास करे। ओकार का विन्यास नाभि में और हकार का उदर में न्यास करे ॥ १३-१४ ॥

मपावर्णौ स्कन्धयुगे कुरु कक्षा युगेन्यसेत् ।
कुरुवर्णद्वयं दोष्णोर्गल्लयोश्च प्रविन्यसेत् ॥ १५ ॥

'म' और 'पा' वर्णों का दोनों कन्धों में और 'कुरु' का न्यास दोनों कुक्षियों में करे। 'कुरु' इन दो वर्णों को दोष्ण और गले में न्यस्त करे ॥ १५ ॥

नमः शिखायां विन्यस्य समग्रं व्यापकं न्यसेत् ।
[1]एवं न्यासाच्छरीरेऽसौ जायते मन्त्ररूपधृक् ॥ १६ ॥

'नमः' शब्द का शिखा में न्यास कर समग्र रूप से व्यापक न्यास करे। इस प्रकार का न्यास करने से सम्पूर्ण शरीर मन्त्र का रूप धारण कर लेता है ॥ १६ ॥

अलौकिकं वपुः कृत्वा गच्छेद् ध्यानेन तत्पदम् ।
तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि सुगुप्तमपि सुन्दरि ॥ १७ ॥

इस प्रकार अपना अलौकिक शरीर करके ध्यान के द्वारा उन ब्रह्म के पद में जाना चाहिए। हे सुन्दरि ! यद्यपि यह गुप्त है फिर भी मैं उसके प्रकार को कहता हूँ—॥ १७ ॥

वर्णरूपं वपुर्ध्यायेत् पञ्चभूतमयान् हि तान् ।
तत्तत्कारणभूतेषु तत्तत्कार्यं विलोपयेत् ॥ १८ ॥

वर्ण रूप शरीर का ध्यान करना चाहिए। जो वर्ण पञ्चभूतात्मक हैं उन-उन पञ्चमहाभूतों के कारणों में उनके कार्य का लोप कर देना चाहिए ॥ १८ ॥

पादादिजानुपर्यन्तं पृथ्वीतत्त्वं विचिन्तयेत् ।
पृथ्वीतत्त्वमयान् वर्णान् प्रवक्ष्यामि समासतः ॥ १९ ॥

पैर से जानु पर्यन्त पृथ्वी तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए अब मैं संक्षेप से पृथ्वीतत्त्वमय वर्णों को कहूँगा —॥ १९ ॥

---

१. 'एवं न्यस्तशरीरोऽसौ' इ० पा० ।

पञ्चमश्चैव षष्ठश्च त्रयोदश एव च।
स्वराणां त्रितयं चैतत् आकाशादग्रिमाक्षरम् ॥ २० ॥
स्पर्शेषु चाष्टमश्चैव तथा चैव त्रयोदश।
दवलाश्चेति वै वर्णाः पार्थिवाः परिकीर्त्तिताः ॥ २१ ॥

पाँचवाँ, छठवाँ और तेरहवाँ तथा इन तीनों के स्वर आकाशादि पञ्चभूतों के अग्रिम अक्षर हैं। स्पर्शों में आठवाँ और तेरहवाँ तथा द, व एवं ल वर्ण पार्थिव-वर्ण कहे गए हैं ॥ २०-२१ ॥

ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ वर्णास्ते वारुणाः स्मृताः।
जान्वादिकटिपर्यन्तं जलतत्वगतान् स्मरेत् ॥ २२ ॥

ऋ ॠ, औ घ झ ढ ध तथा भ—ये वारुण वर्ण कहे गए हैं। जानु आदि से कटि पर्यन्त जल-तत्त्व गत इन वर्णों का ध्यान करना चाहिए ॥ २२ ॥

इ ई ए ख छ ठ थ फ र क्षास्ते वह्निरूपिणः।
कट्यादिकण्ठपर्यन्तं तेजस्तत्वगतान् स्मरेत् ॥ २३ ॥

इ ई ए ख छ ठ थ फ र और क्ष—ये वर्ण वह्नि रूप कहे गए हैं। साधक कटि आदि से कण्ठ पर्यन्त तेजस्तत्त्वगत वर्णों का स्मरण करे ॥ २३ ॥

अ ऐ कचटतपसषाः मारुताः कथिताः प्रिये।
कण्ठादिभ्रूप्रदेशान्तं वायुतत्वमयान्स्मरेत् ॥ २४ ॥

अ ऐ क च ट त प स और ष—ये वर्ण, हे प्रिये ! मारुत वर्ण कहे गए हैं। साधक कण्ठ आदि से भ्रू प्रदेश पर्यन्त वायुतत्त्वमय इन वर्णों का ध्यान करे ॥ २४ ॥

ऌ ॡ अङञणनमशबहानाभसाः स्मृताः।
भ्रूमध्यादिब्रह्मरन्ध्रस्थिताकाशमयान् स्मरेत् ॥ २५ ॥

ऌ ॡ अं ङ ञ ण न म श ब और ह—ये वर्ण नभ से सम्बन्धित हैं। अतः साधक को भ्रू मध्य से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त स्थित आकाशमय वर्णों का स्मरण करना चाहिए ॥ २५ ॥

तत्तद्वर्णविलोपन्तु कारयेत्कारणाक्षरे।
हित्वा स्थौल्यं भूतमयं सूक्ष्मं शब्दमयं ततः[1] ॥ २६ ॥

साधक को चाहिए कि वह इस प्रकार उन-उन वर्णों का विलोपन उन-उन अक्षर के कारणों में करे। वस्तुतः स्थूल पञ्चमहाभूत का सूक्ष्मरूप शब्द मय ही है ॥ २६ ॥

---

१. 'गतः' इ० पा०।

शब्दब्रह्मशरीरोऽसौ सर्वकारणकारणम् ।
सहस्रदलपद्मस्य कर्णिकायां व्यवस्थितम् ॥ २७ ॥

यह शब्द ब्रह्ममय शरीर सभी कारणों का कारण है। यह शब्द ब्रह्म सहस्र दल वाले पद्म की कर्णिका में व्यवस्थित रहता है ॥ २७ ॥

अकार केवलं ध्यायेदुदरे निष्कलं प्रिये ।
[1]अकार चोदराकाशे दहरास्ते महेश्वरि ॥ २८ ॥
पूर्वानुभूता रासलीला व्रजलीलाश्च संस्मरेत् ।
अहं प्रिया भगवतः कामस्य कामरूपिणी[2] ॥ २९ ॥
कृष्णस्येति दृढाभ्यासवशगेनैव चेतसा ।
संस्मरेत्परमेशानि नान्यत् किञ्चन चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

हे प्रिये ! अतः साधक को चाहिए कि वह निष्कल रूप से अकार का ध्यान उदर में करे। हे महेश्वरि ! अकार रूप उदराकाश में दहर है। वहाँ पर पूर्वानुभूत रासलीला तथा व्रजलीला का स्मरण करना चाहिए। साधक का यह सोंचना चाहिए कि 'मैं भगवान् कृष्ण के काम की कामरूपिणी प्रिया हूँ।' ऐसा करते हुए दृढ अभ्यास के द्वारा साधक को अपना चित्त अपने वश में कर स्मरण करना चाहिए। श्रेष्ठ ईशानि ! इसके अलावा किसी और का चिन्तन न करे ॥ २८-३० ॥

अथ तेनैव मार्गेण शब्दं चापि वपुस्त्यजेत् ।
शब्दातीतं परं धाम रसानन्दमहार्णवम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार उसी मार्ग से शब्द-शरीर का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि वह शब्दातीत परम धाम रस का आनन्द महा समुद्र है ॥ ३१ ॥

नानाकेलिकलापूर्णं नानापक्षिनिनादितम् ।
भ्रमद्भ्रमरझङ्कारमुखरीकृतदिङ्मुखम् ॥ ३२ ॥

वह रस रूप आनन्द-समुद्र नाना प्रकार की केलियों एवं कलाओं से पूर्ण हैं। इसका किनारा नाना प्रकार के पक्षियों से शब्दायमान है। यहाँ पर चारो ओर झङ्कार करते हुए भ्रमर दिशाओं को मुखर कर रहे हैं। ३२ ॥

स्वप्रकाशं समभ्येत्य स्वरूपं चिन्तयेत्तदा ।
नवयौवनसम्पन्नमनोहररतिप्रियम् ॥ ३३ ॥

---

१. 'अकारोदरमाकाशे' इ० पा० ।
२. 'कामरूपिणः' इ० पा० ।

क्वणन्नूपुरसंशोभिपादाम्भोजविराजितम् ।
लाक्षारसाक्तचरणं क्वणत्किङ्किणिमेखलम् ॥ ३४ ॥

उस समय वहाँ पहुँच कर साधक को प्रकाश ध्यान स्वरुप भगवान् का चिन्तन करना चाहिए ।

ध्यान—वे कृष्ण भगवान् नवयौवन से सम्पन्न तथा मनोहर एवं रति के प्रिय हैं। उनके चरणकमल बजते हुए नूपुरों से सुशोभित हैं। उनके चरणों में लाक्षारस (महावर) लगो हुई है। उनकी मेखला की घुँघरु बजती रहती है ॥ ३३-३४ ॥

नवीनयौवनोत्तुङ्गकुचभारमहालसम् ।
कराङ्गुलीयनिवहोल्लसदङ्गुलिपल्लवम् ॥ ३५ ॥

नवीन यौवन के कारण जिनका वक्षस्थल उभरा हुआ है। जिनके हाथ की अङ्गुलियों में अङ्गुलिपल्लव शोभा पा रहा है ॥ ३५ ॥

नानालङ्कारसुभगं कौसम्भाम्बरशोभितम् ।
मुक्ताहारोल्लसद्वक्षः स्फुरमाणमणिप्रभम् ॥ ३६ ॥

नाना प्रकार के अलङ्करणों से सुन्दर कान्ति वाले तथा पीताम्बर से सुशोभित, मुक्ता के हार से शोभित वक्षःस्थल वाले और मणियों की प्रभा से स्फुरित कान्ति वाले भगवान् कृष्ण का ध्यान करना चाहिए ॥ ३६ ॥

कामकोदण्डकुटिलभृकुटीविशिखेक्षणम् ।
मुक्तादामलसद्भालं काश्मीरतिलकोज्वलम् ॥ ३७ ॥

दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गं दिव्यपुष्पस्रगाकुलम् ।
भालप्रदेशविलसत्सुरत्नतिलकोज्ज्वलम् ॥ ३८ ॥

काम के धनुष के समान टेढ़ी भौंहों वाले, विशिख के समान दृष्टि वाले, मुक्ता की कान्ति से शोभित एवं काश्मीर के उज्ज्वल तिलक से युक्त ललाट वाले, दिव्य चन्दन का शरीर में लेप किए हुए, दिव्य पुष्पों की माला से आच्छादित तथा भाल प्रदेश में सुरत्न के उज्ज्वल तिलक से विराजमान भगवान् कृष्ण का ध्यान करना चाहिए ॥ ३७-३८ ॥

ध्यात्वैवं स्ववपुर्दिव्य सखीयूथगतं स्मरेत् ।
यूथमध्यगतं कृष्ण ध्यात्वानन्येन चेतसा ॥ ३९ ॥
प्रार्थयेत्तं पति तत्र सस्मिताननसुन्दरम् ।
प्राणनाथ त्वदीयाहं त्राहि दुःखिष्वनेकधा ॥ ४० ॥

त्वामहं विस्मृता नाथ परमानन्दपेशल ।
अनुभूता स्वप्नलीला नानादुःखौघसङ्कुला ।। ४१ ।।

कालो महान् व्यतीतोऽयं त्वां विना पुरुषोत्तम ।
स्वप्ने मया बहुभ्रान्तं देहगेहातिसक्तया ।। ४२ ।।

इस प्रकार ध्यान करते हुए अपने दिव्य शरीर को सखियों के समूह में स्मरण करे। साधक को चाहिए कि वह अनन्य चित्त से यूथ के मध्य विराजमान कृष्ण का ध्यान करके उन सुन्दर मुस्कुराहट से युक्त पालक (पति) कृष्ण से प्रार्थना करे कि हे प्राणनाथ ! मै आपका हूँ। अतः अनेक प्रकार से आप मेरी रक्षा करें। हे परमानन्द पेशल ! हे नाथ ! आपको मैंने विस्मृत कर दिया। स्वप्नवत् लीला का मैंने अनुभव किया है। यह ऐहिक लीला नाना दुःखों से व्याप्त है। हे पुरुषोत्तम ! आपके विना बहुत काल व्यतीत हो गया। इस स्वप्नवत् संसार में मैं देह और गृह में अत्यन्त आसक्त होकर बहुत प्रकार से भ्रमित होता रहा ।। ३९-४३ ।।

क्वचिन्मनुष्यरूपेण देवरूपेण वा क्वचित् ।
[1]गन्धर्वोरगरूपेण पशुरूपेण वा क्वचित् ।। ४३ ।।

चेष्टापितो मया ह्यात्मा स्वप्ने मायाविनिर्मिते ।
इदानीं कृतकृत्यास्मि नष्टस्वप्नमयाकृतिः ।। ४४ ।।

इस संसार में कभी मनुष्य रूप में और कभी देवरूप में घूमता रहा। कभी मैं (=जीव) गन्धर्व या पक्षि रूप से अथवा कभी पशु रूप से नाना योनियों में भटकता रहा। माया निर्मित स्वप्न में मेरी आत्मा अत्यन्त सचेष्ट थी। किन्तु अब स्वप्नवत् संसार के नष्ट हो जाने पर ('सत्यं' ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के ज्ञान से) मैं कृतकृत्य हो गया हूँ ।। ४४-४५ ।।

विलोकय कृपादृष्ट्या दृष्टं देव विना त्वया ।
इति सम्प्रार्थ्य भर्त्तारं प्रणमेत्पादपङ्कजम् ।। ४५ ।।

हे स्वामी ! आप मेरी ओर कृपा दृष्टि से देखें। हे देव ! विना आपकी कृपा के मैं दुखसागर में निमग्न हूँ। (इससे आप मुझे उबारिए)। इस प्रकार से प्रार्थना करके भर्त्ता प्रभु के चरणकमल को प्रणाम करे ।। ४६ ।।

---

१. ब्रह्मसृष्टीनामीदृशी दशा कदापि न भवति। किन्तु प्रार्थनामात्रमिदं अथवा तु प्रार्थनेयं जीवानां कृते बुधैरिति बोध्यम् ।

प्रोत्थापिता पुनस्तेनालिङ्गिता च मुहुर्मुहुः।
दत्ताधरसुधाचापि सखीयूथस्य पश्यतः ॥ ४६ ॥

उनके द्वारा पुनः उठा लिए जाने पर और बारम्बार आलिङ्गित किए जाने पर तथा सखी समूह के समक्ष ही अधरामृत के दिए जाने पर जो आनन्द होता है उसका अनुभव साधक करे ॥ ४६ ॥

परस्परं वीक्ष्यमाणा सखिभिः [1]कृतकौतुकम् ।
नित्यानन्दविहारेषु भूमिकासु दशस्वपि ॥ ४७ ॥

सखियों के द्वारा परस्पर एक दूसरे को कौतूहल से देखने पर नित्य आनन्द-विहार की दस भूमिकाओं में अपने को साधक अनुभव करे ॥ ४७ ॥

पुष्परागमयभ्राजत्पर्वतापत्यकासु च ।
नीलमाणिक्यशैलोरुशिखरेषु विशेषतः ॥ ४८ ॥

साधक पुष्प एवं परागमय पर्वत एवं उपत्यकाओं में विराजमान तथा विशेष रूप से नोले माणिक्य के पर्वत तथा उनकी विशाल चोटियों के मध्य भगवान् को देखे ॥ ४८ ॥

यमुनासप्ततीर्थेषु नानावृक्षोदयेषु च ।
मणिमण्डपविभ्राजत्कुट्टिमैर्मण्डितेषु च ॥ ४९ ॥

नानाविहारसङ्केते नीयमाना प्रियेण हि ।
तत्र तत्र महालीलारसानन्दपरिप्लुता ॥ ५० ॥

यमुना के सातों तीर्थों पर तथा नाना वृक्षों के मध्य, मणि से बने भ्राजमान मण्डप में जिसकी फर्श मणि निर्मित थी, प्रिय के द्वारा नाना विहार स्थलों पर ले जाते हुए उन भगवान् कृष्ण की रसानन्द से परिप्लुत महा लीला का ध्यान करे ॥ ४९-५० ॥

षोडशस्थम्भविभ्राजन्मणिकुट्टिममागता ।
सखीसमाजमध्यस्थं कृष्णं दृष्ट्वा पुरः स्थिता ॥ ५१ ॥

सोलह स्तम्भों में चमकते हुए मणि निर्मित फर्श पर सखी समाज के मध्य साधक कृष्ण को देखकर ऐसा अनुभव करे कि ये स्वयं समक्ष विराजमान हैं ॥ ५१ ॥

लालिता प्राणनाथेन वचनामृतवर्षिणा ।
एवं धारणया देवि मनो यावत्स्थिरं भवेत् ॥ ५२ ॥

---

१. 'वीक्ष्यमाणः सखीभिः कृतकौतुकः' इ० पा० ।

तावद्देवाभ्यसेल्लीलामेवमात्मा विशुध्यति ।

इस प्रकार प्राणनाथ कृष्ण द्वारा लालित होकर तथा उनके वचनामृत की वर्षा करते हुए मुखारविन्द में जब तक धारणा द्वारा, हे देवि ! साधक का मन स्थिर न हो जाय, तब तक लीला का अभ्यास करना चाहिए । इस प्रकार करते-करते साधक की आत्मा शुद्ध हो जाती है ॥ ५२-५३ ॥

एतत्ते कथितं देवि मन्त्रध्यानादिकं मया ॥ ५३ ॥
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।
तदहं ते प्रवक्ष्यामि शपथस्तव सुव्रते ॥ ५४ ॥

॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती-
संवादे त्रिंशं पटलम् ॥ ३० ॥

—— * ——

हे देवि ! इस प्रकार से मन्त्र एवं ध्यान को मैंने आप से संक्षेप में कहा है । हे महेशानि ! अब आप और क्या सुनना चाहती है ? आपकी शपथ है कि हे शोभन व्रत करने वाली ! उसे मैं आपसे अवश्य कहूँगा (अर्थात् कुछ भी रहस्य नहीं रक्खूँगा) ॥ ५३-५४ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के तीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३० ॥

—— * ——

अथ एकत्रिंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

ब्रूहि सेवाप्रकारं मे येन तुष्येत् स्वयं प्रभुः ।
कथं पूजा प्रकर्त्तव्या व्यवहारश्च कीदृशः ॥ १ ॥

भगवती पार्वती ने कहा—

हे भगवन् ! आप मुझे सेवा का प्रकार बतावें, जिससे प्रभु स्वयमेव सन्तुष्ट हो जावें । हमें कैसे पूजा करनी चाहिए ? और किस प्रकार का व्यवहार (आचरण) करना चाहिए ॥ १ ॥

शिव उवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि व्यवहारार्चनादिकम् ।
तुर्ये यामे समुत्थाय शय्यायामेव सुव्रते ॥ २ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे गुरुं ध्यायेत् कर्पूरधवलप्रभम् ।
द्विनेत्रं द्विभुजं चैव श्वेतवस्त्रानुलेपनम् ॥ ३ ॥

भगवान् शङ्कर ने कहा—

हे देवि ! सुनों, मैं अब व्यवहार और भगवान् की अर्चना आदि को कहूँगा । हे सुव्रते ! चौथे प्रहर में शय्या से उठकर ही ब्रह्मरन्ध्र (=शिर में शिखा के पास) में गुरु का ध्यान करना चाहिए । उनका स्वरूप कपूर की प्रभा के समान धवल वर्ण का दो नेत्र, दो भुजा, श्वेत वस्त्र एवं श्वेत अनुलेप से युक्त है ॥ २-३ ॥

पञ्चभूतात्मकैरेव पञ्चभिरुपचारकैः ।
पूजयेद् देव देवेशि आत्मानं तद्गतं स्मरेत् ॥ ४ ॥

पञ्चभूतात्मकों से ही और पाँच प्रकार (धूपदीप-नैवेद्य) के उपचारों से पूजन करे । हे देवों के देव, हे ईशानि ! आत्मा में ही तद्गत रूप से उन गुरु का स्मरण करना चाहिए ॥ ४ ॥

तच्चरणोदकधारानिपतितं स्वमूर्द्धनि ।
क्षालितं निर्मलं शुद्धमात्मानं परिचिन्तयेत् ॥ ५ ॥

उनके चरणोदक की धारा को अपने शिर में गिरते हुए अपने मूर्द्धा में धुले हुए, निर्मल और शुद्ध आत्मा का चिन्तन करना चाहिए ॥ ५ ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै इष्टदेवस्वरूपिणे ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसञ्ज्ञकम् ।। ६ ।।

उन इष्टदेवस्वरूप गुरु के लिए नमस्कार होवे जिनके अमृतरूपी वाक् संसार नामक विष का नाश करते हैं ।। ६ ।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः ।
गुरुरेव परं तत्त्वं[1] तस्मै श्रीगुरवे नमः ।। ७ ।।

गुरु ही ब्रह्मा हैं । गुरु ही विष्णु हैं और गुरु ही भगवान् सदाशिव स्वरूप है, अन्ततः गुरु ही श्रेष्ठ 'तत्त्व' हैं । अतः उन गुरु के लिए नमस्कार होवे ।। ७ ।।

प्रणम्य मन्त्रयुग्मेन हृदि लीनं विभावयेत् ।
ततो लीलाविहारस्य ध्यायेत्कृष्णं हृदाम्बुजे ।। ८ ।।

मन्त्र युग्म से हृदय में लीन उन्हें प्रणाम करके उनकी विशेष रूप से भावना करे । इसके बाद लीला करते हुए हृदय रूपी कमल में विहार करने वाले श्रीकृष्ण का ध्यान करे ।। ८ ।।

पूजयेत्पूर्ववद्देवि ह्युपचारैश्च पञ्चभिः ।
ततस्तं प्रार्थयेदीशं बद्धहस्ता प्रियंवदे ।। ९ ।।

हे देवि ! पहले ही की तरह पाँच प्रकार के उपचारों से उनका पूजन करे । इसके बाद, हे प्रिय बोलने वाली ! उन ईश्वर से हाथ जोड़कर प्रार्थना करे ।। ९ ।।

अहं नाथ त्वदीयास्मि पतिस्त्वं मेऽसि भो प्रभो ।
भ्रामितास्मि त्वया नाथ मायागहनवर्त्मनि ।। १० ।।

हे नाथ, मैं आपकी हूँ और हे प्रभु ! आप ही मेरे पति [=पालक] हैं। आपकी गहन माया से भ्रमित मार्ग में मैं भ्रमित हुआ हूँ ।। १० ।।

त्वत्पार्श्वं नय मां नाथ विरहो मां प्रबाधते ।
अनन्यगतिका चाहं तस्मात्कुरु यथोचितम् ।। ११ ।।

हे नाथ, आप मुझे अपने पास ले लें, मुझे आपका विरह अत्यन्त कष्ट दे रहा है। आपको छोड़कर हमारी कोई दूसरी गति नहीं है ! इसलिए जो उचित हो वह कीजिए ।। ११ ।।

एवं सम्प्रार्थ्य भर्तारं तत्प्रभापटलावृणम् ।
स्वदेहं भावयेद्देवि नमस्कुर्यात्ततः प्रिये ।
ततो भूमिं च सम्प्रार्थ्य दक्षपादं निधापयेत् ।। १२ ।

1. 'ब्रह्म' इं०पा० ।

इस प्रकार से पालन करने वाले उन प्रभु से सम्यक् रूप से प्रार्थना करके उनकी प्रभा की किरण से लाल वर्ण के हुए अपने देह को साधक मन में सोचे। (तब) हे देवि, हे प्रिय ! उनको नमस्कार करे। इसके बाद भूमि को निम्न मन्त्र से प्रणाम करके दाहिने पैर का स्थापन करे। ॥ १२ ॥

समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥ १३ ॥
ततो ग्रामाद् बहिर्गच्छेन्मलोत्सर्गाय सुन्दरि। १४ ॥
अतिक्रम्य शरक्षेपमात्रां भुवमतन्द्रितः।
आच्छाद्य च तृणैर्भूमिं शिरः प्रावृत्य वाससा ॥ १५ ॥
मृत्तिकां जलपात्रं च हस्तमात्रे नियोजयेत्।
सूर्यं चैव दिशः प्रान्तान् गावं नैवावलोकयेत् ॥ १६ ॥

समुद्ररूप करधनी से परिवेष्टित और पर्वत रूप स्तनों के मण्डल वाली हे पृथ्वी देवी, हे विष्णु की पत्नी, [वराह अवतार के समय उद्धार की गई पृथ्वी उनकी पत्नी हैं] आपको नमस्कार है। मैं आपके ऊपर जो चल फिर रहा हूँ उस पैर के स्पर्श को क्षमा करें। इसके बाद ग्राम से बाहर मल आद के उत्सर्ग के लिए हे सुन्दरि ! उसे जाना चाहिए। शरक्षेपमात्र भूमि का अतन्द्रित होकर अतिक्रमण करके तृण से भूमि को ढककर और ऊपर शिर को कपड़े से ढककर मिट्टी और जल को हाथ में लेकर मल साफ करे। सूर्य का और दिशाओं के प्रान्तभाग का एवं गाय का अवलोकन इस समय न करे ॥ १३-१६ ॥

लिङ्गशौचं च तिसृभिः मृत्तिकाभिः समाचरेत्।
पञ्चापाने प्रदेयाश्च मृत्तिकाः सुरसुन्दरि ॥ १७ ॥

तीन बार मिट्टी लगाकर लिङ्ग को धोना चाहिए और हे सुरसुन्दरि, गुदा को पाँच बार मिट्टी लगाकर धोना चाहिए ॥ १७ ॥

गन्धलेपक्षयकरमेवं शौचं समाचरेत्।
तत्रैव वामहस्ते तु प्रदेया सप्त मृत्तिका ॥ १८ ॥

इसी प्रकार शौच (शुद्धि) करना चाहिए क्योंकि गन्धादिक (साबुन) का लेप करना क्षयकारी ही होता है। सात बार बाएँ हाथ को मिट्टी लगाकर धोना चाहिए ॥ १८ ॥

मौनी स्वगृहमागत्य हस्तपादादि शोधयेत्।
वामहस्ते मृदः सप्त प्रदेयाः सुरवन्दिते ॥ १९ ॥

फिर मौन होकर अपने गृह में आकर हाथ-पैर आदि धोना चाहिए। हे

देवताओं से वन्दनीय देवी, बाएँ हाथ को पुनः सात बार मृत्तिका से धोना चाहिए॥ १९ ॥

उभयोश्च तथा सप्त हस्तशौचमिदं स्मृतम्।
पञ्च पञ्च तथा पादे प्रदेया मृत्तिकाः शुभाः॥ २०॥

फिर दोनों हाथों को मिलाकर सात बार पुनः धोना चाहिए। पाँच-पाँच बार दोनों पैर में मिट्टी लगाकर पैर भी धोना चाहिए॥ २०॥

ततो द्वादशगण्डूषैर्मुखं प्रक्षालयेत्प्रिये।
तत आचमनं कृत्वा दन्तकाष्ठं समाचरेत्॥ २१॥

उसके बाद हे प्रिये, बारह बार कुल्ला करके मुख का प्रक्षालन करना चाहिए। इसके बाद आचमन करके दतुअन करना चाहिए॥ २१॥

जम्बूदुम्बरजं काष्ठं तथा च बदरीभवम्।
अपामार्गोद्भवं वापि दन्तांस्तेन विशोधयेत्॥ २२॥

दतुअन जामुन, गूलर या बैर की होना चाहिए। अपामार्ग (लहचिचड़ा) की भी दतुअन होती है। अतः उससे दातों को साफ करना चाहिए॥ २२॥

अज्ञातैः कीटविद्धैश्च वनेषु दाहितैरपि।
निषिद्धैश्च तथा काष्ठैर्दन्तान्नैव स्पृशेत्प्रिये॥ २३॥

हे प्रिये, अनजाने वृक्ष की अथवा कीटों से आविद्ध वृक्ष की या वन में जले हुए वृक्ष की दतुअन से कभी भी दातों को साफ नहीं करना चाहिए॥ २३॥

आयुर्देहि प्रजां देहि धनं विद्यां सुखानि च।
वाक्सिद्धिं देहि मे नित्यं प्रार्थितोऽसि वनस्पते॥ २४॥

हे वनस्पते! आयु दो, सन्तान दो, धन एवं विद्या और सुख प्रदान करो, मुझे नित्य वाक्सिद्धि प्रदान करो—इस प्रकार प्रार्थना करते हुए दतुअन तोड़ना चाहिए॥ २४॥

द्वादशावृत्तिसञ्जप्तं मूलमन्त्रेण मन्त्रवित्।
प्रक्षाल्य भक्षयेत्काष्ठं यावन्नो सूर्यदर्शनम्॥ २५॥

जबतक सूर्य का दर्शन न हो अर्थात् सूर्योदय के पहले ही बारह अंगुल की दतुअन मन्त्र जानने वाले को चाहिए कि मूल मन्त्र को पढ़कर ही तोड़े और उसे धोकर ही दतुअन करे॥ २५॥

दन्तानां शोधनं कुर्यादुदीचीं दिशमाश्रितः।
न सूर्याभिमुखीभूय निष्ठीवादि क्षिपेत्प्रिये॥ २६॥

उत्तरदिशा की ओर ही मुँह करके दन्त धावन करे। हे प्रिये ! सूर्य के अभिमुख होकर कभी न थूके ॥ २६ ॥

जिह्वामलमपाकृत्य काष्ठं प्रक्षाल्य मन्त्रवित् ।
एकान्ते शुचिदेशे तु क्षिपेत्काष्ठं ततः प्रिये ॥ २७ ॥

मन्त्र के उस जानकार को चाहिए कि जिह्वा के मूल को काठ की उस दतुअन की जिभ्भी से जिभ्भी करने के बाद उसे धोए। फिर काष्ठ किसी एकान्त एवं शुद्ध स्थल पर ही फेंके ॥ २७ ॥

मन्त्रजन्यजलैर्देवि मुखं प्रक्षालयेत्ततः ।
त्यजेद् द्वादशगण्डूषान् मूलमन्त्रमविस्मरन् ॥ २८ ॥

मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से हे देवि ! फिर मुख का प्रक्षालक करे। उसे चाहिए कि मूल मन्त्र का विस्मरण न करते हुए बारह बार कुल्ला करे ॥ २८ ॥

तत आचमनं कृत्वा 'नमस्कृत्य रविं प्रिये ।
ध्यायन् गच्छेत्ततस्तीर्थमसक्तस्तु गृहे चरेत् ॥ २९ ॥

इसके बाद आचमन करके हे प्रिये, भगवान् भास्कर को प्रणाम करके तीर्थ स्थान में उन्हीं सूर्य भगवान् का ध्यान करते हुए (कि जैसा तेज आप में है वैसा ही मुझमें हो) जाए। फिर घर में आकर बिना आसक्ति के कर्म करे ॥ २९ ॥

गालितं शोधितं तोयं शुचिपात्रगतं च यत् ।
सूर्यमण्डलतस्तस्मिन् तीर्थान्यावाह्य भक्तितः ॥ ३० ॥

जो शुद्ध पात्र में रक्खा हुआ जल है उसमें भक्तिपूर्वक तीर्थों के जल का आवाहन करे और यह सोंचे कि यह जल सूर्यमण्डल से (वर्षा के माध्यम से) शुद्ध जल गिरा है ॥ ३० ॥

तस्मिन्नष्टदले ध्यात्वा कर्णिकायां सुरेश्वरि ।
प्रियायथगतं कृष्णमावाह्य दृढमानसः ॥ ३१ ॥
उपचारैर्जलमयैर्मानसैर्वापि पूजयेत् ।
तदीयचरणद्वन्द्वगलत्पीयूषमिश्रितम् ॥ ३२ ॥
ज्ञात्वा तत्तु जलं देवि साक्षाच्चैतन्यरूपकम् ।
ज्ञानानन्दस्वरूपं तत् त्रिधा मूर्ध्नि क्षिपेत्ततः ॥ ३३ ॥

उसमें हे सुरेश्वरि ! आठदल कर्णिका में प्रियाओं के समूह में भगवान् कृष्ण का दृढ मन से आवाहन करके मन से ही उन आवाहित प्रियायूथगत कृष्ण का जल

---

१. नमस्तुत्वा इति मूलपाठः ।

आदि से षोडशोपचार पूजन करे और उन्हीं के चरण-कमलों से गिरे हुए अमृत मिश्रित जल को जानकर उस जल को हे देवि ! साक्षात् रूप से चैतन्य, रूप और ज्ञान सम्पन्न आनन्द का स्वरूप मानकर अपने ऊपर (शिर पर) तीन बार छिड़के ॥ ३१-३३ ॥

अन्येनैवाम्भसा कुर्यान्मौशलं स्नानमूर्द्धनि ।
ततः स्नायाद्वरारोहे पूर्वसंस्कृतवारिणा ॥ ३४ ॥

फिर दूसरे जल से सिर से मौशल (धार रूप से) स्नान करे । हे वरारोहे, उसके बाद पूर्वसंस्कृत जल से स्नान करे ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्णं हृदये लीनमिति ध्यात्वाचमेत्ततः ।
गात्रं सम्मार्ज्य देवेशि मन्त्रवारिविशोधिते ॥ ३५ ॥

उसके बाद 'भगवान् श्रीकृष्ण हृदय में लीन हो गये है' – ऐसा ध्यान करते हुए आचमन करे । हे देवेशि, अपने शरीर का उस मन्त्र से विशेष रूप से शुद्ध किए गए जल से मार्जन करे ॥ ३५ ॥

वासांसि परिधार्यैव ततो मन्दिरमाविशेत् ।
पूजागृहे बहिः स्थित्वा तिलकं गोपिकामृदा ॥ ३६ ॥

उसके बाद वस्त्र आदि पहन कर तब मन्दिर में प्रवेश करे । पूजागृह से बाहर ही रह कर गोपी-चन्दन (वृन्दावन की मिट्टी) से तिलक करे ॥ ३६ ॥

चक्रादिधारणं कुर्यात् बिभृयात्तुलसीसृजम् ।
विना च तुलसीमालां विना चक्रादिधारणम् ॥ ३७ ॥
न जपध्यानपूजासु योग्यो भवति कर्हिचित् ।
देवान् पितृंश्च सन्तर्प्य दिक्पालान् प्रणमेत्ततः ॥ ३८ ॥

फिर चक्र आदि धारण करे और फिर तुलसी की माला पहने । वस्तुतः बिना तुलसी की माला धारण किए और बिना चक्रादि धारण के वह जप, ध्यान अथवा भगवान् के पूजा के योग्य नहीं ही होता है । देवों और पितरों का सम्यक् रूप से तर्पण करके तब दिक्पालों को प्रणाम करे ॥ ३७-३८ ॥

सर्वं कृष्णमयं ध्यायेद्भेदभावं विवर्जयेत् ।
भेदभावात्मको देवि संसारः कथितो यतः ॥ ३९ ॥

भेदभाव को छोड़कर सभी चराचर जगत् को कृष्णमय सा समझकर ध्यान करे, क्योंकि हे देवि ! यह संसार भेदभावात्मक ही कहा गया है ॥ ३९ ॥

देहलीं च नमस्कृत्य दक्षपादपुरःसरम् ।
प्रविशेत्पूजनागारं निर्माल्याद्यपसारयेत् ॥ ४० ॥

दक्षिणपाद के पहले और फिर देहली (डयोढ़ी) को नमस्कार करके पूजा-गृह में प्रवेश करे । निर्माल्य (पहले दिन का सूखा हुआ माला फूल) आदि उठाए ॥ ४० ॥

प्रोत्थापयेत् प्रभुं सुप्तं सुगीतैर्मङ्गलस्वनैः ।
श्रेष्ठा मनोमयीमूर्तिरथाश्मा[1] गण्डकीभवः ॥ ४१ ॥
सौवर्णी राजतीं शैलीं काष्ठीं वा मृण्मयीमपि ।
चैत्रीं वा पूजयेन्मूर्त्तिमुपचारैः शुभैः प्रिये ॥ ४२ ॥

फिर सोते हुए प्रभु को सुन्दर गीतों एवं मङ्गल ध्वनियों आदि से उठाए । मनोमयी (मन में ध्यान में लाइ गई) मूर्ति श्रेष्ठ है । मूर्ति पत्थर अर्थात् गण्डकी में प्राप्त शालिग्राम की सुवर्ण से बनी, चाँदी से बनी अथवा शैल या काठ से बनी होनी चाहिए । मिट्टी की ही मूर्ति हो अथवा चित्रात्मक मूर्ति ही क्यों न हो, हे प्रिये, शुभ उपचारों द्वारा पूजन करना चाहिए ॥ ४१-४२ ॥

अर्घं च पाद्याचमने मधुपर्कमपःस्पृशः ।
स्नानं वस्त्रमथाप्रोह्य [2]वासांस्याभरणानि च ॥ ४३ ॥

अर्घ, पाद्य एवं आचमन, मधुपर्क, जलस्पर्श, स्नान, वस्त्र आदि उपचारों द्वारा वस्त्रों एवं आभूषणों से सजाकर ॥ ४३ ॥

दर्पणालोकनं चैव गन्धपुष्पे ततः परम् ।
धूपोगरुसमुद्भूतो दीपो नैवेद्यमेव च ॥ ४४ ॥
पानीयं तोयमाचामं हस्तवासस्ततः परम् ।
ताम्बूलमनुलेपं च ततो नीराजनादिकम् ॥ ४५ ॥

दर्पण दिखाकर, गन्ध एवं पुष्पों को माला आदि से सजाकर, धूप एवं अगरु से समुद्भूत दीप एवं नैवेद्य और शुद्ध जल से आचमन कराके फिर हाथ धुलाकर, पान, और गन्ध एवं नीराजन[=आरती] आदि करना चाहिए ॥ ४४-४५ ॥

गीतं वाद्य तथा नृत्यं स्तुतिः चैव प्रदक्षिणम् ।
पुष्पाञ्जलिर्नमस्कारः साष्टाङ्गप्रणतिस्तथा ॥ ४६ ॥

---

१. अथाश्मो गल्लकी इति मूल पाठः ।

२. 'स्नानं बस्त्रमथाचाम' इ०पा० ।

इत्येतैरुपचारैश्च पूजयेत्प्राणवल्लभम् ।
अनिर्माल्यं सनिर्माल्यं पूजनं द्विविधं मतम् ॥ ४७ ॥

गाना बजाना एवं नृत्य करना चाहिए तथा स्तुति और प्रदक्षिणा करके पुष्पाञ्जलि लेकर नमस्कार करे । फिर साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिए । इस प्रकार के उपचारों से प्राणवल्लभा की पूजा करे । पूजा दो प्रकार की होती है—(१) विना निर्माल्य के पूजन और (२) निर्माल्य के सहित पूजन ॥ ४६-४७ ॥

दिव्यैर्मनोभवैः पुष्पैर्गन्धद्रव्यैर्मनोहरैः ।
भक्तैर्यत्क्रियते सम्यगनिर्माल्यं तदर्चनम् ॥ ४८ ॥

निर्माल्य सहित पूजन वह होता है जिसमें दिव्य [=स्वर्गीय] मन के भावों से, पुष्पों से, मन का हरण करने वाले गन्ध-द्रव्यों से भक्तिपूर्वक अर्चन किया जाता है वह सम्यक् निर्माल्य है ॥ ४८ ॥

जातमात्राणि पुष्पाणि घ्रातान्येव निसर्गतः ।
पञ्चभिश्च महाभूतैर्भानुना शशिनापि च ॥ ४९ ॥
प्राणिभिश्च द्विरेफाद्यैः पौष्पैरेव न संशयः ।
यदर्चनं सनिर्माल्यं दिव्यभोगापवर्गदम् ॥ ५० ॥

नवीन खिले हुए प्राकृतिक रूप से जो सुगन्धित हों, पञ्चमहाभूतों से, सूर्य और चन्द्रमा से भी, प्राणियों और भौरों से तथा निःसन्देह रूप से पुष्पित फूलों से अर्चन-पूजन होता है, वह दिव्य भोगापवर्ग का देने वाला सनिर्माल्य पूजन है ॥ ५० ॥

ग्रामारण्यादिसंभूतैः पूजाद्रव्यैर्मनोहरैः ।
घ्रातपुष्पात्फलं सिध्येदल्पं नो मानसात्तथा ॥ ५१ ॥
तस्मादपरिहार्यत्वादन्यथा चाप्युपायतः ।
[1]बुद्धिशुध्यै ततो देवि बाह्यद्रव्यैः प्रपूजयेत् ॥ ५२ ॥

गाँव और अरण्य आदि में उत्पन्न मनोहर पूजाद्रव्यों द्वारा सुगन्धित पुष्प के थोड़े से भी फल को मन से सिद्ध करे । फिर उस अपरिहार्य और अन्य उपाय से, शुद्ध बुद्धि से तब, हे देवि ! बाह्य द्रव्यों से प्रकृष्ट रूप से पूजन करे ॥ ५१-५२ ॥

पुनस्त्रेधा कृष्णपजा चोत्तमाधममध्यमा ।
यथोपकरणैः[2] कृत्स्नैः क्रियमाणोत्तमोत्तमा ॥ ५३ ॥

---

१. बद्धिशुद्धे स्तत इति पाठः ।
२. यज्ञोपकरणैरिति पाठः ।

पुनः उत्तम रूप से तीन प्रकार की कृष्ण पूजा कही गई है। जैसा कहा गया है वैसा ही सभी उपकरणों को जुटाकर की गई पूजा उत्तम से उत्तम पूजा कही गई है ॥ ५३ ॥

यथालब्धैर्विनिष्पाद्या द्रव्यैः पूजा तु मध्यमा।
पत्रपुष्पाम्बुनिष्पाद्या पूजा चाधमसञ्ज्ञिका ॥ ५४ ॥

जो प्राप्त हो जाय उन द्रव्यों से संपादित की गई पूजा दूसरी 'मध्यम' पूजा है। पत्र, पुष्प और जल से की गई पूजा 'अधम' संज्ञक तीसरी पूजा है ॥ ५४ ॥

आदौ तु मानसीं कृत्वा ततो बाह्यां प्रवर्तयेत्।
नीराजनान्तमासाद्य जपं कुर्याज्जितेन्द्रियः ॥ ५५ ॥

पहले मानसी पूजा करके फिर बाह्य उपकरणों से पूजा करे। फिर नीराजन [आरती] तक आकर जितेन्द्रिय व्यक्ति को चाहिए कि वह जप करे ॥ ५५ ॥

तुलसीकाष्ठसम्भूतैर्मणिभिः कृतमालया।
जपेच्छतं सहस्रं वा त्रिसन्ध्यास्वपि तं जपेत् ॥ ५६ ॥

तुलसी की लकड़ी से बनाई गई मणियों की माला बनाकर शत जप करे, अथवा हजार जप करे। उसे चाहिये कि तीनों सन्ध्या समय वह उसको जपे ॥ ५६ ॥

जपपूजासनं कुर्याच्चित्रकम्बलनिर्मितम्।
कौशेयं वाथ चैलं वा चर्म तूलमथापि वा ॥ ५७ ॥

जप और पूजा का आसन उसे रंगीन चित्रित कम्बल से बना प्रयोग में लाना चाहिए। कौशेय आसन हो अथवा वस्त्र, [मृग] चर्म या रूई का आसन भी प्रयोग किया जा सकता है ॥ ५७ ॥

वेत्रजं तालपत्रं वा दार्भमासनमेव च।
वंशाश्मदारुधरणीतृणपल्लवनिर्मितम् ॥ ५८ ॥

वर्जयेदासनं मन्त्री दारिद्र्यव्याधिदुःखदम्।
एवं सम्पूजयेत्कृष्णं प्रत्यहं परमेश्वरि ॥ ५९ ॥

बाँस की बनी चटाई आदि का आसन, ताड़ के पेड़ के पत्ते का या कुशासन का प्रयोग करना चाहिए। बाँस से निर्मित, पत्थर या लकड़ी का पीढ़ा पृथ्वी पर या तृण से निर्मित आसन का प्रयोग मन्त्र जाप करने वाले को नहीं करना चाहिए। वस्तुतः ये आसन दारिद्र्य, व्याधि और नाना प्रकार के दुःखों को देने वाले होते हैं। इस प्रकार, हे परमेश्वरि ! कृष्ण का पूजन-अर्चन नित्य प्रति करे ॥ ५९ ॥

न गृही ज्ञानमात्रेण परत्रेह च मङ्गलम् ।
प्राप्नोति चन्द्रवदने जपपूजादिभिर्विना ॥ ६० ॥

हे चन्द्रमुखी ! जप-पूजा आदि के विना गृहस्थ इस लोक और परलोक दोनों में मात्र ज्ञान ही प्राप्त कर लेने से मङ्गल नहीं प्राप्त करता ॥ ६० ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यजपार्जवम् ।
क्षमा धैर्यं मिताहारं आस्तिक्यं दानमेव च ॥ ६१ ॥

उसे अपने जीवन में १. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. दया-जप, ६. आर्जव [सरलता], ७. क्षमा, ८. धैर्य, ९ मित आहार, १०. अस्तिकता और ११. दान, ॥ ६१ ॥

वैराग्यं च विवेकश्च शमः श्रद्धा दमस्तथा ।
मुमुक्षुता विवेकश्च समाधानं तथात्मनः ॥ ६२ ॥

१२. वैराग्य, १३. विवेक, १४. शम, १५. श्रद्धा तथा १६. दम—इस प्रकार मुमुक्षुता और विवेक से आत्मा का शोधन करना चाहिए ॥ ६२ ॥

एतत्साधनसम्पत्ति कुर्वतां परमेश्वरि ।
ज्ञानं दारिद्र्यशमनं भविष्यति न संशयः ॥ ६३ ॥

हे परमेश्वरि ! इस प्रकार के साधनरूप सम्पत्ति को करने से निःसन्देह रूप से उसे ज्ञान प्राप्त होगा और उसके दारिद्र्य का शमन होगा । ६३ ॥

सर्वेषामेव जन्तूनामक्लेशजननं प्रिये ।
वाङ्मनः कर्मभिर्नूनमहिंसेत्यभिधीयते ॥ ६४ ॥

१. हे प्रिये ! सभी प्राणियों का विना क्लेश के जनन [उत्पन्न होना] है । निश्चय ही मनसा, वाचा तथा कर्मणा लोगों के द्वारा अहिंसा कही गई है ॥ ६४ ॥

यथादृष्टश्रुतार्थानां स्वरूपकथनं पुनः ।
सत्यमित्युच्यते सद्भिस्तद्ब्रह्मप्राप्तिसाधनम् ॥ ६५ ॥

२. सत्य—जैसा देखा है अथवा जैसा सुना है । पुनः वैसा ही स्वरूप का कथन करना सज्जनों द्वारा 'सत्य' कहा जाता है जोकि ब्रह्मप्राप्ति का साधन है ॥ ६५ ॥

तृणादेरप्यनादानं परस्य च प्रियंवदे ।
अस्तेयमेतदप्यङ्गं ब्रह्मप्राप्तेः सनातनम् ॥ ६६ ॥

३. अस्तेय—हे प्रियंवदे दूसरे का तृण भी न लेना 'अस्तेय' है । यह भी ब्रह्म-प्राप्ति का एक सनातन अङ्ग है ॥ ६६ ॥

अवस्थास्वपि सर्वासु कर्मणा मनसा गिरा।
स्त्रीसङ्गतिपरित्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥ ६७ ॥

४. ब्रह्मचर्य—(जीवन की यौवन, प्रौढ़ और बुढ़ापा आदि) सभी अवस्थाओं में कर्म से, मन से और वाणी से भी स्त्री की संगति का परित्याग 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है ॥ ६७ ॥

परेषां दुःखमालोक्य स्वस्येवालोच्य तस्य तु।
उत्सादनानुसन्धानं दयेति प्रोच्यते शिवे ॥ ६८ ॥

५. दया—हे कल्याणि ! दूसरे का दुःख देखकर उसके दुःख को अपना ही दुःख समझना और उससे छुटकारा प्राप्ति के उपाय का अनुसन्धान करना 'दया' कहा गया है ॥ ६८ ॥

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यं चार्जवं स्मृतम् ॥ ६९ ॥

६. आर्जव—मन, वाणी, शरीर और कर्मों के द्वारा सभी प्रकार के व्यवहारों में कुटिलता के राहित्य को स्मृतिकारों ने आर्जव [सरलता] कहा है ॥ ६९ ॥

सर्वात्मना सर्वदापि[1] सर्वेषामुपकारिता।
बन्धुष्विव समाचारः क्षमा स्यात्परमेश्वरि ॥ ७० ॥

७. क्षमा—सदैव सभी का सर्वात्मना उपकार करना और बन्धुओं के समान अच्छे आचार व्यवहार को, हे परमेश्वरि। 'क्षमा' कहा गया है ॥ ७० ॥

इच्छाप्रलापराहित्यं जातेषु विषयेषु च।
दुःखेषु[2] च धृतिर्धैर्यं प्रवदन्ति वराङ्गने ॥ ७१ ॥

८. धैर्य—हे वराङ्गने ! उत्पन्न विषयों में इच्छा और प्रलाप का राहित्य और इसी प्रकार प्रकट हुए दुःखों में भी रोना चिल्लाना आदि प्रलाप के न होने को विद्वान् लोग 'धैर्य' कहा करते हैं ॥ ७१ ॥

भोज्यस्यैव चतुर्थांशो भोजनं स्वस्थचेतसः।
अत्युग्रकटुतिक्ताम्ललवणादिविवर्जितम् ॥ ७२ ॥

हितं मेध्यं सुखं चेति मिताहारः स उच्यते।

---

१. 'सर्वदास्योपकारिषु' इ० पा०।

२. 'लाभस्तु धृतिर्धैर्यं' इ० पा०।

९. मिताहार—भोजन के चतुर्थांश का भोजन करना व्यक्ति को स्वस्थचित्त बनाता है। अत्यन्त तीक्ष्ण, अत्यन्त कड़ुआ, अतिरिक्त, अत्यन्त खट्टा और अत्यन्त नमकीन पदार्थ को न खाना स्वास्थ्य के लिए हितकारी, मेध्य [सुपाच्य] और सुख को उत्पन्न करने वाला आहार ही 'मिताहार' कहा गया है ॥ ७२–७३ ॥

श्रुत्याद्युक्तेषु विश्वास आस्तिक्यं सम्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

१०. आस्तिकता—श्रुति आदि की उक्तियों में विश्वास करना 'आस्तिकता' कही जाती है ॥ ७३ ॥

ध्यात्वान्तर्यामिनं चित्ते तदर्पणधियाऽन्वहम् ।
सत्पात्रे दीयते दानं तद्दानमभिधीयते ॥ ७४ ॥

११. दान—अन्तर्यामि प्रभु का चित्त में ध्यान करके उन्हीं को सदैव अर्पण करने की बुद्धि से सत्पात्र में दिए गए दान को ही उचित 'दान' कहा गया है ॥ ७४ ॥

ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विषयेषु बहुष्वपि ।
[1]वान्ताशनजुगुप्सा च वैराग्यं प्राप्तिसाधनम् ॥ ७५ ॥

१२. वैराग्य १३. (विवेक) ब्रह्मा आदि देवों से लेकर स्थावर पर्यन्त सृष्टि के सभी विषयों में और बहुतों में भी उल्टी करके पुनः खाने के समान जुगुप्सा रखना 'वैराग्य' है जो वस्तुतः 'ब्रह्म' की प्राप्ति का साधन है ॥ ७५ ॥

नित्यं वै वासनात्यागः [2]परदारगृहादिषु ।
परानन्दपरा भक्तिः [3]शम इत्युच्यते हि सः ॥ ७६ ॥

१४ परायी स्त्री और पराए गृहादिक धन की इच्छा का नित्य प्रति त्याग करके श्रेष्ठ 'भक्ति' ही 'शम' नाम से कही गई है ॥ ७६ ॥

निगमागमवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति कीर्त्तिता ।
विषयानन्दचरतामिन्द्रियाणां विनिग्रहः ॥ ७७ ॥
दम इच्युते देवि ब्रह्मप्राप्तेर्हि कारणम् ।
ससारं भयदं मत्वा विरहः[4] स्यादशेषकः ॥ ७८ ॥
मुक्तिकामस्य देवेशि कथिता सा मुमुक्षुता ।

---

१. वान्त्य शनवज्जुगुप्सा च इति पाठः ।
२. 'पुरद्वार' इ० पा० ।
३. 'सक्ति' इ० पा० ।
४. 'विरहस्य' दशांशकं इ० पा० ।

कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्त्तास्य विद्यते ।
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः ।। ७९ ।।

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
तस्मात्सर्वं प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवाविद्यया ततम् ।। ८० ।।

१४. निगम (वेद) आगम (पुराण) आदि के वाक्यों में भक्ति करना ही 'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध है । विषयों के आनन्द में रत इन्द्रियों के विशेष प्रकार से निग्रह [रोकने] को हे देवि ! 'दम' कहते हैं ।

१५. [विषयानन्द में लिप्त होने से इन्द्रियों को इसलिए रोकना चाहिए] क्योंकि यह ब्रह्म प्राप्ति का कारण है । [मृत्यु के कारण] 'यह संसार भय को ही देने वाला है'—ऐसा मानकर और अन्ततः इससे विरह ही प्राप्त होगा यह सोचते हुए इस विरह रूप दुःख से मुक्ति [छुटकारा] पाने की कामना ही हे देवेशि ! 'मुमुक्षता' कही गई है । 'हम कौन हैं ? यह कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका कर्त्ता कौन है ? इसका उपादान कारण क्या है ? इस प्रकार के विचार का उत्पन्न होना और इस [चराचर जगत् रूप] सर्व प्रपञ्च का उपादान कारण ब्रह्म को छोड़कर और कोई अन्य नहीं है और इस लिए यह ब्रह्म ही सभी प्रपञ्च है जिसका विस्तार अविद्या के कारण ही है ।। ।। ७७-८० ।।

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च ।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिर्जगौ ।। ८१ ।।

'सभी नामों को और विविध प्रकार के रूपों को तथा समग्र कर्मों को भी ब्रह्म ही धारण करते हैं'—इस प्रकार श्रुति कहती है ।। ८१ ।।

यथैव व्योम्नि नीलं च यथा नीरं मरुस्थले ।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ।। ८२ ।।

जैसे आकाश में नीलिमा है और जैसे मरुस्थल में जल है तथा स्थाणु [ठूंठे वृक्ष] में जैसे पुरुषत्व है वैसे ही चिदात्मा में विश्व की स्थिति है ।। ८२ ।।

यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम् ।
पात्ररूपेण वै ताम्रं ब्रह्माण्डो वै तथाक्षरः ।। ८३ ।।

जिस प्रकार तरङ्ग और कलोल जल में ही उठती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं । उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ताम्बे के पात्र रूप में स्थित है तथा अक्षर उसमें व्याप्त है ।। ८३ ।।

तस्मात्प्रपञ्चविभ्रान्तां नियम्य मतिमात्मनि ।
उक्तसाधनसम्पन्नः सखीभावं निजं गतः ॥ ८४ ॥

इसलिए प्रपञ्च में विविध प्रकार से भ्रमित होने वाली अपनी बुद्धि को नियमित करके ऊपर कहे हुए साधन से सम्पन्न होकर अपने को सखीभाव को प्राप्त करना चाहिए ॥ ८४ ॥

नित्यं लीलारसानन्दं स्वपतिं पुरुषोत्तमम् ।
भजत्यनन्यया बुध्या पुनः संयोगमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

नित्य ही लीला रूप-रस से आनन्दित करने वाले अपने पति [पालक] पुरुषोत्तम को जो अनन्य बुद्धि से भजता है वह पुनः संयोग को प्राप्त करता है ॥ ८५ ॥

इति ते कथितं देवि तदाराधनलक्षणम् ।
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ८६ ॥

॥ इति श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवपार्वती-
संवादे एकत्रिंशं पटलम् ॥ ३१ ॥

———

इस प्रकार हे देवि ! उन प्रभु की आराधन का लक्षण क्रम हमने तुमसे संक्षिप्त रूप में कहा है । अब तुम पुनः और क्या सुनना चाहती हो ॥ ८६ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के एकतीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३१ ॥

——*——

अथ द्वात्रिंशं पटलम

पार्वत्युवाच

देवेश भगवन् शम्भो भक्तवत्सल धूर्जटे।
श्रुतोऽयं मे महामन्त्रश्चूडामणिरनुत्तमः ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे देवेश, भगवन्, शम्भो, भक्त-वत्सल, धूर्जटे ! मैंने यह उत्तम चूडामणि रूप महामन्त्र को सुन लिया है ॥ १ ।

यस्य विज्ञानमात्रेण स्वयं शुध्यति वासना।
अन्येऽपि शुद्धिमायान्ति स्वयं तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ २ ॥

यह मन्त्र इस प्रकार का है कि जिसके जान लेने मात्र से ही स्वयमेव वासना की शुद्धि हो जाती है और वे अन्य जन भी [मन की] शुद्धता को प्राप्त कर लेते हैं जो स्वयं से इसके सङ्ग में सङ्गत होते हैं ॥ २ ॥

मन्त्रराजमिमं देव प्राप्नुयात्कः पुमान्यदि।
भिन्नभिन्नफलैः कर्मपाशजालैर्नियन्त्रितः ॥ ३ ॥

हे देव ! यदि इस मन्त्रराज को कोई पुरुष प्राप्त कर ले तो वह भिन्न-भिन्न फलों से और कर्म रूपी पाश के जालों से नियन्त्रित हो जाता है ॥ ३ ॥

न स्त्री न पुरुषः कश्चिद्विद्यते नामरूपतः।
स्त्रीप्राप्यमेव तद्ब्रह्म कृष्ण आनन्दविग्रहः ॥ ४ ॥

उसकी प्राप्ति के बाद स्त्री या पुरुष कोई भी नाम और रूप से नहीं विद्यमान रहते। अपितु आनन्द के साक्षात् विग्रह रूप कृष्ण-ब्रह्म के रूप में परिणत हो जाते हैं ॥ ४ ॥

भोक्तृभोग्यस्वरूपेण रसश्चेति श्रुतेर्मतम्।
नात्यन्तं च तयोर्भेदो भेदः स्वाभाविकः प्रभो ॥ ५ ॥

श्रुति का भी यही मत है कि भोक्तृ और भोग्य स्वरूप के द्वारा यह ब्रह्मानन्द ही रस है। हे प्रभो ! उस ब्रह्मानन्द की अवस्था में दोनों ही भोक्ता और भोग्य में कोई भेद नहीं होता जो स्वाभाविक ही है ॥ ५ ॥

आलम्बनादि विधुरो रस एव न सिद्धयति ।
यद्विना यन्न संसिद्धयेत्तत्तदेव न चान्यथा ॥ ६ ॥

क्योंकि आलम्बन आदि को छोड़कर रस की सिद्धि ही नहीं होती है । जिसके बिना जिसकी सिद्धि नहीं उसकी स्थिति उसके बिना सभाव्य ही नहीं है ॥ ६ ॥

तथापि भोक्तृभोग्याभ्यां भागाभ्यां क्रीडतेऽनिशम् ।
भोग्यभागस्तु तापात्मा भोक्तृभागोऽमृतात्मकः ॥ ७ ॥

उसी प्रकार भोक्ता और भोग्य दोनों ही अहर्निश क्रीडा करते रहते हैं । उन दोनों में भोग्य वस्तु तापात्मक है और भोक्ता तो अमृतात्मक ही है ॥ ७ ॥

अविनाभावसम्बन्धस्तापस्य च सुखस्य च ।
भोक्तृभोग्यांशयोर्विप्रलंभस्तापस्य सिद्धये ॥ ८ ॥

इस प्रकार ताप और सुख दोनों का अविनाभाव [=वियुक्त न होने योग्य] सम्बन्ध है । अतः ताप की सिद्धि के लिए भोक्तृ और भोग्यांश दोनों का ही विप्रलम्भ स्वरूप है ॥ ८ ॥

कृष्णस्त्रीणां विप्रयोगे यदि तापोदयो भवेत् ।
कृतार्थता तदा जाता न निषेधविधिस्थितौ ॥ ९ ॥

कृष्ण और [मुझ भक्त-स्वरूप] स्त्री के वियोग से यदि [ब्रह्मानन्द रूप] ताप का उदय होता है तो तप में कृतार्थता होती है और उस समय निषेध रूप विधि (नेति, नेति) की स्थिति नहीं होती है ॥ ९ ॥

विप्रयोगे तु विज्ञाते हृदि तापोदयो न चेत् ।
तदा चूडामणिजपात् शीघ्रं सिद्धयति नान्यथा ॥ १० ॥

यदि कृष्ण और स्त्री [=भक्त] का विशेष योग हृदय में विज्ञात होवे फिर भी ताप का उदय न हो तो इसमें सन्देह नहीं कि इन मन्त्रों में चूड़ामणि रूप मन्त्रराज के जप से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १० ॥

तस्माच्चूडामणेर्मन्त्रराजस्य च पुरस्क्रियाम् ।
वद शम्भो विशेषण यथाय जीवितो भवेत् ॥ ११ ॥

इसलिए इस चूड़ामणि रूप मन्त्रराज का पुरश्चरण, हे शम्भो, आप मुझसे कहिए, जिससे यह मन्त्र जीवित हो जाता है ॥ ११ ॥

त्वद्वागमृतपानेन न तृप्तिर्जायते मम ।
धन्यं मत्कर्णयुगलं ब्रह्मलीलामृतप्लुतम् ॥ १२ ॥

आपके अमृत रूपी वाणी के पान से मुझे तृप्ति नहीं हो रही है। मेरे दोनों ही कान धन्य हैं जो ब्रह्म के लीला रूपी अमृत के पान से आप्लुत [भर] गए हैं ॥ १२ ॥

अद्य मे पितरौ धन्यौ ययोरासमहं सुता ।
प्रसादपात्रं भवतो वदतो ब्रह्मणो रहः ॥ १३ ॥

आज मेरे माता और पिता (मेना और हिमालय) भी धन्य हुए हैं जिनकी मैं लड़की हूँ। मैं आपके प्रसाद की पात्र हूँ जो आप गोपनीय ब्रह्म का प्रतिपादन कर रहे हैं ॥ १३ ॥

धिक्कुलं धिग्धनं तस्य धिग्विद्यां धिग्यशोऽमलम् ।
न यस्य ब्रह्मचिन्तासु लीनवृत्ति[1] मनो भवेत् ॥ १४ ॥

उस कुल को धिक्कार है, उस धन को धिक्कार है, उस विद्या को भी धिक्कार है और उस निर्मल यश को भी धिक्कार है जिसने अपने मन को और अपनी वृत्तियों को ब्रह्म के चिन्तन में लीन नहीं किया है ॥ १४ ॥

आयुर्वर्षशतं लोके तदर्द्धं निद्रया हृतम् ।
बाल्यवार्द्धकभावाभ्यां तथा रोगादिपीडनैः ॥ १५ ॥

मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है। उसका आधा भाग निद्रा [देवी] के द्वारा छीन लिया जाता है। बाल्यकाल और वृद्धावस्था तथा रोग आदि यातनाओं के द्वारा शेष जीवन का समय बीत जाता है ॥ १५ ॥

व्यर्थयन्ति महामूढा विमुखा ब्रह्मकीर्त्तने ।
तस्मात्कथय देवेश कथां पापप्रणाशिनीम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार महान् मूर्ख पुरुष ब्रह्मकीर्तन से विमुख होकर व्यवस्थित होते ही रह जाते हैं। इसलिए हे देवेश ! पाप-ताप का नाश करने वाली कथा को कहिए ॥ १६ ॥

पुरस्क्रियां विधोपेतां मन्त्रराजस्य शङ्कर ।
यस्य श्रवणमात्रेण मन्त्रसिद्धिः प्रजायते ॥ १७ ॥

हे शङ्कर ! उस मन्त्रराज की विधि से युक्त पुरश्चरण को कहिए जिसके श्रवणमात्र से मन्त्र की सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ १७ ॥

शिव उवाच

धन्यासि देवि गिरिन्द्रजे साधु पृष्टमिदं रहः ।
यस्य कस्यापि नो वाच्यं वाच्यं सर्वस्वदायिने ॥ १८ ॥

---

१. 'लीनवति' इ० पा० ।

शिवजी ने कहा—

हे गिरिराज कुमारी ! हे देवि, तुम धन्य हो जो तुमने इस गोपनीय [मन्त्रराज] को पूँछा है। जिस किसी को भी इसको नहीं बतलाना चाहिए जो सर्वस्व दान भी करने वाला हो उसे भी नहीं ॥ १७ ॥

लब्ध्वा मन्त्रं गुरोः सम्यक् सेवया च प्रसादतः।
जपतर्पणहोमाद्यैर्बोधयेन्मन्त्रमुत्तमम् ॥ १९ ॥

गुरु से अच्छी प्रकार से उसकी सेवा से और प्रसन्नता से इस मन्त्र को लेकर जप, तर्पण, होम आदि से इस उत्तम मन्त्र का उद्बोधन करे ॥ १८-१९ ॥

शून्यागारे गिरौ रम्ये तीर्थे चोपाधिवर्जिते।
उद्याने सिद्धपीठे वा प्रयोगे पुष्करेऽथवा ॥ २० ॥

इस मन्त्रराज का एकान्त घर में या एकान्त पर्वत पर, या रम्य उपाधिवर्जित तीर्थ पर, उद्यान में अथवा किसी सिद्धपीठ पर या प्रयाग में अथवा पुष्कर क्षेत्र में ॥ २० ॥

नर्मदायास्तटे वापि विन्ध्याद्रौ वा शुभस्थले।
जपतो मन्त्रराजानं सिद्धिः शीघ्रं प्रजायते ॥ २१ ॥

नर्मदा के तट पर, विन्ध्य पर्वत पर या किसी शुभ स्थल में जप करने से शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ २१ ॥

जितेन्द्रियो जितक्रोधो जितचित्तो दृढव्रतः।
दृढवैराग्यसम्पन्नो देहाहङ्कारवर्जितः ॥ २२ ॥

वहाँ उसे जितेन्द्रिय रहकर, क्रोध को जीतकर, चित्त की वृत्तियों का निरोध करके, दृढव्रत धारी होकर, दृढ वैराग्य धारण करके और देह के अहङ्कार से रहित होकर ॥ २२ ॥

दयालुः सर्वभूतेषु भूतबाधापराङ्मुखः।
शङ्कातङ्कादिरहितो रागद्वेषविवर्जितः ॥ २३ ॥

सभी प्राणियों पर दयालु होकर, भूतबाधा से पराङ्मुख होकर शङ्का-सन्देह से रहित और राग एवं द्वेष से रहित होकर ॥ २३ ॥

देहगेहादिकां चिन्तां परित्यज्य प्रशान्तधीः।
मन्त्रध्यानपरो नित्यं लीलाध्यानरतः सदा ॥ २४ ॥

अपने शरीर और गृह आदि की चिन्ता को छोड़कर उस शान्त चित्त वाले जन को

नित्य ही मन्त्र का ध्यान करना चाहिए और सदैव [कृष्ण की] लीला के ध्यान में रत रहना चाहिए ।। २४ ।।

त्रिधास्त्रीसङ्गतित्यागात् ध्यानमुद्राधरोऽनिशम् ।
मौनी त्रिषवणास्नायी शुचिदेहः सिताम्बरः ।। २५ ।।

तीन प्रकार से [मनसा, वाचा, कर्मणा] स्त्री की सङ्गति त्याग कर उसे अहर्निश ध्यान की मुद्रा में रहना चाहिए । उसे सदैव मौन धारण करना चाहिए । उसे तीन काल में स्नान करना और शुद्ध देह एवं सफेद वस्त्र से युक्त रहना चाहिए ।। २५ ।।

वर्णाश्रमक्रियायुक्तो विश्वासी ह्यनसूयकः ।
देवब्राह्मणगोनिन्दारहितो लोभवर्जितः ।। २६ ।।

उसे वर्णाश्रम धर्म की क्रिया से युक्त, विश्वासी और असूया न करने वाला, देवता, ब्राह्मण एवं गायों की निन्दा न करने वाला एवं लोभ से वर्जित रहने वाला होना चाहिए ।। २६ ।।

एवंविधगुणैर्युक्तः कुर्यान्मन्त्रपुरस्क्रियाम् ।
मनसा कल्पयेत्क्षेत्रं गमनागमनाय च ।। २७ ।।

इस प्रकार के गुणों से युक्त होकर मन्त्र की पुरस्क्रिया का आरम्भ करे । अपने मन से उसे गमन योग्य और न गमन करने योग्य क्षेत्र की कल्पना करनी चाहिए ।। २७ ।।

विकिरेत्सर्षपान् दिक्षु शतधा मन्त्रशोधितान् ।
ज्वलदग्निनिभान् दृष्ट्वा पलायन्ते विनायकाः ।। २८ ।।

उसे मन्त्र से शोधित सरसों को सौ बार दिशाओं में छींटना चाहिए । जलती हुई अग्नि के सदृश इन्हें देखकर विनायक [गण] भाग जाते हैं ।। २८ ।।

ततः खादिरकीलांश्च दशदिक्षु खनेत्प्रिये ।
नायान्ति कीलिता विघ्ना दृष्ट्वा क्षेत्रं च कीलितम् ।। २९ ।।

इसके बाद, हे प्रिये ! दसों दिशाओं में खदिर [=खैर] की लकड़ी की कील खनकर गाड़ देनी चाहिए । इस कीलित क्षेत्र को देखकर विघ्न बाधाएँ वहाँ नहीं आती हैं ।। २९ ।।

न बहिर्गमनं कुर्यात् क्षेत्रमुल्लङ्घ्य मोहतः ।
तमोमात्रात्मकाः केचित् श्रेयसां परिपन्थिनः ।। ३० ।।

अतः किसी भी प्रकार से मोह या लोभवश इस कीलित क्षेत्र के बाहर लाँघकर नहीं ही जाना चाहिए। क्योंकि कल्याण चाहने का दिखावा करने वाले तमोमात्रात्मक जन भी होते हैं ॥ ३० ॥

औदासिन्यं भयं क्रोधं निद्रातन्द्राविवर्जयेत् ।
दुग्धपानं फलाहारं भिक्षान्नं चापि सेवयेत् ॥ ३१ ॥

इस समय उसे उदासीनता, भय एवं क्रोध, निद्रा तथा आलस्य से रहित होना चाहिए। उसे सदैव दुग्ध का पान और फल का आहार करके भिक्षा से प्राप्त अन्न का सेवन करना चाहिए ॥ ३१ ॥

कन्दमूलफलैः पत्रैस्तथैवायाचितेन च ।
कल्पयेद्दैहिकीं वृत्तिं यथा नेन्द्रियविक्रिया ॥ ३२ ॥

कन्द-मूल, आदि फलों एवं तोड़े हुए पत्तों से अपनी देह की [भूख आदि] वृत्तियों का प्रतिपादन करना चाहिए, जिससे कि इन्द्रिय की विकलता न हो जाय ॥ ३२ ॥

इन्द्रियाणां विकारे तु मन्त्री शीघ्रं विनश्यति ।
सर्वेषु धर्ममार्गेषु चरतां सिद्धिकाम्यया ॥ ३३ ॥

क्योंकि इन्द्रियों के विकार से तो उस मन्त्र जप करने वाले का शीघ्र ही विनाश हो जाता है। अतः सभी धर्मों के मार्गों में सिद्धि की कामना से आचरण करना चाहिए ॥ ३३ ॥

परिपन्थी न चान्योऽस्ति यथेन्द्रियविकारिता ।
तस्मादिन्द्रियरक्षार्थं सावधानतया चरेत् ॥ ३४ ॥

उतना ही नियम एवं संयम करे जिसमें इन्द्रिय की विकलता न हो। इसलिए इन्द्रियों की रक्षा के लिए सावधानी से आचरण [नियम-संयम] करे ॥ ३४ ॥

इन्द्रियाणि मनो देवि नोपेक्ष्याणीति मे मतिः ।
उपेक्षया हता लोका विभ्रमन्ते विचित्रधा ॥ ३५ ॥

हे देवि ! मेरे विचार से इन्द्रियों और मन की कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः उपेक्षा करने से वे नष्टप्राय होकर विचित्र प्रकार से लोकों में विभ्रमित होते हैं ॥ ३५ ॥

विषयेभ्यो निवृत्तोऽपि जितकाममदोऽपि सन् ।
न करोमीन्द्रियोपेक्षां मायासृष्टिविमोहिनी ॥ ३६ ॥

विषयों से निवृत्त होने पर भी और कामरूपी मद के जीत लेने पर भी मैं

(= शिव) इन्द्रियों की उपेक्षा नहीं करता हूँ क्योंकि यह माया से उद्भूत सृष्टि विमोहित करने वाली है ॥ ३६ ॥

के के वा न हता देवि बलिष्ठैरिन्द्रियारिभिः ।
अहल्यायां कृतो जार इन्द्रस्त्रैलोक्यरक्षकः ॥ ३७ ॥

हे देवि ! इन इन्द्रिय रूपी बलवान् शत्रुओं से कौन ऐसे है जो नहीं मार गिराए गए हैं। सती अहल्या में भी त्रैलोक्य के रक्षक इन्द्र ने जार कर्म किया ॥ ३७ ॥

चन्द्रमा गुरुभार्यायां तारायां विनियोजितः ।
बन्धुक्षेत्रे गुरुश्चापि वेदवेदान्तवित्कविः ॥ ३८ ॥

चन्द्रमा ने भी गुरु [बृहस्पति की भी] पत्नी तारा में नियोग कर्म किया और वेद एवं वेदान्त के ज्ञाता क्रान्तदर्शी गुरु ने भी बन्धु उचथ्य [की स्त्री ममता] के क्षेत्र में सम्भोग किया ॥ ३८ ॥

विमर्श—बृहस्पति (गुरु) आङ्गिरस कुल में उत्पन्न एक ऋषि हैं। जिनके संवर्त तथा उचथ्य नामक दो भाई थे। एक बार इन्होंने उचथ्य की गर्भवती पत्नी ममता के साथ सम्भोग किया। सम्भोग करते समय ममता के उदर में स्थित बालक ने बृहस्पति से बार-बार उक्त क्रिया करने पर प्रतिबन्ध लगाया। इस पर क्रोधित होकर इन्होंने उस बालक को शाप दिया कि वह जन्मान्ध पैदा हो। यही बालक बाद में अन्धे दीर्घतमस ऋषि हुए।

सीतायां रामभार्यायां मद्भक्तोपि दशाननः ।
एतेऽन्येपीन्द्रियहतास्तस्मात्तानि न विश्वसेत् ॥ ३९ ॥

राम की भार्या सीता में मेरे भक्त दशानन ने भी कुदृष्टि रखी थी। इसके अतिरिक्त भी और भी कई जन इन्द्रिय से हत हुए हैं। इसलिए इन इन्द्रियों पर विश्वास नहीं ही करना चाहिए ॥ ३९ ॥

तस्मादाहारमाकुंच्य जेतव्यानीति मे मतिः ।
धारयेन्नखकेशांश्च वासः प्रक्षालितं वसेत ॥ ४० ॥

इसलिए मेरे विचार से आहार का संकोच करके इन्हें जीतना चाहिए। उस मन्त्र जापक को नख और केश रख लेना चाहिए और धुले हुए साफ सुथरे घर में रहना चाहिए ॥ ४० ॥

शयीत भूमौ शय्यायां कुशमय्यां निशासु च ।
वासः प्रक्षालयेद् देवि कटिमुक्तं यदा भवेत् ॥ ४१ ॥

उसे भूमि पर शयन करना चाहिए और रात्रि में कुश के बिछौने पर ही सोना चाहिए। हे देवि ! जब कटि मुक्त होएं तब अर्थात् सोकर उठने के बाद उस वस्त्र धो देना चाहिए ।। ४१ ।।

पतितैः कर्मचाण्डालैः जातिचाण्डालकैरपि ।
म्लेच्छान्त्यजसङ्करैश्च न भाषेत जपे स्थितः ।। ४२ ।।

जप में स्थित रहकर उसे, पतित जनों, कर्म से चाण्डाल कर्म करने वालों से और जाति से भी चाण्डालों से और म्लेच्छ, अन्त्यज एवं वर्णसङ्कर जनों से बातचीत नहीं करनी चाहिए ।। ४२ ।।

सन्ध्याकाले व्यतिक्रान्ते देहवृत्तिं तु कल्पयेत् ।
न्यूनाधिकं न कुर्वीत जपं देवि दिने दिने ।। ४३ ।।

सन्ध्या समय के बीत जाने पर ही शरीर सम्बन्धी वृत्तियाँ [मल-मूत्र त्याग या भोजनादि] करना चाहिए। हे देवि ! उसके बाद प्रत्येक दिन नियत संख्या में ही जप करना चाहिए। मन्त्र जापक को कभी कम या कभी अधिक मन्त्र-जप नहीं करना चाहिए ।। ४३ ।।

नीचसम्भाषणे[1] देवि म्लेच्छसम्भाषणे तथा ।
प्रायश्चित्तं प्रकुर्वीत सहस्रजपसंख्यया ।। ४४ ।।

हे देवि ! यदि नीच [चाण्डाल आदि] से सम्भाषण कर ले अथवा म्लेच्छ से वार्तालाप कर ले तो एक हजार मन्त्र का जप करके प्रायश्चित्त करना चाहिए ।। ४४ ।।

यामार्द्धेनावशिष्टायां निशि शय्यां परित्यजेत् ।
उदिते च सहस्रांशौ यः शेते निद्रितोऽलसः ।। ४५ ।।

रात में जब अर्ध याम [=प्रहर] के अवशिष्ट रहने पर ही शय्या का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि जो सहस्रांशु [=सूर्य] के उदित हो जाने पर निद्रा में या आलस्य में शय्या पर पड़ा रहता है ।। ४५ ।।

जपः छिद्रमवाप्नोति सिद्धिर्भवति दूरगा ।
सावधानतया भाव्यं तस्माद्देवि दिने दिने ।। ४६ ।।

उसे सिद्धि-प्राप्त होना तो दूर की बात है। उसके जप [रूपी वस्त्र] में छिद्र हो जाता है। इसलिए हे देवि ! प्रतिदिन उसे सावधानी से समय से उठकर जप करना चाहिए ।। ४६ ।।

---

१. न नीचो यवनात्परः ।

ध्यायेल्लीलां जपश्रान्तो ध्यानश्रान्तः पुनर्जपेत् ।
जपध्यानसमायुक्तः शीघ्रं सिध्यति मन्त्रवित् ।। ४७ ।।

यदि जप करते-करते थक जाय तो भगवान् कृष्ण की लीलाओं का ध्यान करना चाहिए और जब ध्यान करते-करते थक जाय तो पुनः जप करना शुरु कर देना चाहिए । क्योंकि मन्त्र वेत्ता इस प्रक्रिया से जप और ध्यान को समुचित करके शीघ्र सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।। ४७ ।।

नैकवासा जपेन्मन्त्रं बहुवस्त्राकुलोऽपि वा ।
तैलताम्बूलपूगादिसर्वभोगान् विवर्जयेत् ।। ४८ ।।

मात्र एक ही वस्त्र पहनकर मन्त्र का जप नहीं करना चाहिए; अथवा बहुत से वस्त्रों को भी पहनकर जप नहीं करना चाहिए । साधन के समय साधक को तैल, ताम्बूल, सुपाड़ी आदि सभी भोग की सामग्रियों का त्याग कर देना चाहिए ।। ४८ ।।

वाङ्मनः कायकौटिल्यं सर्वथैव परित्यजेत् ।
न वाचोद्वेजयेत्किञ्चिन्नाशुभं कस्य वा स्मरेत् ।। ४९ ।।

उसे चाहिए कि मन वाणी शरीर की कुटिलता को सभी प्रकार से त्याग दे । कभी भी वाणी से किसी को भी उद्वेलित न करे और मन से भी किसी का अशुभ न चाहे ।। ४९ ।।

न चक्षुषा निरीक्षेत पशुक्रीडां कदाचन ।
न चेक्षेत स्त्रियं नग्नां न स्पृशेद्यदमङ्गलम् ।। ५० ।।

कभी भी पशु की क्रीडा को आँख से न देखे । न तो नग्ना स्त्री को देखे और न ही अमाङ्गलिक द्रव्यों का स्पर्श करे ।। ५० ।।

मध्यन्दिनावधि जपेन्मन्त्रराजमनन्यधीः ।
ततः परं तु मनसा ध्यायेल्लीलां समाहितः ।। ५१ ।।

अनन्य बुद्धि से [विना किसी और का ध्यान किए हुए] इस मन्त्रराज का जप मध्याह्न तक करना चाहिए । उसके बाद समाहित चित्त होकर भगवान् कृष्ण की लीला का ध्यान मन से करना चाहिए ।। ५१ ।।

जपस्यैवं दशांशेन होमं कुर्याद् दिने दिने ।
अथवा लक्षपर्यन्तं जप्त्वा होमं समाचरेत् ।। ५२ ।।

प्रतिदिन उसे जप की संख्या के दशांश [अर्थात् यदि दश माला जप किया है तो के १ माला] से हवन करना चाहिए अथवा उसे चाहिए कि नित्य प्रति होम न करके एक लाख जप करने के बाद उसके दशांश से हवन बाद में करे ।। ५२ ।।

समाप्तौ वापि जुहुयात् यथासम्भवमम्बिके ।
प्रत्यक्षरं जपेल्लक्षं श्रद्धावान्नातिचञ्चलः ॥ ५३ ॥

हे अम्बिके ! जप की समाप्ति पर उसे जितना हो सके उतनी आहुति देनी चाहिए। श्रद्धावान् साधक को चाहिए कि एक-एक अक्षर का एक लाख जप बिना किसी चञ्चलता के करे ॥ ५३ ॥

आरब्धे तु जपेद्देवि मन उद्विजतेतराम् ।
चिन्ताशोकभयोद्वेगदुःस्वप्नादि प्रजायते ॥ ५४ ॥

हे देवि ! जब जप का आरम्भ किया जाता है तो मन में उद्वेग होता है। उसमें तरह-तरह की चिंता, शोक, भय, उद्वेग और दुःस्वप्न आदि आने लगते हैं। किन्तु प्रारम्भ करने के बाद उसे जप करना ही चाहिए ॥ ५४ ॥

तदा धैर्यं समालम्ब्य स्थिरीकुर्यान्मनो धिया ।
एवं लक्षत्रये जप्ते लीलाध्यानैकचेतसः ॥ ५५ ॥

तब धैर्य धारण करके मन को और बुद्धि को स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार से तीन लाख जप करने पर साधक भगवान् कृष्ण की लीला के ध्यान में मग्न होता है ॥ ५५ ॥

विघ्नाः सर्वे पलायन्ते पातकानि ज्वलन्ति च ।
निर्विघ्नस्य विपापस्य मनः सम्यक् प्रसीदति ।
मनःप्रसन्ने देवेशि स्वप्ने देवादिदर्शनम् ॥ ५६ ॥

तब सभी विघ्न बाधाएँ दूर हो जाती हैं और सभी पाप जल जाते हैं। तब उस निर्विघ्न और पाप से रहित साधक का मन सम्यक् रूप से प्रसन्न होता है। हे देवेशि ! मन के प्रसन्न होने पर स्वप्न में देव आदि का दर्शन होता है। ५६ ॥

वरार्थं प्रार्थ्यमानोऽपि नैव लुभ्यान्मनः प्रिये ।
पञ्चलक्षजपेद्देवि देवदानवरक्षसाम् ॥ ५७ ॥

अवधृष्यो भवेत्साक्षाज्ज्वलन्निव हुताशनः ।
दशलक्षजपे सिद्धे प्रार्थयन्त्यमराङ्गनाः ॥ ५८ ॥

हे प्रिये ! वर के लिए उन देवी देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर भी अपने को उसमें नहीं ही लुभाना चाहिए। हे देवि ! उसे पाँच लाख जप करना चाहिए। तब देव, दानव और राक्षस भी रास्ते से हट जाते हैं। जैसे साक्षात् प्रज्वलित होती हुई अग्नि धर्षित नहीं होती वैसे ही साधक का तेज हो जाता है। जब

दस लाख तक जप हो जाता है तब अमराङ्गना [देवताओं की स्त्रियाँ] प्रार्थना करती है ॥ ५९ ॥

त्वं स्वामी च वयं दास्योऽनुग्रहाण दयापरः।
यावद्यास्यसि धाम स्वं भित्वा ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ ५९ ॥

तुम स्वामी हो और हम सब तुम्हारी दासी हैं। हम लोगों को आप दया करके अनुगृहीत करें। जब तक तुम ब्रह्माण्ड मण्डल का भेदन करके अपने धाम को नहीं चले जाते तब तक तुम हम लोगों से सेवित होते हुए स्वर्ग में रहो। वहाँ पर सभी ऋतुओं के गुणों से युक्त नन्दनवन हैं ॥ ६० ॥

तावत्त्वं स्वर्गमातिष्ठ ह्यस्माभिः कृतसेवनः।
तत्रास्ति नन्दनवनं सर्वर्तुगुणमण्डितम् ॥ ६० ॥
स्वर्धुनी स्वर्णसोपाना रत्नमण्डपमण्डिता।
हंसकारण्डवाकीर्णा स्वर्णपद्मालिसङ्कुला ॥ ६१ ॥

वहाँ सदैव गीतों के स्वर सुनाई पड़ते रहते हैं। वहाँ की सीढ़ियाँ स्वर्ण की बनी है और वहाँ के मण्डप सभी ऋतुओं के गुण के अनुसार रत्नजटित हैं। वहाँ का नन्दनवन हंस एवं कारण्डव [=बत्तख] आदि पक्षियों से संकुलित है। वहाँ के सरोवर स्वर्ण के कमल और भौंरों आदि से व्याप्त हैं ॥ ६०-६१ ॥

आहारो यत्र पीयूषं रक्षिता यत्र देवराट्।
प्रार्थयन्ति देवलोकं क्रतुभिः कर्मकोविदाः ॥ ६२ ॥

जहाँ पर आहार रूप से मात्र अमृत ही पान किया जाता है [मृत्युलोक में अमृत गाय का दुग्ध है। अतः जो लोग गाय की सेवा करके उससे प्राप्त दुग्ध का सेवन करते हैं वह सभी रोगों के निवारण करने वाले एवं पौष्टिक आहार के रूप में अमृत का ही पान करते हैं] जहाँ के रक्षक देवराज इन्द्र हैं। इसीलिए कर्मकाण्ड के प्रवर्तक विद्वज्जनों द्वारा यज्ञों से देवलोक की ही प्रार्थना की जाती है ॥ ६२ ।

तस्मादलङ्कुरु स्वयं स्वर्गं त्रिदशमण्डितम्।
एवं विलोभ्यमानोऽपि मन्त्री निश्चलमानसः ॥ ६३ ॥

'इसलिए देवताओं से सुशोभित स्वर्ग को आप स्वयं अलङ्कृत करें'—इस प्रकार उन देवाङ्गनाओं के द्वारा प्रलोभन देने पर भी मन्त्र जप करने वाले को निश्चल मन वाला ही रहना चाहिए ॥ ६३ ॥

श्रावयेदुत्तरं तासामक्षुब्धो निःकुतूहलः।
न स्वर्गो नापि नरको न मोक्षो बन्धनं नहि ॥ ६४ ॥

स्वप्ने यथा तथा भाति रोचते न मनाङ् मम ।
तस्माद्यूयं मया प्रोक्ताः प्रयान्तु त्रिदशालयम् ।। ६५ ।।

इतना ही नहीं, अपितु विना किसी भी कुतूहल के और क्षुब्धता से रहित होकर उन्हें उत्तर देना चाहिए कि–स्वर्ग, नरक, मोक्ष और बन्धन मुझे रुचिकर नहीं है। यह तो मुझे स्वप्न के समान प्रतीत होता है। अतः आप सभी मुझसे अनुज्ञा लेकर स्वर्ग को ही चलीं जांय ।। ६५ ।।

श्रुत्वैवं वचनं तस्य निराशाः यान्ति ताः स्त्रियः ।
दशपञ्च च लक्षाणि यदा जप्तो महामनुः ।। ६६ ।।
तदा सिद्धाः समायान्ति सिद्धिभिः सह सुन्दरि ।
पातालेषु प्रवेशं च दूरश्रवणदर्शनम् ।। ६७ ।।
परकायाप्रवेशं च मनः पवनवद्गतिम् ।
पादुकाञ्जनसिद्धिं च रसधातुक्रियां तथा ।
इत्यादिविविधां सिद्धिं दर्शयन्ति न संशयः ।। ६८ ।।

इस प्रकार के उस मन्त्र जप करने वाले के वचन सुनकर वे स्त्रियाँ निराश हो जाती हैं। इस प्रकार जब पन्द्रह लाख जप उस महान् चिन्तामणि मन्त्र के द्वारा कर लिया जाता हैं तब हे सुन्दरि! सिद्धियों के साथ सिद्ध लोग आते है। तब वे सिद्ध जन पाताल में प्रवेश, दूर की बात भी सुन लेना, दूसरे की काया में प्रवेश करना, मन और पवन की गति के समान तेज चलना, पादुका सिद्धि और अञ्जन लगा लेने पर अप्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष होना और रस एवं धातु क्रिया [स्वर्ण या चाँदी बना देना] आदि विविध प्रकार की सिद्धियाँ दिखलाई पड़ती हैं–इसमें सन्देह नहीं है ।। ६६–६८ ।।

पूर्वोक्तवचने चोक्ते यान्ति ते नातिपूर्वकम् ।
यदा विंशति लक्षाणि जप्ते चिन्तामणिमनौ ।। ६९ ।।
स्फुरन्ति सकला विद्याः शास्त्राणि विविधानि च ।
पञ्चविंशति लक्षाणि जप्ते चिन्तामणौ प्रिये ।। ७० ।।
साक्षात्पश्यति देवेशि ब्रह्माण्डमक्षरात्मकम् ।
ब्रह्माण्डान्तः प्रविष्टं च विराजं पश्यति प्रिये ।। ७१ ।।

पहले के वचन के अनुसार सिद्धियाँ उसी प्रकार नहीं आती हैं। जब बीस लाख जप चिन्तामणि मन्त्र का पूर्ण हो जाता है तब सभी विद्याएँ और विविध

प्रकार के शास्त्र स्फुरित हो जाते हैं। इस प्रकार हे प्रिये ! चिन्तामणि मन्त्र का पचीस लाख जप कर लेने पर वह मन्त्र जापक साक्षात् रूप से, हे देवेशि, अक्षरात्मक ब्रह्माण्ड को देखता है और हे प्रिये, वह उस ब्रह्मण्ड के अन्तर में प्रविष्ट होकर विराजता है ।। ६९–७१ ।।

त्रिंशल्लक्षजपे सिद्धे नारायणमनामयम् ।
ध्याने पश्यति देवेशि व्यापकं सर्वतोमुखम् ।। ७२ ।।

तीस लाख जप कर लेने पर हे, देवेशि ! वह ध्यान में व्यापक और सर्वतोमुख अनामय (निर्मल) भगवान् नारायण को ध्यान में देखता है। ७२ ।।

सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतः श्रवणाक्षिमत् ।
अनेकमूर्द्धमुकुटमनेकाभरणाकुलम् ।। ७३ ।।

वे नारायण सर्वतः हाथ-पैर और कान-आँख से युक्त एवं अनेक मुकुटों और अनेक आभूषणों से भूषित होते हैं ।। ७३ ।।

पञ्चत्रिंशत्तु लक्षाणि मन्त्रावर्त्तनगौरवात् ।
ध्यानं विनापि चक्षुर्भ्यां पश्येन्नारायणं विभुम् ।। ७४ ।।

पैंतिस लाख मन्त्र की आवृत्ति के गौरव से उसे ध्यान के विना भी विष्णु भगवान् नारायण का दर्शन होता है ।। ७४ ।।

चत्वारिंशत्तु लक्षाणि मन्त्रावर्त्तयेद्यदा ।
पश्येन्मञ्चे ब्रह्ममये शयानं पुरुषं तदा ।। ७५ ।।

जब चालीस लाख जप हो जाता है तब वह ब्रह्ममय मञ्च पर परमात्मा पुरुष को शयन किए हुए देखता है ।। ७५ ।।

चत्वारिंशत्तथा चाष्टौ लक्षाणि जपगौरवात् ।
मोहनिद्रावशेषोऽपि पश्येत् ब्रह्मपुरश्रियम् ।। ७६ ।।

अड़तालिस लाख जप के प्रभाव से वह मोहनिद्रा में शेष रूप ब्रह्मपुर स्थित 'श्री' को देखता है ।। ७६ ।।

कोटियोजनविस्तीर्णे सुधासिन्धौ सुरेश्वरि ।
रत्नद्वीपे ब्रह्मपुरे नित्यवृन्दावनस्थितिम्[1] ।। ७७ ।।

हे सुरेश्वरि ! कोटियोजन विस्तार वाले अमृत के समुद्र में रत्नद्वीप है। वहाँ ब्रह्मपुर है। जहाँ नित्य वृन्दावन जैसी स्थिति रहती है ।। ७७ ।।

---

१. 'स्थिते' इति पाठः ।

मणिमन्दिरमध्यस्थरत्नसिंहासनस्थितम् ।
स्वामिन्याश्लिष्टवामाङ्गं सखीमण्डलवेष्टितम् ॥ ७८ ॥
उत्तमं पुरुषं पश्येत् ध्याने साक्षादिव स्वयम् ।
ततस्तापो भवेत्तीव्रविरहेण फलात्मकः ॥ ७९ ॥

माणिक्य जटित मन्दिर के मध्य में रत्न के सिंहासन पर स्थित अपनी स्वामिनी (राधाजी) से वाम अङ्ग में आश्लिष्ट और सखियों के मण्डल में घिरे हुए पुरुषोत्तम को ध्यान में साक्षात् रूप से स्वयं ही वह देखता है तब। फल रूप से उसे तीव्र विरह के द्वारा सन्ताप होता है ॥ ७९ ॥

तदा च नियमाः सर्वे कृता वाप्यकृता अपि ।
समाप्यन्ते महेशानि स्वास्थ्याभावस्वभावतः ॥ ८० ॥

तब सभी किए गए या न किए गए भी नियम समाप्त हो जाते हैं और हे महेशानि ! वह स्वभावतः अस्वस्थ्य सा हो जाता है ॥ ८० ॥

इत्येवं कथित देवि यथा तापोदयो भवेत् ।
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ८१ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
द्वात्रिंशं पटलम् ॥ ३२ ॥

—*—

इस प्रकार, हे देवि ! जिस प्रकार सन्ताप का उदय होता है उसे मैंने तुम्हें संक्षेप से कहा है। अब तुम और क्या सुनना चाहती हो ?

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के बत्तीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३२ ॥

—*—

अथ त्रयस्त्रिंशं पटलम्

देव्युवाच—

साधूक्तं मन्त्रराजस्य पुरश्चरणमद्भुतम्।
अतः परं वदेशान तापावस्था सुदुर्लभा ॥ १ ॥

देवी ने कहा—

हे ईशान ! आपने मन्त्रराज का अद्भुत पुरश्चरण साधु रूप से बताया है। अब आप इसके बाद ताप की सुदुर्लभ अवस्थाओं का वर्णन करिए ॥ १ ॥

ययानुभूतया सम्यक् रसः पूर्णोनुऽभूयते।
तस्मादहं श्रोतुकामा भवामि भक्तवत्सल ॥ २ ॥

जिसकी अनुभूति से सम्यक् रूपेण पूर्ण रसानुभूति होती है। अतः हे भक्त-वत्सल ! मैं उसे सुनने की इच्छुक हूँ ॥ २ ॥

शिव उवाच—

शृणु देवि परं गुह्यं त्वया पृष्टं वदामि ते।
रसात्मकं रसभोक्तृ ब्रह्मेति श्रुतयो जगुः ॥ ३ ॥

शिव ने कहा—

हे देवि ! उस श्रेष्ठ एवं गोपनीय ज्ञान को सुनो, जिसे तुमने पूछा है, उसो को मैं कहता हूँ। श्रुतियों ने उस ब्रह्म को रसात्मक, एवं रस का भोक्ता कहा है ॥ ३ ॥

रसः शृङ्गार एवादौ प्रोक्तस्ते गिरिनन्दिनि।
संयोगविप्रलम्भात्मा द्विविधः स च कीर्तितः ॥ ४ ॥

हे गिरिनन्दिनि ! पहला शृङ्गार रस कहा गया है। वह शृङ्गार दो प्रकार का है - (१) संयोग और (२) विप्रलम्भ ॥ ४ ॥

अधुनाविप्रलम्भात्मा वर्त्तते केवलं रसः।
कर्त्तव्योनुभवस्तस्य स एव परमं फलम् ॥ ५ ॥

अब इस समय साधक में केवल विप्रलम्भात्मक रस ही होता है। उसका अनुभव करना ही उसका श्रेष्ठ फल है ॥ ५ ॥

---

१. 'रसो वै सः' वृह० उ०।

यावत्तापोदयो न स्याद्विप्रलम्भो न सिध्यति ।
अनुभूतिः कथं तस्य जायते वद सुव्रते ॥ ६ ॥

जब तक वियोग में ताप [=मिलन का व्यग्रता] का उदय नहीं हो जाता है, तब तक विप्रलम्भ शृङ्गार सिद्ध नहीं होता है। हे सुव्रते ! उसकी अनुभूति कैसे होती है ? वह सुनो ॥ ६ ॥

संयोगरसमध्यस्था विप्रयुक्ता तु या प्रिये ।
तस्या एव भवेत्तापो नान्यस्य तु कदाचन ॥ ७ ॥

हे प्रिये ! संयोगरस मध्यस्थ जो वियोग है उसी से ताप होता है दूसरे अन्य कारणों से कभी भी ताप नहीं होता है ॥ ७ ॥

दशावस्था भवन्त्येताः तापे विरहसम्भवे ।
तास्ते वक्ष्यामि देवेशि शृणुष्वैकाग्रमानसा ॥ ८ ॥

उस ताप की विरहजन्य दस अवस्थाएँ होती है। हे देवेशि ! उन्हें मैं कहता हूँ। तुम सावधान होकर सुनो ॥ ८ ॥

अभिलाषस्तथा चिन्ता स्मरणं च ततः प्रिये ।
उद्वेगाधिप्रलापश्च जडतोन्माद एव च ॥ ९ ॥

गुणानां कीर्तनं चैव सज्वरं मरणं स्मृतम् ।
अत्युग्रविरहे देवि अवस्था दशमी भवेत् ॥ १० ॥

ये दस अवस्थाएँ हैं—१. अभिलाष, २. चिन्ता, ३. स्मरण, ४. उद्वेग ५. अधिप्रलाप, ६. जडता, ७. उन्माद, ८. गुणकीर्तन, ९. संज्वर और अति उग्र विरह में हे देवि ! दसवीं अवस्था १०. मरण होती है ॥ ९–१० ॥

राजपुत्रो यथा दैवाद्वनं वनचरैर्वसन् ।
आत्मानं वेत्ति विवशं परं वनचरं प्रिये ॥ ११ ॥

प्रभुत्वशौर्यधैर्याद्याः धर्माः सर्वे तिरोहिताः ।
दीनः कृपणधीर्मन्दः पशुमांसोपजीवनः ॥ १२ ॥

जैसे राजा का पुत्र दैव योग से वन में वनवासियों के बीच रहते हुए अपने को बिवशता के कारण श्रेष्ठ वनवासी ही जानता है। हे प्रिये ! वह प्रभुत्व, शौर्य, धैर्य आदि सभी राजोचित धर्मों को भूल जाता है और दीन, कृपण, मन्दबुद्धि एवं पशु के मांस का भोजन करके जीवनयापन करने वाला हो जाता है ॥ ११-१२ ॥

आत्मापह्नवमापन्नं दृष्ट्वा कश्चित्प्रबोधयेत् ।
न वनेचरपुत्रोऽसि राजपुत्रोऽसि सर्वथा ॥ १३ ॥

किमर्थं हिंससि भो जीवान् दीनः कृपणधीः स्वयम् ।
क्व गुणाः शौर्यधैर्याद्याः प्रभुता क्व गता तव ॥ १४ ॥

अपने को भुलाकर पड़े हुए वहाँ देखकर कोई यदि उसे यह कहकर प्रबुद्ध करे कि तुम वनवासी के पुत्र नहीं हो, तुम तो सर्वथा राजा के पुत्र हो। अतः हे राजपुत्र ! तुम जीवों की हिंसा क्यों करते हो ? क्यों तुम स्वयं दीन, कृपण, एवं मन्द बुद्धि हो गए हो ? तुम्हारे शौर्य, धैर्य आदि गुण कहाँ हैं ? तुम्हारी प्रभुता कहाँ चली गई ? ॥ १३-१४ ॥

त्यज प्रकृतिदौर्बल्यं श्रय भावं निजं पुनः ।
इत्याप्तवचनं श्रुत्वा जालपाशादिकं त्यजन् ॥ १५ ॥
राज्यप्राप्तिं च मनसा सङ्कल्प्याकुलचेतनः ।
उच्छून[1] हृदयो भूयादभिलाषाकुलान्तरः ॥ १६ ॥

यह [विषयों में आसक्ति रूप] प्रकृति को दुर्बलता छोड़ो। अपने स्वयं के भाव में पुनः प्रकृतिस्थ हो जाओ। इस प्रकार के आप्त (सत्य) वचन को सुनकर जाल एवं पाश (फरसा) आदि का त्याग करते हुए राज्य की प्राप्ति के मन से संकल्प करके व्याकुल चित्त होकर उच्छिन्न हृदय हो जाए और इस प्रकार पुनः वह राज्य को प्राप्ति की अभिलाषा से व्याकुल अन्तरात्मा हो जाए [तो यही ताप की प्रथम अवस्था होती है] ॥ १५-१६ ॥

तथा कृष्णप्रिया देवि प्रपञ्चे मोहकल्पिते ।
वासनादेहमासाद्य तद्देहममताकुला ॥ १७ ॥
तिरोहितानन्दधर्मा दीना कृपणमन्दधीः ।
जीववत् वर्त्तमाना सा भूतद्रोहेण जीवति ॥ १८ ॥

हे देवि ! इस मोहकल्पित शरीर में कृष्णप्रिया (=आत्मा) सदैव वासना (विषयासक्ति) के देह को प्राप्त करके, उस शरीर में ममता से आकुल रहा करती है। (ब्रह्मानन्द रूप सत्य] आनन्द को भूलकर वह (इस संसार में आकर) दीन, कृपण और मन्द बुद्धि होकर अन्य जीवों के समान रहकर भूत-द्रोह से जीवित रहती है ॥ १७-१८ ॥

पुरुषोत्तमानुग्रहतः सद्गुरुस्तां प्रबोधयेत् ।
न त्वं स्त्री लौकिकी चासि न पुमानसि सर्वथा ॥ १९ ॥
न च विप्रादिको वर्णः स्वात्मानं चेष्टसे मुधा ।
देहगेहममताहङ्कारमायां परित्यज ॥ २० ॥

---

१. 'उच्छिन्न' इति मूलपाठः ।

पुरुषोत्तम (भगवान् विष्णु रूप श्रीकृष्ण) के अनुग्रह से उस (आत्मा) को सद्गुरु प्रबोधित करे। (यदि स्त्री हो तो उससे कहे कि) तुम इस संसार की लौकिक स्त्री नहीं हो और (यदि पुरुष हो तो कहे कि) तुम सर्वथा लौकिक पुरुष नहीं हो। तुम ब्राह्मण आदि वर्ण में भी नहीं हो। तुम तो असत्य रूप से अपनी चेष्टाओं (क्रिया) को कर रहे हो। अतः शरीर, घर, ममता एवं अहङ्कार रूप माया को त्याग दो ॥ १९-२० ॥

प्रपञ्चबीजभूतायाः प्रकृतेः परतः प्रभो।
अक्षरादप्यतीतस्य पूर्णस्य परमात्मनः ॥ २१ ॥
प्रियासि त्वं परानन्दा परानन्दपदस्थिता।
देहानुसन्धानपरां[1] मायां जहि वराङ्गने ॥ २२ ॥

हे प्रभो ! इस (सांसारिक) प्रपञ्च की बीजभूत प्रकृति से परे आत्मा 'अक्षर' है। अतीत, पूर्ण तथा परमात्मा की वह प्रिया है। (हे आत्मा) तुम परानन्द हो और परानन्द के पद पर प्रतिष्ठित हो। अतः हे वराङ्गने ! तुम देह (के असली रूप का ज्ञान न होने से उस) में आसक्त-प्रवण न होकर माया का त्याग करो ॥ २१-२२ ॥

सुधासिन्धौ मणिद्वीपमध्यखण्डे सुशोभने।
कोटिसूर्यप्रतीकाशं कोटिचन्द्रसुशीतलम् ॥ २३ ॥
वेष्टितं मणिमुक्तादि[2] प्राकारैः परमाद्भुतम्।
सखीमन्दिरसाहस्रैः परिवीतं समन्ततः ॥ २४ ॥
मणिमन्दिरमत्युच्चैः पञ्चयोजनमानतः।
आस्ते ब्रह्माण्डतो बाह्ये तत्र ते रमणं शुभम् ॥ २५ ॥

इस संसार में तुम्हारा रमण करना ठीक नहीं है। तुम्हें तो उस अमृत के समुद्र में स्थित मणिद्वीप के मध्य एक खण्ड पर सुशोभित, करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान, करोड़ों चन्द्रमण्डल के समान सुशीतल, मणि, मुक्ता आदि की चहार-दीवारी से घिरे हुए, अत्यन्त ऊँचे, पाँच योजन विस्तार वाले मणि के मन्दिर में, जो इस ब्रह्माण्ड से बाहर है, तुम्हारा रमण करना शुभ है ॥ २३-२५ ॥

यमुनासप्ततीर्थेषु भर्त्राक्रीडां निजां स्मर।
प्रफुल्लशतपत्रालि झङ्कारमुखरान्तरे ॥ २६ ॥

---

१. प्रकारैः इ० पा०।

२. 'स्वस्वरूपानुसन्धानपरा मायां जहीहि हि' इ० पा०।

मणिमुक्तान्वितानावमारुह्य सखिभिर्वृता ।
महासरसि विद्योतन्मणिसोपानमण्डिते ॥ २७ ॥

यमुना के सप्ततीर्थ पर अपने स्वामी (कृष्ण के) द्वारा की गई क्रीड़ाओं क स्मरण करो । खिले हुए शतपत्र कमल पर झङ्कार करते हुए भौरों से मुखरित अन्तरात्मा वाले, मणि एवं मुक्ता से युक्त नाव पर चढ़कर सखियों से आवृत्त, मणि की सीढ़ियों से मण्डित महा सर में सुशोभित (कृष्ण का स्मरण करो) ॥ २६-२७ ॥

यथा क्रीडन्तमात्मानं कथं विस्मरसे भ्रमात् ।
सहस्राश्वयुजं रम्यं शतचक्रस्फुरत्प्रभम् ॥ २८ ॥

सर्वतः किंकिणीजालैर्मणिमुक्ताञ्चितान्तरैः ।
कुर्वद्भिः मुखरान् सर्वदिगन्तान् कूजितैर्निजैः ॥ २९ ॥

(हे कृष्ण प्रिया आत्मा) तुम कैसे अपने को क्रीडा करते हुए भ्रम से भूल गए हो ? वहाँ सहस्त्र अश्वों से युक्त, रम्य एवं सौ पहिए वाले रथ से निकलती हुई प्रभा का स्मरण करो । हे आत्मा ! वह रथ सर्वतः किंकिणी के जाल एवं मणि तथा मुक्ता से खचित गद्दी वाला है । तुम ऐसे उस रथ का स्मरण करो जो सभी दिशाओं के अन्तरालों को भी मुखर करते हुए अपने कूजन से वातावरण को रमणीय बना रहा है ॥ २८-२९ ॥

दाडिमीपुष्पसङ्काशं वरूथोपरि कल्प्यते ।
सुवर्णकलशै रम्यैर्दीप्यमानमनेकशः ॥ ३० ॥

नृत्यद्भिः स्त्रीगणैः सम्यक् गायद्भिः स्वकुतूहलैः ।
हासयद्भिर्हसद्भिश्च समन्तात्परिशोभितम् ॥ ३१ ॥

अनार के पुष्प के समान (हल्के लाल) आसन के ऊपर बैठे हुए भगवान् की कल्पना करे । रम्य एवं दीप्तिमान अनेक सुवर्ण कलश चारो ओर वहाँ हैं । कुतूहल पूर्वक नृत्य करती हुई तथा गान करती हुई स्त्रियों के समूह की साधक कल्पना करे । वे स्त्रियाँ हँसती हुई तथा हँसाती हुई चारो ओर शोभित होती हैं ॥ ३०-३१ ॥

मुक्तावितानकौमुद्या समुद्भासितदिङ्मुखम् ।
प्रियेण रथमारुह्य वनक्रीडां स्मर स्वकाम् ॥ ३२ ॥

मुक्तामणि की विस्तृत चाँदनी से समुद्भासित दिशाओं के मध्य में अपने प्रिय कृष्ण के साथ रथ में चढ़कर वन में क्रीडा करते हुए अपने को स्मरण करे ॥ ३२ ॥

कदाचित्पुष्परागाद्रावुद्याने सुमनोहरे ।
नानापक्षिगणाकीर्णे स्थलपङ्कजमालिनि ॥ ३३ ॥

अनेककुट्टिमोत्तुङ्गमण्डपैः परितो वृते ।
दिव्यपुष्पभरामोदसुवासितदिगन्तरे ॥ ३४ ॥
चन्द्रप्रभह्रदे रम्ये रम्यराजीवसङ्कुले ।
मुक्ताजटितसौवर्णायुतसोपानपङ्क्तिभिः ॥ ३५ ॥
क्वचित् क्वचिच्छोभिताभिर्मण्डपैः कुट्टिमोपरि ।
चतुस्तम्भैर्महारत्नैर्मण्डितास्तोरणोज्ज्वलैः ॥ ३६ ॥
पतत्पतत्रिपक्षोत्थवायुप्रचलपादपे ।
पतन्नेत्राञ्जनैर्दिव्यैः सखीयूथस्य दिव्यतः ॥ ३७ ॥
चन्दनैरङ्गगलितैः कुङ्कुमैः कुचविच्युतैः ।
परागैः पद्मगलितैः कुसुमैर्वायुनाहृतैः ॥ ३८ ॥
विचित्रदिव्यसलिले मणिमौक्तिकबालुके ।
जलक्रीडारसानन्दः कथं विस्मारितोऽधुना ॥ ३९ ॥

(हे आत्मा ! आज मोह जाल में अपने को भुलाकर कैसे स्वयं (साक्षात् आत्म स्वरूप) को विस्मृत कर बैठे हो ? (इस प्रकार ३९ वे श्लोक में कुलक समाप्त होगा)। किसी समय पुष्पराग के सुमनोहर उद्यान में, नाना प्रकार के पक्षिसमूहों से व्याप्त, स्थलकमल से भरे हुए, अनेक प्रकार के फर्शों वाले ऊँचे ऊँचे मण्डपों से घिरे हुए, दिव्य पुष्पों की सुगन्ध से सुवासित दिशाओं वाले, रम्य राजीव से व्याप्त रमणीय चन्द्रप्रभ सरोवर में मोतियों से जटित सुवर्ण की सीढ़ियों की पङ्क्तियों से युक्त, कहीं-कहीं शोभित मण्डपों के फर्शों के ऊपर, महारत्नों से जड़े हुए चार खम्भों के मण्डप के तोरण से उज्ज्वल, पक्षियों के उड़ने से उनके पंखों से उठी वायु से कम्पित वृक्षों वाले, दिव्य सखियों के समूह के नेत्रों से गिरने वाले अञ्जनों से युक्त, सखियों के अङ्गों से गिरने वाले चन्दनों से युक्त, पयोधरों से गिरने वाले कुङ्कुमों से व्याप्त, कमलों से झड़े हुए परागों से युक्त, वायु द्वारा लाए गए कुसुमों से आकीर्ण, विचित्र प्रकार के दिव्य जल में, मणि एवं मोती के बालू से युक्त आनन्द ह्रद में जल क्रीडा रूप आनन्द रस का उपभोग करने वाले तुम आत्मा आज अपने आत्मस्वरूप को कैसे भूल गए हो ? ॥ ३३-३९ ॥

महापद्मवने दिव्ये समन्ताल्लक्षयोजने ।
गन्धमाधुर्यनिपतत्षड्ङ्घ्रिपटलाकुले ॥ ४० ॥
योजनोत्सेधविस्ताररत्नमण्डपमध्यगे ।
वायुहृतपरागौघैर्वितानित नभोऽन्तरे ।
अनेकपक्षिसङ्घातकोलाहलसुखास्पदे ॥ ४१ ॥

स्वप्रियेण कृता या याः क्रीडाः सर्वरसाश्रयाः ।
कथं विस्मृत्य सहसा जीववत्परितप्यसे ।
कथं मायासुखे लग्ना मिथ्याभूते भ्रमात्मके ॥ ४२ ॥

दिव्य महापद्म के वन में जो चारों ओर एक लाख योजन तक फैला हुआ है, सुगन्ध के माधुर्य रस पर चुम्बन करने वाले भौरों के झुण्डों से व्याप्त, एक योजन तक विस्तृत रत्न मण्डप के मध्य में, वायु द्वारा लाए गए पराग के ओघ से फैले हुए नभमण्डल वाले, अनेक प्रकार के पक्षियों के समूहों के कोलाहल से आनन्द देने वाले वन में, अपने प्रिय के साथ सर्वरस का आश्रयण करने वाली जिन जिन क्रीडाओं का तुमने आनन्द लिया, सहसा उन्हें विस्मृत करके क्यों जीव के समान संतृप्त हो रहे हो ? तुम क्यों माया के उस सुख में संलग्न हो, जो सुख अनित्य होने से मिथ्या है और (सुख का) भ्रम कराने वाला है (क्योंकि क्षणिक सुख तो परमार्थ नहीं है) ॥ ४०-४२ ॥

पङ्के कस्तूरिकाबुद्धिर्लवणे शशिविभ्रमम् ।
काचखण्डे मणिभ्रान्तिर्जलबुद्धिर्यथा मरौ ॥ ४३ ॥
तथैव शर्कराबुद्धिः कर्कराश्मादिषु भ्रमात् ।
कुर्वते मन्दमतयस्तथैव हि तवेदृशी ॥ ४४ ॥

कीचड़ में कस्तूरी होने की बुद्धि और लवण समुद्र में चन्द्रमा के होने का भ्रम, शीशे के टुकड़े को मणि समझ लेने से तथा मरु भूमि में जल को भ्रान्ति होना जिस प्रकार असत्य है उसी प्रकार कर्करा आदि लाल पत्थर के टुकड़े में शर्करा होने की बुद्धि रखना भ्रम है । जैसे मन्द बुद्धि के लोग ऐसे भ्रमित होते हैं वैसे तुम भी भ्रमित हो ॥ ४३-४४ ॥

शुक्तिकारजतेनैव न कश्चिद्विभवं गतः ।
न स्वप्नलब्धराज्येन राजा[1] कश्चित्सुविश्रुतः ॥ ४५ ॥

सीपी में चाँदी के भ्रम हो जाने पर कोई धनवान् नहीं होता । स्वप्न में प्राप्त राज्य से कोई राजा हो गया हो ऐसा भी नहीं सुना गया ॥ ४५ ॥

मरीचिकाजलं पीत्वा न कश्चित्तृप्तिमागतः ।
यदीच्छसि सुखं नित्यं जहि सर्वमिमं भ्रमम् ॥ ४६ ॥

मृगमरीचिका के (भ्रमात्मक) जल को पीकर किसी ने कभी भी तृप्ति नहीं पाई । अतः हे आत्मा ! यदि तुम्हें नित्य सुख की वाञ्छा हो तो इस भ्रम पूर्ण संसार को छोड़ दो ॥ ४६ ॥

---

१. 'विबुश्रुतः' इ० पा० ।

विना भ्रमनिरासेन विना च स्वात्मधारणाम् ।
विना विषयवैतृष्ण्यं विना सन्तोषमार्जवम् ।। ४७ ।।

भ्रम के बिना हटे, विना अपने को अपनी आत्मा में धारण किए हुए, विषयों के प्रति आसक्त हुए विना तथा बिना सन्तोष के सरल (सच्चा) सुख नहीं मिल सकता ।। ४७ ।।

विना वैराग्यमत्युग्र विना सद्गुरुसेवनम् ।
विना विनयमास्तिक्यं शास्त्रशिक्षां विनापि च ।। ४८ ।।

साधक को अति उग्र वैराग्य के बिना, सद्गुरु की सेवा के बिना, विनय के विना, ईश्वर में अस्तिकता के बिना और विना शास्त्र की शिक्षा के सच्चा सुख नहीं प्राप्त हो सकता है ।। ४८ ।।

देहाध्यासो मोहकृतो न निवर्त्तेत सर्वथा ।
देहाध्यासो निवर्त्तेत निवृत्ते मोहविभ्रमे ।। ४९ ।।

वस्तुतः देह का अध्यास मोह जन्य होता है, जिसका सर्वथा निरास नहीं हो पाता । अतः मोह का भ्रम जब मिटता है तभी देहाध्यास का निरास हो सकता है ।। ४९ ।।

बिम्बभूतस्वरूपस्य विस्मृतिर्मोह उच्यते ।
मोहस्था वासना तस्य जीववच्च प्रतीयते ।। ५० ।।

आत्मस्वरूप, जो बिम्बभूत है, की विस्मृति ही मोह कही जाती है । उसको मोहस्थ वासना जीव के समान प्रतीत होती है ।। ५० ।।

न जीवो वास्तवः कश्चित् वर्त्तते जलचन्द्रवत् ।
जलचन्द्रस्वरूप च गगनेन्दुर्यथा भवेत् ।। ५१ ।।

वास्तविक रूप से जैसे जल में चन्द्रमा नहीं रहता है, वैसे ही कोई जीव वास्तविक रूप से सत्य नहीं है । जल का चन्द्र जैसे वस्तुतः गगन में ही होता है वैसे ही आत्मा तो परमात्मा में ही रहती है ।। ५१ ।।

तथैव वासनारूप निजे धाम्नि स्थिताः प्रियाः ।
गुणः कम्पादिको यद्वत् प्रतिबिम्बे प्रतीयते ।। ५२ ।।

इसी प्रकार वासना रूप प्रिया आत्मा निज धाम परमात्मा में ही रहती है । जैसे जल में कम्पन से प्रतिबिम्ब में भी कम्पन होता है उसी प्रकार गुण (सत्त्व, रज, तम, आदि) भी प्रतिबिम्ब (कम्पन) रूप से दृष्टिगोचर होते हैं ।

सुखदुःखादिमोहोत्थ वासनायां निरूपितम् ।
न ते सुखं च दुःखं च मोहमात्रं विजृम्भिते ।। ५३ ।।

वासना में सुख:दुख आदि मोह जन्य होते हैं। वे न तो सुख होते हैं न दुःख ही होते हैं। वह तो मोह का मात्र विजृम्भण है ॥ ५३ ॥

तस्मात्स्वरूपं विज्ञाय सम्यक् शास्त्राद्गुरोरपि ।
भ्रमं त्यक्त्वा निजानन्दमाप्नुहि प्रेममीलिता ॥ ५४ ॥

इसलिए साधक को चाहिए कि सम्यक् रूप से शास्त्र और गुरु से आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर भ्रम का त्याग करते हुए प्रेम सम्मिलित निज आनन्द को प्राप्त करे ॥ ५४ ॥

एवं सद्गुरुणा वाक्यामृतैरासेचिता यदा ।
निर्वाप्य मोहभुजगविषज्वालां व्यथाकरीम् ॥ ५५ ॥
अभिलाषवती भूयात्परानन्दपतिं प्रति ।
अभिलाषो मया प्रोक्तः शृणववस्था नवापराः ॥ ५६ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे
त्रयस्त्रिंशं पटलम् ॥ ३३ ॥

——*——

इस प्रकार सद्गुरु के वाक्यामृत से सिंचित साधक जब व्यथा उत्पन्न करने वाली मोह रूप सर्प के विष की ज्वाला को शान्त कर देता है, तब परमानन्द की प्राप्ति के प्रति साधक के मन में अभिलाषा जागृत हो जाती है। अतः 'अभिलाष' से आगे की नौ अन्य अवस्थाओं को अब मैं कहता हूँ, जिसे आप सुनें ॥ ५५-५६ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के तैंतीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३३ ॥

——*——

अथ चतुस्त्रिंश पटलम्

शिव उवाच—

अभिलाषे समुत्पन्ने ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।
प्रियो मे परमानन्दः परात्मा पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

प्रिय स्वामी श्रीकृष्ण के प्रति अभिलाष की उत्पत्ति जब मन में होती है तो वह मन उनकी प्राप्ति के लिए उत्सुक हो उठता है। मन में प्रिय की प्राप्ति के प्रति चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। यही चिन्ता रहती है कि परमानन्द स्वरूप परमात्मा पुरुषोत्तम ही मेरे प्रिय हैं ॥ १ ॥

अहं तु तत्प्रिया साक्षाद्वासना मोहवेष्टिता ।
बाललीलावलोकार्थं सम्प्रार्थ्यं पुरुषोत्तमम् ॥ २ ॥

मैं उस परमात्मा की प्रिया साक्षात् 'वासना' हूँ जो मोहग्रस्त हूँ। श्रीकृष्ण की बाल लीला के अवलोकन के लिए पुरुषोत्तम से प्रार्थना करनी चाहिए ॥ २ ॥

विमग्ना मोहजलधौ दुस्तरे तमसावृते ।
निरस्त सकल ज्ञानं जाता मे स्वात्मविस्मृतिः ॥ ३ ॥

हे पुरुषोत्तम ! अहङ्कार रूप तमस से आवृत दुस्तर मोह समुद्र में मैं डूबा हुआ हूँ। इस अज्ञानान्धकार के कारण हमारे सम्पूर्ण ज्ञान निरस्त हो चुके हैं और हमारी आत्मा अपने स्वरूप की स्मृति खो बैठी है ॥ ३ ॥

विभ्रमामि[1] भ्रमाविष्टा देहाध्यासादितस्ततः ।
इय मे जननी चायं पिता भ्राता सहोदरः ॥ ४ ॥

जगत् के भ्रम में पड़कर देह के अध्यास के कारण में इतस्ततः एक योनि से अन्य योनि में घूम रहा हूँ। यह मेरी माँ है। यह (देह) मेरे पिता हैं। ये मेरे भाई हैं और ये मेरे सहोदर हैं—इस प्रकार भ्रम में पड़ा हूँ ॥ ४ ॥

पुत्राः पौत्राश्च सुहृदो ज्ञातयो गोत्रिणस्तथा ।
ममत्वान्मे[2] वृथा मौढ्यात् परिगृह्य[3] विमोहितम् ॥ ५ ॥

---

१. ब्रभ्रामामि इति पाठः ।

२. 'वृथौत्सुक्यात्' इ० पा० ।

३. 'विमोहिता' इ० पा० ।

आत्मा अपने पुत्रों, पौत्रों, सुहृद् जन, सगे-सम्बन्धी, सगोत्रों और बन्धु-बान्धव के ममत्व के कारण (देहाध्यास की) मूढ़ता के कारण उनके मोह में वृथा ही पड़ी हुई है ॥ ५ ॥

स्वप्नदृष्टेषु लोकेषु न च द्वेष्य: प्रियोऽपि वा ।
परकीय: स्वकीयो वा मोह एव हि कारणम् ॥ ६ ॥

स्वप्न के समान दिखाई देने वाले इन लोकों में न तो कोई द्वेष के योग्य है और न कोई प्रिय ही है । अपना और पराया समझने में मोह ही कारण है ॥ ६ ॥

अत: परं न मे कार्यं प्रियैर्वा चाप्रियैरपि ।
एक एव प्रिय: स्वामी स तु विस्मारितो मया ॥ ७ ॥

अत: आज के बाद से प्रिय या अप्रिय का भाव हमें नहीं रखना चाहिए । क्योंकि (परमार्थत:) एक ही मेरे प्रिय स्वामी हैं, जिन्हें हमने विस्मृत कर दिया है ॥ ७ ॥

तदा किमपरै: कार्यं स्वाप्निके दु:खहेतुभि: ।
तस्मात्किं साधनं कुर्यां येनाहं प्रीतिमाप्नुयाम् ॥ ८ ॥

तब स्वप्नवत् दृश्यमान और दु:ख के हेतुभूत जगत् के मोह रूप भ्रम को मिटाने के लिए मुझे क्या अन्य कार्य करना चाहिए । इसलिए मुझे क्या साधन करना चाहिए ? जिससे श्रीकृष्ण में प्रीति प्राप्त हो ॥ ८ ॥

तन्न पश्यामि लोकेस्मिन् वेदवेदान्तयोरपि ।
यत्कृत्वा सुलभो भूयात्पति: प्रियतमो मम ॥ ९ ॥

इसलिए इस लोक में वेद अथवा वेदान्त में वह कुछ भी मै नहीं देख पा रहा हूँ, जिसे करके प्रियतम स्वामी श्रीकृष्ण मुझे सुलभ हो जायँ ॥ ९ ॥

न वेदैरुपदिष्टेन कर्मणा प्राप्यते पति: ।
कर्मणां फलमुद्दिष्टं स्वर्गमात्रं विनश्वरम् ॥ १० ॥

वेद के उपदिष्ट कर्मों द्वारा स्वामी की प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि कर्मों से मात्र विनष्ट होने वाले स्वर्ग रूप फल की ही प्राप्ति कही गई है ॥ १० ॥

न दानैर्वा तपस्तीर्थैः कायक्लेशै: महत्तरै: ।
उपवासैर्व्रतैर्जाप्यैश्चित्तशुद्धिविधायिभि: ॥ ११ ॥

दान, तप या तीर्थों के सेवन से अथवा शरीर को महान् क्लेश देने वाले तप, उपवासों, व्रतों एवं चित्त शुद्धि के विधायक जपों से भी स्वामी श्रीकृष्ण की

प्राप्ति सम्भव नहीं है ।। ११ ।।

कथं तैः केवलानन्दः पतिमं वशतामियात् ।
न ज्ञानेन भवेद्वश्यः केवलं मुक्तिकृद्धि तत् ।। १२ ।।

निर्भर-आनन्द की मूर्ति श्रीकृष्ण रूप स्वामी को वश में भला उन उपायों से कैसे किया जा सकता है। वह (तत्त्व) ज्ञान से वश में आने वाले नहीं है क्योंकि ज्ञान से तो मात्र मुक्ति प्राप्त होती है ।। १२ ।।

वर्म तु पूरुषस्येह वैराग्यं ज्ञानगुप्तये ।
यदि ज्ञानोदयो न स्याद्वैराग्य यदि केवलम् ।। १३ ।।

तथापि प्रकृतौ साक्षाल्लीयते च तथापि किम ।
योगस्यापि पराकाष्ठा स्वात्मनो दर्शनावधि ।। १४ ।।

ज्ञान को छिपाने के लिए उस पुरुष के पास मात्र वैराग्य ही एक कवच है। यदि मात्र वैराग्य ही रहे और ज्ञानोदय न हो तो भी प्रकृति में वह साक्षात् लय को प्राप्त होता है और उसमें भी क्या योग की पराकाष्ठा भी मात्र स्वात्म के साक्षात्कार तक ही सीमित है ? ।। १३-१४ ।।

पुराणेष्वितिहासेषु भक्तिरुद्घोषिता मृशम् ।
सापि ज्ञानाङ्गमुद्दिष्टा तया प्राप्यः कथं पतिः ।। १५ ।।

पुराणों एवं (रामायण महाभारत आदि) इतिहास ग्रन्थों में बारम्बार भक्ति का उद्घोष किया गया है। वह भी ज्ञान के अङ्ग के रूप कही गई है। अतः उसकी प्राप्ति से पति परमेश्वर श्रीकृष्ण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ।। १५ ।।

प्रियप्राप्तेरुपायस्य कोऽपि वक्ता न विद्यते ।
किं करोमि क्व गच्छामि कस्याग्रे प्रवदाम्यहम् ।। १६ ।।

इस प्रकार प्रिय की प्राप्ति के लिए कोई भी शास्त्र कुछ भी नहीं कहते। (ज्ञान वैराग्य और भक्ति से पति (पालक) की प्राप्ति नहीं हो सकती)। तब फिर मैं क्या करूँ ? किस (शास्त्र) के पास जाऊँ ? किसके समक्ष में (अपनी अभिलाषा) कहूँ ।। १६ ।।

वनभ्रान्तो यथा कश्चित् पिशाचपरिमोहितः ।
क्षुत्तृड्भ्यां मर्दितो नक्तं दिवमस्तमिताशयः ।। १७ ।।

जिस प्रकार वन में भटक कर कोई व्यक्ति पिशाच आदिकों के बीच भय का अनुभव करता है, उसी प्रकार मैं भूख प्यास से पीड़ित रात-दिन को भयग्रस्त हो

बिता रहा हूँ ॥ १७ ॥

दन्दशूकैर्मृगैर्व्याघ्रैर्वाराहैर्भीषितो भृशम् ।
तथा दंशैश्च मशकैः व्यथितः श्वापदादिभिः ॥ १८ ॥

खटमल, मृग, व्याघ्र (चीते) तथा जङ्गली सूकरों से अत्यन्त भयान्वित मैं क्या करूं ? डक मारने वाले जन्तु, मच्छरों तथा श्वापदों आदि से पीड़ित कहाँ जाऊँ ॥ १८ ॥

काङ्क्षत्यप्याश्रमं गन्तु मार्गभ्रष्टः करोमि किम् ।
को मे प्रापयति स्थानं भ्रान्तस्यारण्यवीथिषु ॥ १९ ॥

सन्यास आदि आश्रम में मैं जाना चाहता हूँ । किन्तु मार्गभ्रष्ट होकर फिर क्या करुँगा । भ्रान्त वन की पगडण्डियों पर भला मुझे कौन पथ दिखाएगा ? ॥ १९ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कस्याग्रे च वदाम्यहम् ।
बहुद्रुमलताकीर्णं काननं जनवर्जितम् ॥ २० ॥

इत्यादिविविधां चेष्टां कुर्वाणो व्याकुलान्तरः ।
अवतिष्ठते तथा चिन्ता जायते वासनास्वपि ॥ २१ ॥

अतः मैं क्या करु ? कहाँ जाऊँ और किसके समक्ष अपनी व्यथा कहूँ ? बहुत से वृक्षों एवं लताओं से घिरे हुए व्यक्तिविहीन वन में व्याकुल होकर विविध चेष्टाओं को करते हुए रह कर तथा वासनाओं में भी चिन्ता होती है ॥ २०-२१ ॥

चिन्तामग्नो यथा सर्वं पश्यन्नपि न पश्यति ।
प्रियचिन्तारसे मग्ना सखीनां वासना तथा ॥ २२ ॥

जिस प्रकार से किसी की चिन्ता में मग्न कोई व्यक्ति जैसे सभी को देखकर भी नहीं देखता है उसी प्रकार सखियों की वासना प्रिय की चिन्ता रूप रस में निमग्न रहती है ॥ २२ ॥

चिन्तैवोद्वेगभावेन ततः परिणता भवेत् ।
उद्विग्नमनसः किञ्चित् नैव हर्षाय जायते ॥ २३ ॥

चिन्ता तथा उद्वेग के भाव के द्वारा वह उसी में ऐसे परिणत हो जाती हैं जैसे उद्विग्नमन वाले को कोई भी वस्तु हर्षित नहीं कर पाती है ॥ २३ ॥

प्राणादप्यधिवल्लभस्य विरहे किंनाम रम्यं भवेत्,
येनात्मा क्षणमप्युपैति विरतिं स्वास्थ्यं समालम्बते ।

स्फुरन्मीनान्वारिष्विव करणवृत्तीः समुदिताः
समादाय क्षिप्य प्रियविरहचिन्ता विजयते ॥ २४ ॥

प्राण से भी अधिक प्यारे प्रियतम के विरह में भला कौन सी वस्तु रम्य हो सकती है ? जिससे आत्मा क्षण भर के लिए भी विरति और स्वास्थ्य लाभ कर सके ? अन्तःकरण की वृत्तियां उसी प्रकार उठती और विलीन होती रहती हैं जिस प्रकार पानी में मछली फुदकती रहती है। इस प्रकार की प्रिय की विरह जन्य चिन्ता की जय हो जिसे भक्त जन प्राप्त कर विक्षिप्त से हो जाते हैं ॥ २४ ॥

उद्विग्नभावाकुलितान्तरायां
न रोचते भूषणमम्बरं वा ।
शय्यासनं वाप्यशनं श्रुतं वा
स्नानादिकं वा भुवनं वनं वा ॥ २५ ॥

उद्विग्नता के कारण व्याकुल अन्तःकरण को न तो आभूषण अच्छे लगते हैं और न तो वस्त्र ही। शय्या आसन, भूख, या कुछ भी सुनना या स्नान आदि नित्य क्रिया अथवा लोकाचार, किंवा वन इत्यादि भक्त को कुछ भी नहीं रुचता है ॥ २५ ॥

इतः क्षणं वा च ततः क्षणं वा
गृहे क्षणं वा शयने क्षणं वा ।
बहिस्तथान्तः क्षणमात्रमेत्य
ह्युद्विग्नभावा न लभेत शर्म ॥ २६ ॥

कुछ क्षण यहाँ पर, कुछ क्षण वहाँ पर, गृह में कुछ क्षण अथवा कुछ ही क्षण शयन पर रहकर, उठकर उद्विग्नमना भक्त बाहर जाकर, फिर शीघ्र ही अन्दर आकर रहता हुआ कहीं भी (प्रिय मिलन की व्याकुलता के कारण) शान्ति को नहीं प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

यथा विरक्तो न विधिष्वधिकृतः
कृताकृते कर्मणि नैव दोषभाक् ।
उद्विग्नताया अपि विप्रलम्भे
न नित्यनैमित्तिककर्मयोगः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार किसी बिरक्त पुरुष को कोई सामाजिक नियम कानून से कोई मतलब नहीं रहता चाहें वह सांसारिक कर्म करे अथवा न करे उसे कोई दोष भी नहीं होता, उसी प्रकार विप्रलम्भ (प्रियजन्य विरह) की उद्विग्नता के कारण भी नित्य या नैमित्तिक कर्मों को करने का कोई बन्धन नहीं रह जाता है ॥ २७ ॥

यदुद्वेगो देवि प्रियविरहजन्मा समुदितस्-
तदाकृष्णस्त्रीणां किमपि नहि कार्यं निगमतः ।
तपस्तीर्थं योगो व्रतनियमकर्माणि सकलं,
समाप्तं यत्तासां न हि मतिरभूद्देहविषया ॥ २८ ॥

हे देवि ! इस प्रकार गोपीजन वल्लभ श्रीकृष्ण की स्त्रियों में जो प्रिय के विरह से उठा हुआ उद्वेग है वह निश्चय ही किसी भी कार्य को करने में मन नहीं लगने देता । वस्तुतः तप, तीर्थ, योग, व्रत एवं नियम आदि कर्म सभी जिनमें समाप्त (सम्यक् रूप से आप्त हो जाते) हैं उनमें फिर देह विषयिका बुद्धि नहीं रह जाती है ॥ २८ ॥

श्रीकृष्णविरहे देवि य उद्वेगः प्रियासु च ।
अस्माकमीश्वराणाञ्च दुर्लभः किं पुनर्नृणाम् ॥ २९ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे शिवोमासम्वादे
चतुस्त्रिंशं पटलम् ॥ ३४ ॥

——*——

हे देवि ! श्रीकृष्ण के विरह में जो उद्वेग उनकी प्रियाओं में हैं, वह हम ईश्वर (प्रभुत्व) वाले लोगों में भी दुर्लभ है । फिर सामान्य जनों की तो बात ही क्या है ॥ २९ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के चौंतीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ३४ ॥

——*——

अथ पञ्चत्रिंशं पटलम्

देव्युवाच—

वैराग्यस्योदये देव ज्ञाने स्यात्साधनावधिः ।
साधनावधिस्तत्रापि य उद्वेगस्त्वयोदितः ।। १ ।।

देवी ने कहा—

वैराग्य के उदय होने पर, हे देव ! साधन की अवधि (परिणति) ज्ञान में होनी चाहिए । साधन की अवधि होती है । किन्तु उसमें भी 'उद्वेग' अभी कहा गया है वह होता है ।। १ ।।

यथा विरक्तो देवेश न कर्मस्वधिकारवान् ।
उद्विग्नोऽपि तथा देव न कर्माधिकृतो भवेत् ।। २ ।।

हे देवेश ! जिस प्रकार विरक्त का (सांसारिक) कर्मों में अधिकार नहीं होता, वैसे ही उद्विग्न का भी, हे देव ! कर्मों में कोई भी अधिकार नहीं होता है ।। २ ।।

मतिर्न देहविषया तत्र हेतुस्त्वयोदितः ।
अत्र मे खिद्यते चेतो न सम्यगवधारणम् ।। ३ ।।

भौतिको विषमो देहो वासना ब्रह्मकेवलम् ।
कस्य युज्येत संसारः कोऽत्र कर्माधिकारवान् ।। ४ ।।

साधक की मति देहविषयक नहीं है । उस (देह विषयक विरति) का कारण आपके द्वारा पहले कहा गया है । इस विषय में मेरा चित्त सम्यक् रूप से निश्चय करने में असमर्थ है कि भौतिक देह विषम है और वासना मात्र 'ब्रह्म' की है । तब संसार किससे युक्त है ? फिर इस संसार के कर्मों में अधिकार रखने वाला भला कौन है ? ।। ३–४ ।।

कर्मणि क्रियमाणे हि कोऽत्र भोक्ता फलस्य तु ।
अनित्यस्य जडस्यापि कथं देहस्य तद्भवेत् ।। ५ ।।

कर्मणामिह भोक्त्री चेद्वासना यदि शङ्कर ।
कृतनाशः प्रसज्येत ह्यकृताभ्यागमस्तथा ।। ६ ।।

अन्येन क्रियमाणे हि कथमन्येन भुज्यते।
वासनायाश्च देहादेस्तारतम्यं वद प्रभो ॥ ७ ॥

फिर क्रियमाण कर्मों में फल का भोक्ता कौन हैं? अनित्य इस जड़ रूप देह का भी वह (फल) कैसे होता है? हे शङ्कर! यदि कर्मों की भोक्त्री वासना होती है तो कृत कर्म का नाश कैसे होता है? तथा अकृत कर्म का अभ्यागम कैसे होता है? यदि दूसरे से क्रियमाण होने वाला है तो कैसे अन्य के द्वारा भोगा जाता है? अतः हे प्रभो! मुझे वासना का देह के साथ तारतम्य बताइए ॥ ६-७ ॥

शिव उवाच—

शृणु वक्ष्यामि देवेशि तव प्रश्नमनुत्तमम्।
देहात्मधीर्विनश्यते यस्य श्रवणमात्रतः ॥ ८ ॥

शिव ने कहा—

हे देवेशि! आपके उत्तम प्रश्न का उत्तर मैं कहता हूँ। आप सुनिए, जिसके श्रवणमात्र से ही देहात्मक बुद्धि का विनाश हो जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानमार्गे तु देवेशि वैराग्यं साधनावधिः।
नानाजन्मान्तराभ्यासरागरञ्जितचेतसाम् ॥ ९ ॥

जीवानां विषयेष्वैव बहिर्धावति वै मनः।
सुखं स्यादिष्टविषये ह्यनिष्टे दुःखवद्भवेत् ॥ १० ॥

हे देवेशि! ज्ञानमार्ग में तो साधन की चिर परिणति (अवधि) तो वैराग्य ही है क्योंकि इस जीव की बुद्धि नाना जन्मों एवं जन्मान्तरों के अभ्यास से राग (आसक्ति) में रंगी होती है। जीवों का मन बाह्य विषयों के प्रति ही दौड़ता है। जीव का मन इष्ट सिद्धि होने पर सुखी तथा अनिष्ट होने पर दुःखी ही होता रहता है ॥ ९-१० ॥

सुखदुःखादिकं सर्वमहङ्कारोभिमन्यते।
अहङ्कारगतं सर्वं चिदाभ्यासे प्रतीयते ॥ ११ ॥

वस्तुतः सुख और दुःख आदि सभी (अनित्य विषय) अहङ्कार द्वारा माने जाते हैं। अहङ्कार गत सभी जीव चिदाभ्यास में प्रतीत होते हैं ॥ ११ ॥

जलचन्द्रे यथा तस्य कम्पादिर्दृश्यते गुणः।
प्रतीतिमात्रमेवैतत् तथापि न निवर्त्तते ॥ १२ ॥

जिस प्रकार जल के चन्द्र में उसका कम्प आदि गुण दृष्टिगोचर होता है और

यह इसकी प्रतीति मात्र ही है। फिर भी वह हटती नहीं है (जल में चन्द्र का विम्ब तो रहता ही है। किन्तु चन्द्र है नहीं। मात्र उस चन्द्र की वहाँ प्रतीति ही हमें होती है) ॥ १२ ॥

तत्प्रतीति निराकर्त्तुं प्रकारं वच्मि ते शिवे।
अनेकजन्मसंसिद्धसाधनानां बलेन च ॥ १३ ॥
शुद्धचित्तस्य देवेशि वैराग्यमुपसर्पति।
रागाद्यभावाद्विषयेष्वहङ्कारो निवर्त्तते ॥ १४ ॥

हे शिवे ! उस प्रतीति के निराकरण के उपाय का प्रकार मैं आपसे कहता हूँ— अनेक जन्मों में किए गए योग-साधनों से और उसी के बल से, हे देवेशि ! शुद्ध चित्त में वैराग्य का संचार होता है और अन्ततः विषयों में राग आदि आसक्ति के अभाव के कारण ही अहङ्कार का निराकरण हो जाता है ॥ १३-१४ ॥

न मनो धावनं कुर्याद्विषयेषु इतस्ततः।
न गृह्णाति सुख दुःख रागद्वेषाद्यभावतः ॥ १५ ॥

इधर-उधर मन का विषयों के प्रति दौड़ना नहीं होना चाहिए। वस्तुतः राग अथवा द्वेष के अभाव के कारण साधक को सुख या दुःख की प्रतीति ही नहीं होती ॥ १५ ॥

कर्त्तृत्वं चैव भोक्तृत्वमहङ्कारे हि दृश्यते।
स्थूलं वपुरधिष्ठानमहं लिङ्गस्य सुन्दरि ॥ १६ ॥

वस्तुतः ('मैं यह करता हूँ' 'मैं भोग करता हूँ' आदि रूप से) कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व तो अहङ्कार के रहने से ही दृष्टिगोचर होते हैं। हे सुन्दरि ! 'अहम्' की भावना तो स्थूल शरीर में रहती है (सूक्ष्म शरीर का 'अहम्' से कोई मतलब नहीं है) ॥ १६ ॥

अहङ्कारगृहीतेन स्थूलदेहेन पार्वति।
योऽन्यकर्माणि कुरुते निबध्येतापि तैरयम् ॥ १७ ॥

हे पार्वति ! अहङ्कारगृहीत स्थूल शरीर के द्वारा जिन कार्यों को पुरुष करता है उन्हीं कार्यों के द्वारा वह (स्थूल देह) आबद्ध भी होता है ॥ १७ ॥

भोगायतनमात्रं हि स्थूलो देहः प्रकीर्त्तितः।
अहङ्कारे सचाध्यस्ते ह्यहङ्कारश्चिदात्मनि ॥ १८ ॥

वस्तुतः स्थूल देह तो भोग करने का मात्र साधन कहा गया है। अहङ्कार में अध्यस्त स्थूल देह चिदात्मा में भी भासित होता है (किन्तु अहङ्कार आत्मा में

होता ही नहीं है) ॥ १८ ॥

स्फाटिके हि यथाऽध्यस्तो जपारागः प्रकाशते ।
चिदाभासे तथा शुद्धेऽध्यस्ताहन्ता तथा प्रिये ॥ १९ ॥

जपा (ओड़हुल) पुष्प का लाल रंग जिस प्रकार स्फटिक में प्रतिबिम्बित होता है किन्तु उस स्फटिक में रहता नहीं है उसी प्रकार शुद्ध चिदाभास में, हे प्रिये ! वह अहन्ता (अहङ्कारता) प्रकाशित सी जान पड़ती है ॥ १९ ॥

स चावृत्य चिदाभासं स्वयमेव प्रकाशते ।
घटाकाशमिवावृत्य जलाकाशः प्रकाशते ॥ २० ॥

वह (अहङ्कार) चिदाभास को आवृत करके स्वयं प्रकाशित होने लग जाता है । जिस प्रकार घटाकाश को आवृत करके जलाकाश (मेघ) प्रकाशित होता है ॥ २० ॥

सुखं दुःखं भयं क्रोधो मोहो मात्सर्यमेव च ।
धर्माधर्मौ पुण्यपापे ज्ञानमज्ञानमेव च ॥ २१ ॥
अहङ्कारगतं सर्वं चिदाभासस्य न क्वचित् ।
तथाप्यैक्याध्यासवशादात्मन्येव प्रतीयते ॥ २२ ॥

सुख, दुःख, भय, क्रोध, मोह, मात्सर्य, (=ईर्ष्या-द्वेष), धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, ज्ञान एवं अज्ञान सभी अहङ्कारगत हैं । ये कभी भी चिदाभास के (धर्म) नहीं हैं । तथापि दोनों के ऐक्य-अध्यास के कारण ही ये आत्मा में प्रतीत होते हैं ॥ २१-२२ ॥

विशुद्धे निर्मले देवि शोणिमेव मणौ यथा ।
तस्मादनात्मधर्माश्च जडा नित्यमशेषतः ॥ २३ ॥
विज्ञायाप्नोति वैराग्यमाविरञ्चिपदादपि ।
रागाद्यभावान्न मनो विषयानुप्रधावति ॥ २४ ॥

हे देवि ! विशुद्ध एवं निर्मल (स्फटिक) मणि में पुष्प लालिमा की जैसे प्रतीति होती है वैसे ही अहङ्कार का आत्मा से ऐक्य प्रतीत होता है । इसलिए अनात्मधर्म जड़ एवं अशेषतः अनित्य है । ऐसा जानकर वह वैराग्य को प्राप्त करता है और ब्रह्म-पद की इच्छा से भी विरक्त हो जाता है । अतः राग (आसक्ति) आदि के अभाव से मन विषयों के पीछे नहीं दौड़ता है ॥ २३-२४ ॥

विषयानुरागरहिते निर्मले मनसि प्रिये ।
स्वात्मा प्रकाशते ध्यानाद्दर्पणे स्वमुखं यथा ॥ २५ ॥

अतः हे प्रिये ! विषयों के प्रति अनुराग रहित निर्मल मन में ध्यान से अपनी

आत्मा उसी प्रकार प्रकाशित होती है जैसे दर्पण में अपना मुख दिखाई पड़ता है ॥ २५ ॥

मनस्यपि लयं याते विकारशतवेश्मनि ।
समाधिस्थो भवेद्योगी यत्र शोको न विद्यते ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
पञ्चत्रिंशं पटलम् ॥ ३५ ॥

——*——

सैकड़ों विकारों के अधिष्ठान मन के भी अन्ततः [कृष्ण में] विलीन हो जाने पर समाधिस्थ योगी को किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं होती है ॥ २६ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के पैंतीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३५ ॥

——*——

अथ षट्त्रिंशं पटलम

शिव उवाच—

स्वस्वमोहेन सख्यस्ता नीता: स्वप्नं परात्मनः ।
तस्मात्[1] स्थूलशरीराणि भौतिकानि महेश्वरि ॥ १ ॥

शिव जी ने कहा—

हे महेश्वरि ! अपने अपने मोह के द्वारा उन सखियों ने परमात्मा के स्वप्न को प्राप्त किया । इसलिए उनके स्थूल शरीर तो भौतिक थे ॥ १ ॥

सामान्यतो विदुस्तासां सूक्ष्मदेहस्तथाविधाः ।
कारणात्मा भवेन्मोहो वासनासु पृथक् पृथक् ॥ २ ॥

सामान्य रूप से उनके वे सूक्ष्म शरीर ही थे । इस प्रकार पृथक् पृथक् वासनाओं का कारणरूप आत्मा मोह ग्रस्त होता है ॥ २ ॥

वासना तदवच्छन्ना जीवभावमिवागता ।
इच्छाशक्तिप्रयुक्तत्वात्स मोहोऽपि रसात्मकः ॥ ३ ॥

वासना से आच्छादित [आत्मा] जीवभाव के रूप में आ जाता है । अतः इच्छाशक्ति के प्रयुक्त होने से वह मोह भी रसात्मक होता है ॥ ३ ॥

न वासनायाः ससारो न मोहस्य तथात्मनः ।
अहं लिङ्गस्य देवेशि संसारं उपयुज्यते ॥ ४ ॥

न तो वासना का संसार होता है और न मोह तथा आत्मा का । हे देवेशि ! लिङ्गशरीर का 'अहम्' ही संसार के लिए प्रयुक्त होता है ॥ ४ ॥

यतो नारायणोद्भूतो मायिकः परिकीर्त्तितः ।
इच्छानन्दांशसम्भूतः सखीमोहस्तु केवलम् ॥ ५ ॥

क्योंकि यह जीव नारायण से उद्भूत होता है अतः संसार मायिक कहलाता है । इच्छा के आनन्दांश से उद्भूत होने से वही मात्र सखीरूप जीव का मोह होता है ॥ ५ ॥

तस्मादहङ्कृतेरेषः संसारोऽन्यस्य न क्वचित् ।
कर्तृत्वं चैव भोक्तृत्वमहङ्कारस्य विद्यते ॥ ६ ॥

---

१. 'तासां' इ० पा० ।

इसलिए जीव का अहङ्कार ही यह संसार है। दूसरे किसी तत्त्व का संसार नहीं है। वस्तुतः कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों ही अहङ्कार का होता है ॥ ६ ॥

प्रतीयते वासनायां मोहस्तत्र प्रयोजकः।
स्थूलदेहाभिमानेन अहङ्कारो विजृम्भते ॥ ७ ॥

वासना में मोह की प्रतीति वहाँ प्रयोजक है। स्थूल शरीर के अभिमान के कारण ही अहङ्कार का विजृम्भण [अस्तित्व] है ॥ ७ ॥

सर्वेन्द्रियचरो भूत्वा सर्वकर्मप्रसाधकः।
बध्यते तत्फलैश्चैवं प्रति जन्म विचित्रधा ॥ ८ ॥

वह अहङ्कार सभी इन्द्रियों में विचरण करता हुआ सभी कर्मों का प्रसाधन करता रहता है। इस प्रकार उसी के कर्म के फल से प्रत्येक जन्मों में विचित्र रूप से आत्मा बँधता है ॥ ८ ॥

स अध्यस्तो वासनासु वासना तद्गता भवेत्।
तादात्म्यभावमापन्ने वासनाहङ्कृतिस्तथा ॥ ९ ॥

जब वासना और अहङ्कृति दोनों में तादात्म्य भाव आ जाता है, तब वह (अहङ्कार) वासनाओं में अध्यस्त हो जाता है ॥ ९ ॥

शृङ्गाररसरूपाणां सखीनां वासनास्तु याः।
तासामानन्दरूपं च अहङ्कारेण मिश्रितम् ॥ १० ॥

शृङ्गार रस रूप सखियों की जो वासना है उनका आनन्द रूप अंश उस अहङ्कार से मिल जाता है ॥ १० ॥

प्राप्य नारायणं द्वारमक्षरे प्रतिबिम्बिते।
अन्तरङ्गा बहिरङ्गा स्वप्ने वृत्तिद्वयं भवेत् ॥ ११ ॥

यह अहङ्कार से मिश्रित आनन्द रूप वासना नारायण के द्वार पर आकर अक्षर में जब प्रतिबिम्बित होती है तब दो प्रकार की स्वप्न की वृत्तियाँ होती है— प्रथम अन्तरङ्गा और दूसरी बहिरङ्गा ॥ ११ ॥

प्रत्यक्वृत्तिरन्तरङ्गा बहिरङ्गा बहिर्गता।
प्रत्यग्वृत्या तु देवेशि अहङ्काराश्रितं सुखम् ॥ १२ ॥

भीतर की वृत्ति अन्तरङ्गा है और बहिरङ्गा वृत्ति तो बहिर्गता ही है। हे देवेशि ! प्रत्येक वृत्ति का अहङ्कार से आश्रित सुख होता है ॥ १२ ॥

नारायणमुखेनैव कूटस्थे व्यक्तिमागतम्[1] ।
यथा सहस्रकुल्याभिः पूर्यमाणं महासरः ॥ १३ ॥

कूटस्थ आत्मा में नारायण के मुख से ही व्यक्ति उत्पन्न होता है। जैसे सहस्रों छोटी-छोटी धाराओं से एक महासर बन जाता है ॥ १३ ॥

प्रोत्फुल्लकमलामोदं रोचते रुचिराकृति ।
वासनानां सहस्रैश्च ह्यहङ्कारविमिश्रितैः ।
पूर्णानन्दो भवेद्देवि गणितानन्द इत्यपि ॥ १४ ॥

हे देवि ! रुचिर एवं मनोहर फूले हुए कमल की सुगन्धि जैसे रुचिकर होती है। वैसे ही सहस्रों वासनाओं एवं अहङ्कार से मिश्रित अगणितानन्द भी पूर्णानन्द होता है ॥ १४ ॥

बहिरङ्गा तु या वृत्तिरहङ्कारस्य सुन्दरि ।
बहिर्वत्पश्यति विश्वं तयेदन्तात्मकं शिवे ॥ १५ ॥

हे सुन्दरि ! अहङ्कार की जो बहिरङ्ग वृत्ति है, हे शिवे ! इस इदन्तात्मक विश्व को बहिः के समान देखती है ॥ १५ ॥

अहङ्कारो विश्वबीजं वासनासु च बिम्बितः ।
दर्शयत्यखिलं विश्वं सखीभ्यो मुकुरो यथा ॥ १६ ॥
एवं रहस्य कूटस्थो बाललीलाः सखीगणः ।
अनुभूतवन्तावन्योऽन्यं सुदुर्घटमिदं प्रिये ॥ १७ ॥

विश्वबीज अहङ्कार जीव की वासनाओं में प्रतिबिम्बित होकर समस्त विश्व को वैसे ही दिखलाती है जैसे सखियों के लिए मुकुर (दर्पण) हो। हे प्रिये ! इस प्रकार कूटस्थ ब्रह्म की रहस्यात्मक बाललीला का अनुभव सखियाँ करती है। इस प्रकार सुदुर्घट लीला का अनुभव दोनों ही करते हैं ॥ १६-१७ ॥

यथा कल्लोलजालेषु चन्द्रज्योत्स्ना प्रसर्पति ।
अहङ्कारविभेदेषु प्रियाणां वासना तथा ॥ १८ ॥

जैसे कल्लोल करते हुए जल में चन्द्र की ज्योत्स्ना फैली रहती है अहङ्कार के भेदों मे वैसे ही प्रियाओं की वासना फैली रहती है ॥ १८ ॥

यथा कल्लोलजालेषु प्रशान्तेषु महेश्वरि ।
लक्ष्यते कौमुदी तस्मिन् प्रशान्ते वासना तथा ॥ १९ ॥

जैसे प्रशान्त कल्लोल जालों में चाँदनी दिखाई देती है, हे महेश्वरि ! वैसे ही प्रशान्त (अहङ्कार) में वासना रहती है ॥ १९ ॥

---

१. 'व्यक्तिमागत' इ० पा० ।

सद्गुरोः शरणं यायात्तदर्थमिह सुन्दरि।
त्वं प्रियासीति कृष्णस्य पूर्णस्य परमात्मनः ॥ २० ॥
बाललीलाविलोकार्थमिह प्राप्ता न संशयः।
प्रपञ्चसागरे मग्ना कथं तिष्ठसि निर्भया ॥ २१ ॥
पुत्राः पौत्रा धनं धान्यं देहगेहाम्बरादिकम्।
स्वप्नलब्धमिदं सर्वं हित्वा बिम्बं निज श्रय ॥ २२ ॥

हे सुन्दरि ! इस ब्रह्मानन्द के लिए साधक को सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए। हे आत्मा ! तुम परमात्मा पूर्ण श्रीकृष्ण की प्रिया हो। निःसन्देह यहाँ तुम कृष्ण की बाल लीला का दर्शन करने के लिए ही उत्पन्न हुए हो। तुम कैसे इस माया प्रपञ्च से भरे सागर रूप संसार में मग्न होकर भी निर्भय हो ? अतः पुत्र पौत्र, धन, धान्य, देह, गेह तथा वस्त्रादिक स्वप्न के समान सभी को छोड़कर अपने बिम्ब का आश्रय ग्रहण करो ॥ २०-२२ ॥

कथं खेदयसे बिम्बं मोहमग्ना निरन्तरम्।
प्रियाणां वासनासि त्वं न प्रियाभ्यः पृथङ्मता ॥ २३ ॥

मोह जाल में निमग्न होकर निरन्तर क्यों इस ब्रह्मानन्द की अवहेलना कर रहे हो ? हे आत्मा ! तुम श्रीकृष्ण की प्रियाओं की वासना हो। उन प्रियाओं से तुम अपने को अलग करके न समझो ॥ २३ ॥

अहङ्काराश्रितायास्ते खेदो बिम्बाश्रितो भवेत्।
तस्मात्प्रबुध्य झटिति निज बिम्बं प्रबोधय ॥ २४ ॥

यह जो दुःख है, वह तो अहङ्काराश्रित (वासना से) बिम्बाश्रित है। इसलिए जल्दी से तुम जग जाओ और अपने बिम्ब को भी जगा दो ॥ २४ ॥

अहमध्यस्त एवायं देहस्ते पाञ्चभौतिकः।
अहं स्त्री पुरुषः कृष्णो गौरस्तेनाभिमन्यसे ॥ २५ ॥

यह तुम्हारा पाञ्चभौतिक देह है जिसमें 'मैं' ही अध्यस्त हो गया हूँ। वस्तुतः 'मैं' स्त्री हूँ और पुरुष श्रीकृष्ण हैं। इसलिए उस अपने को तुम उस (वर्ण का) जान रहे हो ॥ २५ ॥

इदन्ताहविरादाय अहन्ता सृष्टिकल्पिता।
स्वस्वरूपमये वह्नौ हुत्वानन्दमवाप्नुहि ॥ २६ ॥

अहन्ता (मैं पना) सृष्टि से कल्पित है। अतः इदन्ता (सांसारिकता) रूप हवि को लेकर साधक स्वस्वरूपमय अग्नि में हवन करके आनन्द को प्राप्त करे। भाव यह है कि क्योंकि अहङ्कार से सृष्टिकल्पित है अतः यह परमार्थ नहीं है। परमात्मा कृष्ण ही परमार्थ हैं। अतः अपने असली रूप परब्रह्म रूप अग्नि में अपने इस

अहङ्काराश्रित देह का हवन कर आनन्द प्राप्त करो ॥ २६ ॥

इदन्तावैरिमत्युग्रं मूलाहन्तारणाङ्गणे ।
स्मृतिखड्गेन तीव्रेण घातयित्वा सुखी भव ॥ २७ ॥

यह सांसारिकता आदि भाव अत्यन्त उग्र है। इस 'इदन्ता' के भाव को में (कृष्ण) स्मृति रूप तलवार से रणाङ्गण में मारकर हे आत्मा ! तुम सुखी हो जाओ ॥ २७ ॥

एवं प्रबोधिता सम्यक् वासना गुरुणा यदा ।
क्रमेणोद्वेगमासाद्य वैराग्यमिव योगतः ॥ २८ ॥

इस प्रकार से जब सम्यक् वासना अत्यन्त प्रबुद्ध हो जाती है तब कृष्ण मिलन के उद्वेग में क्रमशः वह वासना वैराग्य से मानों युक्त हो जाती है ॥ २८ ॥

त्यजत्यहङ्कृतिं सद्यो गेहे देहेन्द्रियेष्वपि ।
देहाभिमाने गलिते विज्ञाते स्वात्मनि ध्रुवम् ॥ २९ ॥

शीघ्र ही अहङ्कार को छोड़कर वह देह-गेह एवं इन्द्रियों की आसक्ति को त्याग देता है। इस प्रकार देहाभिमान (देह में आसक्ति) के गलित हो जाने पर अपनी आत्मा में ही उसे अटल विज्ञान पैदा हो जाता ॥ २९ ॥

आसाद्य विरहावस्थामुद्वेगाख्यां रसात्मिकाम् ।
विप्रलम्भरसानन्दानुभवो जायते ततः ॥ ३० ॥

॥ इति माहेश्वतन्त्रे शिवोमासम्वादे
षट्त्रिंशं पटलम् ॥ ३६ ॥

——*——

इस प्रकार कृष्ण के विरह में रस की 'उद्वेग' रूप अवस्था के आ जाने पर विप्रलम्भ शृङ्गार रस का साधक को अनुभव होता है ॥ ३० ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के छत्तीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३६ ॥

——*——

अथ सप्तत्रिंशं पटलम्

शिव उवाच—

योगिनो हि विरक्तस्य मनो ध्यानरतं भवेत् ।
सम्यक् प्रजातया स्मृत्या मनो लीलारतं तथा ॥ १ ॥
तदैवमानसी सेवा प्रसिध्यति न चान्यथा ।
तस्मादन्तर्बहिः कार्या सेवा यावत्स्मृतिर्भवेत् ॥ २ ॥

शिव ने कहा—

विरक्त योगी का मन ध्यान मग्न होता है । अतः साधक कृष्ण की सम्यक् स्मृति से अपने मन को कृष्ण लीला में लगा दे । इसी से साधक द्वारा की गई कृष्ण की मानसी सेवा सिद्ध होती है और कोई अन्य उपाय सिद्ध नहीं है । अतः साधक को चाहिए कि जब तक कृष्ण की स्मृति बनी रहे, तब तक अन्तःकरण में और बाह्य रूप जगत् में भी वह मानसी सेवा करता रहे ॥ १-२ ॥

स्मृतिं विना तु देवेशि बहिः सेवां परित्यजेत्[1] ।
प्रत्यवायमवाप्नोति मार्गभ्रष्टो भवेदपि ॥ ३ ॥

हे देवेशि ! कृष्ण की स्मृति के बिना साधक को बाह्य सेवा का त्याग कर देना चाहिए । यदि साधक कृष्ण स्मृति के बिना बाह्य (षोडशोपचार आदि) करता है तो उसके मार्ग में अनेक विघ्न आते हैं और वह मार्गभ्रष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

स्मृत्यवस्थैव देवेशि मानसीमूलमुच्यते ।
मानस्यां जायमानायां बाह्यसेवा निवर्त्तते ॥ ४ ॥

हे देवेशि ! मानसी सेवा का मूल तो (कृष्ण) स्मृति की अवस्था ही है । क्योंकि मन में उत्पन्न हुए भावों से ही बाह्य सेवा होती है ॥ ४ ॥

प्रियसेवा प्रियाधर्मो यावत्सर्वेन्द्रियक्रिया ।
सर्वेन्द्रियक्रियाभावान्मानसी सा प्रवर्त्तते ॥ ५ ॥

वस्तुतः जब तक सभी इन्द्रियाँ समर्थ हैं, तब तक प्रिया का धर्म है कि वह प्रिय की सेवा करे । जब सभी इन्द्रियाँ कार्य में असमर्थ हों तो भगवान् की मानसी सेवा करनी चाहिए ॥ ५ ॥

---

१. 'परित्यजन्' इ० पा० ।

प्रेमपीयूषपाथोधौ यदा लग्नं मनो भवेत् ।
बाह्येन्द्रियाणां वृत्यभावाद्बाह्यसेवा न जायते ॥ ६ ॥
प्रवर्तते मानसी सा स्मृत्यवस्थोदये सति ।
तस्मात्स्मृतिं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वेकाग्रमानसा ॥ ७ ॥

प्रेमामृत सरोवर में जब मन संलग्न हो जाता है, तब बाह्य इन्द्रियों की वृत्ति के अभाव में बाह्य सेवा नहीं होती है। वस्तुतः श्रीकृष्ण की स्मृति से 'स्मृति-अवस्था' के उदित होने पर मानसी सेवा होती है। इसलिए, हे देवि ! मैं पहले 'स्मृति-अवस्था' का वर्णन आपसे कहूँगा। उसे आप एकाग्र मन से सुने ॥ ६-७ ॥

स्मृत्यां वै जायमानायामनुसन्धानवर्जितम् ।
मनो लीलावगाहेत घर्मतप्तो यथा गजः ॥ ८ ॥

अनुसन्धानरहित होकर जब साधक का मन (कृष्ण) स्मृति में आ जाता है तो वह उसी प्रकार श्रीकृष्ण की लीला में अवगाहन करता है जिस प्रकार धूप से तप्त हुए हाथी सरोवर में अवगाहन करते हैं ॥ ८ ॥

अवगाहे च मनसि ब्रह्मलीलामहानदीम् ।
लीयन्ते वृत्तयः सर्वा गेहात्मविषया अपि ॥ ९ ॥

ब्रह्म की लीला रूप महा नदी में मन के अवगाहन कर लेने पर घर-बार तथा आत्म विषयक वृत्तियों का भी विलय हो जाता है ॥ ९ ॥

विगाढमाने मनसि प्रविष्टे
लीलामहानन्दसुधासमुद्रम् ।
नेदं न चादो न सुखं न दुःखं
जानाति तत्रैव विलग्नचित्ता ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण की लीला के महान् आनन्द के उस अमृत सिन्धु में डुबकी लगाकर मन के प्रविष्ट होने पर न यह कर्म होता है, न वह कर्म होता है। उस लीला में संलग्नचित्त न तो सुख जानता है और न तो दुःख ही जानता है ॥ १० ॥

स्मरेत् तदानन्दसुधासमुद्रमनर्गलाप्रोच्छ्वलदूर्मिमालम् ।
समन्ततोन्तःस्फुरमाणरत्नप्रभाङ्कुरोद्भासितवीचिरम्यम् ॥ ११ ॥

इस समय साधक आनन्दरूपी अमृत के समुद्र में बिना रुकावट के उद्दाम तरङ्गों की मालाओं का स्मरण करे। वहाँ चारों ओर अन्तः (समुद्र) में स्फुरित होने वाले रत्नों की प्रभा के अङ्कुर से उद्भासित रम्य लहरों का स्मरण करना चाहिए ॥ ११ ॥

हिरण्मयोद्भिन्नपतत्पतत्रिनक्रादिचक्रोत्पतनाभिरामम् ।
इतस्ततो धावदनेकपोतकुलाकुलं योजनकोटिमानम् ॥ १२ ॥

उस आनन्द सुधा समुद्र में सुनहले पक्षि उत्प्लवन कर रहे हैं। वह समुद्र तरह-तरह के मगर आदि जल जन्तुओं के ऊपर आने और चक्र के समान घूमने पर बहुत सुन्दर लगता है। वह समुद्र कोटि योजन तक इधर-उधर दौड़ने वाले अनेक जहाजों के समूह से व्याप्त है ॥ १२ ॥

जले शयानेकसुवर्णरत्नगिरिप्रभालङ्कृतकुक्षिभागम् ।
वैदूर्यतालीवनशोभिकूलं कूजद्विहङ्गस्वनितै रसालम् ॥ १३ ॥

जल में पड़े हुए सुवर्ण एवं रत्न के पर्वत की प्रभा से अलङ्कृत कुक्षि भाग वाले समुद्र के तट वैदूर्यमणि एवं ताली (ताड़) के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से सुशोभित है। वहाँ पर आम्र के वृक्ष पर विहगों का झुण्ड चहचहा रहा है ॥ १३ ॥

उद्भिन्नतालीवनजान्धकारमुन्मूलयन्तं मणिभिस्तटस्थैः ।
स्फुरद्भिरुद्योतितदिग्विभागैर्दिवाकरेन्दुद्युतितस्करैरिव ॥ १४ ॥

चमकती हुई तथा प्रकाशमान दिग्विभागों वाली और सूर्य तथा चन्द्र की कान्ति को मानों चुराने वाली तथा ताली वन के घोर अन्धकार को दूर करने वाली समुद्र तट की मणियों से युक्त आनन्द समुद्र का उसे ध्यान करना चाहिए ॥ १४ ॥

अलङ्कलङ्कोज्जितपूर्णचन्द्र-
विडम्बिनीभिस्तटगाभिरुच्चैः ।
अनेकचन्द्राकुलितस्य शोभां
विलज्जयन्तं नभसोऽपि शुक्तिभिः ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण कलङ्क से रहित पूर्णचन्द्र का अनुकरण करने वाली तथा तट पर स्थित ऊँची ऊँची सीपियों के द्वारा अनेक चन्द्रों से भरे हुए आकाश की शोभा को भी लज्जित करने वाले आनन्द समुद्र का ध्यान करना चाहिए ॥ १५ ॥

विमर्श – आकाश में एक चन्द्र होता है तथा अनेक सीपियां हैं जो अनेक चन्द्रों की शोभा को धारण कर रही हैं ॥ १५ ॥

द्वीपं मणीनां च तदन्तरुद्यन्मयूख-
किञ्जल्कितमादधानम् ।
अनेककोटीन्दुदिवाकरप्रभं[1] स्मरे-
च्चिदानन्दघनं महेश्वरि ॥ १६ ॥

हे महेश्वरि ! मणियों के द्वीप और उनमें से निकलने वाली किरणों के कण-कण को भी धारण करने वाले (अर्थात् अत्यन्त प्रकाशमान) तथा करोड़ों चन्द्रमा एवं

---

१. 'घां' इं० पा०।

सूर्य को प्रकृष्ट रूप से धारण करने वाले आनन्द (समुद्र) रूप चिदानन्द घन (कृष्ण) का उसे ध्यान करना चाहिए ।। १६ ।।

उपेतं नवखण्डैश्च नवरत्नमयैः शुभैः ।
नवभूम्यात्मकैश्चित्रैरुद्यानपरिमण्डितम् ।। १७ ।।

भगवान् कृष्ण शुभ नौ खण्डों से युक्त, नौ रत्नों वाले, और नौ भूमियों वाले विचित्र उद्यान से युक्त मन्दिर से परिमण्डित हैं ।। १७ ।।

कोटचर्धयोजनायामविस्तार सुमनोहरम् ।
तिर्यगूर्ध्वायिता रेखाश्चतस्रो नवकोष्ठवत् ।। १८ ।।

उस उद्यान का विस्तार कोटि योजन और चौड़ाई आधा योजन है। यह सुन्दर एवं मनोहर है। इसमें तिरछो और ऊर्ध्व की ओर नौ कोष्ठों से युक्त चार रेखाएँ विद्यमान है ।। १८ ।।

मध्यः खण्डः पद्मरागमयश्चानन्दभूमिकः ।
पुष्परागमयस्तस्य पूर्वभागे प्रतिष्ठितः ।। १९ ।।

इस उद्यान का मध्य खण्ड पद्मरागमय है और यह आनन्दभूमि वाला है। इसका पूर्वभाग पुष्परागमय है ।। १९ ।।

चिदानन्दमयीं भूमिं तत्र सञ्चिन्तयेद्धिया ।
आग्नेयां वज्रघटितास्तत्र वैराग्यभूमिका ।। २० ।।

साधक को चाहिए कि वह अपनी बुद्धि में चिदानन्दमयी भूमि वाले उद्यान का चिन्तन करे। इस उद्यान का आग्नेयकोण वज्रनिर्मित है और वह वैराग्यभूमि वाला है ।। २० ।।

महामारकतं दक्षे चिन्तयेत्खण्डमुत्तमम् ।
राजते यत्र देवेशि महासन्तोषभूमिका ।। २१ ।।

साधक इस उद्यान के दक्षिण कोण में महामरकत मणि के उत्तमखण्ड का ध्यान करे। हे देवेशि ! जहाँ पर महान् संतोष की भूमि शोभा पा रही है (उस उद्यान का चिन्तन करे) ।। २१ ।।

नैर्ऋते चिन्तयेत्खण्ड यत्रास्ते प्रेमभूमिका ।
प्रवालमणिसन्नद्धं प्रकाशपरमोज्ज्वलम् ।। २२ ।।

इस उद्यान के ऐसे नैर्ऋतकोण का स्मरण करे जहाँ पर प्रेमभूमिका रहती है। वहाँ प्रवाल एवं मणि से सन्नद्ध उज्ज्वल एवं श्रेष्ठ प्रकाश का ध्यान करे ।। २२ ।।

प्रतीच्यां नीलमणिभिर्मण्डितं भुक्तिभूमिकं ।
इन्द्रनीलमयं देवि प्रभालिप्तनभोन्तरम् ।। २३ ।।

पूर्वदिशा में नीलमणि से मण्डित भुक्तिभूमिका वाले उस उद्यान का स्मरण करे जिसके नभ के अन्तराल इन्द्रनीलमय तथा उसकी (नीली) प्रभा से युक्त हैं ॥ २३ ॥

वायव्ये संस्मरेत्खण्डं ज्ञानभूमिसमाश्रयम् ।
उत्तरे चिन्तयेत्खण्डं गोमेदरचितान्तरम् ॥ २४ ॥

इस उद्यान की वायवीय दिशा के भाग को ज्ञानभूमि से युक्त चिन्तन करे। उत्तर दिशा में गोमेद से रचित खण्ड का स्मरण करे ॥ २४ ॥

प्रकाशभूमिका यत्र राजते सुमनोहरा ।
महामौक्तिकखण्डश्च य ईशान्येगतः प्रिये ।
तं स्मरेत्सततं यत्र राजते रतिभूमिका ॥ २५ ॥

हे प्रिये ! जहाँ सुन्दर एवं मनोहर प्रकाशभूमिका शोभित है और जिसके ईशानकोण महामौक्तिकखण्ड से युक्त हैं, इस प्रकार के उस उद्यान का साधक सतत स्मरण करे, जहाँ रतिभूमिका सदैव दीप्तिमान रहती है ॥ २५ ॥

भूमयः सप्तदेवेशि योजनानां चतुर्दश ।
लक्षाणि ते मया प्रोक्ता[1]निबोध गिरिनन्दिनि ॥ २६ ॥

हे देवेशि ! चौदह योजन तक इन भूमियों का विस्तार है, जिन्हें हमने आपसे कहा है। हे गिरिनन्दिनि ! आप उनके लक्षों को समझिए ॥ २६ ॥

चिदानन्दमयी भूमिस्तावत्येव प्रकीर्तिता ।
द्वाविंशतिर्योजनानां लक्ष्याण्यानन्दभूमिका ॥ २७ ॥

चिदानन्दमयी भूमि का विस्तार भी उतना (चौदह योजन) ही कहा गया है और आनन्दभूमि का विस्तार बाइस योजन तक है ॥ २७ ॥

नित्यं वृन्दावनं यत्र राजते कर्णिकाकृति ।
स्मरेद् ब्रह्मपुरं तत्र प्रकाशपरमोज्ज्वलम् ॥ २८ ॥

कमल की कर्णिका के समान उस आनन्दभूमि पर नित्य वृन्दावन शोभा सम्पन्न रहता है। उसी वृन्दावन में साधक को प्रकाश से अत्यन्त उज्ज्वल ब्रह्मपुर का स्मरण करना चाहिए ॥ २८ ॥

तन्मध्ये देव देवेशि मणिनैकेन निर्मितम् ।
समकालोदितानेककोटिचन्द्रार्कभास्वता ॥ २९ ॥

---

१. 'लक्षाणि मितयोक्तानि' इ० पा० ।

क्वचिन्नीलं क्वचिद्रक्तं क्वचित्कृष्णं क्वचित्सितम् ।
दशभूम्यात्मकं श्रीमत्संस्मरेन्निजमन्दिरम् ।। ३० ।।

हे देवदेवेशि ! उसके मध्य में एक ही मणि से निर्मित, एक ही समय में उदित होने वाले अनेक कोटि चन्द्र एवं सूर्य से चमकते हुए; कहीं नीले, कहीं लाल, कहीं काले, कहीं सफेद दस भूमि वाले शोभा युक्त निज मन्दिर का स्मरण करना चाहिए ।। २९–३० ।।

विमर्श—श्रीकृष्ण के मन्दिर का वर्णन इस प्रकार है—

	९ खण्ड	९ रत्न	९ भूमियाँ
१.	मध्य खण्ड	पद्मराग	आनन्दभूमि
२.	आग्नेय खण्ड	पुष्पराग	चिदानन्दमयभूमि
३.	दक्षिण खण्ड	वज्रघटित	वैराग्यभूमि
४.	नैऋत्य खण्ड	मरकत	महासन्तोषभूमि
५.	प्रतीच्य खण्ड	प्रवाल	प्रेमभूमि
६.	वायव्य खण्ड	नीलमणि	भुक्तिभूमि
७.	उत्तर खण्ड	इन्द्रनील	ज्ञानभूमि
८.	ईशान खण्ड	गोमेद	प्रकाशभूमि
९.	पूर्व खण्ड	महामौक्तिक	रतिभूमि

नौ भूमियों के रास्तों आदि का वर्णन ४२वें पटल में है ।

मन्दिरं परितः पङ्क्तिः सौधानां कृष्णयोषिताम् ।
एकैकं मन्दिरं देवि ! योजनार्द्धप्रमाणतः ।। ३१ ।।

मन्दिर के चारों ओर कृष्ण की प्रियाओं की प्रासाद पङ्क्ति का स्मरण करना चाहिए । हे देवि ! इस प्रकार का एक-एक मन्दिर आधे योजन विस्तार का है ।। ३१ ।।

सार्द्धद्वियोजनोत्सेधं निजमन्दिरमद्भुतम् ।
प्राकारैर्दशभिर्गुप्तं महोद्यानविराजितैः ।। ३२ ।।

ढाई योजन विस्तार वाला श्रीकृष्ण का अद्भुत मन्दिर महान् उद्यान से शोभा सम्पन्न है और गुप्त दश भवनों से शोभित है ।। ३२ ।।

परिवृत्तीः स्मरेत्तस्य षट्सहस्राणि योजनाः ।
द्विसहस्रमिदं सूत्रं दक्षिणोत्तरगं भवेत् ।। ३३ ।।

इस प्रकार छः हजार योजन की परिवृत्तियों (=चहारदीवारी) से सम्पन्न उस

मन्दिर का ध्यान साधक को करना चाहिए। दक्षिण और उत्तर में यह दो हजार योजन तक विस्तीर्ण है ॥ ३३ ॥

पूर्वपश्चिमगं सूत्रं तथैव परिमाणतः।
महापद्मवनं ध्यायेत् परितो निजमन्दिरम् ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार इस मन्दिर का पूर्व और पश्चिम का भाग भी उतने ही (दो हजार योजन) विस्तार वाला है। इस निजमन्दिर के चारों ओर महान् पद्म (कमल) के वनों का ध्यान करना चाहिए ॥ ३४ ॥

प्रकाशानन्दभूम्योस्तु सन्धौ नीलाद्रिरुत्तमः।
योजनायुतमानेन तस्योच्छ्रायं स्मरेत्प्रिये ॥ ३५ ॥

प्रकाश एवं आनन्दभूमि के सन्धि में श्रेष्ठ नीलाद्रि विराजित है। हे प्रिये ! उसकी एक हजार योजन ऊँची चोटी का ध्यान करना चाहिए ॥ ३५ ॥

शृङ्गाणि तस्य देवेशि त्रीणि सन्त्यद्भुतानि च।
चन्द्रगौरं चन्द्रचूडं महाचन्द्रं ततः परम् ॥ ३६ ॥

हे देवेशि ! उस पर्वत की तीन अद्भुत चोटियाँ है। जिसके नाम हैं १. चन्द्रगौर, २. चन्द्रचूड और ३. महाचन्द्र ॥ ३६ ॥

चद्रगौरे महाशृङ्गे चन्द्रनाम्ना महासरः।
शतयोजनविस्तारं चन्द्रसोपानमण्डितम् ॥ ३७ ॥

चन्द्रगौर नामक महान् चोटी पर चन्द्रनामक महान् सरोवर है। इस सरोवर का विस्तार सौ योजन है। इस सरोवर की सीढियाँ चन्द्रकान्तमणि से बनाई गई हैं ॥ ३७ ॥

गुञ्जद् भ्रमरझङ्कारमुखरीकृतदिङ्मुखम्।
प्रफुल्लपङ्कजवनामोदमोहितषट्पदम् ॥ ३८ ॥

यहाँ पर प्रफुल्लित कमलों के वन की सुगन्ध से आकृष्ट हुए भौरों की गुञ्जन एवं झङ्कार से दिशाओं के मुख मुखरीकृत हैं ॥ ३८ ॥

मरालीयूथमध्यस्थमरालगणमण्डितम्।
कूजितैश्चित्रपक्षाणां पक्षिणां सुमनोहरम् ॥ ३९ ॥

हंसिनियों के झुण्ड में मरालों (हंसों) के समूह से शोभायमान सरोवर विभिन्न प्रकार के चित्र विचित्र पक्षियों के पङ्खों और उनके चहचहाने से अत्यन्त मनोहर प्रतीत होता है ॥ ३९ ॥

तटस्थोद्यानशोभाभिर्नयनानन्दमन्दिरम् ।
आनन्दसुधयापूर्णं संस्मरेत्स्मृतिधारया ॥ ४० ॥

उस सरोवर के तट पर बने उद्यान की शोभा का और नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले मन्दिर का ध्यान स्मृति पटल पर ऐसे करना चाहिए जैसे आनन्द के अमृत से वह सरोवर भरा हुआ है ॥ ४० ॥

कदाचित् क्रीडनं तत्र भगवान् पुरुषोत्तमः ।
सखीसहस्रसेव्याभिः स्वामिन्या सह केवलम् ॥ ४१ ॥

वहाँ पर भगवान् तुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को कहीं पर क्रीडा करने का ध्यान करना चाहिए जो केवल अपनी स्वामिनी श्री राधा के साथ और हजारों सखियों की सेवाओं से युक्त हैं ॥ ४१ ॥

चन्द्रचूड पञ्चह्रदाः परमानन्दसुधामृताः ।
रत्नसोपानसाहस्रैः काञ्चनैः कृतकौतुकाः ॥ ४२ ॥

चन्द्रचूड नामक दूसरे शिखर पर पाँच ह्रद हैं जो परमानन्द के अमृत से पूर्ण हैं । यहाँ की सढ़ियाँ स्वर्ण एवं सहस्रा रत्नों से निर्मित अत्यन्त कौतुक पूर्ण हैं ॥ ४२ ॥

सुवर्णपङ्कजवनैर्वायुनान्दोलितैर्मुहुः ।
सुवासयाद्भिः सततं दिगन्तात्परिशोभिताः ॥ ४३ ॥

सोने के (रंग के) कमलों के वनों की वायु से बार-बार हिलने डुलने से सदैव जहाँ के दिगन्त सुवासित एवं चारो ओर से शोभायमान हैं ॥ ४३ ॥

क्रीडते तत्र भगवान् कदाचिद्योषितां गणैः ।
उद्यानराजं देवेशि महाचन्द्रेऽपि संस्मरेत् ॥ ४४ ॥

कभी वहाँ पर भगवान् कृष्ण युवतियों के समूहों के साथ विहार करते हैं। हे देवेशि ! इस महान् चन्द्रचूड सरोवर के उत्कृष्ट उद्यान का भी स्मरण करना चाहिए ॥ ४४ ॥

पादपाः पत्रविस्तीर्णाः स्वर्णशाखासुपेशलाः ।
नीलवैदूर्यपत्राढ्यामुक्तास्तबकमालिनः ॥ ४५ ॥

उस उद्यान के वृक्ष पत्रों से आकीर्ण हैं और उनकी शाखाएँ स्वर्ण के समान अत्यन्त चिकनी और सुवड़ हैं । नीले तथा लाल रंग के पत्तों से परिपूर्ण तथा मुक्ता के गुच्छों के समूहों से वहाँ के पेड़ सुशोभित है ॥ ४५ ॥

कदम्बाशोकपुन्नागमालतीबकुलार्ज्जुनैः ।
बिल्वपालैस्तमालैश्च हितालैः पारिजातकैः ॥ ४६ ॥
केतकैश्चम्पकैश्चतैः कल्पवृक्षैः सुशोभितम् ।
तन्मध्ये संस्मरेद्देवि मणिमण्डपमायतम् ।
शतस्तम्भैः स्वर्णमयैः मुक्तारत्नचितान्तरैः ॥ ४७ ॥

कदम्ब, अशोक, पुन्नाग, मालती, बकुल, अर्जुन, बिल्व, ताड़, तमाल, हिताल, पारिजात, केतकी, चम्पा, आम्रमञ्जरियों से वहाँ के कल्पवृक्ष सुशोभित हैं। हे देवि! इन वृक्षों के मध्य मणिनिर्मित उस चौकोर मण्डप का ध्यान करना चाहिए जो मण्डप सौ स्वर्णिम तथा मुक्ता आदि रत्न से जटित खम्भों से युक्त है ॥ ४६-४७ ॥

शोभमानं चतुर्द्वारं साप्तभौमं निरामयम् ।
प्रतिद्वारं कुट्टिमाभ्यां प्रतिकुट्टिमदीर्घिकम् ॥ ४८ ॥

यह मण्डप चार द्वारों वाला, सातमञ्जिल का तथा निर्मल है। इसके प्रत्येक द्वार रत्नजटित दरवाजों से तथा प्रत्येक द्वार फर्श से युक्त दीर्घिका (वापी) वाले हैं ॥ ४८ ॥

दीर्घिकासु लसत्स्वर्णपद्मव्यग्रषडाङ्घ्रिकम् ।
कुट्टिमोपरि विस्फूर्जद्रत्नस्तम्भमनोहरम् ॥ ४९ ॥

इन दीर्घिकाओं में स्वर्ण कमल खिले हैं, जिस पर व्यग्रता से मँडराते हुए भौंरे सुशोभित है। उनकी फर्श पर प्रभा फैलाने वाले रत्न से जटित खम्भे अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रहे हैं ॥ ४९ ॥

प्रवालनीलमाणिक्यमुक्तावैदूर्यगारुडैः ।
कृतस्वस्तिकविस्फूर्यन्मध्यदेशश्रियोज्ज्वलम् ॥ ५० ॥

प्रवाल (मूँगा), वैदूर्य, नील, माणिक्य, मुक्ता, तथा गारुड आदि रत्नों से बने मण्डप के मध्य भाग में चमकते हुए 'स्वस्तिक' उज्ज्वल श्री को धारण कर रहे हैं ॥ ५० ॥

शुकैः पारावतैर्हंसैः कूजद्भिः परिशोभितम् ।
स्वर्णवैदूर्यमुक्ताभिर्विलसत्तोरणोज्ज्वलम् ॥ ५१ ॥

(वे द्वार) शुकों (तोता), पारावतों (कबूतर) तथा हंसों से कूजित होने के कारण सुशोभित और स्वर्ण, वैदूर्य एवं मोतियों से जड़े हुए उज्ज्वल तोरणों से कान्तिमान हैं। ५१ ॥

चतुर्दिक्षु महासौधराजिराजितमद्भुतम् ।
कदाचिदत्र भगवान् रथमास्थाय सुप्रभम् ॥ ५२ ॥
सखीसहस्रैरायाति क्रीडनार्थं महेश्वरि ।
कृत्वा नानाविधां क्रीडामुद्याने सुमनोहरे ॥ ५३ ॥
मण्डपं प्रविशेत्सद्यः सखीभिः सह संवृतः ।
आराधन्ते तत सर्वास्तासां याः परिचारिकाः ॥ ५४ ॥

चारो दिशाओं में ऊँचे-ऊँचे भवनों की पङ्क्ति से युक्त अद्भुत शोभा को प्राप्त मन्दिर है। किसी समय यहाँ पर सुन्दर प्रभा वाले रथ पर चढ़कर भगवान् श्रीकृष्ण हजारों सखियों के साथ क्रीडा करने के लिए आते हैं। हे महेश्वरि ! इस सुन्दर एवं मनोहर उद्यान में वे नाना प्रकार की क्रीडा करके सखियों के साथ घिरे हुए शीघ्र ही मण्डप में प्रवेश करते हैं। इसके बाद उनकी जो परिचारिकाए हैं वे सभी उनकी आराधना करती हैं ॥ ५२–५४ ॥

दिव्यसौधानि मणिभिर्दीप्यमानानि सर्वतः ।
वीणामृदङ्गतन्त्रीभिर्गायन्ति यश उत्सुकाः ॥ ५५ ॥

वहाँ के दिव्य भवनों में सभी स्थान मणियों के प्रकाश से प्रकाशित हैं। उत्सुक भक्त जन वीणा, मृदङ्ग एवं सितारों के साथ यश का गायन करते हैं ॥ ५५ ॥

तद्गीतानन्दसन्दोहनिमग्नेन्द्रियवृत्तयः ।
उद्यानराजहरिणाः हरिण्यः शुकसारसाः ॥ ५६ ॥
पिकाः पारावताश्चैव मयूरा मधुभाषिणः ।
स्ववाचं मुद्रयन्त्येव यथा चित्रगताः शिवे ॥ ५७ ॥

उनके गीत के आनन्द समुद्र में उनकी इन्द्रियों की वृत्तियाँ निमग्न हो गई हैं। उद्यान में विचरण करने वाले हरिणों और हिरणियों, शुकों एव सारसों, पिक (कोयल) पारावतों (कबूतरों) और मधुरभाषित करने वाले मयूरों आदि के झुण्ड, हे शिवे ! अपनी वाणी को चित्रगत के जैसा मुद्रा में बोलते हैं ॥ ५६–५७ ॥

सुधारसादप्यधिकैर्वाक्यैर्हास्यरसान्वितैः ।
हासयन्ति हसन्त्यश्च प्रियं च स्वामिनीमपि ॥ ५८ ॥

सखियाँ सुधा रस से भी अधिक हास्य रस से युक्त वाक्यों द्वारा प्रिय एवं स्वामिनी को भी हँसाती है और स्वयं हँसती भी हैं ॥ ५८ ॥

कदाचित्प्रार्थयामासुः स्वामिनीपक्षमाश्रिताः ।
नेत्रबन्धमयीं लीलां रन्तु कृष्णं स[illegible]ः ॥ ५९ ॥

उन सहस्रों सखियों ने किसी समय स्वामिनी का पक्ष लेकर कृष्ण के साथ खेलने के लिए नेत्रबन्धमयी (आँख बांधकर खोजने की) लीला करने की प्रार्थना की ॥ ५९ ॥

पणबन्ध ततश्चक्रुर्नेत्रबन्धे कृते सति ।
यदि नाम न जानासि तदा प्रिय पराजितः ॥ ६० ॥

नेत्र बन्धन करने के बाद उन्होंने फिर शपथ ग्रहण की । यदि बोलने वाली प्रिया के नाम को प्रिय कृष्ण न बता पाएँगे तो प्रिय पराजित हो जायँगे ॥ ६० ॥

स्ववस्त्राभरणान्यस्यै देहि चित्तमखेदयन् ।
सा प्रिया प्रिय ते रूपं करिष्यति मनोहरम् ॥ ६१ ॥

चित्त में बिना खिन्न हुए अपने वस्त्राभूषण उस सखि को आप दे देंगे । हे प्रिये ! वह आपकी प्रिया होगी जो आपके रूप को मनोहर करेगी ॥ ६१ ॥

त्वत्सिंहासनमारूढा कृष्णोऽहमिति वादिनी ।
भवन्तमाज्ञापयतु नृत्यतां सखि मत्पुरः ॥ ६२ ॥

आपके सिंहासन पर बैठकर 'मैं कृष्ण हूँ' यह कहते हुए आपको आज्ञा देगी कि कि हे सखि ! मेरे सामने नृत्य कीजिए ॥ ६२ ॥

त्वया नृत्यं तदा कार्यमवश्यमिव चाङ्गना ।
त्वयि नृत्यति निःशङ्कं गास्यामो वयमेव हि ॥ ६३ ॥

तब आपको और आपकी अङ्गना को अवश्य ही नाच करना होगा । क्योंकि आपके नृत्य करते समय हम लोग निःशङ्क होकर गीत गाएँगी ॥ ६३ ॥

यदि वा नाम जानासि प्रियापि कुरुतां तथा ।
इति ताः पणमाश्राव्य परिवव्रुः प्रियं प्रियाः ॥ ६४ ॥

यदि आप नेत्रबन्ध लीला में उस सखि का नाम जान लेंगे तो वह प्रिया भी वैसा ही करेगी । इस प्रकार की उनकी शर्त को सुनकर प्रियाओं ने प्रिय से कहा ॥ ६४ ॥

तदेन्दिरा सखी काचित् पश्चादागत्य सत्वरम् ।
बबन्ध नेत्रयुगलं करपद्मयुगेन च ॥ ६५ ॥

तब शीघ्र ही इन्दिरा नाम की कोई सखि पीछे आकर अपने हस्तपद्मों से उनके दोनों नेत्रों को बाँध दिया ॥ ६५ ॥

नेत्रे गृहीतः कृष्णः प्राह त्वमसि सुन्दरी ।
तदोन्मुच्याक्षियुगलं स्मिता प्राहेन्दिरा सखी ॥ ६६ ॥

नेत्र बन्द कर लेने पर कृष्ण ने कहा—'तुम सुन्दरी हो।' तब इन्दिरा नामक सखी ने मुस्कुराते हुए कहा—नेत्रों को खोल दो ॥ ६६ ॥

किं जल्पसि मुधा नाम प्राणनाथ पराजितः।
न चाहं सुन्दरी नाम्ना प्रिया तेऽस्मीन्दिराभिधा ॥ ६७ ॥
तस्माल्लज्जां परित्यज्य पणबन्धं विचारय।

आप क्या गलत नाम से कह रहे हैं। प्राणनाथ पराजित हो गए। मैं सुन्दरी हूँ। मैं तो आपकी इन्दिरा नाम की प्रिया हूँ। इसलिए आप अब लज्जा का त्याग कर शर्त का विचार करें ॥ ६७-६८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

नाहं पराजितः साक्षादज्ञातेति न मुह्यताम् ॥ ६८ ॥
त्वयीन्दिरे सुन्दरीति भ्रमः सार्वदिको मम।
सुन्दर्यां मत्प्रियायां च स्फुरत्येवेन्दिराभ्रमः ॥ ६९ ॥

श्री कृष्ण ने कहा—

मैं साक्षात् रूप से पराजित नहीं हुआ हूँ क्योंकि पहचान में तुम्हें भ्रम नहीं होना चाहिए। हे इन्दिरे! तुम्हारे में सर्वत्र हमें सुन्दरी का ही भ्रम होता रहता है। वस्तुतः सुन्दरी में और मेरी प्रिया में सदैव इन्दिरा का भ्रम हो ही जाता है ॥ ६८-६९ ॥

नाण्वप्यन्तरं वापि नामतो रूपतोऽपि च।
ज्ञात्वापि त्वामिन्दिरेति क्षणादेव भ्रमद्धिया।
जल्पितं सुन्दरीत्येतन्मयोक्तमवधार्यतां ॥ ७० ॥
प्रियस्य वचनं श्रुत्वा पुनः प्राहेन्दिरा वचः।

क्योंकि नाम से या रूप से अणु मात्र भी दोनों में अन्तर नहीं है। अतः यह जानकर भी तुम इन्दिरा में क्षण भर ही वुद्धि भ्रम हुआ। 'सुन्दरि' यह जो हमने कह दिया है उसे आप इन्दिरा ही समझें। प्रिय के इस प्रकार के वचनों को सुनकर पुनः इन्दिरा ने कहा ॥ ७०-७१ ॥

इन्दिरोवाच—

अहो नाथ महत्येषा वञ्चना चातुरी तव ॥ ७१ ॥
ज्ञात्वापि मामिन्दिरेति सुन्दरीति मुखोद्गतम्।
कथं श्रद्दधां हे नाथ वेदार्थमिव नास्तिकाः ॥ ७२ ॥

इन्दिरा ने कहा—

अहो नाथ ! यह तो आपकी महान् छलना-चातुरी है ॥ मुझे इन्दिरा जानकर भी आप के मुह से सुन्दरी शब्द जब निकला तो हे नाथ हम नास्तिकों के वेदार्थ के समान इस वचन पर कैसे श्रद्धा करें ॥ ७१-७२ ॥

स्त्रीषु हास्येषु धूर्त्तेषु प्राणबाधाभयेषु च ।
संवदत्यनृता वाणीत्येतज्जानाति भो भवान् ॥ ७३ ॥

हे कृष्ण ! स्त्रियों में, हंसी में, धूर्त्तों में, प्राण के संकट में तथा भय में झूठ वाणी का प्रयोग होता है—यह आप जानते हैं ॥ ७३ ॥

मुखोद्गते हि विश्वासो नास्माकं हृदयस्थिते ।
नास्तिकस्येव प्रत्यक्षे प्रमाणे न तु शाब्दिके ॥ ७४ ।

हम लोगों का तो विश्वास मुख से निकलने वाले शब्द पर है । आपके हृदय में क्या है ? यह हम क्या जाने । जैसे नास्तिक प्रत्यक्ष प्रमाण में विश्वास करता है शब्द प्रमाण में नहीं ॥ ७४ ॥

तस्मात्त्वं स्वीयवचनं यदि सत्येन युञ्जसि ।
देहि लज्जां विहायाशु वासांस्याभरणानि च ॥ ७५ ॥

इसलिए यदि आप अपने वचन को सत्य समझते हैं तो लज्जा छोड़कर शीघ्र ही अपने वस्त्र और आभूषण हमें दे दीजिए ॥ ७५ ॥

नो चेत्स्वतन्त्रः किं कुर्मः प्रभुस्त्वमस्वतन्त्रकाः ।
पणलोपभयाद् भूयः का प्रतीतिस्तवेति हि ॥ ७६ ॥

यदि आप नहीं देते हैं तो हम स्वतन्त्र रूप से क्या करेंगे ? क्योंकि आप तो प्रभु हैं और हम आपके वश में हैं । अतः शर्त के लोप के भय से पुनः आप पर क्या हमारी प्रतीति होगी ? आप ही जानते हैं ॥ ७६ ॥

तस्मादर्थमनर्थं च स्वकीयहृदये पुनः ।
विनिश्चित्य यथा न्यायं यदिच्छसि तथा कुरु ॥ ७७ ॥

इसलिए अर्थ एवं अनर्थ को पुनः अपने हृदय में विचार कर जैसा न्यायसंगत हो वैसा ही कीजिए ॥ ७७ ॥

श्रुत्वेन्दिरावाक्यमतिप्रगल्भं चातुर्ययुक्तं च सखीसमाजे ।
स्मित्वा स्वभूषावसनानि सद्यः स्वयं समुत्तार्य ददावथास्यै ॥ ७८ ॥

इस प्रकार के इन्दिरा के अत्यन्त बुद्धिमत्ता पूर्ण तथा चतुराई भरे वाक्यों को

सखी समुदाय के मध्य सुनकर उन भगवान् कृष्ण ने हँसते हुए शीघ्र ही अपने आभूषण एवं वस्त्रों को स्वयं उतारकर इन सखियों को दे दिया ।। ७८ ।।

महानीलं ददौ वासः कटिवस्त्रं सुवर्णभम् ।
उष्णीषं चैव कौसुम्भ मुक्ताभूषितकुण्डले ।। ७९ ।।

अत्यन्त नीले वस्त्रों और सुवर्ण के समान पीले कटि वस्त्र पीताम्बर को तथा कौसुम्भ के वर्ण वाली पगड़ी को और मुक्ता जटित कुण्डलों को भी दे दिया ।। ७९ ।।

स्फुरत्कोटीन्दुविलसदुष्णीषमणिमुत्तमम् ।
दिव्यमुक्ताफलानद्धग्रीवाभरणमुज्ज्वलम् ।। ८० ।।
नवरत्नमयीमालां विचित्रकिरणोज्ज्वलाम् ।
किर्मीरितमिवात्युच्चैः प्रकुर्वन्तीं हृदाम्बुजम् ।। ८१ ।।
माणिक्यमुक्तामणिभिर्जटित वलयद्वयं ।
नखसुक्तिं महारम्यां स्वर्णपद्मविभूषिताम् ।। ८२ ।।

करोड़ों चन्दमा की प्रभा से सुशोभित उत्तम उष्णीष की मणि को, दिव्य मुक्ताफल से जटित उज्ज्वल ग्रीवा के आभूषण को, नौ रत्नों के हार को जो विचित्र प्रकार की किरणों से उज्ज्वल प्रभा वाली थी, किर्मीरित के समान अत्यन्त ऊँचे हृदय कमलों को खिलाने वाली, माणिक्य एवं मुक्तामणि से जटित दोनों कर्ण के आभूषण को तथा स्वर्ण पद्म से विभूषित महान् रम्य नखशुक्ति को भी दे दिया ।। ८०-८२ ।।

केयूरयुगलं चारु चिन्तारत्नचितान्तरम् ।
मध्योल्लसत्पद्मरागं चतुष्कं चातिसुन्दरम् ।। ८३ ।।

दोनों हाथों के बाजूबन्दों को जो चिन्ता (मणि) रत्न से भीतर में चित्रित थे, और मध्य में पद्मराग के समान दीप्ति वाले अत्यन्त सुन्दर चतुष्क (नामक) आभरण को भी दे दिया ।। ८३ ।।

उन्मत्तानङ्गमातङ्गगलघण्टाविडम्बिनीम ।
नीलहीरादिमणिभिः स्फुरद्भिः परितो वृताम् ।
क्षुद्रघण्टाक्वणत्कारैः स्वर्णकाञ्चीमनूपमाम् ।। ८४ ।।

उन्मत्त कामदेव एवं हाथी के बच्चे के गले में झूलते हुए घण्टे के समान नीलम, हीरा आदि चमकते हुए मणियों से चारों ओर से घिरे हुए, सोने की अद्वितीय करधनी को जिसमें छोटे-छोटे घुँघरू झङ्कार कर रहे थे उस सखियों को दे दिया ।। ८४ ।।

ऊर्मिकाः प्रस्फुरद्रत्नप्रभापटलमध्यगाः ।
अङ्गुलीछद्मलावण्यधाराशङ्कां वितन्वतीः ।। ८५ ।।

पादयोः कटके दिव्ये सुवृत्तेः मणिभूषिते ।
ददौ महामनाः कृष्णो यदन्यद्भूषणादिकम् ।। ८६ ।।

रत्नों की प्रभा पटल के मध्य ऊर्मियों से प्रभावान् अङ्गुलियों के व्याज से लावण्य युक्त धाराओं की शङ्का को उपस्थित कर देने वाले दोनों चरणों के दिव्य कड़े जो सुन्दर गोलाई वाले और मणि से विभूषित थे, उन्हें और जो भी अन्य आभूषणादिक थे सभी को महामना श्री कृष्ण ने उन प्रियाओं को दे दिया ।। ८५–८६ ।।

ततश्च रचयामास वेषं तस्या मनोहरम् ।
उष्णीवं मूर्ध्नि रचितं कर्णयोः कुण्डलद्वयम् ।। ८७ ।।

इसके बाद उस सुन्दरी का मनोहर वेष बनाकर शिर पर पगड़ी धारण की और दोनों कानों में कुण्डल पहन लिए ।। ८७ ।।

कण्ठ माला दधौ रम्यां नवरत्नविराजिताम्[1] ।
वलये कल्पयामास मणिबन्धद्वये तथा ।। ८८ ।।

नौ रत्नों वाली रमणीय माला को गले में धारण कर लिया और दोनों कलाइयों में दो वलय बांध लिए ।। ८८ ।।

केयूरयुगलं बाह्वोश्चतुष्कं हृदयाम्बुजे ।
कट्यां प्रकल्पयामास स्वर्णकाञ्ची मनोहराम् ।। ८९ ।।

दोनों बाहुओं में बाजूबन्द और हृदय कमल पर चतुष्क तथा कटि में मनोहारी सुवर्ण की करधनी पहन ली ।। ८९ ।।

अङ्गुलीयान्यङ्गुलिषु तदङ्के कल्पयद्धरिः ।
ददौ वेत्रं महादिव्यं खचितं मणिमौक्तिकैः ।। ९० ।।

श्रीहरि ने उन-उन अङ्गुलियों में उन अँगूठियों को पहना तथा मणि एवं मुक्ता से खचित महादिव्य छड़ी को हाथ में धारण किया ।। ९० ।।

रत्नसिंहासने स्थाप्य तां सखीमिन्दिराभिधाम् ।
ननर्त कृष्णो रुचिरान् भावानाविश्चकार ह ।। ९१ ।।

उस इन्दिरा नामक सखी को रत्न के सिंहासन पर बैठाकर श्री कृष्ण भगवान् अनेक मनोहर भावों की अभिव्यक्ति करते हुए नृत्य करने लगे ।। ९१ ।।

वनितारूपमास्थाय मोहयन्निव मायया ।
प्रिये नृत्यति सोत्साहं जगुः काश्चन योषितः ।। ९२ ।।

---

१. 'विभूषिताम्' इत्यपि पाठः ।

वनिता के रूप में बनकर श्री कृष्ण ने मानों अपनी माया से सभी को मोहित कर दिया। तभी किसी युवती ने कहा—प्रिये ! यह बड़े उत्साह से नृत्य कर रही है ॥ ९२ ॥

मृदङ्गमहनत् माध्वी यौवनोद्वेलगर्विता।
वीणामासावती विद्युल्लता तन्त्रीमवादयत् ॥ ९३ ॥

यौवन के उद्वेग से गर्वीली माध्वा नाम की सखी ने मृदङ्ग बजाया तथा वीणा को आसावती ने और विद्युल्लता ने तन्त्री (सितार) का वादन किया ॥ ९३ ॥

लावण्यलहरी साक्षाद्वंशीवादनतत्परा।
सुप्रभा निस्तुला चोभे अभूतां तालधारिके ॥ ९४ ॥

लावण्यलहरी नामक सखी साक्षात् रूप से वंशी बजाने में तत्पर हो गई। सुप्रभा और निस्तुला नामक दोनों सखियाँ ताल देने लगी ॥ ९४ ॥

काश्चिन्मुखध्वनिं चक्रुस्तालीवादनतत्पराः।
काश्चिज्जयजयेत्युच्चैरूचुर्हास्यरसाकुलाः ॥ ९५ ॥

कुछ ने मुख से स्वर की धुन निकालना आरम्भ किया तथा कुछ तो ताली ही पीटने में तत्पर हो गई। कुछ तो हँसते हुए आकुल भाव से ऊँचे-ऊँचे स्वर में जय हो, जय हो कहना प्रारम्भ किया ॥ ९५ ॥

सुमुखीललिताद्यास्तु साधु साध्विति चाब्रुवन्।
अन्याः कुतूहलामग्नाः कृष्णस्य मुखपङ्कजम् ॥ ९६ ॥

उस समय सुमुखी और ललिता आदि सखियों ने साधु-साधु कहना शुरू किया। अन्य सखियाँ कृष्ण के मुखकमल पर आसक्त हो कुतूहल पूर्वक आनन्द रस में निमग्न हो गई ॥ ९६ ॥

पपुर्लावण्यमधुरं भ्रमन्नयनषट्पदम्।
ततो लीलावसाने तु कृष्णरूपधरा सखी।
सिंहासनात्समुत्थाय रचिताञ्जलिराययौ ॥ ९७ ॥
पपात पादयोर्भर्त्तुः प्रिय उत्थाप्य तां सखीम्।
आलिलिङ्ग चिरं प्रेम्णा चुचुम्बाननपङ्कजम् ॥ ९८ ॥

नयन रूपी भौंरों ने इस प्रकार की मधुर छवि के लावण्य का पान किया। तब लीला के अन्त में उन कृष्ण रूप वाली सखी अपनी अञ्जलि पसारे हुए सिंहासन से उठकर आयी और स्वामी कृष्ण के पैरों पर गिर पड़ी तब उन प्रिय ने उस सखी को उठाकर अत्यन्त प्रेम से चिरकाल तक उसका आलिङ्गन किया और उसके मुखकमल का चुम्बन करते रहे ॥ ९७–९८ ॥

कृष्णं विभूषयामास पुनस्तैर्भूषणाम्बरैः ।
रथारूढा ययुः सर्वाः प्रियेण निजमन्दिरम् ॥ ९९ ॥

कृष्ण को पुनः उन आभूषणों और वस्त्रों से अलङ्कृत किया और वे सभी रथ पर आरूढ होकर प्रिय कृष्ण के साथ निजमन्दिर को लौट गईं ॥ ९९ ॥

चतुःषष्टिमहास्तम्भराजराजितभूमिकाम् ।
प्राप्यसिंहासनगतं परिवव्रुः प्रियं प्रियाः ॥ १०० ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वतन्त्रे शिवोमासम्वादे
सप्तत्रिंशं पटलम् ॥ ३७ ॥

—— * ——

उन प्रियाओं ने चौसठ खम्भों की पङ्क्तियों से विभूषित भूमिका वाले सिंहासन गत प्रिय को प्राप्त कर उन्हें घेर लिया ॥ १०० ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के सैंतीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ३७ ॥

—— * ——

अथ अष्टत्रिंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

देवेश परमेशान सुरासुरनमस्कृत ।
कथेयं सुमहत्पुण्या सुधास्वादीयसंस्तुता ।। १ ।।

पार्वती ने कहा—

हे देवेशि ! हे परमेशान ! हे देवों और असुरों से नमस्कृत ! यह कथा महा-पुण्य वाली तथा अमृत से परिपूर्ण है ।। १ ।।

तथापि देवदेवेश त्वद्वाक् पीयूषपानजा ।
तृप्तिर्न जायते सम्यक् शुश्रूषाकुलचेतसः ।। २ ।।

हे देवेशि ! आपके वाणी रूप अमृत का पान हमने किया; तथापि सेवा शुश्रूषा के लिए व्याकुल चित्त मुझे इस कथा से तृप्ति नहीं मिल रही है ।। २ ।।

कथाश्रवणजानन्दो न मुक्तावपि दृश्यते ।
कस्तं विहाय मोहेन निजायुः प्रविलापयेत् ।। ३ ।।

कथा के श्रवण से उत्पन्न आनन्द से मैं अपने को मुक्त भी हुआ नहीं देख रही हूँ । कौन है जो उस कथामृत को मोहवश छोड़कर अपनी आयु को व्यर्थ ही व्यतीत करेगा ।। ३ ।।

ते मन्दभाग्याः कुधियो दुराचारपरा हि ते ।
यैर्न लब्धा क्षणमपि कथा कर्णसुधा सती ।। ४ ।।

वे कुत्सित बद्धि वाले लोग दुराचार परायण होकर मन्द भाग्य के व्यक्ति हैं जो क्षणभर, भी कथामृत का पान नहीं कर सके ।। ४ ।।

सार्द्धत्रिकोटितीर्थानि ऋषयो मन्त्रदेवताः ।
यत्र कृष्णकथावादस्त्रैवायान्तिनिश्चितम् ।। ५ ।।

जहाँ कृष्ण कथा होती है वहाँ साढ़े तीन करोड़ तीर्थ, ऋषि; मन्त्र और देवता गण निश्चित ही आते हैं ।। ५ ।।

तस्मादनुग्रहीतास्मि भवता करुणात्मना ।
कथां कथयता रम्यां कृष्णस्यानन्दरूपिणः ।। ६ ।।

इसलिए, हे करुणापरायण ! मैं आपकी अनुगृहीत हूँ । आनन्दरूप कृष्ण की

रम्य कथा आपने कहकर मुझे अनुगृहीत किया है ।। ६ ।।

पुनः कथय देवेश कथामानन्दकारिणीम् ।
चतुःषष्टिमहास्तंभराजिराजितभूमिकाम् ।। ७ ।।
अधिष्ठाय प्रियेणैताः सङ्गताश्च किमाचरन् ।
तद्वदस्वमहेशान यदि तेनुग्रहो मयि ।। ८ ।।

हे देवेश ! अतः आप पुनः आनन्दकरी कथा को कहें । चौसठ स्तम्भों वाले सिंहासन पर प्रिया (राधा) के साथ बैठकर उन सखी समुदाय ने क्या-क्या आचरण किए ? उन आनन्द को, हे महेशान ! यदि मेरे ऊपर अनुग्रह हो तो, आप आगे कहें ।। ७-८ ।।

शिव उवाच—

शृणु पार्वति वक्ष्यामि यत्पृष्टोहं सुलोचने ।
यस्य श्रवणमात्रेण जायते रतिरुत्तमा ।। ९ ।।

शिव ने कहा—

हे पार्वति ! हे सुलोचने ! आपने जो पूछा है उसे मैं कहता हूँ, सुनिए । जिसको सुनने मात्र से भगवान् में उत्तम रति हो जाती है ।। ९ ।।

नीलाद्रिशिखरादेत्य निजं धाम परात्परः ।
रत्नसिंहासने तस्थौ नवरत्नविभूषिते ।। १० ।।

अपने धाम नीलाचल शिखर से आकर परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण नौ रत्नों से विभूषित रत्न के सिंहासन पर बैठे हैं ।। १० ।।

सिंहासनस्य परितो मण्डलाकारसंस्थितः ।
प्रफुल्लनयनाम्भोजाः पश्यन्ति स्म प्रियं मुदा ।। ११ ।।

मण्डलाकार रूप से सिंहासन को चारों ओर से घेर कर विद्यमान सखियाँ प्रसन्न होकर अपने प्रफुल्लित नयन कमलों से प्रिय को देख रही हैं ।। ११ ।।

पूर्णानन्दं पूर्णकामं तत्र काश्चन योषितः ।
राजोपचारविधिना ह्युपतस्थुर्मुदान्विताः ।। १२ ।।

पूर्ण आनन्द में विभोर एवं पूर्णकाम कोई युवति राजोपचार की विधि से अत्यन्त प्रसन्नता के साथ प्रिय श्री कृष्ण के पास आई ।। १२ ।।

शरच्चन्द्रप्रभागौरं मुक्तामणिविभूषितम् ।
रत्नदण्डमनोहारि मिहिला छत्रमादधौ ।। १३ ।।

शरदकालीन चन्द्र की प्रभा के समान धवल वर्ण के तथा मुक्ता एवं मणि से विभूषित और रत्नजटित मनोहारी छत्र को उसने आकर पकड़ लिया ।। १३ ।।

माणिक्यखचितस्वर्णदण्डचामरचालनैः ।
उपतस्थौ महाभागा चन्द्रलेखा मनस्विनी ।। १४ ।।

माणिक्य से जड़े हुए सुवर्ण के दण्ड वाले चामर को चलाने के लिए महाभागा मनस्विनी चन्द्रलेखा भी पास आ गई ।। १४ ।।

सुवर्णसूत्रविद्योतच्चन्द्रकार्पितमौक्तिकम् ।
मयूरव्यजनं धृत्वा करे चित्रा परामृशत् ।। १५ ।।

सुवर्ण के सूत्र से चमकीले चन्द्र और मौक्तिक जड़े हुए मयूरपङ्ख हाथ में धारण किए हुए चित्रा परामृश करती हैं ।। १५ ।।

हिमांशुमण्डलप्रख्यं दर्पणं स्वर्णभूषितम् ।
रत्नचित्रं करे धृत्वा तस्थावानन्दमञ्जरी ।। १६ ।।

चन्द्रमण्डल के समान स्वर्ण से भूषित तथा रत्नों से जटित विचित्र लगने वाले दर्पण (=आइने) को हाथ में धारण किए हुए आनन्दमञ्जरी वहाँ आती है ।। १६ ।।

सुगन्धद्रव्यसम्भिन्नास्ताम्बूलदलवीटिकाः ।
रत्नपात्रे समादाय तस्थौ मदनमेखला ।। १७ ।।

सुगन्ध द्रव्य से युक्त पान की बोड़ा रत्न जटित पात्र में लेकर मदनमेखला वहाँ खड़ी है ।। १७ ।।

शतयोजनसंसर्पि दिव्यचन्दनपूरितम् ।
रत्नपात्रं करे धृत्वा तस्थौ भुवनमालिनी ।। १८ ।।

सौ योजन तक सुगन्ध को फैलाने वाली दिव्य चन्दन से परिपूर्ण रत्नजटित थाल हाथ में लिए भुवनमालिनी वहाँ खड़ी है ।। १८ ।।

मुक्ताजटितसौवर्णभृङ्गारजलपूरितम् ।
माणिक्यनालमादाय रत्नरेखा पुरःस्थिता ।। १९ ।।

मुक्ता जटित (घड़े में) स्वर्णिम भृङ्गार के जल से परिपूर्ण माणिक्य के नाल को लेकर रत्नरेखा सामने उपस्थित है ।। १९ ।।

शरच्चन्द्रांशुधवलं दशावलितमौक्तिकम् ।
हस्तवासः करेधृत्वा पुरस्तथौ विहारिणी ।। २० ।।

शरदकालीन चन्द्र की किरणों के समान धवल मौक्तिक वस्त्र से परिवेष्टित

हस्त सुगन्ध को हाथ में लेकर विहारिणी सम्मुख खड़ी है ॥ २० ॥

स्वर्णपात्रे स्थितं दिव्यं नानास्वादुरसान्वितम् ।
आनन्दभोगमादाय माधुरी दक्षिणे स्थिता ॥ २१ ॥

अनेक प्रकार के सुस्वाद रसों से युक्त दिव्य आनन्दभोग को सोने की थाल में लेकर माधुरी सिंहासन के दाहिने ओर खड़ी है ॥ २१ ॥

लीलावचांसि यानीह प्रवक्ति पुरुषोत्तमः ।
तानि श्लाघयितुं तस्थौ सुन्दरीशानकोणगा ॥ २२ ॥

पुरुषोत्तम प्रभु जिन लीला वचनों को यहाँ कहते हैं उनकी प्रशंसा के लिए सुन्दरी सिंहासन के ईशानकोण में खड़ी है ॥ २२ ॥

माध्वी मृदङ्गघोषेण वीणयाशावती सती ।
विद्युल्लता तथा तन्त्रीरवेणातिरसच्युता ॥ २३ ॥

मृदङ्ग के घोष से माध्वी, अशावती अपनी वीणा से तथा विद्युल्लता अति रस से पूर्ण तन्त्री के रव से युक्तः वहाँ उपस्थित है ॥ २३ ॥

वंशीवाद्येन लावण्यलहरी ललिताकृतिः ।
रागरङ्गा विनोदार्थं प्रयुक्तपरिभाषया ॥ २४ ॥

ललित आकृति वाली लावण्यलहरी वंशी वाद्य के द्वारा तथा तथा रागरङ्गा नामक कोई सखी मनोविनोद के लिए तरह-तरह की वार्ताओं को कहती हुई वहाँ उपस्थित हैं ॥ २४ ॥

रागविद्यासु कुशला रागणी रागविद्यया ।
उपतस्थुर्महाभागाः कृष्णं परमपूरुषम् ॥ २५ ॥

रागरागिनियों की विद्या में कुशल रागिणी अपनी राग विद्या के द्वारा प्रसन्न करती हुई महान् सौभाग्यवाली रागणा श्रेष्ठ पुरुष श्रीकृष्ण के पास आती हैं ॥ २५ ॥

ततो नाना विधां चक्रुर्लीलां हास्यरसाधिकाम् ।
तदन्ते प्रियमाभाष्य वप्रच्छुस्ताः समुत्सुकाः ॥ २६ ॥

इसके बाद वहाँ अधिकतर हास्य रस से परिपूर्ण नाना प्रकार की लीला होती है। अन्त में प्रिय से बोलने के लिए उत्सुक उन सखियों ने श्रीकृष्ण से पूँछा ॥२६॥

सख्य ऊचुः—

भो नाथ पुरुषश्रेष्ठ प्रियस्त्वं च वयं प्रियाः ।
प्रियत्वभाजां या प्रीतिर्न चोपाधिकृता भवेत् ॥ २७ ॥

सखियों ने कहा—

हे नाथ ! हे पुरुषों में श्रेष्ठ ! आप हमारे प्रिय हैं और मैं आप की प्रिया हूँ। आप मुझे वह प्रीति प्रदान करें जो प्रिय को प्रसन्न करने वाली हो और प्रिय को लुभाने वाली हो ॥ २७ ॥

यद्युपाधिकृता प्रीतिस्तदा रूपं न सिद्ध्यति।
तस्मात्प्रेमवतीनां नो यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ २८ ॥

वस्तुतः रूप की सिद्धि तब तक नहीं होती जब तक उपाधिकृत प्रीति न हो। इसलिए हम प्रेम करने वाली सखियाँ आपसे वैसा बोलने में समर्थ होवें ॥ २८ ॥

अवाग्विषयमत्युग्रहैतुकमनामयम्।
त्वय्येवास्माकमतुलं प्रेम विद्योतते प्रिय। २९ ॥

हे प्रिय ! बिना वाणी का विषय हुए, अत्यन्त उग्र, अहैतुक तथा अनामय हमारा अतुलनीय प्रेम आप पर प्रगट हो रहा है ॥ २९ ॥

शब्दोपाधौ कथं तच्च धर्तुं शक्ता वयं स्त्रियः।
तस्मात्तत्प्रकटीकर्तुं न समर्थाः कदाचन ॥ ३० ॥

हम स्त्रियाँ उस अलौकिक प्रेम को शब्द के बन्धन में बाँधकर धारण करने में समर्थ नहीं हैं। इसीलिए हम उत्कट प्रेम को प्रगट करने में हम समर्थ भी नहीं हैं ॥ ३० ॥

स्वयंवेद्यमिदं भाति कथं वाचा प्रचक्ष्महे।
अस्मासु यद्भवेत्प्रेम त्वदीयं पुरुषोत्तम ॥ ३१ ॥
अधिकं वा समं न्यूनं कथं विद्मः प्रिया वयम्।
त्वमेव वाचा तद्ब्रूहि तारतम्यविदो वयम् ॥ ३२ ॥

यह प्रेम तो स्वयं जानने योग्य (अनुभूति) है। इसे हम कैसे वाणी से कह हैं। अतः हे पुरुषोत्तम ! जो प्रेम आपका हमारे ऊपर होवे वह अधिक है या न्यून है हम आपकी प्रिया भी कैसे जान सकती हैं। अतः हमलोगों से आप ही वाणी से कहिए। हमलोग उस तारतम्य परम्परा की ज्ञाता हैं, हमलोग जान लेंगी ॥ ३१-३२ ॥

सखीनामपि सर्वासां स्वस्वप्रेमनिरूपणे।
विवादः शान्तिमाप्नोति त्वत्प्रेमश्रवणेन च ॥ ३३ ॥

सभी सखियाँ भी अपने-अपने प्रेम के निरूपण में तथा आपके प्रेम के श्रवण में विवाद करती हुई शान्ति प्राप्त करती हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तासां परात्मा पुरुषोत्तमः ।
न वाग्वृत्तिव्यक्तियोग्यं ज्ञात्वा प्रेमाब्रवीद्वचः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार उनके इन वचनों को सुनकर श्रेष्ठ आत्मा पुरुषोत्तम ने प्रेम वाक् वृत्ति से प्रगट करने योग्य नहीं है, यह जानकर प्रेमपूर्ण वाणी से कहा ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—
भवतीभिर्यदुक्तं भो तत्तथैव न संशयः ।
स्वसंवेद्यमिदं[1] प्रेम न वाचा वक्तुमर्हति ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—
हे सखियो ! जो आप ने यह कहा कि प्रेम वाणी से प्रगट करने योग्य नहीं है, वह तो स्वसंवेद्य है। यह तो वैसा ही है। इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ३५ ॥

रम्यैर्मनोहरैर्भावैर्लक्षणीयं भवेदपि ।
प्रेम रत्यात्मकं सख्यो रतिरेव रसोऽस्म्यहम् ॥ ३६ ॥

फिर भी रमणीय एवं मनोहर भावों से यह प्रगट करने वाला होता है। हे सखियो ! प्रेम रत्यात्मक (परस्पर करने योग्य) है और वह रति रूप रस मैं ही हूँ ॥ ३६ ॥

तस्मान्मदात्मकं प्रेम ज्ञातव्यमिह सर्वथा ।
मत्स्वरूपं तु को वेत्ति को वा वक्तुं समीहते ॥ ३७ ॥

इसलिए मेरे पर प्रगट करने वाले प्रेम को तुम्हें अवश्य जानना चाहिए। मेरे (रति रूप रस के) स्वरूप को कौन जानता है और (उस अगाध प्रेम को) कहने में कौन समर्थ है ॥ ३७ ॥

निषेधमुखतो वेदा वर्णयन्ति विशारदाः ।
कथमन्ये वराकास्तु कालावच्छेदमूर्त्तयः ॥ ३८ ॥

प्रेम को जानने वाले वेद इसका वर्णन निषेध वाक्यों के द्वारा (नेति-नेति = यह नहीं है, यह नहीं) करते हैं। तब काल की सीमा में आबद्ध अन्य मनुष्य इसे कैसे कह सकते हैं ॥ ३८ ॥

मत्स्वरूपमिदं प्रेम न शब्दविषयं भवेत् ।
तस्मान्मयापि नो वक्तुं शक्यतेऽन्यस्य का कथा ॥ ३९ ॥

मेरा यह प्रेम स्वरूप शब्द का विषय नहीं बन सकता है। अतः मैं भी इसे नहीं कह सकता। तब अन्य जन कैसे कहने में समर्थ हो सकते हैं ? ॥ ३९ ॥

---

१. 'स्वयंवेद्यमिदं' इ० पा० ।

एवं ताः प्रत्युदीर्याय दर्पणं स्वपुरःस्थितम् ।
आदाय ताभ्यः प्रायच्छत्सन्मुखं पुरुषोत्तमः ॥ ४० ॥

इस प्रकार उनसे कहकर अपने सामने स्थित दर्पण को लेकर पुरुषोत्तम ने उन्हें सम्मुख दे दिया ॥ ४० ॥

प्रेमदत्ते प्रियेणास्मिन् दर्पणे योषितां तदा ।
पश्यन्तीनां मुखाब्जानि वितर्कः सुमहानभूत् ॥ ४१ ॥

तब प्रिय कृष्ण द्वारा प्रेम से प्रदत्त उस दर्पण में उन उन सखियों ने अपने-अपने मुखकमलों को देखते हुए महान् तर्क युक्त भावों को प्रगट किया ॥ ४१ ॥

प्रेमप्रश्नोत्तरं वक्तुमात्मदर्शः प्रदर्शितः ।
किं सूचितमनेनेति कथं विज्ञायते हि तत् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार प्रेम के प्रश्नों तथा उत्तरों को कहने के लिए उन्होंने आत्म-दर्पण को प्रदर्शित किया । इस दर्पण से क्या सूचित हुआ और उससे क्या ज्ञान हुआ (इसे कौन कहेगा) ? ॥ ४२ ॥

स्वच्छं दर्पणवत् प्रेम स्वकीय वक्ति किं प्रभुः ।
प्रतिबिम्बवदस्माकं बिम्बवत्स्वीयमित्युत ॥ ४३ ॥

दर्पण के समान अपने स्वच्छ प्रेम को कौन कहने में समर्थ है। क्योंकि स्वकीय विम्ब के समान हमारा प्रतिबिम्ब है ॥ ४३ ॥

अथवा दर्पणे यद्वत् यथारूपं च दृश्यते ।
तथा भवेत्प्रेमनिभं मदीयमिति सूचितम् ॥ ४४ ॥

अथवा दर्पण में जैसा दिखाई पड़ता है मेरा प्रेम भी उसके ऊपर वैसा ही होता है ॥ ४४ ॥

प्रेमभेदनिरासार्थमैक्यसंसूचनाय किम् ।
रूपस्य प्रतिरूपस्य यथा तद्वद्भवेन्न किम् ॥ ४५ ॥

प्रेम-भेद को बताने के लिए और उस प्रेम में एकीकृत भाव को प्राप्त प्रेमी के रूप तथा प्रतिरूप के जो भाव जैसे होते हैं क्या वैसे वे नहीं होते ? ॥ ४५ ॥

इति संशयमग्नं स्वं सखीवर्गं परात्परः ।
भवतीनामयं तर्को मदाशयनिरूपकः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार परात्पर परब्रह्म के विषय में संशयमग्न अपने सखी वर्ग का यह तर्क मेरे आशय का निरूपण करने वाला है ॥ ४६ ॥

न मया विद्यते भेदो युष्माकं च मनागपि ।
अहं यूयं यूयमहमित्येषा मे मतिः प्रियाः ॥ ४७ ॥

मैं आप में अपने प्रेम के कुछ भी भेद को नहीं जानता क्योंकि मैं तुझमें हूँ और तुम मुझमें हो—इस प्रकार मेरी प्रिया बुद्धि है ॥ ४७ ॥

अभेदसूचनार्थाय दर्पणो वः पुरोधृतः ।
इति प्रहर्षजनकैर्वचोभिः समनन्दयत् ॥ ४८ ॥

हमारे और तुम्हारे में अभेद (सम्बन्ध) है–इसी को दिखलाने के लिए आप के सामने हमने दर्पण रक्खा है। इस प्रकार के आनन्द-विभोर कर देने वाले वचनों से उन्हें श्रीकृष्ण भगवान् ने आनन्दित किया ॥ ४८ ॥

शिव उवाच—

एवमानन्दिताः सर्वाः श्रुत्वा वाचः सुशोभनाः ।
प्रहर्षवेगविवशाः कृष्णस्य मुखपङ्कजम् ॥ ४९ ॥

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां गृहीत्वा चिबुकस्थलम्[१] ।
चुचुम्बुः परया प्रीत्या ससीत्कारं गतत्रपाः ॥ ५० ॥

आलिलिङ्गुस्तथा चान्याः प्रशशंसुस्तथापराः ।
त्वय्येतदुचितं नाथ यत्प्रियाणां प्रियङ्कराः[२] ॥ ५१ ॥
इत्याहुरपराः सख्यः प्रेमनिर्भिन्नमानसाः ।

शिव ने कहा—

इस प्रकार के वचनों को सुनकर वे सभी सखियाँ भी बहुत आनन्दित हुई और अत्यन्त आनन्द के वेग से विवश होकर अपने अँगूठे और तर्जनी से कृष्ण के मुखकमल के चिबुक स्थल (गाल) को पकड़कर चूम लिया। अत्यन्त प्रीति के कारण उन्हें सीत्कार करके चूमती हुई वे अपनी लज्जा को भूल गई। एक दूसरे का उन्होंने आलिङ्गन किया तथा एक दूसरी की प्रशंसा की। हे नाथ! प्रिय लोगों को आनन्द प्रदान करने वाले आप के लिए यह उचित ही है। इस प्रकार के वचनों को एकीकृत मन वाली होकर उन सखियों ने प्रेम में परस्पर एक दूसरे से कहा ॥ ४९–५० ॥

एतस्मिन्नन्तरे नाम्ना सुन्दरीति वराङ्गना ॥ ५२ ॥
स्मितपूर्वमुवाचेदं वचनं प्रेमगर्विता ।

इसी समय सुन्दरी नामक श्रेष्ठ अङ्गना ने प्रेम से गर्वीली होकर मुस्कुराते हुए इन वचनों को कहा ॥ ५२-५३ ॥

---

१. 'गृहीतचिबुकस्थलाः' इ० पा० ।
२. 'पियकरः' इ० पा० ।

सुन्दर्युवाच—

भवतीनामयं तर्को यद्यपि प्रियसम्मतः ॥ ५३ ॥
तर्कशेषस्तथाप्यस्ति न प्रियेण प्रकाशितः ।
भवतीभिः स्वमत्यापि[1] स च नावगतः परम् ॥ ५४ ॥

सुन्दरी ने कहा—

आप लोगों का यह तर्क (भाव) यद्यपि प्रिय सम्मत है तथापि कुछ तर्क अभी शेष रह गया है जो हमारे प्रिय श्रीकृष्ण द्वारा नहीं कहा गया है। आप लोगों ने भी अपनी बुद्धि से उस तर्क (भाव) को अभी नहीं जाना है ॥ ५३-५४ ॥

स्वीयोपरि प्रेम कीदृगिति पृष्टे प्रियेण हि ।
आत्मदर्शो दर्शितो वस्तत्र वक्ष्ये प्रियाशयम् ॥ ५५ ॥

क्योंकि स्वयं पर प्रिय का कैसा प्रेम है—प्रिय द्वारा ऐसा पूँछने पर अपना आदर्श (दर्पण) जो उन्होंने आप को दिखा दिया है उससे प्रिय का क्या आशय है ? यह मैं कहती हूँ ॥ ५५ ॥

आत्मादर्शे यथा सम्यक् स्वस्वरूपं निरीक्षते ।
तदभावे स्वस्वरूपानुभवो नैव जायते ॥ ५६ ॥

आत्मा के दर्पण में जैसे स्वयं के स्वरूप का निरीक्षण सम्यक् रूप से किया जा सकता है और उसके अभाव में स्व-स्वरूप का अनुभव नहीं होता ॥ ५६ ॥

श्रुतिगीतमिदं तद्वत्स्वरूपं मे रसात्मकम् ।
मयानुभूयते सम्यक् प्रियापात्रसमाश्रयम् ॥ ५७ ॥

उसी प्रकार से यह श्रुति और गीत मेरा रसात्मक स्वरूप है। प्रिया पात्र में समाश्रयण करके सम्यक् रूप से इसे मैं अनुभव करता हूँ ॥ ५७ ॥

अन्यथा मत्स्वरूपस्य न ममानुभवः क्वचित् ।
यथा धरागतं सूर्यो रसं पीत्वाभिवर्षति ॥ ५८ ॥
तथा प्रियारसं मां च पीत्वा तद्भावपूरिताः ।
आनन्दयन्ति मामेव घनीभूतरसात्मकम् ॥ ५९ ॥

अन्यथा मेरे स्वरूप का मुझे भी कभी अनुभव नहीं होगा। जैसे पृथ्वी से जल को पीकर सूर्य वर्षा करते हैं उसी प्रकार प्रिया के रस को पीकर और मुझ में उसी भाव से परिपूर्ण होकर वह घनीभूत रसात्मक ब्रह्म मेरे में ही आनन्द लेते हैं ॥ ५८-५९ ॥

दर्पणछद्मना सख्यः अयमर्थोऽपि सूचितः ।

---

१. 'स पत्यापि' इ० पा०

इत्येतत्सुन्दरीवाक्यं श्रुत्वा सख्योतिविस्मिताः ॥ ६० ॥
भगवानपि पूर्णात्मा तदुक्तार्थममन्यत ।

दर्पण के व्याज से सखियों ने इस अर्थ को भी सूचित किया है। इस प्रकार के सुन्दरी के वाक्यों को सुनकर अन्य सखियाँ अत्यन्त विस्मित हुई। पूर्णात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने भी इस अर्थ को मान लिया ॥ ६०-६१ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

अन्वर्थं साधु ते नाम सुन्दरीति मम प्रियम् ॥ ६१ ॥
त्वं मे प्राणाधिका चासि सर्वस्वं मे त्वमेव हि ।
त्वदधीनोऽस्म्यहं साध्वि प्रेमपाशनियन्त्रितः ॥ ६२ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

तुम्हारा सुन्दरी यह नाम ठीक ही अन्वर्थ है और मुझे प्रिय है। तुम मुझे प्राण से भी अधिक प्यारी हो। अतः मेरा सर्वस्व भी तुम्हीं हो। हे साध्वि ! तुम्हारे प्रेम के पाश से नियन्त्रित मैं अब तुम्हारे अधीन हूँ ॥ ६१-६२ ॥

त्वदुक्तं यन्मयोक्तं तत् त्वद्दृष्टं तन्मयेक्षितम् ।
यत्त्वयाङ्गीकृतं साध्वि मयाप्यङ्गीकृतं हि तत् ॥ ६३ ॥

जो तुमने कहा—उसे मैंने कहा, जो तुमने देखा उसे मैंने देखा। हे साध्वि ! जो तुमने अङ्गीकार किया मैंने भी उसे ही अङ्गीकार किया है ॥ ६३ ॥

आवयोरन्तरं नास्ति यः करोति स पातकी ।
इत्येवं वचनं श्रुत्वा प्रियास्ताः प्रियभाषितम् ॥ ६४ ॥
प्रहर्षं परमं जग्मुर्विषण्णां स्वामिनीं विना ॥ ६५ ॥
॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे
अष्टत्रिंशं पटलम् ॥ ३८ ॥

—*—

हे सुन्दरि ! अब हमारे और तुम्हारे बीच में कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई भेद करता है तो वह पापी है। इस प्रकार के प्रिया कृष्ण द्वारा भाषित उन प्रिय वचनों को सुनकर वे सखियाँ भी अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुई। किन्तु स्वामिनी (राधा) के बिना वे कुछ खिन्न मन वाली हो गईं ॥ ६४-६५ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के अड़तीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ३८ ॥

—*—

अथ एकोनचत्वारिंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

भगवन् देवदेवेश दिव्यज्ञानविशारद ।
अत्याश्चर्यकरी प्रोक्ता कथा ते जीवदुर्लभा ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—
हे भगवान्, देवदेवेश, दिव्यज्ञान के विशेषरूप से ज्ञाता, आप ने अत्यन्त आश्चर्यान्वित कर देने वाली और जीवों के लिए दुर्लभ कथा कही है ॥ १ ॥

प्रादुर्भवन्ति देवेश सर्गेस्मिन् देवदानवाः ।
मनुष्यलोकेपि च ते सम्भवन्ति यदृच्छया ॥ २ ॥

हे देवेशि ! इस सृष्टि में देव और दानव दोनों ही उत्पन्न होते हैं। वे इस मृत्यलोक में भी अपनी इच्छा से जन्म लेते हैं ॥ २ ॥

देवाः क्षमार्जवोपेताः दयादाक्षिण्यसंयुताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दम्भमात्सर्यवर्जिताः ॥ ३ ॥

उनमें से देव क्षमा और आर्जव, [सरलता] से युक्त होते हैं और उनमें दया तथा दाक्षिण्य [=उदारता] होती है। वे जितेन्द्रिय एवं क्रोध को भी जीतने वाले होते हैं। वे अहङ्कार एवं ईर्ष्या से रहित होते हैं ॥ ३ ॥

अलोलुपाः सुशीलाश्च श्रद्धाभक्तिसमन्विताः ।
जिज्ञासवो[1] दृढाभ्यासा वेदशास्त्रार्थचिन्तकाः ॥ ४ ॥

वे लालची नहीं होते एवं वे सुशील तथा श्रद्धा-भक्ति से युक्त होते हैं। वे जिज्ञासु, दृढ अभ्यास करने वाले और वेदशास्त्र के अर्थों का चिन्तन करने वाले होते हैं ॥ ४ ॥

तेषापि महादेव तत्त्वमेतत्सुदुर्लभम् ।
किं पुनर्दानवांशानां परद्रोहरतात्मनाम् ॥ ५ ॥

उनमें भी, हे महादेव, यह 'तत्त्व' दुर्लभ है तो फिर इन दानवों में, जो दूसरे से द्रोह करने में ही सदैव रत है यह कहाँ प्राप्त होगा ? ॥ ५ ॥

---

१. 'जितासवो' इ० पा०

नास्तिकानां च धूर्तानां कृघ्नानां दुरात्मनाम् ।
वेदार्थदूषकानां च देहादिष्वर्थमानिनाम् ॥ ६ ॥

नास्तिक [—जो वेद में एवं ईश्वर में आस्था नहीं रखते]; धूर्त, कृतघ्न [किसी का उपकार न मानने वाले] दुरात्मा, वेद के अर्थ को अन्यथा करके कहने वाले और देह आदि में ही आस्था रखने वालों को कहाँ यह तत्त्व ज्ञान प्राप्त होगा ? ॥ ६ ॥

बैडालिकानामक्षपादशापविभ्रष्टचेतसाम् ।
सौगतानाञ्च बौद्धानां दिगम्बरमतस्पृशाम् ॥ ७ ॥
जैनमाध्यमिकानां[1] च चार्वाकाणां दुरात्मनाम् ।
वेदशास्त्रोज्झितानां च न मुक्तिः क्वापि विश्रुता ॥ ८ ॥

वैडालिक वृत्ति में लीन [घर-घर में छीना झपटी करके जीने वाले], अक्षपाद [गौतम] के शाप से भ्रष्ट हुए चित्त वालों को, सुगत (बुद्ध) के शिष्यों, बौद्धों और दिगम्बर जैन आदि अस्पृश्यों को, [श्वेताम्बर | जैन, माध्यमक [बौद्ध-मत] चार्वाक और अन्य दुरात्माओं को तथा वेद शास्त्र को छोड़ देने वालों की मुक्ति कहीं नहीं सुनीं गई ॥ ८ ॥

यस्त्वया वासनासर्गस्तृतीयः परिकीर्त्तितः ।
यदर्थमुपदेशोऽयं तत्वज्ञानस्य धूर्जटे ॥ ९ ॥

जो आपने तृतीय वासना सर्ग बतलाया है हे धूर्जटे जिसके लिए यह 'तत्त्व ज्ञान' का उपदेश दिया गया है ॥ ९ ॥

अहं तु श्रवणादेव कृतार्थास्मीति मे मतिः ।
प्राप्तिः सम्बन्धविषया नान्यथा तु कदाचन ॥ १० ॥

मैं तो उसके श्रवण से ही कृतार्थ हो गई हूँ —मेरा यह विचार है । यदि इस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो वह कभी भी निष्फल नहीं होता ॥ १० ॥

तस्मान्मे श्रवणानन्दो रोचतेतितरां प्रभो ।
अप्राप्यः श्रवणानन्दः पापग्रस्तैर्दुरात्मभिः ॥ ११ ॥

अतः हे प्रभो ! मुझे श्रवण का अत्यन्त आनन्द ही रुचिकर है । इसके श्रवण का आनन्द पापग्रस्त और दुरात्माओं को नहीं प्राप्त होता ॥ ११ ॥

तस्मात् संश्रोतुमिच्छामि प्रवक्तुं यदि मन्यसे ।
न त्वया सदृशः कश्चित्करुणामृतवारिधिः ॥ १२ ॥

---

१. जैन्यमाध्यमिकानामित्यपि पाठः

अतः यदि आप कहना चाहते हैं तो मैं इसे सुनना चाहती हूँ। करुणा के अमृत रूप समुद्र के समान आप जैसा (तत्त्ववेत्ता) और कोई अन्य नहीं है ॥ १२ ॥

यत्त्वयोक्तं महादेव सर्वास्ताः कृष्णयोषितः ।
प्रहर्षं परमं जग्मुर्विषण्णा स्वामिनीं विना ॥ १३ ॥

हे महादेव ! जो आपने उन श्री कृष्ण की अङ्गनाओं के बारे में कहा है कि वे सभी स्वामिनी के विना अत्यन्त हर्षान्वित होकर भी खिन्न हुई ॥ १३ ॥

तत्र मे संशयो जातो देवदेव जगत्पते ।
स्वामिनीखेदमूलं मे कथयस्व यथातथम् ॥ १४ ॥

हे देवदेव, जगत्पते ! यहाँ मुझे सन्देह हो रहा है कि स्वामिनी के खेद का क्या कारण था। जैसा हो वैसा ही आप मुझसे कहें ॥ १४ ॥

शिव उवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि स्वामिनीखेदकारणम् ।
नेत्रबन्धात्मिका लीला नीलाद्रिशिखरे कृता ॥ १५ ॥

शिवजी ने कहा—

हे देवि ! सुनो, मैं स्वमिनी के खेद का कारण बतलाता हूँ—नीलाचल के शिखर पर भगवान् श्री कृष्ण ने नेत्र बन्द करके खेल-खेलने की लीला की ॥ १५ ॥

तत्रेन्दिरानाम हित्वा सुन्दरीत्यवदत्प्रियः ।
तदेन्दिरावदद्वाक्यं सुन्दरी न भवाम्यहम् ॥ १६ ॥

वहाँ पर इन्दिरा नामक सखी को उसका नाम छोड़कर भगवान् ने 'सुन्दरी' कह कर सम्बोधित किया। तभी इन्दिरा ने कहा—'नहीं, मैं सुन्दरी नहीं हूँ' ॥ १६ ॥

नाम्नाहमिन्दिरा साक्षात्प्रियास्मि प्राणनायक ।
तदा कृष्णोवदद्वाक्यं शृण्वतीनां च योषिताम् ॥ १७ ॥
त्वयीन्दिरे सुन्दरीति भ्रमः सार्वदिको मम ।
ज्ञात्वापि त्वामिन्दिरेति क्षणादेव भ्रमद्धिया ।
जल्पितं सुन्दरीत्येतन्मयोक्तमवधार्यताम् ॥ १८ ॥

हे प्राणनायक ! इन्दिरा नामक मैं साक्षात् भगवान् की प्रिया हूँ। तब कृष्ण ने उन स्त्रियों की बातों को सुनते हुए कहा—'हे इन्दिरे ! तुम सुन्दरी हो'–इस प्रकार हमें सर्वदा ही भ्रम रहा है। तुम्हें यह जानकर भी कि 'तुम इन्दिरा' हो। फिर भी हमारी बुद्धि के क्षणमात्र के भ्रम के कारण मैंने तुम्हें 'सुन्दरी' कह दिया है— ऐसा जानो ॥ १७-१८ ॥

इत्येतद्वचनं श्रुत्वा सुन्दरीगौरवात्मकम् ।
किञ्चित्कलुषचित्ताभूत् सखीमण्डलमध्यतः ॥ १९ ॥

इस प्रकार के वचनों को सुनकर गौर वर्णा सुन्दरी का चित्त उन सखियों के समूह के मध्य कुछ कलुषित हो गया ॥ १९ ॥

सर्वास्वेतासु घटते समः स्नेहः प्रियस्य हि ।
सुन्दर्यामधिकं प्रेम हेतुना केन युज्यते ॥ २० ॥

इन सभी सखियों में प्रिय का स्नेह तो समान बना रहता है फिर किस कारण से 'सुन्दरी' पर अधिक प्रेम हो ? ॥ २० ॥

सखीनां चापि सर्वासामहमेका वराङ्गना ।
मत्तः किमधिका जाता सौन्दर्यादिगुणादिभिः ॥ २१ ॥

फिर सभी सखियों में क्या मैं ही एक वराङ्गना [=सुन्दरी] हूँ । सौंदर्य आदि गुणों से मुझसे और कोई अधिक क्या नहीं है ! ॥ २१ ॥

स्वामिनीत्थं विमृष्य स्वे हृदये प्रेमपूरिते ।
तस्थौ समाहितमतिर्गूहयामास हृद्गतम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार से स्वामिनी (राधा) अपने प्रेमपूरित हृदय में विचार विमर्श करके हृद्गत भावों को हृदय में ही छिपाकर तथा समाहितचित्त होकर चुपचाप वहाँ से चली गई ॥ २२ ॥

ततो नीलाद्रिशिखरादागत्य मणिसद्मनि ।
प्रियाभिर्वेष्टितस्तत्र संस्थितः पुरुषोत्तमः ॥ २३ ॥

इसके बाद नीलाचल के शिखर से आकर उस मणिनिर्मित गृह में भगवान् पुरुषोत्तम अपनी प्रियाओं से घिरे हुए थे ॥ २३ ॥

तत्र प्रियाभिः सम्प्रश्ने कृते दर्पणमादिशत् ।
आदाय दर्पणं सख्यस्तर्कयन्त्यो मुदं ययुः ॥ २४ ॥

वहाँ पर प्रियाओं के प्रश्न पूँछने पर उन्होंने दर्पण लाने के लिए आदेश दिया । तब सखियाँ दर्पण लेकर आपस में विचार विमर्श करते हुए बड़ी ही प्रसन्नता से वहाँ पहुँची ॥ २४ ॥

स्वबुध्या सुन्दरी चापि सखीचित्तं समादधे ।
तत्समाहितमाकर्ण्य प्रसन्नः पुरुषोत्तमः ॥ २५ ॥

सुन्दरी (=राधा) ने भी अपनी बुद्धि से सखी [=भगवान् कृष्ण] को चित्त में

ध्यानस्थ किया। उसको समाहित [ध्यानस्थ] हुआ जानकर परम पुरुष परमात्मा भगवान् कृष्ण बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ २५ ॥

व्यक्तीकुर्वन्निजं प्रेम प्रोवाच वचनं तदा।
अन्वर्थं साध्वी ते नाम सुन्दरीति मम प्रियम् ॥ २६ ॥

उन्होंने अपने प्रेम को व्यक्त करते हुए तब इस प्रकार वचन कहे—'हे साध्वि ! तुम्हारा 'सुन्दरी' यह नाम अन्वर्थक है क्योंकि यह मुझे बहुत प्रिय है ॥ २६ ॥

त्वं मे प्राणाधिका चासि सर्वस्वं मे त्वमेव हि।
त्वधीनोस्म्यहं साध्वि प्रेमपाशनियन्त्रितः ॥ २७ ॥

तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो क्योंकि तुम्हीं मेरा सब कुछ हो। अतः हे साध्वि ! मैं तुम्हारे अधीन हूँ। तुम्हारे प्रेम रूपी बन्धन से नियन्त्रित हूँ ॥ २७ ॥

त्वयोक्तं यन्मयोक्तं तत्त्वदृष्टं तन्मयेक्षितम्।
यत्त्वयाङ्गीकृतं साध्वि मयाप्यङ्गीकृतं हि तत् ॥ २८ ॥

तुमने जो कुछ कहा और जो मेरे द्वारा कहा गया है। मैं उसको तत्त्व दृष्टया देखता हूँ और हे साध्वि ! जो तुमने अङ्गीकार किया है उसे ही मैंने भी अङ्गीकार किया है ॥ २८ ॥

आवयोरन्तरं नास्ति यः करोति स पातकी।
इत्यादिवचनं श्रुत्वा सुन्दरीप्रेमसूचकम् ॥ २९ ॥
उत्तम्भयन्ती भ्रूवल्लीमीषत्कलुषितेक्षणा।
वक्रितग्रीवमवदत्स्वामिनी स्फुरिताधरा ॥ ३० ॥
एषा सखीसहस्राणां सुन्दरी सुन्दरप्रिया।
किं कार्यं विद्यतेऽस्माभिर्गुणरूपविपर्ययात् ॥ ३१ ॥

हमारे और तुम्हारे में कोई अन्तर नहीं है और जो अन्तर करता है वह पापी है। इस प्रकार के सुन्दरी के लिए प्रेम सूचक वचनों को सुनकर किञ्चित कलुषित चितवन से भ्रुकुटि को चढ़ाती हुई ओठों को बुदबुदाकर एवं टेढ़ी गर्दन करके स्वामिनी ने कहा—इन हजारों सखियों के बीच यह सुन्दरी ही श्यामसुन्दर की प्रिया है गुण और रूप के इस प्रकार के उलट फेर के लिए हम लोग क्या करें ॥ २९-३१ ॥

सुन्दर्येव प्रियैका चेदसुन्दर्यः कथं प्रियाः।
भवन्ति सुन्दरास्यास्य मादृश्यो वामलोचनाः ॥ ३२ ॥

फिर जब एक ही सुन्दरी तो प्रिय हो सकती है तो हम लोगों के जैसी वामलोचना असुन्दरी कैसे प्रिय होगी ? ।। ३२ ।।

एवं वक्रोक्तिमाश्राव्य सखीनां पुरतः प्रियम् ।
अगमत्सहसोत्थाय निजकेलिगृहान्तरम् ।। ३३ ।।

इस प्रकार की प्रिय की व्यंग्य उक्ति को सखियों के ही सामने सुनकर वह सुन्दरी एकाएक उठकर अपने केलिगृह में चली गई ।। ३३ ।।

सम्प्रेषयामास तदा कृष्णः कमललोचनः ।
प्रियामाननिरासार्थं दूतीं नाम्ना कलावतीम् ।। ३४ ।।

तब कमल के पुष्प के समान नयनों वाले भगवान् श्री कृष्ण ने कलावती नामक दूती को अपनी प्रिया के मान के उपशम के लिए भेजा ।। ३४ ।।

सन्धिकार्यैककुशलां स्मितपूर्वाभिभाषिणीम् ।
सदुक्तिचतुरां धीरां युक्तिवादविचक्षणाम् ।। ३५ ।।

कलावती सन्धिकार्य में अत्यन्त कुशल थी । वह पहले हँसकर बोलने वाली, अच्छी-अच्छी उक्तियाँ बोलने में चतुर, धीर और युक्तिपूर्वक बात करने में विचक्षणा थी ।। ३५ ।।

कलावती ततो गत्वा दृष्ट्वा मानवतीं च ताम् ।
निजकेलिगृहे रम्ये स्थितामेकाकिनीं रहः ।। ३६ ।।
नानामन्त्रप्रयोगैश्च विषवेगं यथा भिषक् ।
वाक्प्रयोगैरभिनवैर्मानवेगं न्यवारयत् ।। ३७ ।।

तब कलावती ने वहाँ जाकर, उसे मानवती रूप में अपने रम्य केलिगृह में एकान्त में अकेले बैठी देखकर नाना प्रकार के चातुर्यपूर्ण उक्ति एवं हाव भाव से, अपने नवीन-नवीन वाक्य प्रयोगों से उसके मान के वेग को उसी प्रकार मनाकर शान्त किया जैसे वैद्य विषवेग को शान्त कर देता है ।। ३६-३७ ।।

प्राणादप्यधिके साध्वि किमेतदुचितं प्रिये ।
त्वं पत्युः प्राणसदृशी पतिः प्राणसमस्तव ।। ३८ ।।

हे साध्वि ! तुम तो प्राण से भी अधिक प्रिय हो । हे प्रिये ! क्या यह (मान) उचित है । जबकि तुम पति के प्राण के सदृश हो और पति तुम्हारे प्राण के समान हैं ।। ३८ ।।

सखीवर्गसमस्तोऽपि इन्द्रियाणीव देहिनः ।
त्वमात्मेव प्रियस्यासि क्व मानावसरस्तव ।। ३९ ।।

शरीर में विद्यमान इन्द्रियों के समान समस्त सखी समुदाय है। तुम तो प्रिय की आत्मा ही हो। तब फिर मान का अवसर कहाँ है ॥ ३९ ॥

पूर्णानन्दे पूर्णकामे गिरः प्रियतमे सति।
न वक्तुं परुषो योग्यो यथा धूर्त्ते शठे खले ॥ ४० ॥

पूर्ण आनन्द में तथा पूर्ण कामनाओं में वाणी प्रियतम में ही विद्यमान होती है। अतः यह उचित नहीं है कि तुम कठोर वचन उन्हें कहो। जिस प्रकार एक धूर्त एवं शठ या खल के प्रति कहा जाय ॥ ४० ॥

बिम्बाधरस्फुरणतो भ्रुवोरुत्तम्भतादपि।
लौहित्याद्गल्लभित्तेश्च मानस्ते लक्ष्यते गुरुः ॥ ४१ ॥

लाल-लाल ओष्ठों का स्फुरण, क्रोध में भौंहों का चढ़ जाना, अत्यन्त ललाई के कारण कपोल का ऊपरी भाग मान करने से मोटा दिखलाई पड़ रहा है ॥ ४१ ॥

अन्तस्तापोष्णनिश्वासो दहत्यधरपल्लवम्।
मिथ्या ग्लापयसे चाङ्गलतिकां मानवह्निना ॥ ४२ ॥

तुम्हारे अधर रूपी पल्लव को अन्तःकरण के ऊष्ण निश्वास जला रहे हैं। अतः हे सखि ! तुम व्यर्थ हो मान रूप अग्नि से अपने अङ्ग लता को झुलसा रही हो ॥ ४२ ॥

दुःसहः क्षणविश्लेषः प्रियस्याननपङ्कजम्।
अदृष्ट्वा यत्तु जीवेत तस्माच्च मरणं वरम् ॥ ४३ ॥

प्रिय के मुखकमल का क्षण भर भी विश्लेष अत्यन्त दुःखद है। अतः बिना प्रिय को देखे जो तुम जी रही हो उससे तो मर जाना ही अच्छा है ॥ ४३ ॥

सखीनां च सहस्राणि सन्ति यद्यप्यनेकशः।
त्वय्येव रमते चित्तं कौमुद्यामिव शीतगोः ॥ ४४ ॥

यद्यपि अनेक प्रकार की और सहस्रों सखियाँ यहाँ विद्यमान हैं। फिर भी प्रिय का मन तुम्हारे में ही उसी प्रकार लगा हुआ है जिस प्रकार चाँदनी में चन्द्रमा की शीतलता विद्यमान रहती है ॥ ४४ ॥

मान्यो मानिनि नायकः प्रमदया वाक्यैः सुधासन्निभै-
र्वाच्यः कोमलपाणिपङ्कजपुटं बद्ध्वाभिवन्द्यः सदा।
तद्वाक्यं प्रियमप्रियं न हृदये धार्यं सतीनामयं,
स्वाचारः कथितो मया तमनु किं त्यक्त्वा वृथा तप्यसे ॥ ४५ ॥

हे मानिनि ! माननीय नायक श्रीकृष्ण सदैव प्रसन्नता युक्त अमृत सदृश वाक्यों के द्वारा बात करने योग्य हैं और कमल के पत्ते के समान कोमल हाथों को जोड़कर अभिवादन के योग्य हैं। उन श्री कृष्ण के वाक्य चाहे प्रिय हों या अप्रिय हों हम सखियों को अपने हृदय में नहीं धारण करना चाहिए। हमने अपनी बुद्धि से जो आचार की बात थी, कह दी। अतः उन्हें छोड़कर व्यर्थ में क्यों रुष्ट हो रही हो ? ॥ ४५ ॥

किं मानिनि बहूक्तेन कुरु मद्वचनं यथा।
गाढमानपरिक्लिष्टः औदासिन्यं व्रजेत्प्रियः ॥ ४६ ॥

हे मानिनि ! बहुत क्या कहना ! जो मैं कहती हूँ उसे करो। अधिक मान करने से खिन्न हुए प्रिय प्रिया के प्रति उदासीन हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

तस्मान्मद्वचने श्रद्धां कृत्वा तन्निकटं व्रज।
विलम्बेन तु मानोऽयं परां कोटिं गमिष्यति ॥ ४७ ॥

इसलिए मेरे वचनों में श्रद्धा करके सन्निकट चली जाओ। यदि विलम्ब करोगी तो यह मान पराकाष्ठा को पहुँच जायगा ॥ ४७ ॥

प्रियस्त्वयि प्रयातायामकस्माज्जातकश्मलः।
हास्यक्रीडारसावेशरहितो वर्त्ततेऽधुना ॥ ४८ ॥

तुम्हारे अकस्मात् वहाँ आ जाने पर वे निर्मल हृदय हो जायँगे। वे इस समय हास्य क्रीड़ा के रस के आवेग से रहित हैं ॥ ४८ ॥

त्वामाह्वाययितुमेवाहं प्रेषितास्मि प्रियेण हि।
आज्ञापयसि चेत्कान्ते तमेवेहानयाम्यहम् ॥ ४९ ॥

क्योंकि उन प्रिय के द्वारा तुम्हें बुला लाने के लिए मैं भेजी गई हूँ। अतः हे कान्ते ! यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं उन्हें ही तुम्हारे पास लाऊँ ॥ ४९ ॥

शिव उवाच—

श्रुत्वा कलावतीवाक्यं स्वामिनी मानमन्थरा।
मानाद्रिशिखरात् किंचिदुत्तीर्णा वाक्यमब्रवीत् ॥ ५० ॥

शिव ने कहा—

कलावती के इन वचनों को सुनकर स्वामिनी का मान कुछ कम हुआ और उसने मान की पराकाष्ठा से कुछ नीचे उतर कर इस प्रकार वाक्यों को कहा ॥ ५० ॥

स्वामिन्युवाच—

कलावति प्रिये मानो न कदापि मया कृतः।
सुन्दरीगुणमाहात्म्यश्रवणं मे विषादकृत ॥ ५१ ॥

स्वामिनी ने कहा—

हे कलावती ! मैंने प्रिय पर कदापि मान नहीं किया है। मुझे तो सुन्दरी के गुण एवं माहात्म्य के श्रवण से विषाद हुआ है ॥ ५१ ॥

मनुते चेत्प्रियस्त्वेकां सुन्दरीं गुणगुम्फिताम्।
कलावति तदा कार्यं किमस्माभिः प्रियस्य हि ॥ ५२ ॥

यदि वे सर्वगुण सम्पन्न सुन्दरी को ही प्रिय मानते हैं तो हे कलावती ! हमें प्रिय को लेकर क्या करना है ॥ ५२ ॥

इति मत्वाहमुत्थाय प्राप्तास्मि भवनं रहः।
सुखी भवतु सुन्दर्या गुणवत्या गुणी प्रियः ॥ ५३ ॥

यह सोचकर मैं वहाँ से उठकर इस एकान्त स्थान में आ गई हूँ। प्रिय श्रीकृष्ण गुणवती सुन्दरी के गुणों से सुखी रहें ॥ ५३ ॥

कलावत्युवाच—

नाग्रहः सति कर्त्तव्यस्त्वया सरलनायके।
नायकाः सन्ति चत्वारः स्वलक्षणविलक्षिताः ॥ ५४ ॥

कलावती ने कहा—

हे सखि ! तुम्हे सीधे-सादे नायक श्रीकृष्ण में इस प्रकार का आग्रह नहीं करना चाहिए। वस्तुतः अपने स्वकीय गुणों या अवगुणों के कारण चार प्रकार के नायक होते हैं ॥ ५४ ॥

अनुकूलो दक्षिणश्च धृष्टश्च शठ एव च।
एकपत्नीव्रतधरः अनुकूल उदीरितः ॥ ५५ ॥

१. अनुकूल, २. दक्षिण (सरल या उदार प्रकृति के) ३. धृष्ट और ४. शठ। इनमें से जो एक पत्नी में ही आसक्त होते हैं उसे 'अनुकूल' नायक कहा गया है ॥ ५५ ॥

अन्यस्यां बद्धचित्तोऽपि पूर्वस्यां स्नेहगौरवम्।
न त्यजत्येव सततं स च दक्षिणनायकः ॥ ५६ ॥

अन्य नायिकाओं में बद्धचित्त होकर भी अपनी स्वकीय स्त्री में स्नेह की अधिकता का जो सदैव त्याग न करे वह दक्षिण नायक कहा गया है ॥ ५६ ॥

त्वमेका मम सर्वस्वं नान्या मे कामिनी प्रिया।
समक्षमेवं वदति परोक्षं योऽपराधकृत्[1] ॥ ५७ ॥

१. 'सः शठः' इति शेषः

ज्ञातापराधः शपथान् कुरुते गूढचेष्टितः।
कुटिलं तं विजानीयान्नायकं शठसंज्ञकम् ॥ ५८ ॥

तुम्ही मेरी सब कुछ हो। मेरी अन्य कामिनी प्रिय नहीं है—इस प्रकार से समक्ष में तो कहता है किन्तु परोक्ष में अपराध करता है। अपराध के पता लग जाने पर जो अपनी रहस्यमय चेष्टाओं से शपथ आदि लेता हे उसे 'शठ' नामक कुटिल नायक जानना चाहिए ॥ ५७–५८ ॥

कृतदोषोऽपि निःशङ्कस्ताडचमानो न लज्जते।
प्रत्यक्षेष्वपि दोषेषु मिथ्यावाक् धृष्ट उच्यते ॥ ५९ ॥

दोषों के होने पर भी जो निःशङ्क होकर प्रताड़ित किए जाने पर भी लज्जित न हो और अपराधों के प्रत्यक्ष हो जाने पर भी मिथ्या वाणी जो बोले वह 'धृष्ट' नायक होता है ॥ ५९ ॥

एवं चतुर्विधेष्वेषु नायकेषु मनस्विनि।
अनुकूलो दक्षिणश्च कीर्त्यतेऽसौ तव प्रियः ॥ ६० ॥

हे मनस्विनि! इस प्रकार चारों प्रकार के नायकों में यह तुम्हारे प्रिय श्रीकृष्ण अनुकूल और दक्षिण नायक जाने जाते हैं ॥ ६० ॥

न शठोऽयं न धृष्टोऽयं किं मुधा खिद्यसे हृदि।
इत्युक्ते विस्मयं प्राप्ता पुनः प्राह कलावतीम् ॥ ६१ ॥

॥ इति माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे
एकोनचत्वारिंशं पटलम् ॥ ३९ ॥

—·—✱—·—

ये न तो शठ नायक हैं और न तो धृष्ट नायक हैं। तब फिर तुम क्यों अपने हृदय में व्यर्थ ही खिन्न हो गई हो। इस प्रकार से विस्मय को प्राप्त कलावती के कहने पर स्वामिनी ने पुनः कहा ॥ ६१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के उन्तालीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ३९ ॥

—·—✱—·—

अथ चत्वारिंशं पटलम्

स्वामिन्युवाच—

कलावति महाप्राज्ञे यत्त्वयोक्तं प्रियाश्रयम् ।
विरुद्धमिव मे भाति विरुद्धैर्लक्षणैः किल ॥ १ ॥

स्वामिनी ने कहा—

हे कलावति ! महाप्रज्ञावान्, तुमने जो कुछ प्रिय के लिए कहा है वह विरुद्ध लक्षणों के कारण मुझे तो विरुद्ध के समान लगता है ॥ १ ॥

एकपत्नीव्रतधरोऽनुकूल इति कीर्तितः ।
दक्षिणो बहुपत्नीकः सर्वास्वविषमः स्मृतः ॥ २ ॥

वस्तुतः एकपत्नी व्रत का पालन करने वाला नायक अनुकूल कहा गया है और दक्षिण नायक तो बहुत सी पत्नियों को रखने के कारण सभी में विषम नहीं कहा गया है ॥ २ ॥

एकस्मिन्नायके साध्वि कथमेतद्द्वयं भवेत् ।
अश्रद्धेयमिवाभाति यदि जानासि तद्वद ॥ ३ ॥

एक नायक में दो नायकत्व कैसे हो जाता है ? यह तो अश्रद्धा के योग्य लगता है । अतः यदि तुम जानती हो तो कहो ॥ ३ ॥

कलावत्युवाच—

शृणु स्वामिनि प्रवक्ष्यामि तव प्रश्नोत्तरं शुभम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण स्वास्थ्यं तव भविष्यति ॥ ४ ॥

कलावती ने कहा—

हे स्वामिनी सुनो, मैं तुम्हारे शुभ प्रश्न का उत्तर कहती हूँ । जिसके श्रवणमात्र से ही तुम्हें स्वास्थ्य लाभ होगा ॥ ४ ॥

एकदा पुष्परागाद्रौ क्रीडनाय गतः प्रियः ।
आरुह्य शिविकां दिव्यां सुवर्णकलशोज्ज्वलाम् ॥ ५ ॥

एक बार प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण पुष्पराग पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिए गए । वे दिव्य शिविका [विमान] पर आरूढ़ होकर वहाँ गए । वह विमान सुवर्ण के कलश के समान उज्ज्वल था ॥ ५ ॥

उपर्युपरिविन्यस्तनानातोरणमण्डिताम् ।
हंसपारावतशुकपिकसारसनादिताम् ॥ ६ ॥

उसके ऊपर नाना प्रकार के तोरणों को लगाकर उसे सजाया गया था। वह विमान हंस, पारावत [=कबूतर] तोता, कोयल, और सारस आदि पक्षियों के कलरव निनाद से गुञ्जायमान था ॥ ६ ॥

नवरत्नविचित्राभां कामगां च मनोजवाम् ।
शतयोजनविस्तीर्णां नानाक्रीडारसालयाम् ॥ ७ ॥

वहाँ नवीन रत्नों की बिचित्र आभा वाले और इच्छानुसार जहाँ चाहें वहाँ चले जाने वाले और मन के समान गति वाले विमान थे। सौ योजन तक फैले हुए उसमें नाना प्रकार के रसवान् केलिगृह थे ॥ ७ ॥

काञ्चने मध्यकलशे विन्यस्ते चोपरिस्थिते ।
कोटिचन्द्रप्रभागौररत्नेनोल्लासिताम्बराम् ॥ ८ ॥

उसके मध्य में स्थित सुवर्ण के कलश के ऊपर करोड़ों चन्द्रमा की कान्ति के समान गौर वर्ण के रत्नजटित उज्ज्वल अम्बर था ॥ ८ ॥

तस्मिन्विमानप्रवरे संस्थितः पुरुषोत्तमः ।
द्विषट्सखीसहस्रेषु मध्ये चन्द्र इवोडुषु ॥ ९ ॥

उस श्रेष्ठ विमान में भगवान् पुरुषोत्तम अवस्थित थे। वे बारह हजार सखियों के मध्य मानों तारों के मध्य चन्द्रमा के समान विराजमान थे ॥ ९ ॥

मनोनुसारिगमनं विमानं कृष्णयोषिताम् ।
तीर्यगूर्ध्वमधश्चापि पुष्पाद्रिशिखरेऽपतत् ॥ १० ॥

भगवान् कृष्ण और उनकी स्त्रियों का वह विमान मन की गति के अनुसार तिरछे, ऊपर और नीचे चलता था। वह पुष्पाद्रि के शिखर पर उतरा ॥ १० ॥

तत्र [1]चन्द्रप्रभो नाम्ना ह्रदः पीयूषपूरितः ।
रचितस्वर्णसोपानः स्वर्णपङ्कजभूषितः ॥ ११ ॥

वहाँ एक चन्द्रप्रभ नामक तालाब अमृत से भरा हुआ था। उस तालाब की सीढियाँ सोने से बनी थीं। वह तालाब सोने के ही कमलों से भूषित था ॥ ११ ॥

अस्ति दक्षिणतस्तस्य सरः परमसुन्दरम् ।
नाम्ना पञ्चनदं ख्यातं शतयोजनविस्तरम् ॥ १२ ॥

उसके दक्षिण में अत्यन्त सुन्दर एक सरोवर है। 'पञ्चनद' नाम से विख्यात सौ योजन तक विस्तृत वह सरोवर था ॥ १२ ॥

---

१. 'तत्र यश्च नदो नाम्ना नदः पीयूषपूरितः' इ० पा० ।

अधोधः कल्पितै सप्तशतैर्मणिचितान्तरैः ।
जातरूपमयैर्दिव्यसोपानैर्बद्धमायतैः ॥ १३ ॥

उसमें नीचे की ओर सात सौ मणियाँ विचित्र रूप से चित्रित थी। आयताकार रूप से उसमें दिव्य सीढ़ियाँ बनी थी ।। १३ ॥

वैदूर्यपद्मिनीखण्डैः पद्मरागसरोरुहैः ।
मराललीलापतनैर्मण्डितं तत्र तत्र ह ॥ १४ ॥

वैदूर्यमणि और पद्मिनी के खण्डों से, लाल कमलों से तथा मराल [=हंसों] के लीला पूर्वक उड़ने से वह सरोवर शोभित था ॥ १४ ॥

तत्र या याः कृताः क्रीडा जलस्थलविभेदतः ।
त्वया स्वपतिना साकं तास्ताः स्मर भामिनि ॥ १५ ॥

हे भामिनी ! तुम्हारे द्वारा अपने पति के साथ वहाँ पर जो जो क्रीड़ा जल में की गई और स्थल पर जो क्रीड़ा की गई उन सब को स्मरण तो करो ॥ १५ ॥

प्रियः सरसि सर्वाभिः सखीभिः परिवेष्टितः ।
समन्तान्निपतद्वर्षैराहतो यत्र विद्रुतः ॥ १६ ॥
आरुरोह ततस्तूर्णं सरोविश्रान्तिमण्डपम् ।
प्रतिजग्मुः प्रियाः सर्वास्तत्रोत्तीर्णसरोवराः ॥ १७ ॥

उस सरोवर पर सभी सखियों से घिरे हुए [भगवान् कृष्ण] प्रिया के साथ उस सरोवर पर स्थित विश्राम मण्डप में एकाएक चढ़े। तब सभी प्रिया भी उस सरोवर को पार करने के लिए चल पड़ी ॥ १६–१७ ।

तावत्पपात सहसा पुनरेव सरोजले ।
उत्तीर्णगम्भीरजलः कुत्रचिद्विजनस्थले ॥ १८ ॥

उसी समय सरोवर के जल में वे सहसा कूद पड़े और गहरे जल को पार कर किसी निर्जन स्थान में पहुँचे ॥ १८ ॥

अनेककुञ्जगहने प्रच्छन्नोऽभवदेकलः ।
मृगयन्त्यः प्रियाः सर्वा विचेरुस्तत्र तत्र च ॥ १९ ॥

वह अनेक लता आदि के गहन कुञ्ज में छिप गए। वहाँ पर सभी प्रियाओं ने इधर-उधर उन्हें खोजा ॥ १९ ॥

अहं विचिन्वती तत्र गता गहनधामनि ।
विलीय संस्थितं कृष्णमद्राक्षमतिसुन्दरम् ॥ २० ॥

तत्र मामागतां सुभ्रु विलोक्य प्रहसन् प्रियः।
नासाग्राहिततर्जन्या कौतुकी सन्न्यवारयत् ॥ २१ ॥

मैं खोजती हुई उस मण्डप में गई। वहाँ पर अत्यन्त सुन्दर विग्रह वाले भगवान् कृष्ण को देखा। मैं उन्हें देखकर उन्हीं की रूप माधुरी में विलीन हो गई। हे सुन्दर भौहों वाली ! वहाँ पर मेरे आने पर प्रिय ने मुस्कुराते हुए देखकर मेरी नाक पकड़ कर कौतुक करते हुए रोका ॥ २१ ॥

प्रिय उवाच—

कलावति कलाभिज्ञे मां विचिन्वन्ति योषितः।
न पश्यन्ति परं चात्र विभ्रमन्ते यतस्ततः ॥ २२ ॥

प्रिय ने कहा—

हे कलावति, हे कलाओं की अभिज्ञ ! मुझे युवतियाँ खोज रही हैं। हमारे ही अगल बगल यहाँ वहाँ रहकर भी भ्रमित होती हुई मुझे वो नहीं देख पा रहीं है ॥ २२ ॥

त्वमप्यत्रैव सन्तिष्ठ मया सह कलावति।
त्वया सह करिष्यामि लीलाखेल रहः स्थितः ॥ २३ ॥

अतः तुम भी हे कलावति, मेरे साथ यहीं ठहर जाओ। इस एकान्त स्थान में रहकर मैं तुम्हारे साथ विभिन्न प्रकार की लीला और खेल भी करूंगा ॥ २३ ॥

इत्युक्ताहं स्थिता तत्र बहुमानेन मानिता।
तत्र नानाविधाः क्रीडाः प्रियश्चक्रे मया सह ॥ २४ ॥

इस प्रकार उनके कहने पर मैं बहुत मान से सम्मानित हो कर वहीं रुक गई। वहाँ पर प्रिय ने मेरे साथ अनेक प्रकार की क्रीडाएँ की ॥ २४ ॥

तदा मया कृतः प्रश्नः प्रियमुद्दिश्य भामिनि।
नायकाः सन्ति चत्वारस्तेषु वा को भवानिति ॥ २५ ॥

तब हमने प्रश्न किया कि लोक में चार प्रकार के नायक होते हैं उनमें से आप कौन हैं ? ॥ २५ ॥

ततः प्रश्नोत्तरं प्राह कृष्णः कमललोचनः।
तदहं ते प्रवक्ष्यामि यथाश्रुतमनिन्दिते ॥ २६ ॥

तब उस प्रश्न का उत्तर कमल लोचन भगवान् कृष्ण ने जो दिया था मैं उसी को तुमसे कहूँगा। हे अनिन्दिते ! जैसा हमने सुना वैसा ही कहूँगा ॥ २६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

अनुकूलो दक्षिणश्च द्वैविध्यं मयि वर्त्तते।
तदन्यत्र विरुद्धं स्यादविरुद्धं मयि स्फुटम् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—

मुझमें अनुकूल और दक्षिण नायकत्व के गुण विद्यमान हैं। वह दूसरे में विरुद्ध भले ही होए किन्तु मेरे में विरुद्ध नहीं है ॥ २७ ॥

रसोऽहं मूर्तिमान् साक्षात् घनीभूतः कलावति।
तस्याद्यभागं मां विद्धि द्वितीयं स्वामिनीं प्रियाम्[1] ॥ २८ ॥

हे कलवति ! मैं साक्षात् रस का घनीभूत हुआ मूर्तिमान् रूप हूँ। उसके आदि के भाग को मुझे जानो और द्वितीय भाग मेरी प्रिय स्वामिनी को समझो ॥ २८ ॥

नावयोर्विद्यते भेदो भोक्तृभोग्यस्वरूपयोः।
मदात्मा स्वामिनी प्रोक्ता स्वामिन्यात्माहमेव च ॥ २९ ॥

हम दोनों में कोई भेद नहीं है क्योंकि मुझमें और उसमें भोक्ता और भोग्य का स्वरूप विद्यमान है। मेरी आत्मा (उपनिषद् आदि श्रुतियों के द्वारा) स्वामिनी कही गई हैं और मैं उन स्वामिना की आत्मा हूँ ॥ २९ ॥

मदन्यः पुरुषो नास्ति न च स्त्री स्वामिनीपरा।
नैकाकी रमते यस्मात् द्विधाभूतो रसस्ततः ॥ ३० ॥

मुझसे अन्य कोई पुरुष नहीं है और न तो मेरी स्वामिनी से अलग अन्य कोई स्त्री ही है। क्योंकि एकाकी रमण नहीं किया जाता। इसी लिए रस को दो में रहने वाला कहा गया है ॥ ३० ॥

पुंस्त्रीरूपविभागाभ्यां रसोऽहं विलसाम्यहम्।
ब्रह्मानन्दमयीं साक्षान्न लक्ष्मीमपि संस्पृशेत् ॥ ३१ ॥

पुरुष और स्त्री रूप के दो विभाग में मैं ही रस हूँ और मैं ही विलास करता हूँ। वह रस साक्षात् रूप से ब्रह्मानन्दमय है जो लक्ष्मी को भी स्पर्श नहीं कर पाता है ॥ ३१ ॥

तेनाहमनुकूलोऽस्मि नायकः कमलेक्षणे।
यथाहं दक्षिणश्चास्मि तत्प्रकारं वदामि ते ॥ ३२ ॥

---

१. 'पराम्' इ० पा०।

हे कमल के समान नेत्रों वाली इसी [लक्षण के] कारण मैं अनुकूल नायक हूँ और जिन गुणों के कारण मैं दक्षिण नायक हूँ, उन्हें मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ३२ ॥

यथानर्घस्य रत्नस्य परितः किरणावलिः ।
प्रसर्पति न सा भिन्ना मणितस्तु विचारतः ॥ ३३ ॥

स्वामिन्या एव ताः सख्यः कलारूपाः कलावति ।
न स्वामिन्या विभेदोऽस्ति सखीनामणुमात्रतः ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार मूल्यवान् रत्न के चारो ओर किरणों का घेरा होता है और जो मणि किरण से होकर किसी भिन्न व्यक्ति के पास जैसे नही जाती है उसी प्रकार स्वामिनी के साथ वे सखियाँ, हे कलावति ! कला रूप हैं। सखियों और स्वामिनी में भी उसी प्रकार अणुमात्र भी भेद नहीं है ॥ ३३-३४ ॥

अत एवासु सर्वासु द्रवीभूतो वसाम्यहम् ।
बहिश्चापि घनीभूतस्ताभिः क्रीडारतोऽस्म्यहम् ॥ ३५ ॥

अतः इन सभी में मैं द्रवीभूत होकर रहता हूँ और बाहर से भी घनीभूत मैं उनसे क्रीडा में रत भी हूँ ॥ ३५ ॥

क्रीडमानोऽपि सर्वाभिः स्वामिनीप्रेमविह्वलः ।
अतोऽहं दक्षिणश्चास्मि नायको हि कलावति ॥ ३६ ॥

सभी सखियों के साथ रमण करते हुए भी मैं स्वामिनी के लिए प्रेमविह्वल हो जाता हूँ। अतः हे कलावति, मैं दक्षिण नायक हूँ ॥ ३६ ॥

अत्रापि नैव विहतमानुकूल्यं विचारतः ।
भेदद्वयोपचारो हि कदाचिन्मयि वर्तते ॥ ३७ ॥

विचारतः यहाँ भी अनुकूलता विहित है। ये दो भेद मुझमें कभी-कभी रहते हैं ॥ ३७ ॥

इति मानिनि यत्पृष्टं त्वयैतत्कथितं मया ।
प्रियेण कथितं साक्षात्स्वमुखेन यथा तथा ॥ ३८ ॥

इस प्रकार हे मानिनी, जो तुमने पूछा है उसे मैंने तुमसे कह दिया। प्रिया के द्वारा कहा गया साक्षात जैसा था वैसा ही मैंने तुमसे स्वमुख से कहा है ॥ ३८ ॥

प्रश्नोत्तरावसाने च विचिन्वन्त्यश्च ताः प्रियाः ।
घनकुञ्जान्तरे लीनं दृष्ट्वाजग्मुस्त्वरान्विताः ॥ ३९ ॥

प्रश्न के दिए जाने वाले उत्तर के अन्तिम क्षण में वे प्रिय सखियाँ खोजते

हुए उस गहन-कुञ्ज के अन्तर में एकाएक मुझे लीन देखकर आ गईं ॥ ३९ ॥

ततः प्रियेण सहिता आगतास्तव सन्निधिम् ।
एतत्सर्वं तु जानासि विशेषस्तु मयोदितः ॥ ४० ॥

उसके बाद प्रिय के सहित वे तुम्हारे पास आ गईं । यह सब तुम मेरे द्वारा विशेष रूप से जान लो ॥ ४० ॥

तस्मान्मानिनि मानस्ते प्रियेण सह नोचितः ।
आनन्दोऽपि निरानन्दः प्रतिभाति विना त्वया ॥ ४१ ॥

इसलिए हे मानिनि ! तुम्हारा प्रिय के साथ मान करना उचित नहीं है । क्योंकि तुम्हारे विना आनन्द भी निरानन्द के रूप में लगता है ॥ ४१ ॥

तस्मादुत्तिष्ठ तत्पार्श्वमलंकुरु मनस्विनि ।
त्वया विरहितं चण्डि प्रियं नो वीक्षितुं क्षमाः ॥ ४२ ॥

अतः हे मनस्विनी, तुम उठो, और उनके पार्श्वभाग को अलङ्कृत करो । हे चण्डि ! तुम्हें छोड़कर हम लोग प्रिय को देखने में समर्थ नहीं हैं ॥ ४२ ॥

इति पाण्डित्यचातुर्यं कलावत्या प्रयोजितम् ।
निशम्य हृष्टवदना वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ४३ ॥

इस प्रकार कलावति के द्वारा प्रयुक्त पाण्डित्यपूर्ण और चतुराई युक्त वचनों को सुनकर प्रसन्न मुख होकर इस प्रकार के बचनों को उसने कहा ॥ ४३ ॥

स्वामिन्युवाच—

कलावति महाप्राज्ञे मानस्ते वचसा गतः ।
तथापि[1] मानिनीनां च समयान् वेत्सि हृद्गतान् ॥ ४४ ॥

स्वामिनी ने कहा—

हे कलावति, हे महाप्रज्ञावान् ! तुम्हारे वचनों से मेरा मान अब चला गया । तथापि तुम मानिनियों की हृद्गत शपथों को तो जानतीं ही हो ॥ ४४ ॥

आगच्छामि यदि स्वैरं गौरवं मेऽपगच्छति ।
तस्मात्प्रियः करे धृत्वा सुखं नयतु मामिति ॥ ४५ ॥

यदि मैं अपने से आ जाती हूँ तो मेरा गौरव चला जायगा । इसलिए तुम मेरा हाथ पकड़ कर सुखपूर्वक प्रिय के पास मुझे ले चलो ॥ ४५ ॥

---

१. 'भामिनीनां चेत्यपि पाठः' ।

इत्थं तया निगदिता सखी प्राप्ता प्रियान्तिकम् ।
प्रहृष्टवदनां दृष्ट्वा प्रियोऽपि मुमुदे भृशम् ॥ ४६ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे
चत्वारिंशं पटलम् ॥ ४० ॥

—·—*—·—

इस प्रकार उससे समझाई गई सखी प्रिय के पास आ गई और प्रसन्न मुख मुद्रा में उसे देखकर प्रिय [भगवान् कृष्ण] भी अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ४६ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के चालिसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ४० ॥

—*—

अथ एकचत्वारिंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

कलावती यदा कान्तदूती प्राप्ता प्रियान्तिकम् ।
ततः किमभवत्तत्र तन्मे ब्रूहि महेश्वर ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे महेश्वर ! जब कलावती अपने प्रियतम की दूती होकर प्रिया के पास पहुँची तब क्या हुआ ? उसे कहिए ॥ १ ॥

शिव उवाच—

शृणु देवेशि वक्ष्यामि कथां दिव्यां रसाश्रयाम् ।
यस्याः श्रवणजानन्दो न मुक्तावपि विद्यते ॥ २ ॥

शिवजी ने कहा—

हे देवेशि ! रस पर आश्रित मैं उस दिव्य कथा को कहूँगा जिसके श्रवण से प्राप्त आनन्द मुक्त जीव को भी नहीं मिलता ॥ २ ॥

प्रहृष्टवदनाम्भोजां दृष्ट्वा दूतीं कलावतीम् ।
स्मयन्निव प्रियः प्राह शृण्वतीनां च योषिताम् ॥ ३ ॥
कलावति कलाभिज्ञे किमुक्तं प्रियया तया ।
पिपासोरिव पीयूषं तद्वचस्तृप्तये मम ॥ ४ ॥

प्रसन्न मुखकमल वाली उस दूती कलावती को देखकर प्रिय श्रीकृष्ण ने युवतियों के सुनते हुए ही विस्मय पूर्वक कहा—हे कलाओं को जानने वाली कलावति ! उस प्रिया ने क्या कहा—मुझ प्यासे के लिए अमृत के समान उसके वचन तृप्तिदायक है ॥ ३-४ ॥

तत्सुधानिधिपीयूषप्रणाली त्वं कलावति ।
सखीलतासमाश्लिष्टकल्पद्रुमं निषिञ्च माम् ॥ ५ ॥

हे कलावति, तुम उस अमृत रूपी निधि की पीयूष प्रणाली (अमृत की नहर) (=हजारा) हो । अतः सखी की लता से समाश्लिष्ट मुझ कल्पद्रुम को उस पीयूष से सींचो ॥ ५ ॥

कलावत्युवाच—

प्राणनाथ प्रिया तेऽद्य मानमास्थाय संस्थिता।
गत्वा मया बहुविधैर्वाक्यैरुद्बोधिता मुहुः ॥ ६ ॥

कलावति ने कहा—

हे प्राणनाथ, तुम्हारी प्रिया आज मानिनि होकर बैठी थी। मैंने जाकर विविध प्रकार के वाक्यों से उसे बारम्बर उद्बोधित किया ॥ ६ ॥

मानाद्रिशिखरारूढा मां कथञ्चिदुवाच ह।
कलावति प्रिये मानो न कदापि मया कृतः ॥ ७ ॥

मान रूपी अद्रि [=पर्वत] पर आरुढ़ हुई मुझसे किसी किसी प्रकार बोली—'हे प्रिये, कलावति, मैंने कभी भी मान नहीं किया ॥ ७ ॥

सुन्दरीगुणमाहात्म्यश्रवणं मे विषादकृत्।
मनुते चेत्प्रियस्त्वेकां सुन्दरीं गुणगह्वराम् ॥ ८ ॥

वस्तुतः 'सुन्दरि' शब्द के माहात्म्य का श्रवण मेरे हृदय के विषाद का कारण है। यदि मैं 'सुन्दरी' के गुणों से युक्त होती तो बात भी होती ॥ ८ ॥

अस्माभिर्गुणहीनाभिः कार्यं तस्य न विद्यते।
इत्यादिविविधैर्वाक्यैर्वदन्ती सा मनस्विनी ॥ ९ ॥

युक्तियुक्तैश्च वचनैस्तोषिता सा मयापि हि।
त्यक्तरोषा प्रियं च त्वां हस्तग्राह्यमपेक्षते ॥ १० ॥

किन्तु मेरे सदृश गुणों से हीन के लिए उसका कोई कार्य नहीं है। इसी प्रकार के विविध वाक्यों को कहती हुई उस मनस्विनी ने युक्ति-युक्त वचनों से मुझे सन्तुष्ट किया। अतः क्रोध को छोड़कर अब प्रिय और तुम दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़ने के योग्य हो ॥ ९-१० ॥

स्त्रीणां जातिस्वभावोऽयं तस्मात्कुरु तथा प्रभो।
कलावतीवचस्तथ्यं मन्यमानः परात्परः।
आत्मारामोऽपि तत्प्रीत्यै आजगाम तदन्तिकम् ॥ ११ ॥

स्त्रियों का यह तो जातीय स्वभाव ही है। इसलिए हे प्रभो ! आप वैसा ही करें जो उचित हो। कलावती के इस प्रकार के तथ्य पूर्ण वचनों को मानते हुए परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी उस प्रिया की प्रसन्नता के लिए उसके सन्निकट आ गए ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण उवाच—

नोचितस्ते प्रिये साध्वि मानो मयि निरागसि ।
त्वदात्मकत्वात्सख्यो मे सर्वाः प्रियतमा अपि ।। १२ ।।

श्रीकृष्ण ने कहा—

हे साध्वि ! हे प्रिये ! तुम्हें मुझ निरपराध पर इस प्रकार क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। तुम्हारे ही समान अन्य सभी सखियाँ भी मेरी प्रियतमा हैं ।। १२ ।।

लहर्यः सलिलस्येव यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गकाः ।
पृथक् न सन्ति ते तद्वत्सख्यो भिन्ना न ते क्वचित् ।। १३ ।।

जल की लहरियाँ जिस प्रकार आगे की लहरों को उठाती रहती है और पहली लहर से जैसे वे बाद की लहरें अलग नहीं हैं वैसे ही वे तुम्हारी सखियाँ भी मुझसे कहीं भी भिन्न नहीं हैं ।। १३ ।।

तासु सर्वासु यत्प्रेम मदीयं परिवर्त्तते ।
अनेकधापि विलसत् त्वय्येव पर्यवस्यति ।। १४ ।।

उन सखियों में मेरा जो प्रेम होता है वह प्रेम अनेक में भी होने पर उस प्रेम का पर्यवसान तो तुम्हारे में ही होता है ।। १४ ।।

इति सत्येन वचसा प्रार्थयामि मुहुर्मुहुः ।
स्वसङ्केतं समायाहीत्युक्त्वा जग्राह तत्करम् ।। १५ ।।

इसलिए इन सत्य वचनों से मैं बारम्बार तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ कि अपने संकेत स्थल पर चलो–यह कह कर श्रीकृष्ण ने उसका हाथ पकड़ लिया ।। १५ ।।

गृहीते स्वकरे पत्या भावपूरितमानसा ।
तीर्यक्कटाक्षविशिखं सन्दधाना स्मिताधरा ।। १६ ।।

चुम्बितालिङ्गिता प्रेम्णा प्रियेणोत्थाप्य सत्वरम् ।
प्रियांसारोपितभुजा स्वीयांसारूढतद्भुजा ।। १७ ।।

स्वामी श्रीकृष्ण के द्वारा अपने हाथ पकड़ लिए जाने से अत्यन्त भावविभोर मन से तीक्ष्ण कटाक्ष के बाण से मुस्कुराते हुए अधरों से आकृष्ट प्रिय (श्रीकृष्ण) के द्वारा शीघ्रतापूर्वक प्रेम से वह सखी चुम्बित हुई और आलिङ्गित भी हुई। प्रिया के कन्धों पर अपनी भुजा डालकर और अपने कन्धों पर उसकी भुजा की माला पड़ी हुई दोनों ने एक दूसरे का चुम्बन किया ।। १६-१७ ।।

स्वसङ्केतं समागत्य यथापूर्वं निषेदतुः ।
मुद्रमापुः परां सख्यो दृष्ट्वा तं प्रियया युतम् ।। १८ ।।

अपने संकेत स्थल पर आकर पहले की तरह पुनः दोनों बैठ गए। उस सखी को प्रिय के साथ बैठा हुआ देखकर सखियाँ अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥ १८ ॥

हासक्रीडावसाने तां प्रियः प्राह हसन्निव ।
प्रिये विज्ञाप्तुमिच्छामि यदि ते श्रवणे स्पृहा ॥ १९ ॥

हास्य-क्रीडा के अन्त में प्रिय श्रीकृष्ण ने पुनः हँसते हुए उससे कहा—हे प्रिये ! यदि आप सुनना चाहती हैं तो मैं आपको कुछ बताना चाहता हूँ ॥ १९ ॥

अवाच्यं तत्तु जानीहि तथापि कथयामि ते ।
कदाचिन्मोहजलधौ यदा मग्ना भविष्यथ ॥ २० ॥

तदेयं सुन्दरी साक्षाद्भवतीरुद्धरिष्यति ।
यदा यदा महामोहजलधौ परिमज्जथ ।
तदा तदोद्धरित्रीयं भवतीर्नात्र संशयः ॥ २१ ॥

यद्यपि यह बात कहने योग्य नहीं है फिर भी मैं कह रहा हूँ। कभी यदि मोह-सागर में मग्न हो जाना तब यह सुन्दरी ही साक्षात् आप लोगों का उद्धार करेगी। इस प्रकार जब जब महामोह समुद्र में डूबना-उतराना तब तब यह निःसन्देह रूप से आपका उद्धार करने वाली होगी ॥ २०-२१ ॥

यदेनामवलम्ब्यैव सख्यः सर्वा भ्रमार्णवम् ।
तरिष्यन्तीति विज्ञातवती मे सुन्दरी प्रिया ॥ २२ ॥

इस सुन्दरि का अवलम्ब लेकर सभी सखियाँ भ्रम के सागर के पार उतर जायँगी—इस बात को मैंने प्रिया सुन्दरी से बता दिया है ॥ २२ ॥

सुन्दर्यामधिकः[1] प्रेम हेतुस्ते विनिरूपितः ।
इति प्रियवचः श्लक्ष्णं श्रुत्वा सर्वा विसिस्मिरे ॥ २३ ॥

आप लोगों ने जो मेरा सुन्दरी में अधिक प्रेम निरूपित किया है–वह ठीक ही है। इस प्रकार के प्रिय के सुन्दर प्रेम पूर्ण वचनों को सुनकर सभी सखियाँ विस्मित हुई ॥ २३ ॥

तां सर्वाः पूजयामासुः स्वामिन्याद्याश्च सुन्दरी ।
मनोज्ञभाषणपरैर्वचोभिः कुसुमैरिव ॥ २४ ॥

स्वभावशीतलै रम्यैः स्वभावैश्चन्दनैरिव ।
प्रसन्नाग्निविनिर्दग्धहृत्कालष्यैश्च धूपकः ॥ २५ ॥

---

१. 'अधिकं प्रेम' इ० पा० ।

मानांधतमसध्वंसप्रसादैरिव   दीपकैः ।

उन सभी ने पहले स्वामिनी 'सुन्दरी' की (मानस) पूजा की। मन को लुभाने वाले वचन रूप कुसुमों से स्वभावतः शीतल तथा रम्य मानों स्वाभाविक चन्दनों से, प्रसन्नता रूप अग्नि से जलाए गए हृदय के कालुष्यों एवं धूपों द्वारा तथा मन के अन्धकार को प्रसन्नता रूपी दीपकों से हटाते हुए पूजा की ॥ २४-२६ ॥

ततो बहुतरे काले यदा जाता सुमङ्गला ॥ २६ ॥
[1]तदाविष्टः सखीवर्गो ययाचे प्रियमीप्सितम् ।
दुःखाति दुःखमिति वः प्रार्थितं चेति बोधिताः ।
न शिक्षावचनं चक्रुरिच्छाशक्तिविमोहिताः ॥ २७ ॥

इसके बाद बहुत काल बीत जाने पर जब सुमङ्गला उत्पन्न हुई, तब आविष्ट सखी वर्ग ने प्रिय वस्तु की याचना की। अत्यन्त दुःख है, दुःख है—इस प्रकार प्रार्थित होती हुई वह उनसे प्रबोधित की गई। फिर भी इच्छा शक्ति से विमोहित शिक्षा वचनों को उसने नहीं कहा ॥ २६-२७ ॥

वियोगदलमाश्रित्य यदा क्रीडति वै रसः ।
तद्रसानुकूलगतिर्विमोहयति सुमङ्गला[2] ॥ २८ ॥

वस्तुतः वियोग दल में आश्रित करके जब रस क्रीडा करता है, तब सुमङ्गला उनके विप्रलम्भ रस के अनुकूल गति होकर ही उन्हें विमोहित करती हैं ॥ २८ ॥

तदा प्रियः सखीः प्राह श्रृणुध्वं मम भाषितम् ।
निवार्यमाणा हि मया दुरन्ताच्च मनोरथात् ॥ २९ ॥
न निवृताश्च भो सख्यो यूयमाग्रहतत्परा:[3] ।
नानादुःखमयीं बाललीलां द्रक्ष्यथ मा चिरम् ॥ ३० ॥

तब प्रिय सखी ने कहा—मेरे वचनों को सुनो। मेरे द्वारा अत्यन्त दुःसह मनोरथों को निवारित किया जाता है। यदि फिर भी, हे सखियो! मनोरथ से

---

१. अक्षरान्तःस्थिताक्षरातीतप्रतिबिम्बभूतकेवलधामविहारिणीनामन्तरावृणोत्येषा सुमङ्गला, अक्षरहृदाकाशे तत्सत्त्वात्। ब्रह्मानन्दविहारिणीदर्शनलालसमानस्याक्षरब्रह्मणोऽपि निजधामान्तदुष्प्रवेशत्वात् कुत एतस्यास्तत्र प्रवृत्तिरिति ब्रह्मानन्दरसञ्चरणाः किलाज्ञापयन्ति ।

२. 'तत्कालानुकूलगतिर्विमोहयति सुमङ्गला' इ० पा० ।

३. आग्रहमेदुराः इ० पा० ।

निवृत्ति न प्राप्त हो तो आप सब आग्रह से तत्पर चित्त होकर नाना प्रकार की दुःख पूर्ण बाल लीलाओं का अवलोकन देर तक न करें ॥ २९,३० ॥

विस्मरिष्यथ मां तत्र किमन्यदधिकं ब्रुवे ।
तथापि सुन्दरी ह्येषा तारयिष्यति तत्तमः ॥ ३१ ॥

मैं और अधिक क्या कहूँ ? आप उस समय जब मुझे भूल जाइएगा, तब भी यह सुन्दरी सखी उस अन्धकार से आप सभी को पार उतार देगी ॥ ३१ ॥

मता प्रबोधिता सम्यक् कथयित्वा विनिर्णयम् ।
इति प्रियवचः श्रुत्वा सर्वाः सख्यो मुदान्विताः ॥ ३२ ॥

मेरे द्वारा आप सब प्रबोधित की जा चुकी है–इस प्रकार के प्रिय के वचनों को सुनकर सभी सखियाँ अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥ ३२ ॥

प्रसन्नानन्दजलधौ निमग्नाः शक्तिमोहिताः ।
फले विलम्बमाज्ञाय पुनस्ताः प्रार्थनोत्सुकाः ।
[1]यदा तदा प्रियश्चक्रे तन्मनोरथपूरणम् ॥ ३३ ॥

॥ इति माहेश्वतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे
एकचत्वारिंशं पटलम् ॥ ४१ ॥

———*———

वे सभी प्रसन्नता के आनन्द-समुद्र में निमग्न हुई इच्छा शक्ति से मोहित हो गईं । आनन्द रूप फल में विलम्ब जानकर उन्होंने पुनः प्रार्थना की । जब आप मेरा प्रिय चाहें तब मेरी कामना पूर्ण करें ॥ ३३ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के एकतालीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४१ ॥

———*———

१. यदास्माकम्प्रियं चेच्छ तदा पूरय चेप्सितम् इत्यपि पा० ।

अथ द्विचत्वारिंशं पटलम्

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रस्तुतं शृणु सुन्दरि।
यच्छ्रुत्वा विविधा लीला हृद्यारूढा भवेत्प्रिये ।। १ ।।

अब इसके बाद मैं उन विविध प्रकार की लीलाओं का वर्णन करूँगा जिसको सुनकर हे प्रिये ! हृदय में वह ब्रह्म अरूढ़ हो जाए। अतः हे सुन्दरि ! उस ब्रह्म की प्रस्तुत सगुण लीला को सुनो ।। १ ।।

सन्तोषानन्दभूम्योस्तु सन्धौ पुष्पाद्रिरुत्तमः।
योजनायुतमानेन नानाश्चर्यमयो महान् ।। २ ।।

सन्तोष और आनन्द नामक भूमि पर पुष्पाद्रि नामक उत्तम सिन्धु में एक लाख योजन वाला वह पर्वत नाना प्रकार के महान् आश्चर्यों से युक्त है ।। २ ।।

नानाधातुमयः श्रीमान् नानामणिविभूषितः।
त्रीण्यस्याद्रिप्रधानस्य शिखराणि द्युमन्ति च ।। ३ ।।

नाना प्रकार की धातुओं से युक्त, श्री युक्त और नाना प्रकार की मणियों से विभूषित इसके तीन प्रधान शिखर कान्ति से युक्त है ।। ३ ।।

पावमानं महारम्यं विभ्राजमिति तद्विदा।
पावमाने तु शिखरे नित्यं सङ्क्रीडते हरिः ।। ४ ।।

उनके नाम क्रमशः १. पावमान, २. महारम्य और ३. विभ्राज हैं। इनमें से पावमान शिखर पर श्रीहरि नित्य क्रीडा करते रहते हैं ।। ४ ।।

नित्यं सङ्क्रीडतोरेव स्वामिनीकृष्णयोरपि।
श्रमघर्मजलस्रावो महानासीच्च देहतः ।। ५ ।।

इस प्रकार स्वामिनी और श्रीकृष्ण के नित्य क्रीडा करने के श्रम से उनके देह से अत्यधिक पसीना निकला ।। ५ ।।

तद्वारिपूर्णं यत्रास्ते सरः परमसुन्दरम्।
शतयोजनमानेन रत्नसोपानभास्वरम् ।। ६ ।।

उसका जल जहाँ भर गया वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर तालाब बन गया। वह सौ योजन लम्बा चौड़ा था। जिसकी सीढ़ियाँ रत्नों से जटित होने से दीप्तिमान थी ।। ६ ।।

भ्रमद्भ्रमरसंशोभि सरोजवनसङ्कुलम् ।
पक्षिणां स्वर्णपक्षाणां कुलैर्मण्डितसैकतम् ॥ ७ ॥

वह सरोवर परिभ्रमण करते हुए भ्रमरों से और कमल के वन से संकुलित था । स्वर्ण के पंखों से युक्त पक्षियों के समूह से वहाँ का तट शोभायमान था ॥ ७ ॥

तस्मात्प्रवृत्ता सरसो नाम्ना सा यमुना नदी ।
अगाधतोया गम्भीरा बहुलावर्तभीषणा ॥ ८ ॥

उसी सरोवर से जो नदी निकली वह यमुना नामक नदी हुई । वह यमुना नदी अगाध जल वाली, अत्यन्त गहरी और भीषण भवरों से युक्त हुई ॥ ८ ॥

पावमानात्पतन्ती सा नदी विरजमस्तके ।
शतैकयोजनोत्तुङ्गे धाराध्वनितगह्वरे ॥ ९ ॥

विरज [=अद्रि] के मस्तक पर पावमान शिखर से एक सौ योजन की ऊँचाई से गिरती हुई वह नदी बहुत सी भूमियों को पवित्र करती है । गिरि गह्वर में गिरने से ध्वनित उस नदी की धारा में बहुत सी भूमियाँ पवित्र होती हैं ॥ ९ ॥

सन्तोषभूमिकां प्लाव्य किञ्चिद्वैराग्यभूमिकाम् ।
चिदानन्दमयीं भूमिं किञ्चिदानन्दभूमिकाम् ॥ १० ॥
रतिभूमिं प्लावयन्ती याति भूमिं प्रकाशिकाम् ।
प्रकाशानन्दभूम्योऽस्तु ह्यन्तराले महासरः ॥ ११ ॥

वह 'सन्तोष' भूमि को आप्लावित करती हुई कुछ वैराग्यभूमि को, कुछ चिदानन्दमयी भूमि को, कुछ आनन्दभूमि को, कुछ रतिभूमि को आप्लावित करती हुई प्रकाशिका भूमि को जाती है । प्रकाश और आनन्द भूमि के बीच में एक विशाल सरोवर है ॥ १०-११ ॥

सपादलक्षयोजनमानेन परिविस्तृतम् ।
समुद्र इव गम्भीरं रत्नसोपानसुन्दरम् ॥ १२ ॥

वह डेढ़ लाख योजन चारो ओर विस्तृत है । समुद्र के समान अगाध जल वाले उस विशाल सरोवर की सीढ़ियाँ सुन्दर रत्नों से जटित हैं ॥ १२ ॥

पूरयन्ती पुनस्तस्मान्निर्याति ज्ञानभूमिकाम् ।
भुक्तिभूमिं समाप्लाव्य याति प्रेमात्मिकां भुवम् ॥ १३ ॥

पुनः उसको परिपूर्ण करती हुई उससे निकलकर वह ज्ञान भूमि में प्रविष्ट होती है और भोग [=भुक्ति] भूमि का अच्छी तरह से आप्लावित करके प्रेमात्मिका भूमि पर जाती है ॥ १३ ॥

प्रेमात्मिकां भुवं प्लाव्य सुधाब्धौ विलयङ्गता।
रसस्य रममाणस्य दलाभ्यां गिरिनन्दिनि ॥ १४ ॥

प्रेमात्मिका भूमि को आप्लावित करके सुधा रूपी समुद्र में विलीन हो जाती है। हे गिरिनन्दिनि ! रस में रमण करने वाले दोनों प्रेमात्मिका भूमि में नहाकर अमृत समुद्र में विलीन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

तत्स्यन्दमात्रां यमुनां चिन्तयेत्तदभेदतः ॥
यमुनानिलसंसर्गसमुत्थानन्दसागरः ।
कूटस्थं गणितानन्दं पूरयत्येव सन्ततम् ॥ १५ ॥

उसी से निकली यमुना नदी का ध्यान करना चाहिए। अतः उससे अभिन्न होने के कारण यमुना की वायु के संसर्ग से आनन्दसागर समुद्भूत होता है। इस प्रकार वह कूटस्थ सदैव ही अगणित आनन्द को प्रदान करता है ॥ १५ ॥

परब्रह्म रसः कृष्णः तस्यापि द्रवरूपिणीम्।
यमुनां केन तुलयेद्रसानन्दजलात्मिकाम् ॥ १६ ॥

परब्रह्म रस रूप कृष्ण और उनके ही (रूप वाली) द्रव रूपी यमुना की जो आनन्दरूपी जलात्मिका मूर्ति है, उसकी किससे तुलना की जा सकती है ? ॥ १६ ॥

गोमेदखण्डे यमुनाप्रवाहो योजनात्मकः।
तत्र पीतमिव स्वच्छं जलं पीयूषसन्निभम् ॥ १७ ॥

एक योजन तक गोमेद के खण्ड में यमुना का प्रवाह है। वहाँ पीने लायक स्वच्छ अमृत सदृश जल है ॥ १७ ॥

उभयोः कूलयोस्तस्याः कुट्टिमानि बृहन्ति च।
नानारत्नमयस्तम्भमण्डपानि द्युमन्ति च ॥ १८ ॥

उसके दोनों ही किनारे पर बड़े-बड़े शिला खण्ड हैं जो नाना प्रकार के दीप्तिमान स्तम्भों के मण्डप के समान हैं ॥ १८ ॥

गुञ्जद्भ्रमरपुष्पालिलताकुञ्जावृतानि च।
चतुर्लक्षाणि देवेशि [1]महस्तोमोज्वलानि च ॥ १९ ॥
उपर्यधः स्थितास्तेषां पक्षिणश्चित्रपक्षकाः।
कुञ्जसञ्चारिणः केचित् केचिन्मण्डपसंस्थिताः ॥ २० ॥

उसके किनारे भ्रमरों से गुञ्जायमान पुष्प की लता के कुञ्जों से आवृत्त हैं। हे देवेशि ! वह चार लाख योजन तक उज्ज्वल प्रकाश के समूह से युक्त है। उसके

१. 'महान्त्युज्ज्वलानि च' इ० पा०।

ऊपर और नीचे चित्र विचित्र पक्षी हैं। उनमें से कुछ कुञ्जों में विचरण करने वाले हैं और कुछ मण्डप में बैठे हैं ॥ २० ॥

कुट्टिमान्तःस्थिताः केचिद्गायन्तो मधुरस्वराः।
वज्रखण्डप्रवेशोऽस्यादशयोजनमानतः ॥ २१ ॥

मानो कुछ कुट्टिम (फर्श) के अन्दर स्थित थे। कुछ मधुर-स्वर में गान कर रहे थे। यह यमुना दश योजन तक वज्र के समान खण्डों से युक्त है ॥ २१ ॥

पयः फेननिभं तत्र दृश्यते सलिलं शिवम्।
तावानेव प्रवाहोस्यास्तटयोः कुट्टिमानि च ॥ २२ ॥

इसका फेन के समान कल्याणकारी सलिल दिखाई पड़ती है। इसका प्रवाह भी उतना ही दोनों तटों और फर्शों पर है ॥ २२ ॥

स्वर्णभक्तिविचित्राणि रत्नस्वस्तिकवन्ति च।
चतुर्द्वाराणि सर्वाणि [1]मुक्तातोरणवन्ति च ॥ २३ ॥

विचित्र प्रकार की स्वर्णभक्तियों और रत्नों से बने स्वस्तिकों से यह युक्त है। इसके सभी चारों द्वार मणि की माला से युक्त हैं ॥ २३ ॥

मणिमण्डपयुक्तानि स्वर्णस्तम्भोज्वलानि च।
वज्रमुक्ताप्रवालाढ्यविष्टरास्तरितानि च ॥ २४ ॥

मणियों के मण्डपों से युक्त और स्वर्ण के बने देदीप्यमान स्तम्भों से युक्त भवन में वज्रमुक्ता और प्रवाल (मूँगा) से समृद्ध आस्तरण है ॥ २४ ॥

रसानन्दात्मनां यत्र पक्षिणां कलकूजितैः।
श्रवणानन्दसन्दोहं वर्षद्भिः सुखमीयते ॥ २५ ॥

वहाँ के पक्षियों की कलरव युक्त कूजनों के द्वारा वातावरण रस और आनन्द से परिपूर्ण है। श्रवण के आनन्द की वर्षा से सुख की अनुभूति होती है ॥ २५ ॥

पुष्परागमये खण्डे चिदानन्दात्मभूमिके।
श्यामश्वेतजला भाति प्रविष्टा यमुना नदी ॥ २६ ॥

चित् और आनन्द की भूमिका पर और पुष्परागमय खण्ड पर श्याम और सफेद जल ऐसा लगता है मानों यमुना नदी प्रविष्ट हुई हों ॥ २६ ॥

शतयोजनमानेन विशालास्तत्प्रवहकाः।
स्वर्णमाणिक्यसोपाना फुल्लस्वर्णाम्बुजाकुला ॥ २७ ॥

---

१. चतुर्द्वाराणि मुक्तानां नानातोरणवन्ति व इ० पा०।

सौ योजन तक के परिमाण में वह विशाल प्रवाह वाली नदी है जो स्वर्ण और माणिक्य की सीढ़ियों से युक्त एवं सोने के खिले हुए कमलों से मनोहर छटा वाली है ॥ २७ ॥

पतत्पद्मरजःपुञ्जपिञ्जरीकृतसज्जला ।
हंसकारण्डवानेककोलाहलतटोत्सवा ॥ २८ ॥

कमल की गिरने वाली रजों के पुञ्जों से वहाँ का जल पीला था। हंस एवं कारण्डवों आदि अनेक पक्षियों के कोलाहल से मानों यमुना के तट पर बड़ा ही उत्सव [मेला=] सा लगा था ॥ २८ ॥

अन्तःस्थारत्नसिकताचाकचक्यलसज्जला ।

जल के अन्दर रत्नों के बालू में चमकने के कारण जल बड़ा ही चकमकाहट युक्त था ॥ २९ ॥

एकेनोनं च[1] शतकं योजनानां प्रमाणतः ॥ २९ ॥
चिदानन्दमहीव्याप्ता पादेनानन्दभूमिका ।
आनन्दभूमिसञ्चारियमुनातटसीमनि ॥ ३० ॥

यमुना के तट पर ९९ योजन तक चित् और आनन्द से पृथ्वी व्याप्त है। वह पाद रूपी आनन्द भूमि से युक्त हैं। वस्तुतः यमुना के तट का भाग आनन्द की भूमि से सञ्चरित है ॥ २९-३० ॥

तीर्थसप्तकमीशानि स्मरेल्लीलारसाश्रयम् ।
जलावतारमार्गाणां [2]तटसीमवनानि तु ॥ ३१ ॥

हे ईशानि ! लीलारस के आश्रय [भगवान् कृष्ण] और सात तीर्थों का स्मरण करना चाहिए। उस यमुना के जल के आवरण मार्गों पर अर्थात् उसके तट की सीमा में [सात] वन हैं ॥ ३१ ॥

वनं चान्द्रमसं नाम द्वितीयं नीलकाननम् ।
तृतीयं पुष्पदन्ताख्यं तूर्यमानन्दकाननम् ॥ ३२ ॥

पञ्चमं हेमकूटाख्यं षष्ठं तत्तारकूटकम् ।
गारुडं नाम विख्यातं सप्तमं वनमुच्यते ॥ ३३ ॥

प्रथम वन का नाम चान्द्रमस है, दूसरा नीलकानन नामक है, तीसरा पुष्पदन्त नामक है, चतुर्थ आनन्दकानन नामक है, पाचवाँ हेमकूट नामक है, छठवा तारकूट

---

१. एकेन न्यूनं शतकं इ० पा० ।
२. तटसीम्नि इ० पा० ।

नामक है और सातवाँ गारुड नाम से विख्यात वन कहा जाता है ॥ ३२-३३ ॥

वने चान्द्रमसे देवि नाम्ना चान्द्रमसो महान् ।
न्यग्रोधराज आभाति वैदूर्यविलसच्छदः ॥ ३४ ॥

हे देवि चान्द्रमस वन में चान्द्रमस नाम का एक बड़ा विशाल न्यग्रोधराज शोभित है जो वैदूर्यमणि के समान आच्छादन वाला है ॥ ३४ ॥

चक्षुष्मत्पद्मरागोऽथ फलस्फारप्रभाचितः ।
स्वर्णाङ्कुरजटाप्रान्तलम्बिनमौक्तिकगुच्छकः ॥ ३५ ॥

वह पद्मराग के समान चक्षु युक्त फल की प्रभा से शोभित है । उसकी जड़ स्वर्ण के समान अङ्कुरों से युक्त और उसकी जटा लम्बी मौक्तिक के समान गुच्छक वाली है ॥ ३५ ॥

दिव्यपक्षिकृतावासशाखान्दोलनविभ्रमैः ।
दर्शनादन्तरात्मानं चमत्कुर्वन्नटो यथा ॥ ३६ ॥

दिव्य पक्षियों के आवास से युक्त और शाखा रूप झूले में झूलने वाले विभ्रमों से युक्त यह वैसा ही था जैसे एक नट अपने को चमत्कृत करता है ॥ ३६ ॥

फलापह्नुतचञ्चुश्रीपत्रापह्नुतपत्रकाः ।
महाराजेति कृष्णेति वाचा च दृष्टव्यक्तिकाः ॥ ३७ ॥

उनकी चोंच फल के समान और उनके पंख पत्तों के समान हैं । वे पक्षी 'महाराज'–यह नाम और 'कृष्ण' यह नाम इस प्रकार बोलते थे जैसे कोई पुरुष ही बोल रहा हो ॥ ३७ ॥

माध्वीकश्रवणां दिव्यां नानाकलपदांचिताम् ।
गिरं च कीरनिवहाः संसृजन्ति कुतूहलम् ॥ ३८ ॥

उन पक्षियों की दिव्य चहचहाट सुनने में अत्यन्त मधुर है । वे नाना प्रकार से इठलाकर पैर रखते हुए चलते हैं । कोयल के कूक के समान उनकी वाणी कुतूहल को जगा देती है ॥ ३८ ॥

यस्याधस्तात् समाभाति शशिकान्तमणिस्थली ।
अखण्डचन्द्रकान्तोद्यत्प्रभापुञ्जसुपेशला ॥ ३९ ॥

इन वृक्षों के नीचे की भूमि शशिकान्तमणि से सुशोभित है । वह पूर्णचन्द्र की किरणों की कान्ति से स्फुरित होने वाली प्रभा के पुञ्ज से मनोहर है ॥ ३९ ॥

यद्दीर्घविटपालम्बमानान्दोलनविभ्रमाः ।
सख्यः परस्परं यस्यां प्रतिबिम्बभुजो भुवि ॥ ४० ॥

यहाँ बड़े-बड़े वृक्षों पर झूले लटक रहे हैं। जहाँ पर परस्पर सखियाँ एक दूसरे का हाथ पकड़े हैं। उनका प्रतिबिम्ब पृथिवी पर पड़ने से मनोहर प्रतीत होता है ॥ ४० ॥

यदालवालवद्भाति माणिक्यवरकुट्टिमः ।
चतुर्भिः काञ्चनस्तम्भैर्मुक्तावैदूर्यभूषितैः ॥ ४१ ॥

जहाँ की माणिक्य निर्मित फर्श गमलों की भाँति शोभित होती है। वहाँ पर चारों ओर मुक्तामणि एवं वैदूर्य मणि से विभूषित स्वर्ण निर्मित स्तम्भ सुशोभित है ॥ ४१ ॥

उपर्यर्कमणिक्लृप्तमण्डपच्छाययाविलः[१] ।
विष्वग्विततविटपाक्रान्तप्रान्तमहीतलः ॥ ४२ ॥

ऊपर छत में सूर्यकान्त मणि से युक्त मण्डप की छाया से वह सम्पन्न है। वहाँ की भूमि चारों तरफ फैले हुए वृक्षों से आकीर्ण है ॥ ४२ ॥

न्यग्रोधमूलसं[२]सूतकल्पद्रुमलतामधः ।
दिव्यपल्लवपुष्पाढ्यो[३]रत्नसिंहासनोत्तमे ॥ ४३ ॥
क्रीडार्थमागतस्तत्र तिष्ठते पुरुषोत्तमः ।
योजनायुतमाणिक्यकुट्टिमस्थाः सखीगणाः ॥ ४४ ॥
हसन्तो हासयन्तश्च दिव्यक्रीडाकुतूहलैः ।
मञ्जुस्वरेण गायन्ति प्रियस्यैव यशोऽमलम् ॥ ४५ ॥

गूलर के पेड़ के तने में लिपटी हुई कल्पद्रुम लता के नीचे दिव्य पल्लव और पुष्पों से समृद्ध उत्तम रत्न के सिंहासन पर क्रीड़ा के लिए आए पुरुषोत्तम कृष्ण वहाँ बैठते हैं। अयुत योजन तक माणिक्य की फर्श पर आसीन सखियों के समूह हंसती हुई तथा एक दूसरे को हँसाती हुई दिव्य क्रीड़ा के कुतूहल से युक्त प्रिय के निर्मल यश का अत्यन्त मधुर स्वर में गान कर रही हैं ॥ ४३–४५ ॥

तिष्ठन्त्यत्र महोद्याने तत्स्थानपरिचारिकाः ।
चतुर्विंशतिर्देवेशि सहस्राणीति संख्यया ॥ ४६ ॥

हे देवेशि ! उस महान् उद्यान में चौबीस हजार परिचारिकाएँ भी सेवा में खड़ी हैं ॥ ४६ ॥

---

१. 'छाययान्वितः' इ० पा० ।
२. 'संसृत' इ० पा० ।
३. 'पुष्पाढ्यां' इ० पा० ।

तासां सौधानि शुभ्राणि मणिद्वाराणि पार्वति।
प्रवालदेहलीकानि विष्वक् न्यग्रोधमण्डलम् ॥ ४७ ॥

हे पार्वति ! उस न्यग्रोध वृक्ष के चारो ओर मूँगे की देहली वाले मणिनिर्मित द्वारों से युक्त वहाँ उनके श्वेत प्रासाद हैं ॥ ४७ ॥

द्विपङ्क्तिभाञ्जि रम्याणि साप्तभौमानि सुन्दरि।
तावन्त्येव विराजन्ते वीथीयुक्तानि मध्यतः ॥ ४८ ॥

हे सुन्दरि ! सात भूमिका वाली दो रम्य पङ्क्ति में बद्ध एवं मध्यतः गलियों से युक्त उनके उतने ही भवन विराजमान है ॥ ४८ ॥

अन्योन्यपङ्क्तिस्थितहर्म्यलम्बद्दोलासमारूढसखीसमूहः[1] ।
अन्योन्यसङ्घट्टन[2] पाणिपालीकरः पुनः श्लेषमुपैति गायन् ॥ ४९ ॥

दोनों पङ्क्तियों के प्रासाद के बीच में लटकते हुए झूले पर सखी समूह विराजमान है। वे सभी सखियाँ गायन करती हुई एक दूसरे के पास झूले से पहुँच कर पुनः श्लिष्ट होती हैं और एक दूसरे से परस्पर ताली पीटती हुई शोभा पा रही हैं ॥ ४९ ॥

हेमप्राकारकलितमिदं चान्द्रमसं वनम्।
यमुनाभिमुखे यस्य द्वारमाभाति काञ्चनम् ॥ ५० ॥

स्वर्णनिर्मित चहारदिवारी के इस चान्द्रमस व्रज का काञ्चन का द्वार यमुना की ओर को खुलता है ॥ ५० ॥

द्वारापसव्यसव्यस्थौ कुट्टिमौ रत्नकाञ्चनौ।
महाचतुःस्तम्भलसन्मण्डपाडम्बरस्पृशौ ॥ ५१ ॥

द्वार के बाहर बाएँ और दाएँ दोनों तरफ रत्न एवं काञ्चन की फर्श बनी हुई है। बड़े-बडे चार खम्भों से शोभायमान दोनों ओर के मेहराब युक्त मण्डप हैं ॥ ५१ ॥

ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी।
सोपानानि सहस्रे द्वे द्वे शते च दशोत्तरे ॥ ५२ ।

उसके बाद सीढियों से उतरकर यमुना नदी पर जाया जाता है। ये सीढ़ियाँ दो हजार दो सौ दस हैं ॥ ५२ ॥

---

१. सहसः।
२. 'काकतालीकरः' इ० पा०।

पद्मरागार्कवैदूर्यप्रवालशशिगारुडैः ।
मुक्तेन्द्रनीलगोमेदपुष्पवज्रहिरण्मयैः ॥ ५३ ॥

पुनः पुनः क्रमादेतैः सोपानैः प्रान्तमण्डपैः ।
अधोधः कल्पितैः सम्यक् गम्यते यमुना नदी ॥ ५४ ॥

पुनः पुनः क्रम से पद्मराग मणि, सूर्यकान्त मणि, वैदूर्य, मूँगा, चन्द्रकान्तमणि, गारुड, मुक्ता, इन्द्रनीलमणि, गोमेद, पुष्पवज्र (हीरा) और स्वर्ण से निर्मित प्रान्त-मण्डप से युक्त उन सीढ़ियों के द्वारा नीचे और नीचे सम्यक् रूप से यमुना नदी के तट पर जाते हैं ॥ ५३–५४ ॥

मणिकाञ्चनसन्नद्धा यत्र नौकाः सुपेशलाः ।
वायूद्धूतध्वजपटाः विभ्रमन्ते यतस्ततः ॥ ५५ ॥

यमुना नदी के तट पर मणि और स्वर्ण जटित सुन्दर नावें जहाँ पर हैं । जिनके त्रिपाल-ध्वज वायु से भरे हुए इधर-उधर घूम रहे हैं ॥ ५५ ॥

अनेकपोतसंस्थासु सखीषु पुरुषोत्तमः ।
मध्यपोतस्थितः सम्यक् राजते तिसृभिर्युतः ॥ ५६ ॥

अनेक नौकाओं में सखियों के मध्य पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मध्य पोत पर स्थित तीन सखियों से युक्त विराजमान है ॥ ५६ ॥

स्वामिनी वामभागस्था दाडिमीपुष्पभांशुकाः ।
इन्दिरा सुन्दरी चोभे पुरः सव्यापसव्ययोः ॥ ५७ ॥

उनके वाम भाग में स्वामिनी राधा जी है जिनका वस्त्र अनार के पुष्प के समान हल्के लाल रंग का है। उनके सामने दोनों ओर बाएं और दाए इन्दिरा और सुन्दरी नामक सखियाँ शोभायमान है ॥ ५७ ॥

इन्दिरा कृष्णपक्षीया सुन्दरी स्वामिनी परा ।
हास्य केलिविहारेषु विवादेषु रसात्मसु ॥ ५८ ॥

इन्दिरा कृष्ण की तरह है और सुन्दरी राधाजी के तरफ है । सभी लोग हास्य क्रीडा विहार में और रसात्मक विवादों में अठकेलियाँ करते हुए तल्लीन हैं ॥ ५८ ॥

तेनेयमिन्दिरा साक्षात्स्वामिनीप्राणवल्लभा ।
सुन्दरी चापि कृष्णस्य प्राणाधिवल्लभा हि सा ॥ ५९ ॥

हास्यमय क्रीडा में इन्दिरा साक्षात् स्वामिनी की प्राणवल्लभा हैं और सुन्दरी भी श्रीकृष्ण की प्राणवल्लभा हैं ॥ ५९ ॥

एवं क्रीडारसानन्दसखीभिः पुरुषोत्तमः ।
वने चान्द्रमसे कृष्णः सेवते च यदृच्छया ।। ६० ।।

।। इति माहेश्वतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे
द्विचत्वारिंशं पटलम् ।। ४२ ।।

—*—

इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उस चान्द्रमस वन में स्वेच्छापूर्वक उनसे सेवित होते हुए सखियों के साथ क्रीडा के रस का आनन्द ले रहे हैं ।। ६० ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के बयालिसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।। ४२ ।।

—*—

अथ त्रिचत्वारिंशं पटलम्

शिव उवाच—

नीलोद्यानेऽपि देवेशि कदाचित्पुरुषोत्तमः ।
सखीसहस्रैरागत्य क्रीडते स्वामिनीमुखैः ।। १ ।।

शिव ने कहा—

हे देवेशि ! किसी समय पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण स्वामिनी बनकर हजारों सखियों के साथ आकर नील उद्यान में भी क्रीड़ा करते हैं ।। १ ।।

अखण्डमाणिक्यशिलाकल्पिता नीलभूमिका ।
अन्तरान्तरितामुक्तावज्रवैदूर्यविद्रुमैः ।। २ ।।

अखण्डमाणिक्य की शिला की नील भूमिका वहाँ कल्पित की गई है । उस नील भूमिका के अन्दर मुक्ता, वज्र, वैदूर्य एवं विद्रुम (मूँगे) से नक्काशी की गई है ।। २ ।।

यत्र वाप्यः सुधापूर्णाः काञ्चनोत्पलमालिनः[1] ।
प्रवालपुष्पाभरणा लतोल्लासितमण्डपाः ।। ३ ।।

वहाँ की वापी अमृत से पूर्ण है जिनमें सुवर्ण के खण्ड विद्यमान हैं । मूँगों के पुष्प खिले हुए हैं और नील भूमिका का मण्डप लताओं से उल्लसित है ।। ३ ।।

उपर्युपरिविन्यस्तभूमिस्थपरिचारिकाः ।
वीणामृदङ्गघोषेण घोषयन्त्यो वनस्थलीम् ।। ४ ।।

उस नीलभूमिका की ऊपरीमञ्जिल में परिचारिकाएँ विद्यमान हैं । वीणा एवं मृदङ्ग आदि के घोष से वहाँ की वनस्थली गुञ्जायमान है ।। ४ ।।

[2]रुचिरांशुतडिद्दीप्तरत्नभूषणभूषिताः ।
नानारसकलाभिज्ञा यशो गायन्ति संहताः ।। ५ ।।

वे परिचारिकाएँ मनोहर किरणों से युक्त एवं विद्युत की प्रभा वाले रत्नों के आभूषणों से विभूषित हैं । नानाविध रस कलाओं का ज्ञाता वे सखियाँ झुण्ड बनाकर भगवान् के यश का गान करती रहती हैं ।। ५ ।।

---

१. 'मालिनी' इ० पा० ।

२. 'चीरांशुतडिदुद्दीप्त' इ० पा० ।

चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः ।
द्विपङ्क्तया परितस्तासां मन्दिराण्युज्वलन्ति च ।। ६ ।।

वहाँ की परिचारिकाएँ चौबीस हजार हैं। दो पङ्क्ति में उनके उज्ज्वल मन्दिर बने हुए हैं ।। ६ ।।

तन्मध्यभूमौ देवेशि क्रीडासौधमनुत्तमम् ।
कोटिचन्द्रप्रभापुञ्जधिक्कारिमणिकल्पितम् ।। ७ ।।

हे देवेशि ! उन दोनों कतारों के मध्य की भूमि पर उत्तम क्रीडा के प्रासाद बने हैं। करोड़ों चन्द्रमाओं की प्रभा के पुञ्ज को भी वहाँ की मणियों की कान्ति नष्ट कर देने वाली है ।। ७ ।।

चतुर्दिक्षु लसत्स्वर्णस्तम्भराजिविराजितम् ।
प्रतिस्तम्भं प्रविन्यस्तपुत्रिकाभिरलङ्कृतम् ।। ८ ।।

चारो दिशाओं में स्वर्ण के खम्भों की कतारें शोभायमान है। एक एक स्तम्भ पर पुत्तलिकाओं को अङ्कित कर सजाया गया है ।। ८ ।।

मुक्ताप्रवालरचितं कपाटद्वारतोरणम् ।
हंसपारावतशुकैर्भित्तिशङ्कुकृतास्पदैः ।। ९ ।।

द्वार के दरवाजे और तोरण मुक्ता एवं मूंगे से जटित हैं। वहाँ की दीवारों पर हंस, कबूतर, तोता आदि पक्षियों की रचना की गई हैं ।। ९ ।।

अन्योऽन्यं वादिभिरिव क्षिप्ता वाचो जिगीषया ।
मनः श्रोत्रहरा यत्रानन्दयन्ति सखीगणान् ।। १० ।।

एक दूसरे से बात-चीत करती हुई सखी समूह की कौतूहलपूर्ण वाणी मन एवं कानों को आनन्दित करती है ।। १० ।।

सौधाङ्गणचतुर्दिक्षु कुट्टिमानि बृहन्ति च ।
मण्डपाट्टालयुक्तानि मणिस्तम्भशतानि च ।। ११ ।।

वहाँ के प्रासादों के आँगनों की फर्श चारो दिशाओं में विस्तृत हैं। वहाँ के मण्डप खूब ऊँचे-ऊंचे और मणि जटित सैकड़ों स्तम्भों से युक्त हैं ।। ११ ।।

दीर्घिकास्तेषु दिव्यन्ति सृजन्त्यः सलिलोन्नतिम् ।
कल्पद्रुकुसुमामोदसुवासितजलाः शिवाः ।। १२ ।।

उन प्रासादों के मध्य बनी हुई दीर्घिका दिव्य हैं और वह सलिलपूर्ण हैं। उनका जल कल्पद्रुम के पुष्प की सुगन्ध से सुवासित अत्यन्त कल्याणकारी है ।। १२ ।।

नर्तक्यो यत्र नृत्यन्ति नाट्यविद्याविशारदाः ।
यन्नूपुररणत्काराः श्रूयन्ते कुञ्जभूमिषु ॥ १३ ॥

नाट्यविद्या में पारङ्गत नर्तकिया वहाँ नृत्य करती रहती हैं। उन भवनों की कुञ्जभूमियों पर बजती हुई उन नर्तकियों के नूपुरों की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ रही है ॥ १३ ॥

कुट्टिमनिकटारूढाश्चत्वारो जम्बुपादपाः[1] ।
शाखायां शतविस्ताराः काननस्येव केतवः ॥ १४ ॥

उन फर्शों के निकट में चार जामुन के वृक्ष विद्यमान हैं। सौ शाखाओं के विस्तार वाले वे वृक्ष कानन के मानों ध्वज की तरह हैं ॥ १४ ॥

शाखाबद्धसुवर्णशृङ्खललसद्दोलाधिरूढाङ्गना ।
हस्ताहस्तमृदङ्गधीरनिनदैरानन्दयन्त्यः शिखीन् ।
विद्युत्पुञ्जनिभांशुकांशुपरिधानापादयन्त्यश्चलान्,
यातायातविहारविभ्रमलसत्स्मेराननाक्षिभृतः ॥ १५ ॥

उन जामुन के वृक्षों की शाखाओं पर सुवर्ण की शृङ्खला से बने झूलों पर बैठी हुई युवतियाँ आनन्द से झूल रही हैं। अपने अपने हाथों से (बादलों के समान) बजाते हुए मृदङ्ग की गम्भीर ध्वनि से आनन्द लेते हुए मानों मयूर नाच रहे हैं। विद्युतपुञ्ज के समान वस्त्र की प्रभा से शोभायमान वे झूले परिध में झूलने के कारण अर्धचन्द्राकार आयुध के समान प्रतीत हो रहे हैं। आते जाते हुए झूलों पर युवतियों के विहार की शोभा से युक्त उनके मुख मयूर पङ्ख की आँखों से युक्त से प्रतीत हो रहे हैं ॥ १५ ॥

इन्द्रनीलमणिभ्राजत्प्राकारपरिवेष्टिते ।
नीलोद्याने महारम्ये क्रीडते पुरुषोत्तमः ॥ १६ ॥

इन्द्रनीलमणि से शोभायमान चहार दीवारी से घिरे हुए महान् रम्य नील उद्यान में इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण क्रीडा करते हैं ॥ १६ ॥

यमुनाभिमुखे यस्य महाद्वारं विराजते ।
चन्द्रकान्तशिलाक्लृप्तकपाटं रत्नतोरणम् ॥ १७ ॥

यमुना के अभिमुख उस उद्यान का सिंहद्वार शोभायमान है। उसके दरवाजे चन्द्रकान्त मणि की शिला से निर्मित हैं और उसके रत्नजटित तोरण हैं ॥ १७ ॥

---

१. चतुर्दशश्लोकोऽयं 'कुट्टिमनिकटनिरूढाश्चत्वारो जम्बपादपप्रवराः ।
शाखाशतविचिन्तयन्तः कितव इवेह काननस्योच्चैः ॥ १४ ॥
इत्थमार्याछन्दसोपनिबद्ध प्राचीन पुस्तकेषूपलभ्यते ।

द्वारस्य दक्षिणे वामे काञ्चनौ कुटिमौ समौ।
चतुर्द्वारमणिस्तम्भवज्रीकल्पितमण्डपौ ॥ १८ ॥

इस द्वार की दक्षिण ओर बाएं की फर्श स्वर्ण से एक समान बनी हुई है। द्वार पर चार मणिनिर्मित खम्भे हैं जिनपर वज्र निर्मित दो मण्डप हैं ॥ १८ ॥

ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी।
सोपानानि सहस्रे द्वे शते च दशोत्तरे ॥ १९ ॥

इसके बाद सीढ़ियों से उतरकर यमुना नदी में जाया जाता है। यहाँ दो हजार दो सौ बीस सीढ़ियाँ नीच तक बनी हुई हैं ॥ १९ ॥

अस्मिन् सोपानमार्गेऽपि वामदक्षिणयोः स्थिताः।
रत्नमण्डपशोभाढ्याः कुट्टिमाः सन्त्यनेकशः ॥ २० ॥

इस सीढ़ियों के मार्ग पर बाएं ओर तथा दक्षिण ओर अगल बगल रत्न जटित मण्डपों की शोभा से समृद्ध अनेक प्रकार की फर्श बनी हुई है ॥ २० ॥

कदाचिज्जलखेलान्ते तिष्ठन्त्यत्र सखीगणाः।
चतुरस्रा विशालास्ति तत्रोच्चैर्मणिवेदिका ॥ २१ ॥

कभी-कभी जलक्रीडा के अन्त में सखीगण यहाँ बैठती हैं। यहाँ पर एक विशाल चौकोर चबूतरा बना है। उस पर मणि निर्मित एक वेदिका बनी है ॥ २१ ॥

वेदिकायां विशालायां कुट्टिमो मणिभूषितः।
स्वर्णस्तम्भचतुर्द्वारो मुक्तामण्डितमण्डपः ॥ २२ ॥

वेदिकायां समुद्भूते द्वे दले स्वर्णपत्रके।
पार्श्वयोः पद्मरागीयपुष्पप्रचयभूषिते ॥ २३ ॥

विशाल वेदिका की फर्श मणि से विभूषित है। वहाँ स्वर्ण निर्मित खम्भों वाले चार द्वार से युक्त, मुक्ता से सजाया गया मण्डप है। वेदिका के दो तरफ स्वर्ण के पत्ते समुद्भूत हैं। दोनों तरफ पद्मरागमणि के समान पुष्प राशि से वह भूषित है ॥ २२–२३ ॥

मण्डपोपरि तच्छाखाः प्रसृताः कुसुमाकुलाः।
काञ्चन प्रसृतास्तस्य मध्यदेशे सुशोभने ॥ २४ ॥

मण्डप के ऊपर उस स्वर्ण पत्रक की दो शाखा बहुत से खिले हुए पुष्पों से युक्त फैली हुई है। हे सुशोभने! उनके मध्य देश में भी कुछ शाखा फैली हुई हैं ॥ २४ ॥

तत्र सिंहासनं देवि कोटिचन्द्रांशुनिर्मलम्।
इन्दिरासुन्दरीभ्यां तु पार्श्वयोः समधिष्ठितम् ॥ २५ ॥

हे देवि ! उस मध्यभाग में करोड़ों चन्द्रमा की किरणों से भी अधिक निर्मल एक सिंहासन है। इन्दिरा और सुन्दरी दोनों ही (उनके) अगल-बगल में बैठी हुई हैं ।। २५ ।।

कदाचित्तत्र भगवान् कृष्णः कमललोचनः ।
तिष्ठते क्रीडते ताभिः सखीभिः कृतकौतुकः ।। २६ ।।

किसी समय कमल नयन भगवान् कृष्ण वहाँ उन सखियों के साथ कौतूहलपूर्ण क्रीडा करते हुए रहते हैं ।। २६ ।।

स्मरेदथो वनं दिव्यं पुष्पदन्ताख्यमद्भुतम् ।
वैदूर्यवीरुधां यत्र राजयो भान्ति पेशलाः ।। २७ ।।

अतः पुष्पदन्त नामक अद्भुत एवं दिव्य वन का ध्यान करना चाहिए । जहाँ पर वैदूर्य एवं लता-कुञ्जों की सुन्दर पङ्क्तियाँ शोभायमान हैं ।। २७ ।।

लतापरिमलोद्गारलोभमुग्धीकृताशयाः ।
इतस्ततोनुधावन्ति भृङ्गा मायार्दिता यथा ।। २८ ।।

लता की सुगन्धि से आकृष्ट एवं मुग्ध भ्रमर वहाँ इधर-उधर उसी प्रकार मंडरा रहे हैं जैसे माया से आकृष्ट मनुष्य भव जाल में घूमता रहता है ।। २८ ।।

पुष्पदन्ताभिधो यत्र दाडिमीतरुरुल्लसन् ।
माणिक्यकुसुमश्रीको वैदूर्य[1] रुचिरच्छदः ।। २९ ।।

पुष्पदन्त नामक अनार का पेड़ जहाँ पर शोभायमान है । माणिक्य के समान उसके पुष्प शोभा सम्पन्न हैं । उसकी सुन्दर डालियाँ वैदूर्य के समान हैं ।। २९ ।।

विशुद्धस्फाटिकमयी यत्र भूमिर्विराजते ।
अरजस्कामृतस्यन्दा प्रतिबिम्बतभूरुहा ।। ३० ।।

उस पुष्पदन्त वन की भूमि विशुद्ध स्फटिक से निर्मित द्युतिमान है । भूमि में प्रतिबिम्ब वृक्ष विना धूलि के अमृत की वर्षा करने वाले हैं ।। ३० ।।

वैदूर्यपत्रद्युतिपुञ्जपूरितं माणिक्यपुष्पप्रभयानुरञ्जितम् ।
वनं विशन्त्यो हि मयूरवल्लभा नृत्यन्ति विद्युद्घनशङ्किताशयाः ।। ३१।।

वैदूर्य मणि के समान पत्तों की द्युति के पुञ्ज से पूरित और माणिक्य के समान पुष्प की प्रभा से रंगे हुए के समान मयूरियाँ जिस वन में प्रविष्ट हो रही हैं और वहाँ विद्युत एवं बादल की आशङ्का से आशङ्कित मयूरियाँ नाच रही हैं ।। ३१ ।।

---

१. अत्र सर्वत्र वैडूर्य शब्द एवोपलभ्यते नतु वैदूर्य इति ।

विदीर्णसद्दाडिमबीजसंहतीर्निरीक्षमाणाः प्रबलानुरागिणीः ।
स्वदन्तसादृश्यमुपैति वा न वाभ्युपेतुमादर्शधरा भवन्ति ॥ ३२ ॥

प्रबल अनुराग वाली सखियाँ सुन्दर अनार के बीज की संहती का अवलोकन करती हुई अपने हाथ में दर्पण लिए हुए देखती हैं कि मेरे दाँत अनार के बीज के सदृश हुए या नहीं ॥ ३२ ॥

योजनायुतमूर्द्धन्यः [1]शाखाक्रान्तमहीतलः ।
फलपल्लवपुष्पश्रीभारभुग्नमहाभुजः ॥ ३३ ॥

अयुत योजन तक फैली शाखाओं से आक्रान्त पृथ्वी तल वाले तथा फल एवं पल्लव तथा पुष्प की शोभा से सम्पन्न विस्तृत एवं टेढ़ी शाखाओं वाले वृक्ष हैं ॥३३॥

अनेकपक्षिसङ्घातगीतश्रवणनन्दनः ।
यदधः कुट्टिमवरो राजते स्वर्णनिर्मितः ॥ ३४ ॥

वह वन अनेक प्रकार के पक्षियों के समूह के कलरव से युक्त है। जिस वन के वृक्षों के नीचे की भूमि सुन्दर स्वर्ण से निर्मित होने से द्युतिमान है ॥ ३४ ॥

प्रवालस्तम्भशोभाढ्यरत्नमण्डपमण्डितः ।
पुष्पदन्तः सखीवृन्दावतंसीकृतपुष्पकः ॥ ३५ ॥

वहाँ के मण्डप प्रवाल (मूँगे) के खम्भों की शोभा से सम्पन्न एवं रत्नों से मण्डित हैं। सखियों के समूहों ने पुष्पों का अवतंस (आभूषण) मानो पहन रक्खा है, ऐसा पुष्पदन्त वन है ॥ ३५ ॥

आधिपत्ये वनस्यास्य नियुक्त इव राजते ।
स्वर्णकुट्टिममध्ये तु वैदूर्यमणिनिर्मितम् ॥ ३६ ॥

इस वन के आधिपत्य में मानों वे नियुक्त हुई सी शोभित हैं। स्वर्णनिर्मित फर्श के मध्य में वैदूर्यमणि से निर्मित फर्श है ॥ ३६ ॥

महासिंहासनं देवि यच्च कृष्णोऽधितिष्ठति ।
नीलाम्बर इवाभाति शुभ्रवस्त्रधरोऽपि यत् ॥ ३७ ॥

हे देवि ! उस वैदूर्यनिर्मित चबूतरे पर एक महान् सिंहासन है जिस पर श्री कृष्ण विराजमान हैं। अनेक श्वेत् वस्त्र धारण करने पर भी उनका वस्त्र (मणि की प्रभा से मिश्रित होकर) नीलाम्बर के समान प्रतीत हो रहा है ॥ ३७ ॥

सर्वाः सख्योऽपि वैदूर्यसिंहासनपरम्पराम् ।
जुषाणाः परितो भान्ति नीलाम्बरधरा इव ॥ ३८ ॥

---

१. योजनायतमूर्धन्यशाखा क्रान्तमहीतलः इ० पा० ।

उनकी सभी सखियाँ भी वैदूर्यमणि के सिंहासन की कतार में बैठी हैं। चारों ओर से श्रीकृष्ण को घेरे रहने के कारण वे भी नीलाम्बर के समान प्रतीत हो रही हैं ॥ ३८ ॥

अतीव भूषाम्बरवैपरीत्यं निरीक्ष्यमाणाः प्रहसन्ति सख्यः ।
स्वानां प्रियस्यापि परस्परं ताः प्रदत्ततालीकरपङ्कजेषु ॥ ३९ ॥

वस्त्र सफेद पहने हैं और वह नीला प्रतीत हो रहा है इस वेषभूषा की विपरीत स्थिति को देखकर सभी सखियाँ आपस में हंस रही हैं। परस्पर एक दूसरे को और प्रिय को भी ऐसा देखकर वे एक दूसरे के साथ प्रसन्न होकर अपने कर कमलों से प्रदत्त ताली बजा रही हैं ॥ ३९ ॥

चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः ।
परिचर्यापरास्तत्र वसन्ते कृष्णयोषिताम् ॥ ४० ॥

वहाँ पर चौबीस हजार अन्य परिचारिकाएं विद्यमान हैं जो कृष्ण की प्रियाओं की सेवा में संलग्न हैं ॥ ४० ॥

दिव्यपुष्पाम्बराकल्पैर्दिव्यगन्धानुलेपनैः
दिव्यानन्दरसैस्तत्र सेवन्ते परिचारिकाः ॥ ४१ ॥

वे परिचारिकाएँ दिव्य पुष्प, दिव्य वस्त्र, दिव्य गन्धों एवं अनुलेपनों से तथा दिव्य प्रकार के आनन्द रस से उनकी परिचर्या कर रही हैं ॥ ४१ ॥

नानाक्रीडारसासक्ता यदा सख्यः प्रियेण हि ।
तदा काचिन्मृदङ्गेण काचित्तन्त्रीरवेण च ॥ ४२ ॥

नाना प्रकार की क्रीडा रस में जब वे सखियाँ प्रिय के साथ आसक्त हो जाती हैं तब कभी मृदङ्ग और कभी वीणा की झङ्कार में विलीन हुई सी जान पड़ती हैं ॥ ४२ ॥

काश्चिन्मधुरवीणाभिर्नृत्यगीतादिभिश्च काः ।
परितः स्वगृहारूढा दूरतस्तोषयन्ति ताः ॥ ४३ ॥

कुछ सखियाँ मधुर वीणा के द्वारा और कुछ अपने नृत्यों के द्वारा अपने-अपने ही घर पर परितः रहती हुई वे दूर से ही श्रीकृष्ण को प्रसन्न कर रही हैं ॥ ४३ ॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेण तासां सौधानि पार्वति ।
द्विपङ्क्त्यापरितो भान्ति वीथीयुक्तानि मध्यतः ॥ ४४ ॥

हे पार्वति ! पूर्वोक्त प्रकार से निर्मित उनके प्रासाद कतार में हैं जिसमें दो पङ्क्ति के बीचोबीच एक वीथी शोभायमान है ॥ ४४ ॥

वैदूर्यरत्नविलसत्प्राकारपरिवेष्टिते ।
पुष्पदन्तमहोद्याने क्रीडते पुरुषोत्तम ।। ४५ ।।

वैदूर्य एवं रत्नों से चमकते हुए चहारदिवारी से घिरे उस पुष्पदन्त नामक महान् उद्यान में इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण क्रीडा कर रहे हैं ।। ४५ ।।

यमुनाभिमुखे यस्य राजते गोपुरं महत् ।
पद्मरागमणिक्लृप्तकपाटद्वारतोरणम् ।। ४६ ।।

यमुना के अभिमुख जिस प्रसाद का विशाल गोपुर शोभायमान है उसके दरवाजे और तोरण पद्मरागमणि से जटित हैं ।। ४६ ।।

ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी ।
सोपानानि च तावन्ति संख्यावर्णविभेदतः ।। ४७ ।।

वहाँ से होकर सीढ़ियों के मार्ग से नीचे की ओर यमुना नदी पर जाया जाता है । उसकी सभी सीढ़ियाँ अलग अलग रंगों से बनी है ।। ४७ ।।

द्वारस्य दक्षिणे वामे कुट्टिमौ सुमनोहरौ ।
स्तम्भमण्डपसंयुक्तौ मुक्तामाणिक्यतोरणौ ।। ४८ ।।

द्वार के दाहिने और बाएँ ओर सुन्दर एवं मनोहर फर्श बनी हुई है । खम्भों एवं मण्डप से युक्त उनके तोरण मुक्ता मणि एवं माणिक्य जटित हैं ।। ४८ ।।

जलक्रीडावसाने तु कृष्णः स्वसखीवृतः ।
मुहूर्तं कुट्टिमे स्थित्वा ततो याति निजालयम् ।। ४९ ।।

।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे त्रिचत्वारिंशं पटलम् ।। ४३ ।।

—*—

जल क्रीडा के अन्त में श्रीकृष्ण अपनी सखियों से घिरे हुए एक मुहूर्त्त तक वहाँ फर्श पर रहकर फिर अपने भवन में चले गए ।। ४९ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के संवाद के तैंतालीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४३ ।।

—*—

अथ चतुश्चत्वारिंशं पटलम्

शिव उवाच—

स्मरेदथो महानन्दवनं सर्वर्तुसेवितम् ।
नानापुष्पलताकुञ्जपुञ्जशोभाविराजितम् ॥ १ ॥

शिव ने कहा—

इसके बाद सभी ऋतुओं से सेवित महानन्दवन का स्मरण करना चाहिए। वह वन नाना प्रकार के पुष्पों, लताओं एवं कुञ्जों के समूह की शोभा से सम्पन्न है ॥ १ ॥

यत्र भूः काञ्चनी दिव्या नवरत्नविचित्रिता ।
सार्द्धैकयोजनायामविस्तारा मध्यवेदिका ॥ २ ॥

जहाँ की भूमि नव रत्नों से निर्मित विचित्र प्रकार की काञ्चनमय है। उस वन की मध्य वेदिका का विस्तार डेढ योजन तक फैला है ॥ २ ॥

चतुरस्रा दिव्यरत्ना प्रभापुञ्जारुणान्तरा ।
तन्मध्ये कुट्टिमो देवि योजनार्द्धप्रमाणतः ॥ ३ ॥

उस वेदिका का चतुरस्र दिव्य रत्नों की प्रभा के पुञ्ज से लाल रंग का अन्तराल वाला है। हे देवि ! उसके मध्य की फर्श आधा योजन तक विस्तृत है ॥ ३ ॥

रजतस्वर्णवज्रेन्दुमुक्ताविद्रुमगारुडैः ।
वैदूर्यैरिन्द्रनीलैश्च पद्मरागार्कगोमदैः ॥ ४ ॥

चाँदी, सोना, वज्र, इन्दु, मुक्ता, विद्रुम, गारुड, वैदूर्य, इन्द्रनीलमणि पद्मरागमणि, सूर्यकान्तमणि तथा गोमेद आदि रत्नों से वेदिका को चित्र-विचित्र फर्श रचित है ॥ ४ ॥

समन्ततः परिक्लृप्तस्तम्भराजिविराजितः ।
दक्षिणोत्तरमध्यस्थसूत्रमाकर्ष्य पार्वति ।
पूर्वगर्भगतं कुर्यादधः पश्चिमगर्भगम् ॥ ५ ॥

चारो ओर खम्भों की पङ्क्ति से वह वेदिका शोभायमान है। हे पार्वति ! दक्षिण से उत्तर मध्य में रेखा खीचकर ऊपर का भाग पूर्व गर्भगत करे और नीचे का भाग पश्चिम गर्भगत बनावे ॥ ५ ॥

इन्द्रनीलप्रभालिप्तमेवं कोणचतुष्टयम् ।
कल्पद्रुमलताकोणे चतुष्कोपरिराजते ।। ६ ।।

इन्द्रनीलमणि की प्रभा से लिप्त कर उसे चौकोर बनावे । उसे चारो कोनों पर कल्पद्रुम लता से वेष्टित चतुष्क पर शोभित करना चाहिए ।। ६ ।।

शतयोजनसंसर्पिदिव्यसौरभमेदुरा ।
दिव्यप्रवालकुसुमामोदमोहितषट्पदा ।। ७ ।।

सौ योजन तक दिव्य गन्ध वहाँ फैली हुई है तथा दिव्य प्रवाल के समान पुष्प की सुगन्धि से भौंरे आकृष्ट हो रहे हैं ।। ७ ।।

मन्दमारुतसंसर्गचलत्कुसुमपल्लवा ।
पद्मरागमयस्तम्भौ पूर्वद्वारे नियोजितौ ।। ८ ।।

मन्द मन्द वायु के संसर्ग से पुष्प और वृक्षों के पल्लव हिल रहे हैं । पद्मराग-मणि से युक्त दो स्तम्भ भवन के पूर्वद्वार पर निर्मित हैं ।। ८ ।।

महानीलमणिस्तम्भौ दक्षिणे तु व्यवस्थितौ ।
महावज्रमणेः स्तम्भौ प्रतीच्यां दिशि कल्पितौ ।। ९ ।।

दक्षिण द्वार पर महानीलमणि से युक्त दो स्तम्भ बने हैं । पश्चिम द्वार पर महावज्रमणि से उट्टङ्कित दो स्तम्भ योजित है ।। ९ ।।

वैदूर्यस्तम्भयुगलमुत्तरे ह्यनुकल्पितम् ।
तप्तचामीकरक्लृप्तमण्डपस्तेषु कल्पितः ।। १० ।।

वैदूर्यमणि के दो स्तम्भ उत्तर दिशा में अनुकल्पित हैं । तपाए हुए सोने सा वहाँ का मण्डप सुशोभित है ।। १० ।।

अन्तर्बहिस्तत्र मुक्ता भान्ति तारागणा इव ।
अनेककोटिचन्द्रार्कप्रभाधिक्कारिवर्चसः ।। ११ ।।

उस मण्डप के बाहर और भीतर मुक्तामणि इस प्रकार जटित है जैसे तारों का समूह हो । करोड़ों सूर्य एवं चन्द्र की प्रभा को भी उनकी कान्ति मानों धिक्कृत कर रही है ।। ११ ।।

वेदिमध्ये तु कलशा विभान्ति मणिमेदुराः ।
मण्डपाधो मध्यभागे रत्नसिंहासनोत्तमम् ।। १२ ।।

वेदिका के मध्य में मणिजटित चिकना कलश शोभित हैं । मण्डप के नीचे मध्य भाग में उत्तम रत्न निर्मित सिंहासन शोभायमान है ।। १२ ।।

परितस्तस्य देवेशि सिंहासनपरम्परा ।
कृष्णप्रियानिवेशार्हा कृष्णे मध्यासनं गते ॥ १३ ॥

हे देवेशि ! उसके चारों ओर सिंहासनों की कतारें लगी हैं। मध्य सिंहासन पर श्रीकृष्ण के बैठ जाने पर चारो ओर कृष्ण प्रियाओं के बैठने के योग्य ये सिंहासन हैं ॥ १३ ॥

वेदिकापरितो भान्ति नानामणिमया लताः ।
मालती मल्लिका यूथी जातिचन्दनपाटली[1] ॥ १४ ॥

कदम्बपारिजाताम्रबकुलार्जुनकेसराः ।
केतकीचम्पकाशोकनीपाश्वत्थवटादिकाः ॥ १५ ॥

वेदिका के चारो ओर नाना प्रकार की मणिमय लताएँ मालती, मल्लिका, जूही, जातिचन्दन और पाटली सुशोभित हैं। कदम्ब, पारिजात, आम्र, बकुल, अर्जुन, केसर, केतकी, चम्पक, अशोक, नीप, अश्वत्थ (पीपल) एवं वरगद आदि के वृक्षों से वह उद्यान सुशोभित है ॥ १४-१५ ॥

रत्नच्छदा घनीभूताः पुष्पपल्लवमण्डिताः ।
मरुल्लीलाचलशाखारूढस्यल[2]विहङ्गमाः ॥ १६ ॥

रत्नच्छद का वृक्ष अत्यन्त हरा और फूल एवं पल्लवों से व्याप्त है। पक्षियों के झुण्ड हवा से हिलती हुई उस वृक्ष की शाखाओं पर बैठे हैं ॥ १६ ॥

रत्नकुल्याविनिर्गच्छत्सुधापूरसुतर्पिताः ।
आभान्ति पादपा दिव्या महानन्दवने प्रिये ॥ १७ ॥

हे प्रिये ! रत्न के समान सरिताओं से निकलते हुए सुधा पूरित जल से सिंचित उस दिव्य महानन्द वन के वृक्ष सुशोभित है ॥ १७ ॥

चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः ।
तासां गृहाणि दिव्यानि परितो भान्ति सुन्दरि ॥ १८ ॥

हे सुन्दरि ! उस महानन्द वन की चौबीस हजार परिचारिकाएँ हैं। उनके दिव्य भवन वहाँ चारों ओर सुशोभित हैं ॥ १८ ॥

वज्रप्रकल्पितमहाप्रकारपरिवेष्टितम् ।
महानन्दवनं वन्दे रसानन्दैकपत्तनम् ॥ १९ ॥

---

१. 'पाटला' इ० पा० ।
२. 'चल' इ० पाठः ।

वज्रनिर्मित ऊँची-ऊँची चहारदिवारी से घिरे हुए आनन्द रस के नगर महानन्द वन की मैं वन्दना करता हूँ ॥ १९ ॥

यमुनाभिमुखे यस्य गोपुरं पद्मरागजम् ।
यौगपद्योदितानेकबालार्कद्युतिभासुरम् ॥ २० ॥

पद्मरागमणि से निर्मित यमुना को अभिमुख करके जिसका गोपुर सुशोभित है वह गोपुर एक साथ उदित हुए अनेक बाल सूर्यों की प्रभा से दीप्तिमान है ॥ २०॥

कुट्टिमद्वयमीशानि यद्बहिर्भातिसुन्दरम् ।
चतुर्द्वारं चतुःस्तम्भं शोभाविभर्वभूमिकम् ॥ २१ ॥

हे ईशानि ! उस गोपुर की भूमि दो प्रकार की है जो बाहर और भीतर दोनों ही सुन्दर है। वहाँ की भूमि चार द्वारों और चार स्तम्भों से सुशोभित है ॥ २१ ॥

ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी ।
स्मरेदथो महेशानि हेमकूटवनं महत् ॥ २२ ॥

इसके बाद सीढ़ियों से होकर यमुना नदी पर जाया जाता है। अतः हे महेशानि ! इसके बाद महान् हेमकूट वन का स्मरण करना चाहिए ॥ २२ ॥

यत्र हेममयी भूमिर्हेमपादपसङ्कुला ।
तन्मध्ये कुट्टिमौ हैमौ हैमस्तम्भचतुष्टयम् ॥ २३ ॥

जहाँ की स्वर्णमयी भूमि है और सोने के समान वृक्षों से जो आकीर्ण है उस वन का ध्यान करना चाहिए। उसके मध्य में स्वर्णनिर्मित चार स्तम्भ से युक्त सोने की दो भूमियाँ हैं ॥ २३ ॥

गव्यूत्यर्द्धयुतः श्रीमान् हैममण्डपभूषितः ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः ॥ २४ ॥
तासां गृहाणि दिव्यानि हैमोपस्करवन्ति च ।
मण्डपम्परितो भान्ति तडितामिव राशयः ॥ २५ ॥

स्वर्ण जटित मण्डप से युक्त अर्ध गव्यूति (योजन) तक वह श्रीसम्पन्न है। वहाँ की भी परिचारिकाएँ चौबीस हजार हैं। उनके भवन दिव्य और स्वर्ण की वस्तुओं से युक्त हैं और वहाँ के झाड़ू भी स्वर्ण के हैं। मण्डप के चारो ओर विद्युत् के समान राशियाँ चमक रही हैं ॥ २४-२५ ॥

सौधमण्डपयोर्देवि यावत्स्यादन्तरालकम् ।
तत्सर्वं परितो व्याप्तं नारङ्गीलतिकाशतैः ॥ २६ ॥

हे देवि ! प्रासाद और मण्डप के बीच जो अन्तराल है उसमें सर्वत्र नारङ्गी की सैकड़ों लताओं से वह व्याप्त है ॥ २६ ॥

एलालविङ्गकाश्मीरसुरभ्यनिलसेवितम् ।
मृद्वीकामण्डपयुतं मातुलिङ्गलतोल्लसत् ॥ २७ ॥

उस वन में इलायची, लौंग और केसर की सुरभि से व्याप्त वायु से सेवित वातावरण है। वहाँ के मण्डप अङ्गूर की लता से युक्त हैं और मातुलिङ्ग (चकोतरा नीबू) के वृक्षों से वह वन सुशोभित हैं ॥ २७ ॥

बन्धूकैर्हयमारैश्च लवलीभिरलङ्कृतम् ।
कर्णिकारैश्च कुन्दैश्च चम्पकैश्चन्दनैर्वृतम् ॥ २८ ॥

बन्धूक (गुलदुपहरिया) हयमार (कनेर) और लवली आदि की लताओं से वह मण्डप विभूषित है। वह वन कर्णिकार, कुन्द, चम्पा और चन्दन के वृक्षों से व्याप्त है ॥ २८ ॥

नानापक्षिगणाध्वानमुखरीकृतदिङ्मुखम् ।
महानन्दमहोल्लासक्रान्तकोकिलकूजितम् ॥ २९ ॥

नाना प्रकार के पक्षियों के समूहों की ध्वनियों से उस वन की दिशाएँ मुखरीकृत हो रही हैं। कोयल की कूक से महानन्द और महान् उल्लास से उल्लसित वातावरण वाला वह वन है ॥ २९ ॥

नृत्यत्कलापिनिकर गुञ्जन्मत्तमधुव्रतम् ।
धावद्धरिणसञ्चारमुत्पतत्प्लवगद्रुमम्[1] ॥ ३० ॥

मयूरों का झुण्ड वहाँ नृत्य कर रहा है। मदमत्त भौरों के झुण्ड गुञ्जार कर रहे हैं। हिरणों के समूह छोटे-छाटे वृक्षों को कूद-फांद कर लाँघते हुए दौड़ रहे हैं ॥ ३० ॥

हेमप्राकारसंवीतं हेमकूटमिवास्थितम् ।
हेमकूटमहोद्यानं हेमगोपूरमण्डितम् ॥ ३१ ॥

सोने की चहारदिवारी से युक्त और स्वर्ण पर्वत के समान स्थित, स्वर्ण के गोपुर से मण्डित महान् हेमकूट उद्यान शोभायमान है ॥ ३१ ॥

हेमकुट्टिमविभ्राजद् बहिःपार्श्वद्वयोज्ज्वलम् ।
ततः सोपानमार्गेण गतव्या यमुना नदी ॥ ३२ ॥

---

१. 'उत्प्लवत्प्लवगद्रुमम्' इ० पा० ।

स्वर्णनिर्मित फर्श से युक्त उद्यान के बाहर और भीतर दोनों ही पार्श्व उज्ज्वल एवं कान्तिमान हैं। वहाँ से सीढ़ियों के मार्ग से होकर यमुना नदी पर जाया जाता है ॥ ३२ ॥

ततश्च तारकूटाख्यं स्मरेद्विपिनमद्भुतम् ।
नीलरत्नमयी भूमिर्भ्राजते यत्र निस्तुला ॥ ३३ ॥

इसके बाद साधक अद्भुत तारकूट नामक विपिन का स्मरण करे। उस वन की ऊबड़ खाबड़ भूमि नीले रत्न के समान भ्राजमान है ॥ ३३ ॥

कदम्बकल्पद्रुमपारिजातैरमन्दगन्धाहृतभृङ्गसङ्घैः ।
मरुल्लसत्पल्लवराजिपुष्पैर्यथा सदः सद्भिरिवातिशोभते ॥ ३४ ॥

कदम्ब, कल्पद्रुम और पारिजात आदि की मन्द-मन्द सुगन्ध से भौंरों के समूह आकृष्ट हो रहे हैं। वायु से कम्पित पल्लवों की शोभा से सम्पन्न पुष्पों के द्वारा वह विपिन अत्यन्त शोभायमान है जिस प्रकार सभा सज्जनों से अत्यन्त शोभित होती है ॥ ३४ ॥

जम्बीरैर्निम्बुकैश्चैव कोविदारार्जुनैरपि ।
श्रीपर्णैः सरसैराम्रैः पनसैर्बकुलैरपि ॥ ३५ ॥

जम्बीर, नीबू, कोविदार, अर्जुन, श्रीपर्ण, सरस, आम्र, पनस (कटहल) एवं बकुल के वृक्षों से वह विपिन शोभायमान है ॥ ३५ ॥

नागपुन्नागमन्दारैस्तथैवामलकीद्रुमैः ।
अम्लानपुष्पाभरणैः समन्तात् परिशोभितम् ॥ ३६ ॥

नाग, पुन्नाग, मन्दार (मदार) और आमलकी के वृक्ष खिले हुए पुष्पों के आभरणों से युक्त चारो ओर वहाँ शोभायमान हैं ॥ ३६ ॥

तारकूटमहं वन्दे तारप्राकारवेष्टितम् ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः ॥ ३७ ॥

ताड़ वृक्ष की चहारदिवारी से परिवेष्टित उस तारकूट वन की मैं वन्दना करता हूँ जिस स्थान की परिचारिकाएँ चौबीस हजार नियुक्त हैं ॥ ३७ ॥

तासां गृहाणि दिव्यानि तारकुट्टिममुच्चकैः ।
परितो भान्ति देवेशि दलानीव कुशेशयम् ॥ ३८ ॥

उनके दिव्य भवन तार की फर्श से बने अत्यन्त विशाल हैं। हे देवेशि ! कुशेशय (कमल) के पत्ते के समान वे भवन चारों ओर शोभायमान हैं ॥ ३८ ॥

यमुनाभिमुखे यस्य भाति गोपुरमुन्नतम् ।
गोपुरस्य बहिर्भागे राजितं कुट्टिमद्वयम् ॥ ३९ ॥

उस वन का यमुना को अभिमुख कर एक ऊँचा सा गोपुर है। गोपुर के बाहर दो प्रकार की फर्श सुशोभित हैं ॥ ३९ ॥

स्तम्भैश्चतुर्भिरुद्भ्रान्तं राजतैः स्वर्णसूत्रितैः।
ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुनानदी ॥ ४० ॥

स्वर्ण के सूत्र से वेष्टित चार दीप्तिमान खम्भों से वह सुशोभित है। उस गोपुर से निकल कर सीढ़ियों के मार्ग से यमुना नदी पर जाते हैं ॥ ४० ॥

स्मरेदथो महेशानि गारुडं वनमद्भुतम्।
गारुडै रत्ननिचयैः परिकल्पितभूमिकम् ॥ ४१ ॥

हे महेशानि ! इसके बाद अद्भुत गारुड वन का स्मरण करना चाहिए। वह वन गारुड रत्न के समूहों से निर्मित भूमि वाला है ॥ ४१ ॥

तत्र हस्तान्तरे देवि चतुष्कं मणिकल्पितम्।
पूर्वपश्चिमभागेन चन्द्रकान्तमणिद्वयम् ॥ ४२ ॥

हे देवि ! वहाँ दाहिनी ओर एक मणिनिर्मित चतुष्क (चार खम्भों से युक्त भवन) है। उसके पूर्व और पश्चिम दोनों भाग की भूमि चन्द्रकान्त मणि निर्मित है ॥ ४२ ॥

दक्षिणोत्तरभागेन पद्मरागद्वयाङ्कितम्।
अन्योन्यचुम्बितमुखं शुद्धस्वर्णगृहार्पितम ॥ ४३ ॥

उसके दक्षिण और उत्तर दोनों भाग की भूमि पद्मरागमणि से निर्मित है। एक दूसरे के आमने-सामने (मानो चुम्बन करते हुए से) भवन शुद्ध स्वर्ण से बने हैं ॥ ४३ ॥

एवं कोटिचतुष्काणि हस्तमात्रान्तरान्तरम्।
भान्ति सर्वत्र देवेशि गरुत्ममणिभूमिषु ॥ ४४ ॥

हे देवेशि ! इस प्रकार चार करोड़ हाथ के परिमाण की अवान्तर भूमि सर्वत्र गरुत्म मणि से निर्मित शोभायमान है ॥ ४४ ॥

यस्याः प्रान्तचतुष्केषु स्थलपङ्केरुहाण्यपि।
यत्परागरजःपुञ्जैररुणीक्रियतेऽम्बरम् ॥ ४५ ॥

जिसके चारों कोने पर स्थल कमल भी खिले हैं। जिसके पराग की रज के पुञ्ज से मानों समस्त अम्बर लाल रंग का हो गया है ॥ ४५ ॥

तन्मध्यदेशगः श्रीमान् भाति माणिक्यमण्डपः।
सूर्यकान्तमणिस्थम्भनीलपत्रश्रियोल्लसत् ॥ ४६ ॥

उसके मध्य भाग में, श्रीयुत माणिक्य मण्डप शोभायमान है। सूर्यकान्त मणि जटित खम्भे नीले पत्तों की शोभा से सम्पन्न है ॥ ४६ ॥

तन्मध्ये दीर्घिका दीर्घा स्वर्णपङ्कजमालिनी ।
यद्गन्धाघ्राणमत्तालिझङ्कारमुखरान्तरा ॥ ४७ ॥

उस माणिक्य मण्डप के मध्य एक विस्तृत दीर्घिका है जिसमें स्वर्ण-कमल खिले हुए हैं। उन कमलों को सुगन्ध से आकृष्ट हुए मदमत्त भौंरे दिशाओं को अपनी झंकार से झंकृत कर रहे हैं ॥ ४७ ॥

माणिक्यभूमिपतिता अपि मौक्तिकराजयः ।
न हर्षयन्ति कादम्बान् गुञ्जाशङ्काप्रतारितान् ॥ ४८ ॥

माणिक्य भूमि पर गिरी हुई मुक्ता की पङ्क्तियों के समूह गुञ्जा के फल की आशङ्का से हर्ष को उत्पन्न नहीं कर रहे हैं ॥ ४८ ॥

माणिक्यकन्दलाक्रान्ता वैदूर्यविलसच्छदाः ।
मण्डपं परितो दूराद्विभान्ति कदलीलताः ॥ ४९ ॥

माणिक्य के कारण मानों केले के वृक्षों से आक्रान्त वह वन है। वैदूर्यमणि की शोभा से आच्छन्न मण्डप के चारो ओर दूर से केले की लता शोभायमान हो रही है ॥ ४९ ॥

कदलीकाण्डमारूढा हंसा गोफेनसन्निभाः ।
तत्पत्रद्युतिसम्भिन्ना न लक्ष्यन्ते मनागपि ॥ ५० ॥

केले की शाखा पर आरूढ़ हंस गोफेन के सदृश उसके पत्ते की कान्ति से सम्मिश्रित होकर थोड़ा भी अलग नहीं दीखते हैं ॥ ५० ॥

वाय्वान्दोलितपत्रौघप्रकम्पत्कन्दलस्तनाः ।
कूजत्पक्षिगणक्रीडा मनोनयननन्दनाः ॥ ५१ ॥

हवा के झोंके से पत्तों के समूहों के हिलने के कारण केले के गुच्छे भी हिल रहे हैं। मन तथा नेत्रों को आनन्दित करने वाले पक्षियों के समूह उस केले के वृक्षों पर क्रीडा कर रहे हैं ॥ ५१ ॥

नृत्यमाना इवाभान्ति कदल्यो वारयोषितः ।
चतुर्विंशतिसाहस्रं तत्स्थानपरिचारिकाः ॥ ५२ ॥

केले के पेड़ हवा से हिलते हुए गणिका के समान मानों नृत्य करते हुए शोभायमान हैं। वहाँ की भी परिचारिकाएँ चौबीस हजार हैं ॥ ५२ ॥

मध्यवीथीनि सौधानि द्विपंक्तया भान्ति तद्बहिः ।
भ्राजन्मणिकपाटानि हसद् रत्नाजिराणि च ।। ५३ ।।

उनके भवन दो पङि्क्तयों में मध्य में गलियों से युक्त हैं। उन भवनों के दरवाजे भ्राजमान मणियों से युक्त तथा नवीन रत्नों से जटित हैं ।। ५३ ।।

तद्बहिर्भान्तिदेवेशि महोद्यानलताद्रुमाः ।
गन्धालुब्ध्य भ्रमद्भृङ्गा मरुदाघातवेपिताः[1] ।। ५४ ।।

हे देवेशि ! उन भवनों के बाहर महान् उद्यान् है जो लताओं और वृक्षों से आकीर्ण है। वायु के झोकों से हिलते हुए तथा वन के पुष्पों की सुगन्धि से आकृष्ट भौंरे इधर-उधर भ्रमित हो रहे हैं ।। ५४ ।।

मयूरमृगचक्राह्वहंसकारण्डवैः पिकैः ।
शुकपारावतक्रौञ्चसारसैर्हारिलैरपि ।। ५५ ।।

मयूर, मृग, चक्रवाक, हंस, कारण्डव, कोयल, शुक, कबूतर, क्रौञ्च, सारस और हारिल आदि पक्षियों से युक्त वह वन है ।। ५५ ।।

शाखामृगैः शशैः क्रोडैश्चातकैश्चटकैरपि ।
पतत्रिभिरनेकैश्च कुलङ्गैरुपसेवितम् ।। ५६ ।।

बन्दर, खरगोश, क्रोड, चातक और गौरया आदि अनेक प्रकार के पशु पक्षियों के समूह से व्याप्त वह वन है ।। ५६ ।।

जाड्यं मम धियो भिद्यादुद्यानं गारुडाह्वयम् ।
मुक्ताप्राकारकलितमप्राकृतजनाश्रयम् ।। ५७ ।।

वह गारुड नामक वन मेरे बुद्धि की जड़ता का नाश करे। उस वन को मुक्तानिर्मित चहारदिवारी बनी है जिसमें अप्राकृत जनों का आश्रय है ।। ५७ ।।

यमुनाभिमुखे यस्य महाद्वारं विराजते ।
माणिक्यदेहलीरम्यमिन्द्रनीलकपाटकम् ।। ५८ ।।

उस वन का महान् द्वार यमुना की ओर को सुशोभित है। माणिक्य की देहली से रमणीय तथा इन्द्रनीलमणि से जटित उसके दरवाजे हैं ।। ५८ ।।

महाद्वारबहिर्भागे कुट्टिमद्वयमद्भुतम् ।
काञ्चनं विद्रुमस्तम्भं स्वर्णमण्डपमण्डितम् ।। ५९ ।।

उस महान् द्वार के बाहरी हिस्से में दो अद्भुत फर्श निर्मित हैं। स्वर्ण एवं विद्रुम के खम्भों से युक्त स्वर्ण निर्मित मण्डप से विभूषित उसके द्वार हैं ।। ५९ ।।

---

१. 'गन्धलुभ्यद्भ्रमद्भृङ्गाः सप्त गायन्ति ते स्वराः' इ० पा० ।

यत्रस्थाः परिगायन्ति नृत्यन्ति च वराङ्गना ।
वीणामृदङ्गवाद्यादिविद्यानैपुण्यशालिनः[1] ॥ ६० ॥

नव युवतियाँ वहाँ नृत्य कर रही है और भगवान् का यशोगान कर रही हैं। वे युवतियाँ वीणा और मृदङ्ग आदि वाद्यों की विद्या में पारङ्गत हैं ॥ ६० ॥

ततः सोपानमार्गेण गन्तव्या यमुना नदी ।
पूर्वसङ्ख्यैव सर्वत्र सोपानानां प्रियंवदे ॥ ६१ ॥

उस द्वार से सीढ़ियों के मार्ग से होकर यमुना नदी पर जाया जाता है। हे प्रियंवदे ! उन सीढ़ियों की संख्या जैसे पहले कही गई है उतनी ही हैं ॥ ६१ ॥

एषु स्थानेषु देवेशि लीलार्थं पुरुषोत्तमः ।
आयाति चन्द्रिकोद्गारिविमानेन सखीवृतः ॥ ६२ ॥

हे देवेशि ! इन स्थानों में पुरुषोत्तम लीला के लिए चाँदनी को छिटकाने वाले विमान से सखियों से आवृत्त होकर आते हैं ॥ ६२ ॥

कदाचिद्रथमारुह्य सहस्राश्वयुजं हरिः ।
सखीसमाजमध्यस्थस्तल्लीलाप्रेमगर्वितः ॥ ६३ ॥

किसी समय भगवान् हरि सहस्र अश्व वाले रथ पर चढ़कर सखी समाज के मध्य विराजमान होकर उनकी प्रेम लीला में गर्वान्वित हो शोभित हुए ॥ ६३ ॥

रथाः सन्ति महादिव्याः सहस्राणि तु षोडश ।
प्रधानाः षोडशैवेषु तांस्ते वक्ष्यामि नामतः[2] ॥ ६४ ॥

वहाँ पर एक हजार सोलह महान् दिव्य रथ हैं। उनमें सोलह प्रधान रथ हैं जिन्हें मैं नाम निर्देशपूर्वक कहता हूँ ॥ ६४ ॥

चन्द्रको भद्रकश्चैव मनोजवमहाजवौ ।
जवमाली मणिस्कन्दो रोचिष्मान् भद्रसेनकः ॥ ६५ ॥
मेघनादो महानादश्चन्द्रगौरो विसर्पणः ।
नीलचक्रः कुरङ्गाह्वः स्वर्णनेमिर्विभावसुः ॥ ६६ ॥
सर्व एते सहस्राश्वयुजः काञ्चनमालिनः ।
क्षुद्रघण्टानिनादेन परिपूरितदिङ्मुखाः ॥ ६७ ॥

उन रथों के नाम हैं—१. चन्द्रक, २. भद्रक, ३. मनोजव, ४. महाजव,

१. शालिनीः ।
२. 'संशृणु' इ० पा० ।

५. जवमाली, ६. मणिस्कन्द, ७. रोचिष्मान्, ८. भद्रसेनक, ९. मेघनाद, १०. महानाद, ११. चन्द्रगौर, १२. विमर्षण, १३. नीलचक्र, १४. कुरङ्ग, १५. स्वर्ण-नेमि और १६. विभावसु। ये सोलहो रथ हजार हजार घोड़ों से युक्त काञ्चन निर्मित है। इन रथों में छोटे-छोटे घण्टे लगे हैं जिनकी रुन-झुन ध्वनि से दिशाओं के प्रान्त भाग मुखरित हो रहे हैं ॥ ६५–६७ ॥

केचिन्नीलवरूथेषु व्युप्तमौक्तिकराजयः।
विभान्ति विलसत्तारागणा इव बलाहकाः ॥ ६८ ॥

किन्हीं रथों पर नीले रंग की गद्दी और मौक्तिक की शोभा से सम्पन्न आसन्दी है। वह मुक्तामणि इस प्रकार जड़ो गया है जैसे तारागण को शोभा से शोभायमान सारसों की पंक्ति आकाश में उड़ रही हों ॥ ६८ ॥

केचिन्नीलवरूथेषु स्वर्णरेखाविचित्रिताः।
तडिदुन्मेषरुचिरा ह्रेपयन्ति घनश्रियम् ॥ ६९ ॥

किन्हीं रथों पर नीली गद्दी पर स्वर्ण के तार से विचित्र चित्रकारी बनी है जो ऐसी लगती है मानो बादलों में बिजली चमक रहा हो ॥ ६९ ॥

केचिद्रक्तवरूथेषु वज्रमण्डपमण्डिताः।
विलज्जयन्ति सन्ध्याभ्रशतभानूदयं नभः ॥ ७० ॥

किन्हीं रथों की लाल गद्दियों पर वज्र विभूषित मण्डप हैं। ये मण्डप सन्ध्या-कालीन लाल बादलों में एक सौ सूर्य के उदय से युक्त नभ की शोभा को भी लज्जित कर रहे हैं ॥ ७० ॥

अन्येऽपि स्यन्दनवरा मेघगम्भीरनिःस्वनाः।
मौक्तिकाख्ये वने दिव्ये राजन्ते राजिमण्डलैः ॥ ७१ ॥

दूसरे भी अन्य श्रेष्ठ रथ हैं जो मेघ की गम्भीर ध्वनि से निनादित हैं। इस प्रकार मौक्तिक नामक वन में दिव्य शोभा का समूह विराज रहा है ॥ ७१ ॥

महासौधाङ्गणभ्राजन्मण्डपस्यापसव्यतः[1]।
रथाः षोडश तिष्ठन्ति हयशालासु ते हयाः ॥ ७२ ॥

मण्डप के दाएँ और बाएँ ओर को महान् प्रासाद के आँगन शोभित हैं। वहाँ सोलह रथ और उनके घोड़े अश्वशाला में रहते हैं ॥ ७२ ॥

विमानान्यपि दिव्यानि व्यायतानि निजेच्छया।
विचित्रशयनस्थानसभावाटीवृतानि च ॥ ७३ ॥

१. मण्डपस्यास्य सव्यतः इ० पा०।

दिव्य विमान भी अपनी इच्छा से विस्तृत बनाए गए हैं। उनमें विचित्र शयनगृह हैं जो सभागृह से युक्त हैं ॥ ७३ ॥

मुक्तावितानशोभानि मणिस्तम्भोज्ज्वलानि च ।
कोटिचन्द्रप्रभास्पर्द्धिरत्नचित्राङ्गणानि च ॥ ७४ ॥

उस विमान की छत मुक्ता से जटित है। उस विमान के खम्भे मणि निर्मित उज्ज्वल वर्ण के हैं करोड़ों चन्द्रों की शोभा की स्पर्द्धा वाले रत्न से विचित्र उस विमान के आंगन हैं ॥ ७४ ॥

रत्नस्तम्भावलिभ्राजत्पुत्रिकाहस्तकल्पितैः ।
मणिभिर्भान्ति वेश्मानि प्रदीपावलिभिर्यथा ॥ ७५ ॥

रत्ननिर्मित खम्भों पर हस्तशिल्प द्वारा पुत्तलिकाएँ बनाई गई हैं। उनके मणिनिर्मित आवास ऐसे हैं जैसे प्रदीप की पङ्क्ति विराजमान हो ॥ ७५ ॥

अष्टादशसहस्राणि विमानप्रवराणि हि ।
तेष्वप्यष्टादशैवेह वरीयांसि द्युमन्ति च ॥ ७६ ॥

वहाँ पर उनके अट्ठारह हजार श्रेष्ठ विमान हैं। उन विमानों में भी अठारह विमान प्रधान और द्युतिमान् हैं ॥ ७६ ॥

उन्मादनं सुधास्यन्दि चन्द्रकं शतचन्द्रकम् ।
तुङ्गभद्रं मनोयानं महानीलमुदञ्चनम् ॥ ७७ ॥
वज्रकूटं कलासारं चारुचन्द्रं प्रभारुणम् ।
हेमकक्षं प्रभापूरं पुष्पगन्धमनाविलम् ॥ ७८ ॥
चित्रध्वजं[1] वज्रकूटमेवमष्टादश स्मृताः ।
स्थाप्यन्ते शिविकाख्या या विमानश्रेष्ठभूमिषु ॥ ७९ ॥

उन १८ विमान के नाम इस प्रकार कहे गए हैं—१. उन्मादन, २. सुधास्यन्दि, ३. चन्द्रक, ४. शतचन्द्रक ५. तुङ्गभद्र, ६. मनोयान, ७. महानील, ८. उदञ्चन ९. वज्रकूट, १०. कलासार, ११. चारुचन्द्र, १२. प्रभारुण, १३. हेमकक्ष १४. प्रभापूर, १५. पुष्पगन्ध, १६. अनाविल, १७. चित्रध्वज, १८. चित्रकूट। जो विमान की श्रेष्ठ भूमि है उसमें शिविका स्थापित है। ७७-७९ ॥

चिदानन्दानन्दभूम्योरेवमाप्लाव्य निम्नगा ।
प्रकाशानन्दसन्धिस्थसरस्यां विशते हि सा ॥ ८० ॥

---

१. 'चित्रकूट' इ० पा० ।

वह विमान चिदानन्द एवं आनन्द भूमि को अप्लावित करके नीचे की ओर प्रकाशानन्द की सन्धि पर विद्यमान सरावर में प्रवेश करता है ॥ ८० ॥

सरसः पुनरुद्भूय प्रकाशाभिमुखं गता।
शतयोजनमानेन ततः पश्चिमवाहिनी ॥ ८१ ॥

उस सरावर से पुनः उठकर वह प्रकाशानन्द भूमि को ओर अभिमुख होकर जाता है। उसके बाद वह सौ योजन तक पश्चिम को ओर जाता है ॥ ८१ ॥

ज्ञानभूमिमथाप्लाव्य प्रयाता भुक्तिभूमिकाम्।
प्रेमभूमिं ततः प्लाव्य प्रविष्टा पश्चिमार्णवम् ॥ ८२ ॥

तत्र ज्ञान भूमि को आप्लावित कर वह भुक्ति भूमि की आर जाता है। इसके बाद प्रेमभूमि को आप्लावित कर पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट हो जाता है ॥ ८२ ॥

आनन्दभुक्त्योरन्तराले महामाणिक्यपर्वतः।
बालार्ककोटिरुचिर उच्छ्राये शतयोजनः ॥ ८३ ॥

आनन्दभूमि और भुक्ति भूमि के अन्तराल में महामाणिक्य पर्वत है। उस पर्वत की सौ योजन की चोटी करोड़ों बाल सूर्य के उदय से मनोहर प्रतीत हो रही है ॥ ८३ ॥

यन्नितम्बभवा नद्यश्चतस्रो यमुनां गताः।
प्रविशन्ति सुधासिन्धुं सुषुम्णा सिरसा सिता ॥ ८४ ॥

इस माणिक्य पर्वत की चोटी से चार नदियाँ निकलती हैं जो यमुना में जाती हैं। फिर वे सुधासमुद्र में वैसे ही प्रवेश कर रही है जैसे सुषुम्णा नाडीं और श्वेत सिरसा प्रविष्ट होती है [?] ॥ ८४ ॥

निम्लोचा नामतः ख्याताः सर्वाः पीयूषवाहिनीः।
कदाचित् क्रीडते तत्र निर्झरध्वनिनादिते ॥ ८५ ॥

ये सभी नदियाँ अमृत को बहाने वाली निम्लोचा नाम से (शरीर में) प्रसिद्ध हैं। किसी समय वहाँ ध्वनि से कल-कल निनाद करने वाले झरने पर वे खेलते है ॥ ८५ ॥

सखीसहस्रसङ्कीर्णविमानवरमाश्रितः।
गिरिद्रोणीषु रम्यासु भगवान्पुरुषोत्तमः ॥ ८६ ॥

भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उन पर्वत की रम्य चोटियों पर सहस्रों सखियों से व्याप्त श्रेष्ठ विमान पर अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं ॥ ८६ ॥

एवं चानेकलीलाभी रसरूपाभिरन्वहम् ।
क्रीडते हि रसः साक्षात् कृष्णः परमपूरुषः ।। ८७ ।।

इस प्रकार रस रूप होकर अनेक लीलाओं के द्वारा प्रतिदिन साक्षात् परम पुरुष श्रीकृष्ण रस रूप से क्रीडा करते हैं ।। ८७ ।।

एतत्ते सर्वमाख्यातमनापृष्टमपि प्रिये ।
स्मृत्यवस्थोदये कृष्णस्त्रीणामेतद्धितं यतः ।। ८८ ।।

।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे
चतुश्चत्वारिंशं पटलम् ।। ४४ ।।

—·—*—·—

हे प्रिये ! यह सब कुछ आपके न पूँछने पर भी हमने आपसे बताया है क्योंकि स्मृति अवस्था के उदय होने पर श्रीकृष्ण स्त्री रूप से विद्यमान होकर क्रीडा करते हैं ।। ८८ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के चौवालीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४४ ।।

——*——

अथ पञ्चचत्वारिंशं पटलम्

शिव उवाच—

स्मरेदथो महादेवि ब्रह्मनालश्रियं शुभाम् ।
'ब्रह्मनालानन्दवनाद्दण्डाकारतया स्थितः ॥ १ ॥

शिव ने कहा—

हे महादेवि ! इसके बाद साधक को ब्रह्मनाल की शुभ कान्ति का स्मरण करना चाहिए। ब्रह्मनाल वन आनन्द वन की अपेक्षा दण्डाकार रूप में स्थित है ॥ १ ॥

मार्ग एव महेशानि निजालयनिवेशने ।
गोपुरद्वारमारभ्य प्राकारदशकावधि ॥ २ ॥

हे महेशानि ! अपने घर में प्रवेश के लिए मार्ग में ही गोपुर द्वार से आरम्भ करके दश चहारदिवारी की अवधि है ॥ २ ॥

विंशतिर्योजनानां च ब्रह्मनाल उदाहृतः ।
पार्श्वयोरुभयोस्तस्य षष्टयुत्तरशतं प्रिये ।
सौधानि सन्ति देवेशि बहिः कुट्टिमवन्ति च ॥ ३ ॥

ब्रह्मनाल का परिमाण बीस योजन का कहा गया है। हे प्रिये ! उसके दोनों ओर एक सौ साठ भवन हैं। हे देवेशि ! उस भवन के बाहर की भूमि पक्की बनी हुई है ॥ ३ ॥

तत्तत्प्राकारसंवीत तत्तदुद्यानमण्डलम् ।
तत्तद्द्वारप्रवेशेन गम्यते ब्रह्मनालतः ॥ ४ ॥

एक-एक भवन की चहारदिवारी बनी है और उनका अपना उद्यान का घेरा भी है। उन उन प्रवेश द्वारों से ब्रह्मनाल तक जाया जाता है ॥ ४ ॥

प्रतिप्राकारामीशानि प्रवेशे ब्रह्मनालतः ।
सव्यापसव्ययोर्द्वारद्वयमुद्यत्प्रभारुणम् ॥ ५ ॥

हे ईशानि ! ब्रह्मनाल तक प्रवेश द्वार में प्रतिमाओं के आकार बने हैं। बाएँ और दाएँ दोनों द्वार उदयकालीन सूर्य की प्रभा के समान लाल रंग के हैं ॥ ५ ॥

---

१. ब्रह्मनालोनन्दबनात्' इ० पा० ।

स्वर्णप्राकारसंवीता महाचम्पकवाटिकाः ।
अनेकपक्षीनिनदा बहुलामोदमेदुराः ॥ ६ ॥

यहाँ स्वर्ण निर्मित चहारदिवारी से युक्त एक महाचम्पक वन की बाटिका है । यह वाटिका अनेक प्रकार के पक्षियों के कलरव से युक्त है । इस वाटिका में अनेक प्रकार की सुगन्ध फैली हुई है ॥ ६ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा भान्ति चम्पककोरकाः ।
दीपा इव निवातस्था भृङ्गैर्दूरतरोज्झिताः ॥ ७ ॥

चम्पा के पुष्प की कलियाँ तपाए हुए सोने की कान्ति के समान दीप्तिमान हैं । वायु से न हिलने वाली लौ के समान उन कलियों को भौंरे चमक के कारण उसका दूर से ही परित्याग कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पूर्णशारदराकेशानुकारिकुसुमोज्ज्वलाः ।
राजन्ते यत्र बहुशो दिव्याश्चम्पकवीरुधः ॥ ८ ॥

पुष्पों की उज्ज्वल कान्ति मानों शरद के पूर्ण चन्द्र का अनुकरण कर रही है । यहाँ दिव्य चम्पा के इस प्रकार बहुत से वृक्ष सुशोभित हैं ॥ ८ ॥

चम्पकोद्यानकुञ्जेषु दिव्यहर्म्यकृतास्पदाः ।
चतुर्दशसहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः ॥ ९ ॥

चम्पा के उद्यान के कुञ्जों में दिव्य भवन युक्त वन हैं । वहाँ चौदह हजार परिचारिकाएँ कार्य रत हैं ॥ ९ ॥

कदाचित् क्रीडते तत्र श्रीकृष्णः स्वसखीवृतः ।
मध्ये तारागणस्येव पूर्णशारदचन्द्रमाः ॥ १० ॥

अपनी सखियों से आवृत्त होकर कभी श्रीकृष्ण यहाँ क्रीडा करते हैं । उस समय उनकी शोभा उसी प्रकार होती है जैसे तारों के मध्य शरदकालीन पूर्णचन्द्र हों ॥ १० ॥

तदन्तः संस्मरेद्देवि वनं कल्पद्रुमाकुलम् ।
महावैदूर्यशालेन समन्तात् परिवेष्टितम् ॥ ११ ॥

हे देवि ! उसके भीतर कल्पद्रुम से व्याप्त वन का स्मरण करना चाहिए । महा वैदूर्य के शाल से वह वन चारों ओर से घिरा हुआ है ॥ ११ ॥

कल्पद्रुकुसुमामोदमोदमाना शिलीमुखाः ।
नान्यगन्धमपेक्षन्ते पूर्णकामा यथेतरत् ॥ १२ ॥

भौंरे उन कल्पद्रुप के पुष्पों की सुगन्ध में इतने मदमत्त हैं कि वे पूर्णकाम होकर अन्य सुगन्धि की अपेक्षा ही नही रखते ॥ १२ ॥

कल्पद्रुकुसुमास्वादुरसव्यासक्तबुद्धयः ।
स्वां वाचं मुद्रयन्तीह ज्ञाततत्वा इवालयः ॥ १३ ॥

कल्पद्रुम के पुष्पों के स्वादिष्ट रस में आसक्त बुद्धि वाले वे भौंरे अपनी वाणी इस प्रकार निकाल रहे हैं जैसे वे तत्त्व के ज्ञाता हैं ॥ १३ ॥

महामरकतक्लृप्तस्थलीपतितमौक्तिका ।
यथा तामसभक्तस्य बुद्धिः प्रेमाङ्कुरोज्ज्वला ॥ १४ ॥

महामरकत मणि से बनी हुई भूमि पर मौक्तिकों के गिरने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे तामस प्रकृति भक्त की बुद्धि में उज्ज्वल प्रेम का अङ्कुर उग आया हो ॥ १४ ॥

मधुश्रीमाधवश्रीकः स्त्रीस्कन्धार्पितसद्भुजः ।
पुष्पकल्पितवासःश्रीर्भूषाश्रृङ्गारमण्डितः ॥ १५ ॥

इस प्रकार भ्रमरों की शोभा और माधव की शोभा स्त्री के कन्धे पर अपनी सुन्दर भुजलता को डाले हुए सी प्रतीत होती है। मानों पुष्पों के वस्त्र पहने श्री भूषा एवं श्रृङ्गार से मण्डित मालूम पड़ती है ॥ १५ ॥

वसन्तः सन्ततं यत्र चरतेऽसौ रसात्मकः ।
कल्पद्रुममहाकुञ्जवीथिषु प्रेमविह्वलः ॥ १६ ॥

जहाँ पर रसात्मक वसन्त सदैव रहता है। यह वसन्त कल्पद्रुम की महाकुञ्ज वीथियों में प्रेम विह्वल होकर विचरण करता है ॥ १६ ॥

कामकोदण्डकुटिलभ्रूलताचारुविभ्रमः ।
कुङ्कुमारक्तवसनः साचीक्षणविचक्षणः ॥ १७ ॥

कामदेव के धनुष रूप उस वसन्त की कुटिल भ्रूलता, सुन्दर एवं विभ्रम युक्त है। कुङ्कुम से लाल वसनों को धारण करने वाला वसन्त का ईक्षण विचित्र है ॥ १७ ॥

दिव्यपुष्परजः पुञ्जधूसरः सस्मिताननः ।
कल्पकोद्यानकुञ्जेषु दिव्यहर्म्यकृतालयाः ॥ १८ ॥

पुष्पों की रज दिव्य है, उस रज के समूह से धूसरित किन्तु मुस्कुराते हुए नयनों वाला वसन्त है। कल्पद्रुम के उद्यान के कुञ्जों में दिव्य प्रकार के प्रासाद बने हुए हैं ॥ १८ ॥

त्रयोदश सहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः ।
कदाचिदत्र भगवान्कृष्णः कमललोचनः ॥ १९ ॥

वहाँ तेरह हजार परिचारिकाएँ हैं। किसी समय कमल लोचन भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ क्रीडा करते हैं ॥ १९ ॥

वसन्तलीलारसिको रसात्मोपवने चरन् ।
इन्दिरासुन्दरीमुख्यप्रियाविभ्रममोहितः ॥ २० ॥

श्रीकृष्ण वसन्त लीला के रसिक हैं और रसात्मक उपवन में विचरण करने वाले हैं। इन्दिरा और सुन्दरी उनकी मुख्य प्रिया हैं। जिनके विभ्रम विलास पर वे मोहित हैं ॥ २० ॥

प्रियाकटाक्षचषकैरापीत इव सर्वतः ।
आवृष्ट इव पुष्पौघैः सखीमुक्तैः समन्ततः ॥ २१ ॥

सर्वतः वह मानो प्रिया के कटाक्षरूप प्यालों से रस का पान कर रहे हैं। पुष्पों के समूहों पर जैसे भौंरे रहते हैं वैसे ही सखियों से घिरे हुए श्रीकृष्ण है ॥ २१ ॥

अभिवर्षन् स्वयमपि सखीः कुसुमवृष्टिभिः ।
मुखामोदसुसक्तालिझङ्कारोद्विग्ननेत्रया ॥ २२ ॥

स्वयं भी सखियाँ कुसुमों की वर्षा करते हुए अपने मुख की सुगन्धि से आसक्त भौंरों की झंकार से वे मानों उद्विग्न नेत्रों वाली हो रही हैं ॥ २२ ॥

गाढमालिङ्गितः कण्ठे स्वामिन्या पद्महस्तया ।
प्रियाभिः प्रेमयुक्ताभिर्जलयन्त्रविनिर्गतैः ।
कुङ्कुमाम्भोभिरासिक्तो जातः पीताम्बरो यथा ॥ २३ ॥

स्वामिनि के करकमलों द्वारा कण्ठ में श्रीकृष्ण गाढालिङ्गित हैं। जल-यन्त्र से निकलने वाली प्रेम युक्त प्रियाओं के द्वारा ऐसा प्रतीत होता है मानों कुङ्कुम के जल से सींचा हुआ पिताम्बर हो ॥ २३ ॥

गजीभिरिव मातङ्गो रमते रतिलम्पटः ।
अनेकरसयुक्तासु क्रीडासु कृतकौतुकः ॥ २४ ॥

मानो रति लम्पट मत्त गज अपनी प्रिया हथिनियों के साथ रमण कर रहे हैं। अनेक रसों से युक्त क्रीडाओं में वे अनेक कौतुक करने वाले है ॥ २४ ॥

तदन्तः संस्मरेद्दिव्यां मन्दारद्रुमवाटिकाम् ।
दिव्यप्रवालरत्नोद्यत्प्राकारपरिवेष्टिताम् ॥ २५ ॥

उस वसन्त के अन्दर दिव्य मन्दार वृक्ष की वाटिका का स्मरण करना चाहिए। वह वाटिका दिव्य प्रवाल एवं जाज्वल्यमान रत्नों की चहारदिवारी से परिवेष्टित है। २५ ॥

महानीलमणिभ्राजद्भूमिकाभासमाश्रिताम्[1] ।
नृत्यन्ति यत्र शिखिनो नित्यमम्भोदशङ्कया ।। २६ ।।

महानीलमणि से भ्राजमान भूमिका के आभास में आश्रित होकर जहाँ मयूर नित्य बादलों की आशङ्का से नृत्य कर रहे हैं ।। २६ ।।

मन्दारमकरन्देषु विलीनमतयोऽलयः ।
विस्मरन्त्यन्यपुष्पाणि यथा ब्रह्मरसप्लुताः ।। २७ ।।

मन्दार पुष्प के मकरन्दों पर विलीन हुए भौंरे जैसे ब्रह्म रस से आप्लावित जीव अपने को भूल जाता है वैसे ही वे अन्य पुष्पों को भूल जाते हैं ।। २७ ।।

यत्रास्ते सततं राका पूर्णचन्द्रसमन्विता ।
कुहूः कोकिलचञ्चुस्था केवलं यत्र लभ्यते ।। २८ ।।

जहाँ पर पूर्णचन्द्र से युक्त सदैव पूर्णिमा विद्यमान रहती है और अमावस तो मात्र केवल कोयल को कूक से ही प्राप्त होती है ।। २८ ।।

मन्दारमन्दसौरभ्यलुब्धा रोलम्बराजयः ।
न क्वापि गन्तुमिच्छन्ति दानलुब्धा इवार्थिनः ।। २९ ।।

मन्दार पुष्प की मन्द सुरभि से लुभाए हुए भ्रमरों की श्रेणियाँ उसी प्रकार अन्य स्थान पर नहीं जाना चाहती जैसे दान लेने के लोभी याचक कहीं और नहीं जाना चाहते ।। २९ ।।

शुक्तिश्रीति शुचिश्रीति यस्य वामे मदालसे ।
मन्दारोद्यानसञ्चारी ग्रीष्मर्तुर्मदविह्वलः[2] ।। ३० ।।

जिसके मद से आलस्य युक्त वाम भाग में शुक्तिश्री और शुचिश्री विद्यमान हैं उस मन्दार पुष्प के उद्यान में वे सञ्चरण करती है। वहाँ मद विह्वल ग्रीष्म ऋतु होता है ।। ३० ।।

मन्दारोद्यान कुञ्जेषु दिव्यहर्म्यकृतास्पदाः ।
द्वादशैव सहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः ।। ३१ ।।

वहाँ बारह हजार मन्दार पुष्प के उद्यानों में दिव्य प्रासादों का समूह है। परिचारिकाएँ रहती हैं ।। ३१ ।।

मन्दारकुञ्जक्रीडार्थं कदाचित्प्रमदागणैः ।
मूलभूमेः समुत्थाय पश्चिमद्वारमागतः ।। ३२ ।।

---

१. 'भासिनोक्तताम्' इ० पा० ।
२ 'ग्रीष्मर्तुस्तिग्मलोचनः' इ० पा० ।

प्रविशत्यरविन्दाक्षः क्रीडते रतिलालसः ।
महाकामकलाभिज्ञः कामात्मा पुरुषोत्तमः ।। ३३ ।।

मन्दार कुञ्ज में प्रमदाओं के समूह के साथ क्रीडा के लिए किसी समय मूलभूमि से उठकर पश्चिमद्वार के मार्ग से रति की लालसा वाले अरविन्दाक्ष, महान् कामकला के ज्ञाता, कामात्मा, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं ।। ३२–३३ ।।

ततस्तदन्तरुद्यानं पारिजातमयं स्मरेत् ।
महामाणिक्यशालेन समन्तात्परिवेष्टितम् ।। ३४ ।।

उसके बाद उसके अन्दर परिजातमय उद्यान का स्मरण करना चाहिए। वह परिजातमय उद्यान महामाणिक्यरूप शाल वृक्ष से चारो ओर से घिरा हुआ है ।। ३४ ।।

चन्द्रकान्तशिलाक्लृप्तस्थलीकमतिसुन्दरम् ।
यत्रेन्दुरश्मयः स्पर्शात्सुधाकणमवापिताः ।। ३५ ।।

चन्द्रकान्तमणि की शिला से बनी भूमि अतिसुन्दर है । जहाँ पर चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से अमृत के कण उद्भूत हो जाते हैं ।। ३५ ।।

कुट्टिमा यत्र भूयांसो विस्फुरद्रत्नमण्डपाः ।
कुञ्जगुञ्जन्मधुकरव्रातझङ्कारनादिताः ।। ३६ ।।

वहाँ की बहुत सी भूमि चमकीले रत्नों के मण्डप से युक्त है । वहाँ के कुञ्ज गुञ्जारयुक्त भ्रमरों के समूह की झंकार से निनादित है ।। ३६ ।।

सरस्यो[1] विलसत्स्वर्णसहस्रदलपङ्कजैः ।
खेलन्मरालमिथुनैर्गन्धवासितपादपैः ।। ३७ ।।

वहाँ के सरोवर स्वर्ण के सहस्र दल वाले कमलों से सुशोभित हैं । क्रीडा करते हुए हंस के जोड़े से युक्त वह सरोवर सुगन्धि युक्त वृक्षों से समन्वित है ।। ३७ ।।

निश्चलालिसमाक्रान्तपत्रजालैः समन्तत ।
विलोकयन्ति वात्यन्तं नेत्रैरुन्मेषवर्जितैः ।। ३८ ।।

निश्चल भ्रमरों से समाक्रान्त एवं पत्र के जालों से युक्त कमलों को चारो ओर अपलक नेत्रों से सखियाँ अत्यन्त रूप से देख रही है ।। ३८ ।।

पारिजातवनीकुञ्जदिव्यसौधकृतालयाः ।
एकादशसहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः ।। ३९ ।।

---

१. 'सरसीषु लसत्' इ० पा० ।

पारिजात वन के कुञ्ज दिव्य हैं और वहाँ गृह एवं उज्ज्वल प्रासाद बने हैं। जिनमें ग्यारह हजार परिचारिकाएँ रहती हैं ॥ ३९ ॥

पारिजातवनक्रीडारसलुब्धेन चेतसा ।
कदाचिदत्र भगवान् समायाति सखीगणैः ॥ ४० ॥

पारिजात वन में क्रीडा का रस प्राप्त करने के मन से किसी समय भगवान् श्रीकृष्ण सखीसमुदाय के साथ आते हैं ॥ ४० ॥

कृष्णं सरोवराभ्यासमणिकुट्टिमसंस्थितम् ।
भूषाम्बरादिभिः सख्यः[1] कौसुम्भैर्भूषयन्ति हि ॥ ४१ ॥

पारिजात वन में सरोवर के निकट मणिनिर्मित फर्श पर कृष्ण को सखियाँ वस्त्र एवं आभूषण तथा पुष्प निर्मित आभूषणों से सजाती हैं ॥ ४१ ॥

हारकुण्डलकेयूरवलयोत्तुङ्गमौलिभिः ।
उष्णीषकञ्चुककटिबन्धरम्योत्तरीयकैः ॥ ४२ ॥

उन्हें वे गले में हार, कानों में कुण्डल, बाजू में केयूर और हाथ में कड़े एवं ऊँचे मुकुटों द्वारा सजाती हैं। सिर में पगड़ी, कञ्चुक, कटिबन्ध और मनोहर उत्तरीय आदि भी पहनाती हैं ॥ ४२ ॥

पौष्पैः कृतश्रीः भगवान् सखीवृन्दान्तरे चरन् ।
दिव्यपुष्पमयं वेत्रमादधानः कराम्बुजे ॥ ४३ ॥

पुष्प से सजे भगवान् कृष्ण सखी समुदाय के मध्य विचरण करते हुए अपने कर कमलों में दिव्य पुष्प निर्मित छड़ी धारण किए हुए हैं ॥ ४३ ॥

वमद्भिरिव सत्प्रेम विकुञ्चद्भ्रूकुटीतटैः ।
अभिवर्षन्निव सखीवृन्दं लोचनपङ्कजैः[2] ॥ ४४ ॥

अपनी टेढ़ी भौंहों के प्रान्तभाग से मानों सत् प्रेम का वमन करते हुए सखियों का समूह अपने श्रीकृष्ण पर मानों लोचन पङ्कजों की वर्षा कर रही हैं ॥ ४४ ॥

स्वकरालूनकुसुमाभूषाभिर्भूषयन्[3] सखीः ।
हसितो हासयन्सर्वा लीलागतिविचक्षणः ॥ ४५ ॥

सखियाँ अपने करकमलों में पुष्पों के आभूषण से विभूषित होकर लीला पूर्वक

---

१. 'कौसुमैः' इ० पा० ।

२. 'अभिवर्षन्तीब सखीवृन्दलोचनषट्पदः' इ० पा० ।

३. 'कुसुमाक्रीडाभिः' इ० पा० ।

गमन से विचक्षण प्रतीत होने वाली वे सभी एक दूसरे को हँसाती और हँसती हैं ॥ ४५ ॥

गीयमानयशा गायन् रमते कुञ्जभूमिषु ।
स्मरेदतस्तदन्तःस्थां हरिचन्दनवाटिकाम् ॥ ४६ ॥

वे कुञ्जभूमियों पर भगवान् श्रीकृष्ण के यश का गान करते हुए रमण कर रही है। अतः उनके अन्तःकरण में पारिजात की वाटिका का स्मरण करना चाहिए ॥ ४६ ॥

गोमेदकमहारत्नरचितस्वीयगोपुराम् ।
शुद्धस्फटिकविभ्राजद्भूमिकाकिरणोज्ज्वलाम् ॥ ४७ ॥

वह पारिजात पुष्प की वाटिका गोमेद एव महारत्न से जटित एक गोपुर से युक्त है। वहाँ शुद्ध स्फटिक मणि से जाज्वल्यमान भूमि में से उज्ज्वल किरणें निकल रही है ॥ ४७ ॥

मरुल्लसत्पल्लवराजिराजितद्रुमावलीनां प्रतिबिम्बभूमिषु ।
विहङ्गमाः पक्वफलाशया मुहुश्चञ्चूपुटाघातविधिं वितेनिरे ॥ ४८ ॥

इस वाटिका की भूमि में हवा से हिलते हुए पल्लवों की पङ्क्तियों की शोभा से सम्पन्न वृक्षों की कतारे प्रतिबिम्बित हो रही हैं। उन वृक्षों के प्रतिबिम्ब को देखकर पके हुए फल समझकर पक्षी गण बारम्बार अपनी चोंचो से आघात कर रहे हैं। ४८ ॥

क्वचिद्विहङ्गाः स्फटिकावनीतले निरीक्षमाणः प्रतिबिम्बविभ्रमम् ।
स्वजातिपक्षिव्रजशङ्किताशयाः कूजन्ति स्वं स्वं स्वरमुच्चकैर्मुहुः ॥ ४९ ॥

स्फटिक मणि की भूमि पर कहीं कहीं पक्षि गण अपने ही प्रतिबिम्ब को देखते हुए भ्रामत हो रहे हैं। वे पक्षिगण प्रतिबिम्ब में अपनी ही जाति के पक्षिगण के समूह की आशङ्का से बारम्बार अपने-अपने उच्च स्वर से कूजन कर रहे हैं ॥ ४९ ॥

हरिचन्दनस्फुरदमन्दसुन्दरस्फटिकावनीतला वनविहारिणः ।
पवनोल्लसद्विटपविष्टराः खगा विवदन्ति पण्डितगणा इवोद्भटाः ॥ ५० ॥

उस पारिजात की वाटिका में स्फटिक की भूमि पर पारिजात के वृक्ष प्रतिबिम्बित होकर अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रहे हैं। उस भूमि पर वन में विहार करने वाले पक्षिगण, जिनका निवास पवन से हिलाती हुई शाखाओं पर है, उसी प्रकार काँव-काँव कर रहे जैसे उद्भट विद्वान् एक दूसरे से विवाद कर रहे हों ॥ ५० ॥

मणिकुट्टिमास्फुरदमन्दरश्मयः परितो विभान्ति कृतरत्नमण्डपाः ।
शुककोकिलभ्रमरहंससारसैः समुपास्यमानरमणीयमध्यमाः ॥ ५१॥

मणिनिर्मित फर्श पर चमकती हुई रश्मियाँ ऐसी निकल रही हैं मानों चारो ओर एक मण्डप का निर्माण कर रही हों। उस मण्डप का मध्यभाग मानों शुक, कोयल, भ्रमर, हंस और सारसों से उपासित एवं रमणीय है ॥ ५१ ॥

मुखराट्टहासपरिपूरिताम्बरः मुनभोनभस्थरमणीविराजितः ।
ऋतुराज एव किल प्रावृडित्ययं मदघूर्णमाननयनो विराजते ॥ ५२ ॥

मुखर अट्टहास से अम्बर को पूर्ण करने वाली अप्सराओं से वहाँ का नभ शोभायमान है। मद से मस्त नयन वाला ऋतुराज-वसन्त ही मानो इस वर्षा के रूप में शोभित है ॥ ५२ ॥

मृदुमन्दगर्ज्जितपयोदमण्डलीघटनान्धकारपरिलब्धवर्चसः ।
परितो भ्रमन्ति वनकुञ्जमण्डलेष्वतिनीलरत्ननिभकीटकोटयः ॥ ५३ ॥

मृदु एवं मन्द-मन्द गर्जना करने वाले मेघों के मण्डल की घटा छा जाने से अन्धकार हो गया है। वन के कुञ्ज मण्डल में अत्यन्त नीले रंग के समान करोड़ों कीड़े चारो ओर भ्रमण कर रहे हैं ॥ ५३ ॥

हरिचन्दनद्रुमनिकुञ्जमण्डलेष्वतिदिव्यरत्नपरिचारिकागृहाः ।
परितो विभान्त्ययुतसंख्यया शिवे ज्वलदग्निबीजरचिताङ्गणश्रियः॥५४॥

पारिजात वाटिका के निकुञ्जों के मण्डलों में अत्यन्त दिव्य रत्नों से बने परिचारिकाओं के गृह हैं। हे कल्याणकारिणि ! जाज्वल्यमान अग्नि बीज की शोभा को धारण करने वाले आँगन में वहाँ अयुत (१० हजार) पारिचारिकाएँ चारो ओर शोभायमान है ॥ ५४ ॥

अत्रापि क्रीडते कृष्णः स्वामिन्यादिसखीवृतः ।
नानाक्रीडाविनोदैश्च परिहासरसादिभिः ॥ ५५ ॥

यहाँ भी कृष्ण स्वामिनी आदि सखियों से घिरे हुए क्रीड़ा करते हैं। वे नाना प्रकार की क्रीड़ा एवं विनोद से परिहास करते हुए आनन्द रस से परिपूर्ण हैं ॥ ५५ ॥

तदन्तः संस्मरेद्दिव्यमुद्यानं सुमनोहरम् ।
वैडूर्यलतिकाखण्डमण्डितं नन्दनं दृशाम् ॥ ५६ ॥

उसके भीतर दिव्य एवं सुमनोहर उद्यान का स्मरण करना चाहिए। वह उद्यान

वैडूर्यमणि की लता के खण्डों से सजा हुआ नारियों को आनन्द देने वाला है ॥ ५६ ॥

यत्र वैडूर्यवृक्षेषु प्रवालप्रतिबिम्बजा ।
काप्यभिख्या दृगम्भोजमोदहेतुः प्रवर्तते ॥ ५७ ॥

जहाँ वैडर्यमणि के वृक्षों में प्रवाल (मूँगे) का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह छवि किन्हीं युवतियों के नयन कमलों को खिला रही है ॥ ५७ ॥

सूर्यकान्तमणिक्लृप्तदिव्यप्राकारमण्डितम् ।
सन्धिवर्ज्जितमाणिक्यशिलाकल्पितभूमिकम् ॥ ५८ ॥

सूर्यकान्त मणि से निर्मित दिव्य चहारदिवारी से घिरे हुए दिव्य उद्यान का स्मरण करे । बिना जोड़े हुए माणिक्य की शिला से यहाँ की भूमि निर्मित है ॥५८ ॥

सूर्यकान्तमणिच्छायाविद्धमाणिक्यभूमिकम् ।
जातारुणोदयमिव भ्रममुत्पादयत्यहो ॥ ५९ ॥

उस माणिक्य का भूमि में सूर्यकान्त मणि की छाया पड़ने से ऐसा भ्रम उत्पन्न कर रहा है कि मानो अरुणोदय हो रहा हो ॥ ५९ ॥

वैडूर्यद्रुमकुञ्जेषु दिव्यसौधकृतालयाः ।
सहस्राणि नव प्रोक्ताः तत्स्थानपरिचारिकाः ॥ ६० ॥

वैडूर्य के वृक्षों के कुञ्जों में दिव्य भवनों की श्रेणी बनी हुई है । उस स्थान की परिचारिकाएँ नौ हजार हैं ॥ ६० ॥

तदन्तः संस्मरेद्दिव्यां महामौक्तिकवाटिकाम् ।
विस्फुरत्पुष्परागीयप्राकारपरिवेष्टिताम् ॥ ६१ ॥

उस दिव्य उद्यान के भीतर महामौक्तिक की वाटिका का स्मरण करना चाहिए । यह पुष्पों की रश्मियों से दीप्तिमान् चहारदीवारी से घिरा हुआ है ॥ ६१ ॥

माणिक्यपुष्पविद्योतन्महामुक्तालतावृताम् ।
लतासु विस्फुरद्दिव्यवैडूर्यवृन्तभासुराः ॥ ६२ ॥

यह चहारदिवारी माणिक्य के पुष्पों से शोभायमान तथा महामुक्ता की लताओं से आवृत्त है । उन लताओं में दिव्य वैडूर्य की दीप्तिमान कलियाँ चमक रही हैं ॥ ६२ ॥

महावज्रमणिभ्राजद्भूमिकाकिरणप्लुताम् ।
कुञ्जेषु पक्षिनिनदप्रतिध्वानमनोहराम् ॥ ६३ ॥

महावज्रमणि से दीप्तिमान भूमि की किरण से मिलकर वह भूमि अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रही है। कुञ्जों में पक्षियों के कलरव से रमणीय वातावरण प्रतिध्वनित हो रहा है ॥ ६३ ॥

इषो[1]र्जलक्ष्मीलावण्यप्रवाहपतितान्तरः ।
मल्लिकामालतीपुष्पभूषावासःपरिच्छदः ॥ ६४ ॥

श्री लक्ष्मी के लावण्य का प्रवाह उसके अन्दर विद्यमान है। वहाँ के कुञ्ज मल्लिका एवं मालती के पुष्पों के मानो वस्त्रों से आच्छादित है ॥ ६४ ॥

स्मितशोभिमुखाम्भोजश्चम्पकद्युतिपाण्डुरः ।
तत्र सञ्चरते साक्षाद्रसरूपी शरदृतुः ॥ ६५ ॥

इषत स्मित की शोभा से युक्त सखियों के मुख कमल की द्युति चम्पक पुष्प के समान श्वेत है। वहाँ पर इस प्रकार मानों रस रूपी शरदृतु साक्षात रूप से विचरण कर रही है ॥ ६५ ॥

मुक्तानिकुञ्जभुवनक्रीडारसवशंवदाः ।
सहस्राण्यष्ट देवेशि वसन्ति परिचारिकाः ॥ ६६ ॥

हे देवेशि ! मुक्तामणि के निकुञ्जों से युक्त मण्डपों में क्रीडा रस से वशीभूत हुई आठ हजार परिचारिकाएँ वहाँ रहती हैं ॥ ६६ ॥

क्रीडतेऽत्रापि भगवान् कृष्णः कमललोचनः ।
स्वामिन्यादिसखीवृन्दसभाक्रीडाकुतूहलः ॥ ६७ ॥

यहाँ भी कमलनयन भगवान् कृष्ण स्वामिनी आदि सखी समूहों के साथ सभा में कौतूहल युक्त क्रीडा करते हैं ॥ ६७ ॥

तदन्तः संस्मरेद्दिव्यां प्रबालद्रुमवाटिकाम् ।
गरुत्मन्मणिशालेन निगूढां परितः प्रिये ॥ ६८ ॥

उसमें दिव्य प्रवाल द्रुम वाटिका का स्मरण करना चाहिए। हे प्रिये ! गरुत्म मणि के शाल से वह वाटिका चारो ओर घिरी हुई है ॥ ६८ ॥

पुष्परागशिलावल्प्तवसुधातलमण्डिताम् ।
मुक्तास्तबकसंशोभिप्रवालद्रुमशोभिताम् ॥ ६९ ॥

पुष्पराग की शिला से निर्मित श्वेत भूमि सजी हुई है। मुक्तामणि के गुच्छे से शोभित प्रवाल के वृक्षों से वह द्युतिमान है ॥ ६९ ॥

---

१. 'बिस्फूर्जलक्ष्मी' इ० पा० ।

स¹हसहस्यश्रीभ्यां तु नारीभ्यामुपलालितः ।
हेमन्तस्तत्र चरते लीलाखेलकृतादरः ॥ ७० ॥

यह वाटिका नारियों की शोभा से सम्पन्न है। जहाँ पर लीला पूर्वक खेल करते हुए हेमन्त ऋतु विद्यमान है ॥ ७० ॥

प्रवालोद्यानकुञ्जस्थरत्नसौधनिकेतनाः ।
सप्त चैव सहस्राणि वसन्ति परिचारिकाः ॥ ७१ ॥

प्रवाल के उद्यान कुञ्जों में रत्नों से निर्मित प्रासाद बने हैं। वहाँ सात हजार परिचारिकाए रहती हैं ॥ ७१ ॥

सूर्यकान्तमणिभ्राजल्लताकुसुमपल्लवम् ।
तदन्तः संस्मरेद्दिव्यमुद्यानं कोटिसूर्यभम् ॥ ७२ ॥

सूर्यकान्तमणि से दीप्तिमान लता, कुसुम एवं पल्लवों के अन्दर कोटि सूर्य की द्युति वाले दिव्य उद्यान का स्मरण करना चाहिए ॥ ७२ ॥

कोटीन्दुविस्फुरच्चन्द्रकान्तशालेन व्यूहितम् ।
दिव्यप्रवालरत्नौघैर्निबद्धवसुधातलम् ॥ ७३ ॥

करोड़ों चन्द्रमाओं की किरणों से द्युतिमान चन्द्रकान्त मणि के शाल वृक्ष से इसकी चहारदिवारी घिरी हुई है। इस उद्यान की भूमि दिव्य प्रवाल एवं रत्नों के समूहों से निर्मित है ॥ ७३ ॥

तपस्तपस्यश्रीभ्यां च तरुणीभ्यामलङ्कृतम् ।
तद्भावानुभवानन्दमोदमानमहर्निशम् ॥ ७४ ॥

वह भूमि तरुणियों के तप की शोभा से अलङ्कृत हैं। वह उद्यान उनके भावों एवं अनुभावों के आनन्द से अहर्निश आनन्दित है ॥ ७४ ॥

शिशिरर्तुं भजेत्तत्र चरन्तं मदविह्वलम् ।
सूर्यकान्तनिकुञ्जेषु खेलन्त्यो मदविह्वलाः ॥ ७५ ॥

मदविह्वल होकर विचरण करते हुए शिशिर ऋतु का वहाँ भजन करना चाहिए। सूर्यकान्तमणि के निकुञ्जों में ये तरुणियाँ मानों मद विह्वल होकर खेल रही हैं ॥ ७५ ॥

षट्सहस्राणि देवेशि वसन्ति परिचारिकाः ।
कदाचिदत्र क्रीडार्थं सखीभिः पुरुषोत्तमः ॥ ७६ ॥

---

१ 'सह।' इ० पा० ।

हे देवेशि ! वहाँ पर छः हजार परिचारिकाएँ रहती हैं। कभी-कभी पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण सखियों के साथ यहाँ भी क्रीडा करने के लिए आते हैं ॥ ७६ ॥

स्वामिन्या च समासाद्य क्रीडन् विक्रीडयत्यपि ।
तदन्त संस्मरेद्दिव्यमुद्यानं तु मनोहरम् ।
पद्मरागलतापुञ्जकुञ्जगुञ्जन्मधुव्रतम् ॥ ७७ ॥

वह स्वामिनी के साथ आकर खिलवाड़ की क्रीडा करते हैं। उसके भीतर दिव्य एवं मनोहर उद्यान का स्मरण करना चाहिए। यह उद्यान पद्मराग मणि को लता के कुञ्जों से घिरा हुआ है। जिस पर भ्रमरों का समूह मँडरा रहा है ॥ ७७ ॥

चिन्तारत्नविचित्रान्तभूमिविद्योतितान्तरम् ।
अनेककुट्टिमैर्भ्राजन्मण्डपैः कुञ्जमध्यगैः ॥ ७८ ॥

वह दिव्य उद्यान चिन्तामणि से निर्मित भूमि वाला है। अनेक प्रकार की फर्श से बने हुए विद्योतित मण्डपों से युक्त वह उद्यान है जिसमें मध्य में भी निकुञ्ज बने हैं ॥ ७८ ॥

भ्राजत्कपाटरत्नालिप्रभोच्चैर्वियदन्तरम ।
उदितेन्द्रधनुःकोटिकुर्वाणमिव सर्वतः ॥ ७९ ॥

इसके दरवाजे दीप्तिमान रत्नों की पंक्ति की प्रभा से युक्त है और उनकी छत चमक रही है। चारों ओर उस मण्डप में मानों करोड़ों इन्द्र-धनुषों का उदय हो रहा है ॥ ७९ ॥

क्वचिदिन्दीवरवनप्रोच्छलन्तः प्रभाङ्कुराः ।
सान्द्रमेघान्धकारेण लिम्पन्त इव दिक्तटान् ॥ ८० ॥

कहीं पर कमल के वन को शोभा से सम्पन्न वह उद्यान है। उस समय वहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि घने बादलों की घटा से अन्धकार मानों दिशाओं के कोनों में लिपट रहा है ॥ ८० ॥

कलापिनो हृष्टचित्तास्तत्र नृत्यन्ति सन्ततम् ।
उद्घाटय स्वकलापांश्च जलदाटोपशङ्कया ॥ ८१ ॥

वहाँ पर निरन्तर प्रसन्न चित्त होकर मयूर नृत्य कर रहे हैं। बादलों की घटा की आशङ्का से वे मयूर अपने पङ्खों को फैलाकर नृत्य कर रहे हैं ॥ ८१ ॥

शुकपारापतक्रौंचपिककोलाहलाकुलम् ।
कोटीन्दुकौमुदीगर्वनिर्वासनलताशतम् ॥ ८२ ॥

शुक, कबूतर, क्रौंच एवं कोयलों के कलरव से वह उद्यान गुञ्जायमान है। सैकड़ों लताएँ करोड़ों चन्द्रों की चांदनी के गर्व को समाप्त कर रही हैं।। ८२ ।।

उत्पतद्भिर्मृगीवृन्दैर्वराहैर्गवयैः शशैः ।
रुरुभिर्मृगनाभैश्च चमरीभिरलङ्कृतम् ।। ८३ ।।

उछलते कूदते हरिणों के झुण्डों, जङ्गली सूकरों, नील गायों तथा खरगोशों से तथा नाभि में कस्तूरी वाले रुरु मृगों तथा चमरी गायों से वह वन अलङ्कृत है ।। ८३ ।।

अनेकसूर्यसङ्काशचिन्तारत्नावृतिव्रतम् ।
यत्र पञ्चसहस्राणि मणिहर्म्यकृतास्पदाः ।। ८४ ।।

अनेक सूर्य के मिलने से चिन्तामणि के रत्नों से आवृत वह वन है। यहाँ पांच हजार मणिनिर्मित प्रासाद बने है ।। ८४ ।।

दिव्यशृङ्गारवेषाढ्या रसभावविभावुकाः ।
सेवोपचारचतुरा वसन्ति परिचारिकाः ।। ८५ ।।

वहाँ दिव्य शृङ्गार एवं विभिन्न वेषभूषा में सजी हुई, रस के भाव में भावित प्रकृति वाली तथा सेवा एवं उपचार में कुशल परिचारिकाए रहती हैं ।। ८५ ।।

तदन्तः सस्मरेद्दिव्यं महापद्मवनं महत् ।
लक्षयोजनविस्तीर्णं गुञ्जन्मत्तमधुव्रतम् ।। ८६ ।।

उनके मध्य में दिव्य एव विशाल उस महापद्म वन का स्मरण करना चाहिए जो एक लाख योजन तक फैला हुआ है और मदमत्त भौरों के झुण्डों से गुञ्जायमान है ।। ८६ ।।

वियद्वितानितमिव परागैः पवनेरितैः ।
कुर्वन् तद्गन्धसञ्चारिषटपदव्याजचित्रितम् ।। ८७ ।।

आकाश में चँदोवे के समान हवा से लाए गए पुष्पों के परागों से वह आकीर्ण है। उन परागों की गन्ध से आए हुए सञ्चरणशील भ्रमरों से मानों आकाश चितकबरा सा प्रतीत हो रहा है ।। ८७ ।।

महापद्माटवीमध्ये स्मरेदेकमणिगृहम् ।
चतुःषष्टिमहास्तम्भशोभाडम्बरमण्डितम् ।। ८८ ।।

उस महापद्म वन के मध्य एक ऐसे मणिनिर्मित गृह का स्मरण करना चाहिए जो चौसठ महान् स्तम्भों की शोभा के आडम्बर से मण्डित है ।। ८८ ।।

मूलभूमिस्तु प्रथमा द्वितीया मतिविभ्रमा ।
तृतीया भोगभूमिश्च नृत्यभूमिश्चतुर्थिका ।। ८९ ।।

वह मणिगृह दस भूमियों वाला है। प्रथम मूलभूमि है, द्वितीय मतिविभ्रमाभूमि है, तृतीया योगभूमि और चौथी नृत्यभूमि है ।। ८९ ।।

पञ्चमी शयनीयाख्या षष्ठी वैमानिकीति च ।
सप्तमी अष्टमी चोभे दोलाभूमी निरूपिते ।। ९० ।।

शयनीय नाम की पाँचवीं भूमि है। छठो भूमि वैमानिकी नाम की है और सातवीं तथा आठवीं भूमि दोलाभूमि के नाम से निरूपित की गई है ।। ९० ।।

नवमी दूरलक्षा च दशमी चन्द्रभूमिका ।
इत्येता दश आख्याता भूमयो निजवेश्मनः ।।
प्रियाभिः सह वसेदस्मिन् घनीभूतो रसः पुमान् ।। ९१ ।।

।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे
पञ्चचत्वारिंशं पटलम् ।। ४५ ।।

—— * ——

नवीं भूमि 'दूरलक्षा' है और दसवीं भूमि चन्द्रभूमिका नाम की है। भगवान् श्रीकृष्ण के स्वयं के निवास स्थान की ये दस भूमियाँ बताई गई है जिनमें प्रिया के साथ घनीभूत होकर रस पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण विराजते हैं ।। ९१ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के पैंतालीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४५ ।।

—— * ——

अथ षट्चत्वारिंशं पटलम्

शिव उवाच—

इत्थं स्मरन्ती सततं निजधाममहोदयम् ।
क्रमेण वासना देवि गमयत्येव वासरान् ।। १ ।।

शिव ने कहा—

हे देवि ! इस प्रकार निज हृत् कमल में प्रभु की निज लीला का निरन्तर स्मरण करते हुए कुछ दिनों में वासना क्रमशः चली जाती है ।। १ ।।

यद्येषा विरहावस्था स्मरणाख्या प्रवर्त्तते ।
तदा स्मृतिपथारूढं निजं धाम भवेत्प्रिये ।। २ ।।

जब यह स्मरण नामक विरह की अवस्था साधक में प्रवर्तित होती है तभी, हे प्रिये ! स्मृति पथ में आरूढ होकर प्रभु का निज धाम साधक के हृत् कमल में प्रकट हो जाता है ।। २ ।।

अन्यथा ध्यायमानस्य रसलीलामहोदधिम् ।
मध्ये विच्छिद्य विच्छिद्य मनस्तस्मान्निवर्त्तते ।। ३ ।।

अन्यथा ध्यान करते हुए रस लीला के समुद्र में साधक का मन मध्य में ही टूट-टूटकर ब्रह्म से अलग हो जाता है (अतः विरह आवश्यक है) ।। ३ ।।

यावन्न जायते ह्येषा दशा विरहसम्भवा ।
तावन्न शक्नुयात्कर्तुं विद्धि सेवां मनोमयीम् ।। ४ ।।

जब तक यह विरह की दशा मन में न आ जाए यही समझना चाहिए कि तब तक प्रभु की मनोमयी सेवा नहीं की जा सकती है ।। ४ ।।

स्मृत्यवस्थोदयो यावत्तावत्सेवाद्वयं भवेत् ।
आन्तरीया तथा बाह्या तयोर्नैकतरा क्वचित् ।। ५ ।।

जब तक साधक में स्मृति की अवस्था का उदय होता है तब तक दो प्रकार की सेवा चलती रहती है—(१) आन्तरिक सेवा और (२) बाह्य सेवा; अथवा कहीं पर दोनों में से एक ।। ५ ।।

सेवया तद्गतं चेतः शनैर्लीलागतं भवेत् ।
स्मृत्यवस्थामवाप्नोति क्रमेण परमेश्वरि ।। ६ ।।

इन (दोनों प्रकार की) सेवाओं से प्रभु श्रीकृष्ण से लगा हुआ चित्त धीरे-धीरे उनकी लीला में तल्लीन होता है। हे परमेश्वरि ! क्रमानुसार यही (बाह्य और आन्तरिक सेवा तथा लीलागत) चित्त उनकी स्मृति की अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।। ६ ।।

स्मृत्यवस्थोदये देवि मनस्तत्तन्मनोरथैः ।
प्रलापाख्यामवाप्नोति दशां च व्याकुलीकृतम् ।। ७ ।।

हे देवि ! स्मृति की अवस्था के उदय होने पर साधक का मन उन-उन मनोरथों के द्वारा व्याकुल हो उठता है और वह 'प्रलाप' नामक अवस्था को प्राप्त करता है ।। ७ ।।

अबुद्धिपूर्वकालापः प्रलापः कथितः प्रिये ।
प्रियलीलाविलासादिविषयस्थिरचेतसः ।। ८ ।।
रमयस्वाद्य रुचिरं प्रियप्रेम्णा वनान्तरे ।
प्रियं त्वं चिरकालेन मया प्राप्तोऽसि साम्प्रतम् ।। ९ ।।
इत्यादिविविधालापाः प्रवर्त्तन्ते महेश्वरि ।
यदा देहानुसन्धानं मध्ये मध्ये प्रजायते ।। १० ।।

हे प्रिये ! बिना समझे बूझे जो कुछ कहते रहना 'प्रलाप' नामक अवस्था कही गई है । प्रिय की लीला एवं विलास आदि के विषय में स्थिर चित्त होकर प्रलाप करना तथा प्रिय के प्रेम में पड़कर वन के अन्तराल में मनोहर लीला में मन को रमाना अथवा हे मन रमण करो—ऐसा कहना, हे प्रिय ! इस समय तुम मुझे बहुत काल के बाद प्राप्त हुए हो—आदि विविध प्रकार के प्रलाप में हे महेश्वरि ! जब मन प्रवृत्त हो और जब बीच-बीच में अपने शरीर की स्मृति आ जाय तब 'प्रलाप' की अवस्था होती है ।। ८—१० ।।

अत्युग्रतरसन्तापनिर्वापणपटीयसी ।
सुधाधारेव सततं वाक् त्वदीया रसस्रवा ।। ११ ।।

अत्यन्त उग्रतर सन्ताप के निर्वापण में पटु एवं रस का स्रवण करने वाली आपकी वाणी अमृत की धारा के समान मुझे निरन्तर आप्लावित करे ।। ११ ।।

अनङ्गकोटिसौन्दर्यमहाब्धिमथनोद्धृतः ।
सारांश इव ते रूपमानन्दोद्वेलनक्षमम् ।। १२ ।।

करोड़ों कामदेव के सौन्दर्य-समुद्र के मन्थन से निकाले गए नवनीत के समान हे कृष्ण ! आपके रूप का आनन्द मुझे उद्वेलित कर देने में समर्थ है ।। १२ ।।

महादुःखतमस्तोमविपाटनपटीयसी ।
चन्द्रज्योत्स्नेव रुचिरा हास्यशोभा तव प्रिय ।। १३ ।।

हे प्रिय ! महान् दुःख के अन्धकार के घन को हटाने में समर्थ चन्द्रमा की चाँदनी के समान मनोहर आप के हास्य की शोभा है ।। १३ ।।

मय्येतत्तु कथं नाथ विपरीतं प्रवर्त्तते ।
एवमादीनि वाक्यानि प्रवर्त्तन्ते गुणस्तवे ।। १४ ।।

हे नाथ ! आप मुझ पर क्यों विपरीत रूप से प्रवर्तित हैं। इस प्रकार के (गुण सम्पन्न) वाक्य आपके गुण में मुझे प्रवर्तित करते हैं ॥ १४ ॥

ततः क्रमेण देवेशि मनोवैवश्यकारिणी ।
आद्यवस्था प्रवर्तेत विप्रलम्भदशात्मिका[1] ॥ १५ ॥

हे देवेशि ! इसके बाद क्रमपूर्वक साधक के मन को विवश कर देने वाली विप्रलम्ब शृङ्गार की मन पर प्रभाव डालने वाली व्याधि आदि दस अवस्था प्रवर्तित होती हैं ॥ १५ ॥

दीर्घतापाग्निसन्तप्तमाधिग्रस्तं मनोन्तरम् ।
बहिः सृजत्यश्रुधारां श्वासकम्पादिकं तथा ॥ १६ ॥

दीर्घ (विश्वास के) ताप की अग्नि से सन्तप्त मन, जब विप्रलम्भ की दशाओं से ग्रस्त हो जाता है तब प्रभु के वियोग में नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है और श्वास प्रश्वास में कम्पन होने लगता है ॥ १६ ॥

विरहे प्राणनाथस्य अप्राप्तौ सङ्गमस्य च ।
जायते देवदेवेशि दशा चोन्मादसंज्ञिका ॥ १७ ॥

हे देव देवेशि ! प्राणनाथ प्रभु श्रीकृष्ण के विरह में उन्हें न प्राप्त करने के कारण और उनके संगम के विना साधक में 'उन्माद' नामक विप्रलम्भ शृङ्गार की दशा आ जाती है ॥ १७ ॥

श्वासाश्रुपातसन्तापकम्पभूलेखनादिभिः ।
अवस्था ज्ञायते देवि ह्युन्माद इति संज्ञया ॥ १८ ॥

हे देवि ! श्वास प्रश्वास का आधिक्य तथा अश्रुपात, सन्ताप, शरीर में कम्प और भू-लेखन आदि अवस्था साधक में प्रगट होती है तब उसे 'उन्माद' कहते हैं ॥ १८ ॥

जायमाने ततो देवि तापे विरहसम्भवे ।
हुङ्कारमात्रवचना तन्द्रामोहसमाकुला ॥ १९ ॥

हे देवि ! तदनन्तर विरहजन्य ताप के उत्पन्न हो जाने पर तन्द्रा एवं मोह से व्याकुल साधक से बात करने पर मात्र हुँ हुँ ही करता रहता है ॥ १९ ॥

अनुसन्धानरहिता श्वाससंशोषिताधरा ।
विवर्णवदनाकारा कृशीभूतकलेवरा ॥ २० ॥

चैतन्यता से रहित साधक के श्वास प्रश्वास से उसके ओठ सूख जाते हैं, उसके मुख की कान्ति विवर्ण हो जाती है तथा उसका शरीर दुर्बल हो जाता है ॥ २० ॥

---

१. 'विप्रलम्भरसात्मिका' इ० पा० ।

नकट्यजातमरणा जड़ावस्था भवेत्प्रिये ।
कदाचिद्देवदेवेशि धैर्यस्याप्यनवस्थितौ ।। २१ ।।

हे प्रिये ! साधक मरण के निकट उपस्थित हो जाता है तब वह जडावस्था होती है । हे देवदेवेशि ! उस समय कभी धैर्य भी जाता रहता है ।। २१ ।।

निजनाथवियोगाग्निज्वालाज्वलितविग्रहा ।
जायते देवदेवेशि दशा मरणरूपिणी ।। २२ ।।

अपने प्रभु के वियोग की अग्नि की ज्वाला से प्रज्वलित शरीर वाले साधक में हे देवदेवेशि ! श्रृङ्गार की मरण रूप दसवी अवस्था आ जाती है ।। २२ ।।

इत्येता विरहावस्था दश प्रोक्ता तवानघे ।
विप्रलम्भाख्यश्रृङ्गाररसे प्रादुर्भवन्ति ताः ।। २३ ।।

हे निष्पाप ! विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस में उत्पन्न होने वाली इन दस अवस्थाओं को हमने आपसे कहा है ।। २३ ।।

यद्यप्येका प्रजायते दशा विरहसम्भवा ।
तथापि च वरारोहे रसस्यानुभवो भवेत् ।। २४ ।।

प्रभु के विरह में इन अवस्थाओं में से यद्यपि एक भी अवस्था यदि साधक में उत्पन्न हो जाय तो हे वरारोहे ! उसे रस की अनुभूति हो जाती है ।। २४ ।।

यावन्न जायतेऽप्येका दशा विरहसम्भवा ।
तावन्न जायते देवि रसस्यानुभवः क्वचित् ।। २५ ।।

जब तक विरह जन्य इन दस अवस्थाओं में से एक की भी अनुभूति साधक को नहीं होती है तब तक हे देवि ! कभी भी उसे रसानुभूति नहीं हो सकती है ।। २५ ।।

ज्ञात्वापि प्रियविश्लेषं यद्यवस्थोदयो नहि ।
तदा चूडामणिजपः कर्त्तव्यः शुद्धिहेतवे ।। २६ ।।

प्रिय प्रभु के विरह को जानकर भी यदि साधक में इन विरह जन्य अवस्थाओं का उदय न हो तब उसे मन की शुद्धि के लिए चूडामणि (श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण राधेकृष्ण, राधेकृष्ण) का जप करना चाहिए ।। २६ ।।

मनोविकारे भावाख्ये जायमाने सुरेश्वरि ।
अप्राप्तौ विरहावस्थां धत्ते भावः स एव हि ।। २७ ।।

हे सुरेश्वरि ! साधक में (जप करने से) भाव नामक मनो विकार के उत्पन्न हो जाने पर विरहावस्था के न प्राप्त करने पर भी उसमें भाव आ जाता है ।। २७ ।।

परानन्दे प्रिये ज्ञाते तदप्राप्तिवशादिह ।
मनो विकृतिमभ्येति भावसंज्ञामलौकिकीम् ।। २८ ।।

यहाँ पर प्रिय के ज्ञान से प्राप्त श्रेष्ठ आनन्द से उसे न प्राप्त करने के कारण साधक को 'भाव' नामक अलौकिक मनोविकार की प्राप्ति हो जाती है ॥ २८ ॥

अनेकजन्मकलुषैर्यदा वीतं मनो भवेत् ।
नैवाप्नोति तदाभावं येन स्याद्विरहोदयः ॥ २९ ॥

अनेक जन्म के कालुष्य के कारण जब तक मन का मालिन्य दूर नहीं होता है तब तक उसे 'भाव' संज्ञक मन का विकार नहीं प्राप्त होता है जिससे उसमें विरह की उत्पत्ति भी नहीं होती है ॥ २९ ॥

तन्मालिन्यनिरासार्थं जपसेवार्चनादिकम् ।
अवश्यमेव कर्त्तव्यं श्रीकृष्णप्रीतये चिरम् ॥ ३० ॥

उस मनो मालिन्य को दूर करने के लिए ही (साधक को प्रभु के स्मरणार्थ) जप, सेवा तथा उनकी (षोडशोपचार से) अर्चना आदि श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए चिरकाल तक अवश्य ही करना चाहिए ॥ ३० ॥

अनुग्रहदृशा पश्येत् यदैव पुरुषोत्तमः ।
प्रसादसुमुखो भूत्वा तदा स्याद्विरहोदयः ॥ ३१ ॥

जब पुरुषोत्तम प्रभु श्रीकृष्ण साधक को अनुग्रह बुद्धि से देखेंगे तब भगवान् के प्रसाद स्वरूप उस साधक में विरह उत्पन्न होगा ॥ ३१ ॥

इति ते सर्वमाख्यातं दशावस्थानिरूपणम् ।
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३२ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे
षट्चत्वारिंशं पटलम् ॥ ४६ ॥

——*——

इस प्रकार संक्षेप में हे महेशानि ! आप से हमने विप्रलम्भ शृङ्गार की सभी दस अवस्थाओं का निरूपण कर दिया है । अब आप और क्या सुनना चाहती हैं ? ॥ ३२ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञान खण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के छियालिसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ॥ ४६ ॥

——*——

अथ सप्तचत्वारिंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि यथा कृष्णः प्रसीदति ।
विना जपं विना सेवां विना पूजामपि प्रभो ।। १ ।।

पार्वती ने कहा—

हे भगवन् ! हे प्रभो ! मै यह पूँछना चाहती हूँ कि विना जप, विना सेवा तथा बिना पूजा के भी कृष्ण कैसे प्रसन्न होते हैं ? ।। १ ।।

यथा कृष्णः प्रसन्नः स्यात्तमुपायं वदाधुना ।
अन्यथा देवदेवेश पुरुषार्थो न सिद्धयति ।। २ ।।

जैसे कृष्ण प्रसन्न होंवे-उस उपाय को अब आप कहिए । नहीं तो, हे देवदेवेश ! (मानव का मोक्ष रूप) पुरुषार्थ नहीं सिद्ध होता है ।। २ ।।

शिव उवाच—

साधु पार्वति ते प्रश्नः सावधानतया शृणु ।
विना जपं विना सेवां विना पूजामपि प्रिये ।। ३ ।।
यथा कृष्णः प्रसन्नः स्यात्तमुपायं वदामि ते ।
जपसेवादिकं चापि विना स्तोत्रं न सिद्धयति ।। ४ ।।

शिव ने कहा—

हे पार्वति ! तुम्हारा प्रश्न बहुत सुन्दर है ? अब इसे सावधान होकर सुनो । विना जप के, विना उनकी सेवा के तथा विना पूजा के भी, हे प्रिये ! जैसे कृष्ण प्रसन्न होवें उस उपाय को मैं अब कहता हूँ । जप और सेवा आदि भी बिना स्तोत्र के सिद्ध नहीं हाते हैं ।। ३-४ ।।

कीर्तिप्रियो हि भगवान् वरात्मा पुरुषोत्तमः ।
जपस्तन्मयतासिद्धयै सेवा स्वाचाररूपिणी ।। ५ ।।

भगवान् परमात्मा पुरुषोत्तम कीर्तिप्रिय (गुणसंकीर्तन से प्रसन्न होने वाले) हैं । जप तो भगवान् में तन्मयता की सिद्धि के लिए होता है और सेवा स्वयं के आचरण के रूप वाली होती है ।। ५ ।।

स्तुतिः प्रसादनकरी तस्मात्स्तोत्रं वदामि ते ।
सुधाम्भोनिधिमध्यस्थे रत्नद्वीपे मनोहरे ॥ ६ ॥
नवखण्डात्मके तत्र नवरत्नविभूषिते ।
तन्मध्ये चिन्तयेद्रम्यं मणिगृहमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

भगवान् की स्तुति उन्हें प्रसन्न करने वाली होती है । अतः उनके स्तोत्र को मैं तुमसे कहता हूँ । सुधा-समुद्र के मध्य में मनोहर रत्नद्वीप पर नव रत्न से विभूषित नव खण्डात्मक पीठ है । उस पीठ के मध्य में उत्तमोत्तम एवं रम्य 'मणिगृह' का चिन्तन करना चाहिए ॥ ६-७ ॥

परितो वनमालाभिः ललिताभिः विराजिते ।
तत्र सञ्चिन्तयेच्चारु कुट्टिमं सुमनोहरम् ॥ ८ ॥
चतुःषष्ट्या मणिस्तम्भैश्चतुर्दिक्ष विराजितम् ।
तत्र सिंहासने ध्यायेत्कृष्णं कमललोचनम् ॥ ९ ॥

चारो ओर ललित वनमालाओं से शोभायमान सिंहासन पर आसीन भगवान् कमललोचन कृष्ण का ध्यान करना चाहिए । उस सिंहासन का भी ध्यान करना चाहिए जो सिंहासन सुमनोहर एवं चारु फर्श वाला है और जो चारों ओर दिशाओं में चौसठ मणिनिर्मित स्तम्भों से जगमगा रहा है ॥ ८-९ ॥

अनर्घ्यरत्नजटितमुकुटोज्वलकुण्डलम् ।
सुस्मितं सुमुखाम्भोजं सखीवृन्दनिषेवितम ॥ १० ॥
स्वामिन्याश्लिष्टवामाङ्गं परमानन्दविग्रहम् ।
एवं ध्यात्वा ततः स्तोत्रं पठेत्सुविजितेन्द्रियः ॥ ११ ॥

भगवान् कृष्ण का मुकुट चमचमाता हुआ और कुण्डल अनर्घ्य रत्नों से जटित है । उनका मुखकमल सुन्दर मुस्कान से युक्त तथा सखी वृन्द से सेवित है । उनका परमानन्द विग्रह वाम भाग में स्वामिनी (राधा) से संश्लिष्ट है । उस विग्रह का ध्यान करके जितेन्द्रिय साधक को उनके स्तोत्र का पाठ करना चाहिए ॥ १०-११ ॥

श्रीकृष्णस्तोत्रम्

कृष्णं कमलपत्राक्षं सच्चिदानन्दविग्रहम् ।
सखीयूथान्तरचरं प्रणमामि परात्परम् ॥ १२ ॥

सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप, कमल के पत्र के समान नेत्रों वाले तथा सखी-समूह में विचरण करने वाले परात्पर कृष्ण को मेरा प्रणाम है ॥ १२ ॥

शृङ्गाररसरूपाय परिपूर्णसुखात्मने ।
राजीवारुणनेत्राय कोटिकन्दर्परूपिणे ॥ १३ ॥

शृङ्गाररस रूप वाले, परिपूर्ण सुख वाले, लाल कमल के समान अरुण नेत्र वाले तथा कोटिकामदेव स्वरूप कृष्ण का मेरा नमस्कार है ॥ १३ ॥

वेदाद्यगमरूपाय वेदवेद्यस्वरूपिणे ।
अवाङ्मनसविषयनिजलीलाप्रवर्त्तिने ॥ १४ ॥

वेद आदि आगम रूप वाले, वेद से ही जाने जाने वाले, अन्तर मन के विषय तथा निज लीला का स्वयं प्रवर्तन करने वाले कृष्ण को नमस्कार है ॥ १४ ॥

नमः शुद्धाय पूर्णाय निरस्तगुणवृत्तये ।
अखण्डाय निरंशाय निरावरणरूपिणे ॥ १५ ॥

शुद्ध, पूर्ण, गुणों की वृत्ति से निरस्त, अखण्ड, निरंश तथा आवरणरहित रूप वाले कृष्ण को नमस्कार है ॥ १५ ॥

संयोगविप्रलम्भाख्यभेदभावमहाब्धये ।
सदंशविश्वरूपाय चिदंशाक्षररूपिणे । १६ ॥

संयोग एवं विप्रलम्भ नामक शृङ्गाररस के भेदों के भाव के महासमुद्र, सत् अंश से विश्वस्वरूप वीर चित् अंश से युक्त अक्षर रूप वाले (नित्य) कृष्ण को नमस्कार है ॥ १६ ॥

आनन्दांशस्वरूपाय सच्चिदानन्दरूपिणे ।
मर्यादातीतरूपाय निराधाराय साक्षिणे ॥ १७ ॥

आनन्द के अंश के स्वरूप वाले, इस प्रकार सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप वाले, मर्यादा से भी अधिक रूप वाले, निराधार एवं (सर्व कार्य के) साक्षी कृष्ण को नमस्कार है ॥ १७ ॥

मायाप्रपञ्चदूराय नीलाचलविहारिणे ।
माणिक्यपुष्परागाद्रिलीलाखेलप्रवर्त्तिने ॥ १८ ॥

मायाप्रपञ्च (की परिधि) से दूर रहने वाले, नीलाचल (जगन्नाथ पुरी) में विहार करने वाले तथा माणिक्य एवं पुष्पराग के अद्रि की लीला आदि खेलों को करने वाले कृष्ण को नमस्कार है ॥ १८ ॥

चिदन्तर्यामिरूपाय ब्रह्मानन्दस्वरूपिणे ।
प्रमाणपथदूराय प्रमाणाग्राह्यरूपिणे ॥ १९ ॥

चित् रूप से अन्तरात्मा में रहने वाले, ब्रह्मानन्द स्वरूप, प्रत्यक्षादि प्रमाणों

से न जाने जाने वाले, अतः अनुमान आदि प्रमाण पथ से विज्ञेय कृष्ण को नमस्कार है ॥ १९ ॥

मायाकालुष्यहीनाय नमः कृष्णाय शम्भवे ।
क्षरायाक्षररूपाय क्षराक्षरविलक्षणे ॥ २० ॥

माया को कालिमा से विहीन, कल्याण करने वाले कृष्ण को नमस्कार है। क्षर (अनित्य) और अक्षर (नित्य) स्वरूप वाले तथा क्षर एवं अक्षर से भी विलक्षण (गुणातीत एवं अनन्त) स्वरूप वाले कृष्ण को नमस्कार है ॥ २० ॥

तुरीयातीतरूपाय नमः पुरुषरूपिणे ।
महाकामस्वरूपाय कामतत्त्वार्थवेदिने ॥ २१ ॥

तुरीय से अतीत रूप वाले एवं पुरुष रूप वाले कृष्ण को नमस्कार है। महान् काम स्वरूप वाले एवं काम तत्त्व के अर्थ के ज्ञाता कृष्ण को नमस्कार है ॥ २१ ॥

दशलीलाविहाराय सप्ततीर्थविहारिणे ।
विहाररसपूर्णाय नमस्तुभ्यं कृपानिधे ॥ २२ ॥

दशावतार रूप लीला में विहार करने वाले तथा (मथुरा के जमुना, जन्मभूमि, व्रज आदि) सप्ततीर्थों में विचरण करने वाले, (लीला) विहार के रस से पूर्ण और तुम कृपा के निधान कृष्ण को नमस्कार है ॥ २२ ॥

विरहानलसन्तप्तभक्तचित्तोदयाय च ।
आविष्कृतनिजानन्दविफलीकृतमुक्तये ॥ २३ ॥

(कृष्ण के) विरह की अग्नि से संतप्त तथा भक्त के चित्त में प्राण का संचार करने वाले और अपने मुक्ति को विफल करने के लिए आनन्द को स्वयं प्रकट करने वाले कृष्ण को नमस्कार है ॥ २३ ॥

द्वैताद्वैतमहामोहतमःपटलपाटिने ।
जगदुत्पत्तिविलयसाक्षिणेऽविकृताय च ॥ २४ ॥

(माया एवं ब्रह्म रूप से) द्वैत तथा (ब्रह्म रूप से) अद्वैत रूप से महा मोह के अन्धकार पटल को समाप्त कर देने वाले, जगत् की उत्पत्ति और उसके विलय के साक्षी एवं अविकृत कृष्ण को नमस्कार है । २४ ॥

ईश्वराय निरीशाय निरस्ताखिलकर्मणे ।
संसारध्वान्तसूर्याय पूतनाप्राणहारिणे ॥ २५ ॥

ईश्वर, ईशविहीन, समस्त कर्म से रहित, संसार के अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य रूप तथा पूतना के प्राण का हरण कर लेने वाले कृष्ण को नमस्कार है ॥ २५ ॥

रासलीलाविलासोर्मिपूरिताक्षरचेतसे ।
स्वामिनीनयनाम्भोजभावभेदैकवेदिने ॥ २६ ॥

रास लीला के विलास रूप समुद्र की लहर से पूरित होकर भी अक्षर चित्त वाले, स्वामिनी राधा के नयन कमल की भावभङ्गिमा के एकमात्र ज्ञाता कृष्ण को नमस्कार है ॥ २६ ॥

केवलानन्दरूपाय नमः कृष्णाय वेधसे ।
स्वामिनीहृदयानन्दकन्दलाय तदात्मने ॥ २७ ॥

मात्र आनन्द रूप वाले सृष्टि कर्ता तथा स्वामिनी राधा के हृदयानन्द के दाता एवं तद्रूप कृष्ण के लिए नमस्कार है ॥ २७ ॥

संसारारण्यवीथीषु परिभ्रान्तात्मनेकधा ।
पाहि मां कृपया नाथ त्वद्वियोगाधिदुःखिताम् ॥ २८ ॥

संसार रूपी अरण्य की गलियों में अनेक रूप से विचरण करने वाले एवं आपके वियोग से दुखित, हे नाथ ! आप कृपया मेरी रक्षा कीजिए ॥ २८ ॥

त्वमेव मातृपित्रादिबन्धुवर्गादयश्च ये ।
विद्या वित्तं कुलं शील त्वत्तो मे नास्ति किञ्चन ॥ २९ ॥

हे कृष्ण ! आप ही मेरे माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि सभी कुछ हैं । विद्या, धन-सम्पत्ति, कुल एवं शील आदि गुण आप ही हैं । आपको छोड़कर मेरा इस संसार में कुछ भी नहीं है ॥ २९ ॥

यथा दारुमयी योषिच्चेष्टते शिल्पिशिक्षया ।
अस्वतन्त्रा त्वया नाथ तथाहं विचरामि भोः ॥ ३० ॥

जैसे लकड़ी की बनी हुई नारी-कठपुतली की भाँति जैसे-जैसे डोरी से उसे चलाया जाय चलती रहती है उसी तरह मैं भी हे नाथ ! आपके आश्रित हूँ आप जैसे मुझे प्रेरित करते हैं मैं वैसे ही विचरण करता हूँ ॥ ३० ॥

सर्वसाधनहीनां मां धर्माचारपराङ्मुखाम् ।
पतितां भवपाथोधौ परित्रातुं त्वमर्हसि ॥ ॥ ३१ ।

हे स्वामि ! मैं सभी साधनों से हीन हूँ तथा मैं तो धर्माचरण से भी विमुख हूँ । अतः इस संसार समुद्र से उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं । ३१ ॥

मायाभ्रमणयंत्रस्थामूर्ध्वाधोभयविह्वलम् ।
अदृष्टनिजसंकेतां पाहि नाथ दयानिधे ॥ ३२ ।

हे स्वामि ! हे दयानवान ! माया मोह में फँसे रहने से व्याकुल, यन्त्रस्थ के समान ऊपर नीचे दोनों ओर घूमने वाले तथा भय से व्याकुल मुझ निरुद्देश्य चक्कर काटने वाले की रक्षा कीजिए ॥ ३२ ॥

अनर्थेऽर्थदृशं मूढां विश्वस्तां भयदस्थले ।
जागृतव्ये शयानां मामुद्धरस्व दयापरः ॥ ३३ ॥

अनर्थ परम्परा में ही दृष्टिपात करने वाले मूढ़ और भयदायी विषयों में ही विश्वास रखने वाले और जागने वालों में सोने वाले मेरा, हे दयावान् प्रभु ! उद्धार कीजिए ॥ ३३ ॥

अतीतानागतभवसन्तानविवशान्तराम् ।
बिभेमि विमुखी भूय त्वत्तः कमललोचन ॥ ३४ ॥

हे कमलनयन ! मैं अतीत एवं अनागत (भूत एवं भविष्य) में होने वाली दुःखपरम्परा में पड़कर विवश हुआ मैं आपसे विमुख होकर भयग्रस्त हूँ ॥ ३४ ॥

मायालवणपाथोधिपयःपानरतां हि माम् ।
त्वत्सान्निध्यसुधासिन्धुसामीप्यं नय माऽचिरम् ॥ ३५ ॥

क्योंकि मैं माया रूपी नमकीन समुद्र के पानी को पीने में संलग्न हूँ। अतः हे कृष्ण ! आप अपने सन्निध्य रूपी सुधा समुद्र के समीप मुझे शीघ्र ही खींच लाइए ॥ ३५ ॥

त्वद्वियोगार्तिमासाद्य यज्जीवामीति लज्जया ।
दर्शयिष्ये कथं नाथ मुखमेतद्विडम्बनम् ॥ ३६ ॥

आपके विरह रूप विपत्ति में पड़ा हुआ मैं जो लज्जा से जीवित हूँ उस विवर्ण मुख को, हे नाथ ! मैं आपको कैसे दिखाऊंगा ? यही विडम्बना है। अतः आप स्वयं मुझे खींच लीजिए ॥ ३६ ॥

प्राणनाथ वियोगेऽपि करोमि प्राणधारम् ।
अनौचिती महत्येषा किं न लज्जयतीह माम् ॥ ३७ ॥

हे प्राणनाथ। वियोग में भी मैं प्राण धारण कर रहा हूँ—यह क्या महान् अनौचित्य क्या नहीं है ? मुझे तो आपके वियोग में प्राणत्याग कर देना ही उचित था। यह मुझे लज्जा नहीं प्रदान कर रहा है ? ॥ ३७ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कस्याग्रे प्रवदाम्यहम् ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते वृत्तयोऽब्धौ यथोर्मयः ॥ ३८ ॥

मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसके समक्ष मैं अपनी विपदा को कहूँ ? इस प्रकार विचार समुद्र में मेरे विचार लहरों के समान ऊपर उठते हैं और पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

अहं दुःखाकुली दीना दुःखहा न भवत्परः ।
विज्ञाय प्राणनाथेदं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ३९ ॥

मैं दुःख परम्परा से पीड़ित हूँ, दीन हूँ दुःख का मारा हुआ हूँ तथा आपके परायण भी नहीं हूँ—यह सब जानकर, हे प्राणनाथ ! आप जो चाहें वही करें ॥ ३९ ॥

ततश्च प्रणमेत्कृष्णं भूयो भूयः कृताञ्जलिः ।
इत्येतद्गुह्यमाख्यातं न वक्तव्यं गिरीन्द्रजे ॥ ४० ॥

इसके बाद हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण के समक्ष बारम्बार प्रणाम करे। हे गिरिराज हिमालय की पुत्रि ! यह रहस्य मैंने आपसे बता दिया है। इसे किसी (अपात्र) को कभी नहीं बताना चाहिए ॥ ४० ॥

एवं यः स्तौति देवेशि त्रिकालं विजितेन्द्रियः ।
आविर्भवति तच्चित्ते प्रेमरूपी स्वयं प्रभुः ॥ ४१ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे
सप्तचत्वारिंशं पटलम् ॥ ४७ ॥

——*——

हे देवेशि ! इस प्रकार जो जितेन्द्रिय साधक त्रिकाल में भगवान् चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण की स्तुति करता है, उसके (निर्मल) चित्त में प्रेम रूपी प्रभु स्वयं आविर्भूत हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

॥ इस प्रकार श्री नारदपञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के सैंतालीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४७ ॥

——*——

अथ अष्टचत्वारिंशं पटलम्

पार्वत्युवाच—

भगवन् देवदेवेश जगन्नाथ दयानिधे।
कथा साध्वी महापुण्या भवता विनिरूपिता ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे भगवन् ! हे देवदेवेश, हे जगन्नाथ, हे दयानिधे, आपके द्वारा महापुण्यदायिनि सुन्दर कथा कही गई है ॥ १ ॥

अनुगृहीता नाथेन त्वयाहं करुणात्मना।
ब्रह्मगुह्यमिदं देव यदेतत्प्रकटीकृतम् ॥ २ ॥

आप करुणात्मा स्वामी के द्वारा मैं अनुगृहीत हुई हूँ। हे देव ! यह 'ब्रह्म' का गुह्य ज्ञान है जो आपके द्वारा प्रकट किया गया है ॥ २ ॥

अतः परं तु देवेश वेदितव्यं न विद्यते।
तथापि प्रष्टुमिच्छामि कोऽमृतं पीय तृप्तिभाक् ॥ ३ ॥

हे देवेश, इसके बाद भी अब जानने योग्य नहीं बचा। तथापि मैं पूँछना चाहती हूँ क्योंकि कौन अमृत को पीकर तृप्ति का अनुभव करेगा ? ॥ ३ ॥

मन्त्रराजप्रसङ्गेन सेवा ते विनिरूपिता।
यथा सिध्यन्ति देवेश वासनाः कृष्णयोषिताम् ॥ ४ ॥

वस्तुतः मन्त्रराज के प्रसङ्ग से आप द्वारा सेवा वैसे ही निरूपित हुई है, हे देवेश ! जैसे कृष्ण की प्रियाओं की वासना सिद्धि को प्राप्त करती हैं ॥ ४ ॥

धर्मः कृष्णप्रियाणां हि न सेवातोऽधिकः क्वचित्।
तथापि भवता नाथ किञ्चित् पूजापि सूचिता ॥ ५ ॥

कृष्ण प्रियाओं का धर्म 'सेवा' से अधिक कुछ भी नहीं है, तथापि हे नाथ ! आपके द्वारा कुछ 'पूजा' भी बताई गई है ॥ ५ ॥

विधिना केन देवेश क्रियते सा कदा च कैः।
एतन्मे ब्रूहि भो विद्वन् महांस्त्वं दीनवत्सलः ॥ ६ ॥

हे देवेश ! ब्रह्म के द्वारा क्या किया जाता है ? और कब एवं किसके द्वारा किया जाता है ? हे (ब्रह्म तत्त्व के वेत्ता) विद्वान् ! इसे ही आप बतलाइए। आप महान् एवं दीन वत्सल हैं ।। ६ ।।

शिव उवाच—

प्रिये धन्यासि धन्यासि धन्यासि मम मानसम् ।
प्रीणासि प्रश्नवादने सूर्योऽब्जमिव भानुना ।। ७ ।।

शिव ने कहा—

हे प्रिय ! तुम धन्य हो, धन्य हो जो कि तुमने प्रश्न पूँछकर मेरे मन को उसी प्रकार प्रसन्न किया है जैसे सूर्य कमल को खिला देते हैं ।। ७ ।।

अतस्त्वां कथयिष्यामि सुगोप्यमपि पूजनम् ।
सेवनं मुख्यमेवोक्तं पूजनं गौणमुच्यते ।। ८ ।।

अतः मैं तुमसे अच्छी प्रकार से गोपन के योग्य भी 'पूजन' को कहूँगा। वस्तुतः सेवा ही मुख्य बताई गई है और 'पूजन' तो गौण कहा जाता है। ८ ।।

सेवां कर्तुमशक्तश्चेत् पूजयेत्पुरुषोत्तमम् ।
तदहं ते प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं पृच्छसि प्रिये ।। ९ ।।

यदि साधक सेवा करने में अशक्त हो तो भगवान् पुरुषोत्तम की पूजा करे। अतः हे प्रिये ! मैं तुम्हें वहीं बतलाऊँगा जो तुम मुझसे पूछती हो । ९ ।।

प्रातरुत्थाय देवेशि ब्रह्मरन्ध्रे निजं गुरुम् ।
ध्यात्वा पञ्चोपचारैश्च मानसैः पूजयेत्परम् ।। १० ।।

प्रातःकाल उठकर हे देवेशि ! ब्रह्मरन्ध्र में अपने गुरु का ध्यान करके परम तत्त्व का पञ्चोपचार के द्वारा मानस पूजन करना चाहिए ।। १० ।।

ततो हृदम्बुजे ध्यायेच्छ्रीकृष्णं स्वामिनीयुतम् ।
प्रसन्नवदनाम्भोजप्रियावृन्दविहारिणम् ।। ११ ।।

इसके बाद हृत्कमल में श्रीकृष्ण का ध्यान उनकी प्रिया से युक्त करके करना चाहिए। साधक प्रसन्न मुखकमल वाली प्रियाओं के समूह में विहार करते हुए कृष्ण का ध्यान करे ।। ११ ।।

पूर्ववत्पूजयित्वाथ व्यवहारविधौ प्रिये ।
अनुज्ञां प्रार्थयेत्तस्य प्रबद्धकरसम्पुटा ।। १२ ।।

हे प्रिये ! पहले के ही समान व्यवहारविधि से पूजा करके हाथ जोड़कर उनसे अनुज्ञा की प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिए ।। १२ ।।

जानामि धर्मं न हि मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न ततो निवृत्तिः ।
मायान्धकारे गहने प्रविष्टा गृहान्धकूपे पतिता प्रमादात् ।। १३ ।।

मैं धर्म को जानता हूँ फिर भी उसमें हमारी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं अधर्म को जानता हूँ फिर भी मैं उससे विरत नहीं हो पाता हूँ। हे भगवन् मैं माया के गहन अन्धकार में प्रविष्ट हूँ और प्रमाद के कारण गृह के अन्धे कुएँ में गिरा पड़ा हूँ ।। १३ ।।

यद्यत्करिष्यामि शुभाशुभं वा नाहं स्वतन्त्रः प्रकरोमि तत्तत् ।
तस्मात्क्षमस्व प्रियनाथ सर्वं संसारयात्रामनुवर्त्तमानम् । १४ ।।

जो-जो भी मैं शुभ या अशुभ कर्म करूँगा उन सबसे मैं अपने को स्वतन्त्र नहीं करता हूँ। हे मेरे प्रिय नाथ ! इसलिए सभी कुछ संसार की यात्रा का ही अनुवर्तन समझते हुए क्षमा करो ।। १४ ।।

आदायाज्ञां ततो देवि भूमिं सम्प्रार्थ्य पूर्ववत् ।
मलोत्सर्गविधिं कृत्वा हस्तपादादिशोधनम् ।। १५ ।।

हे देवि ! फिर आज्ञा को प्राप्त करके पूर्ववत् भूमि की प्रार्थना करके उसके बाद मलोत्सर्गविधि करके हाथ और पैर आदि धोना चाहिए ।। १५ ।।

पूर्ववद्देवदेवेशि दन्तशुद्धिं समाचरेत् ।
तीर्थे वा स्वगृहे वापि स्नानं कृत्वा च पूर्ववत् ।। १६ ।।
पूजागृहसमीपं तु गत्वोक्तासनसंस्थितः ।
कुङ्कुमादिशुभैर्द्रव्यैस्तिलकं हरिमन्दिरम् ।। १७ ।।

हे देवेशि ! पूर्व की ही तरह दन्तशुद्धि करना चाहिए। तीर्थ में या अपने गृह में पूर्ववत् स्नान करके, पूजागृह के समीप जाकर वहाँ उक्त आसन पर संस्थित हो कुङ्कुम आदि शुभ द्रव्यों से हरिमन्दिर (ललाट) में तिलक करना चाहिए ।। १६-१७ ।।

वामरेखास्थितो ब्रह्मा दक्षिणायामहं प्रिये ।
हरिर्मध्यगतस्तस्मान्मध्यदेशं न लेपयेत् ।। १८ ।।
न दर्पणे च जले तैले विलोक्य तिलकी भवेत् ।
कृतमप्यकृतं वीक्ष्य दर्पणादौ तु यत्कृतम् ।। १९ ।।

हे प्रिये ! हरिमन्दिर में (ललाट) ब्रह्मा वाम रेखा की ओर स्थित होते हैं और मैं (शिव) उसके दक्षिण में रहता हूँ। हरि मध्य में होते हैं इसलिए मध्य स्थान में तिलक नहीं करना चाहिए। न दर्पण में और न तो जल में तथा न तेल में

देखकर तिलक लगाना चाहिए। दर्पण के आगे देखकर किए हुए तिलक न किया हुआ ही होता है ॥ १८-१९ ॥

मुद्रादिधारणं कुर्यात् यथा स्थानं महेश्वरि ।
आदौ ललाटदेशे तु गदां कौमोदिकीं न्यसेत् ॥ २० ॥

हे महेश्वरि ! यथा स्थान मुद्रा आदि धारण करना चाहिए। पहले कौमोदकी गदा को ललाट में बनाना चाहिए ॥ २० ॥

एकैकां विन्यसेद्वामपार्श्वे वामस्तने तथा ।
बाहुयुग्मे तथैकैका द्वे द्वे वा भक्तिभावतः ॥ २१ ॥

एक-एक को वाम पार्श्व में और वामस्तन में बनाना चाहिए। दोनों बाहुओं पर एक-एक अथवा दो-दो या जैसा भक्तिभाव हो वैसा बनावे ॥ २१ ॥

उदरे पञ्च चक्राणि हृदि चक्रत्रयं न्यसेत् ।
चक्रद्वयं ततो देवि दक्षपार्श्वे नियोजयेत् ॥ २२ ॥
त्रीणि दक्षस्तने युज्यात् द्वयं दक्षभुजे वहेत् ।
दक्षकर्णस्य मूले तु चक्रयुग्मं प्रविन्यसेत् ॥ २३ ॥

पेट पर पाँच चक्रों को और हृदय में तीन चक्र का न्यास करे। इसके बाद हे देवि ! दक्ष (=दक्षिण) पार्श्व में दो चक्र का न्यास करे; तीन चक्र दाहिने स्तन पर बनाकर दो चक्र दाहिनी भुजा में बनावे। दाहिन कर्ण के मूल में दो चक्र चित्रित करे ॥ २२-२३ ॥

कण्ठदेशे तथा वामबाहौ चक्रं सकृत्सकृत् ।
एक एव भवेद्देवि शङ्खो वामकपोलगः ॥ २४ ॥

कण्ठ में और बाएँ बाहू में एक-एक चक्र बनावे। हे देवि ! वाम कपोल में मात्र एक ही शङ्ख चित्रित करे ॥ २४ ॥

वामपार्श्वे तथा चैकः स्तने वामे द्वयं न्यसेत् ।
वामबाहौ त्रयं विद्याद्वामकर्णे द्वयं तथा ॥ २५ ॥

वाम पार्श्व में एक और बाएँ स्तन (छाती) में दो (शङ्ख) का न्यास करे। बाएँ बाहु में तीन जानना चाहिए और बाएँ कर्ण में दो (शङ्ख) का न्यास करे ॥ २५ ॥

अधरेऽपि द्वयं न्यस्य शुभया गोपिकामृदा ।
दक्षबाहौ तथा चैकमेवं शङ्खान् प्रविन्यसेत् ॥ २६ ॥

अधर में भी दो चक्र का न्यास शुभ गोपीचन्दन से करे और दाहिने हाथ में एक ही शङ्ख का प्रकृष्ट रूप से न्यास करे ।। २६ ।।

पद्ममुद्राद्वयं वामे दक्षिणेऽपि तथा न्यसेत् ।
नाममुद्रा तु सर्वाङ्गे विभृयाद्भक्तितत्परः ।। २७ ।।

बाएँ और दक्षिण हाथ में भी दो पद्म-मुद्रा का न्यास करना चाहिए। साधक को चाहिए कि नाम मुद्रा का सम्पूर्ण शरीर में अत्यन्त भक्तिभाव से न्यास करे ।। २७ ।।

अधृत्वा तुलसीमालामकृत्वायुधलाञ्छनम् ।
न सिद्धिमाप्नुयात्कोऽपि सत्यमेव वचो मम ।। २८ ।।

यह मेरा सत्य वचन है कि (हाथ या गले में) बिना तुलसी की माला धारण किए और भगवान् के (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि) आयुधों के चिह्नों को बिना चिह्नित किए कोई भी साधक सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है ।। २८ ।।

पार्वत्युवाच—

अधृत्वायुधलिङ्गानि यः कुर्याद्भजनादिकम् ।
न सिद्धिमाप्नुयादत्र मनो मे मुह्यतेतराम् ।। २९ ।।

पार्वती ने कहा—

'जो साधक बिना आयुधों के चिह्नों को चिह्नित किए हुए भजन आदि करता है वह सिद्धि को नहीं प्राप्त करता है'—इस बात में मेरा मन अत्यन्त मोह को प्राप्त कर रहा है ।। २९ ।।

रसरूपस्य कृष्णस्य न चास्त्यायुधधारणम् ।
कस्मात्कृष्णप्रिया साक्षात् बिभृयाद्वैष्णवायुधम् ।। ३० ।।

वस्तुतः रस रूप कृष्ण का तो कोई आयुधों का धारण नहीं होता। फिर साक्षात् (रस रूप से कृष्ण को प्राप्त) कृष्णप्रिया इन वैष्णव आयुधो को कैसे धारण करे ? ।। ३० ।।

यो यो यद्देवता भक्तः स बिभर्त्ति तदायुधम् ।
प्रयोजनं तु नास्त्येव तथाप्यादिश्यते त्वया ।। ३१ ।।

जो जो जिस देवता का भक्त होता है वह तो उस देवता का आयुध धारण करता है। (रस रूप कृष्ण लीला के ध्यान में) यद्यपि इसका कोई प्रयोजन नहीं है फिर भी आपके द्वारा इसका आदेश क्यों किया गया है ? ।। ३१ ।।

तस्मान्मे संशयो जातो व्यथते हृदि शल्यवत् ।
तमुद्धर दयासिन्धो येन मे निश्चयो भवेत् ।। ३२ ।।

ईसलिए मुझे सन्देह हुआ है और यह सन्देह बाण के समान हृदय में चुभ रहा है। हे दयासिन्धो ! इस सन्देह का आप निवारण करें जिससे मेरा मन एक निश्चय पर पहुँच जाय ।। ३२ ।।

शिव उवाच—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
यस्य श्रवणमात्रेण मनो निःसंशयं भवेत् ।। ३३ ।।

शिव ने कहा –

हे देवि ! जो आप पूछ रही है उसी को आपसे कहूँगा, सुनिए। इसके श्रवणमात्र से ही मन का संशय दूर हो जाता है '। ३३ ।।

अद्वैतं भावयेन्नित्यं द्वैतभावं न भावयेत् ।
द्वैतभावनया नित्यं संसारो न निवर्त्तते ।। ३४ ।।

मन में अद्वैत कृष्ण की ही भावना करनी चाहिए। द्वैत की भावना कभी भी नहीं करनो चाहिए। वस्तुतः द्वैत की भावना से संसार का नित्य रूप से निवर्तन नहीं होता है ।। ३४ ।।

अद्वैतभावनिष्णातः संसारं नैव पश्यति ।
तस्मादद्वैतभावेन यः पश्यति स पश्यति ।। ३५ ।।

अद्वैत भाव में निष्णात साधक (ससार में रहकर भी) संसार को नहीं देखता है। इसलिए जो अद्वैत भाव से (ससार को) देखता है वही साधक वस्तुतः (ब्रह्म को) देखता है ।। ३५ ।।

अयं ब्रह्मा हरिरयं रुद्रोयमिति व भिदा ।
यः पश्यति महेशानि तस्य कालकृतं भयम् ।। ३६ ।।

हे महेशानि ! जो साधक 'यह ब्रह्मा हैं, यह हरि हैं, और यह रुद्र हैं ऐसा भेद करके ब्रह्म को देखता है उस साधक को कालकृत भय सदैव बना रहता है ।। ३६ ।।

प्रपञ्चो ब्रह्मतन्मात्रं ब्रह्मादिस्थावरान्तकः ।
द्वे ब्रह्मणीति वेदोक्तिर्लीलाभेदकृता भवेत् ।। ३७ ।।

एकमेवाद्वितीयं चेत्यन्यथा तु विरुद्धयते ।
तस्माद्द्वैतं तु देवेशि भ्रममात्रं न संशयः ।। ३८ ।।

ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त यह समस्त प्रपञ्च ब्रह्म से ही निर्मित है। माया और ब्रह्म यह जो दो रूप से ब्रह्म की वेदोक्ति है वह लीला के भेद से की गई है अन्यथा 'एकमेवाद्वितीयम्'—यह वेदोक्ति तो विरुद्ध हो जायगी । इसलिए हे देवेशि ! द्वैत का भाव, भ्रममात्र है, संशय नहीं ।। ३७-३८ ।।

चन्द्रद्वैतं प्रतीयेत जलोपाधिप्रसङ्गतः ।
जलोपाधिनिरासेन चन्द्राद्वैतं प्रकाशते ।। ३९ ।।

वस्तुतः आकाशस्थ चन्द्र का जल में प्रतिबिम्ब दो चन्द्र को प्रकट करता है। किन्तु जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब है। यह असली चन्द्र नहीं हैं। असली चन्द्र तो आकाश में है—इस प्रकार जब भ्रम का निराकरण हो जाता है तो चन्द्र का अद्वैत होना प्रकाशित हो जाता है ।। ३९ ।।

ब्रह्मण्यपि तथा द्वैतमज्ञानेन विजृम्भितम् ।
अज्ञानस्य निरासे तु ब्रह्माद्वैतं यथा भवेत् ।। ४० ।।

इसी प्रकार से ब्रह्म में भी अज्ञान के कारण (माया और ब्रह्म रूप) द्वैत का भान हमें होता है और जब अज्ञान का निराकरण हो जाता है तब ब्रह्म के अद्वैत होने का भाव वैसे हो ही जाता है ।। ४० ।।

कः शिवः को हरिर्ब्रह्मा 'एकत्वमनुपश्यतः' ।
तस्मादायुधलिङ्गानां धारणं न विरुध्यते । ४१ ।।

कौन शिव हैं, कौन हरि हैं और कौन ब्रह्मा हैं ? सभी में एकत्व का दर्शन करने वाला साधक ब्रह्म का दर्शन करता है। इसलिए आयुध एवं चिह्नों का धारण करना विरुद्ध नहीं है ।। ४१ ।।

आत्मश्रेयः प्रवृत्तानां तामससर्गमाश्रिताः ।
दोषा विनायकाश्चान्ये भ्रंशयन्ति मनःश्रिताः ।। ४२ ।।

तामसी सृष्टि के आश्रित भूतपिशाच आदि आत्म कल्याण में प्रवृत्त साधक के दोष दर्शन से विनायक आदि भूतगण मन में आश्रय लेकर साधना को भ्रष्ट कर देते हैं ।। ४२ ।।

पलायन्ते च ते सर्वे वैष्णवायुधदर्शनात् ।
जाज्वल्यमानज्वलनज्वालयेवाकुलीकृताः ।। ४३ ।।

जब वैष्णव आयुधों का उन्हें दर्शन हो जाता है तो वे सभी भाग जाते हैं। जल रहा हूँ, जला रहा है आदि कहकर वे जलते हुए अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

सत्त्वोपाधिगतं ब्रह्म विष्णुस्तस्यायुधान्यपि ।
दृष्ट्वा दोषाः पलायन्ते सिंहं दृष्ट्वा यथा गजाः ॥ ४४ ॥

ब्रह्म तो सत्त्वोपाधिगत हैं विष्णु और विष्णु के आयुध भी सत्त्वोपाधिगत हैं अतः साधक के दोष इन आयुधों को देखकर उसी प्रकार भाग जाते हैं जैसे सिंह को देखकर हाथी पलायन कर जाते हैं ॥ ४४ ॥

अन्यथाविश्य चित्तं ते भजनं वारयन्ति हि ।
तस्मादायुधलिङ्गानां धारणं सर्वथा प्रिये ॥ ४५ ॥

यदि आयुध का चिह्न अङ्कित नहीं रहता है तो वे दोष चित्त में आविष्ट होकर भजन में बाधा पहुँचाते हैं। अतः हे प्रिये ! आयुध और उनके चिह्नों को सर्वथा धारण करना आवश्यक है ॥ ४५ ॥

दृष्ट्वा बिभ्यति पापानि चक्राङ्कितवपुर्धरम् ।
रजस्तमोमयाभावा न स्पृशन्ति कदाचन ॥ ४६ ॥

पाप चक्राङि्कत शरीर धारण किए साधक को देखकर डर जाते हैं। अतः राजस या तामस भाव उसे कभी भी स्पर्श नहीं कर पाते हैं ॥ ४६ ॥

ये लोकरञ्जनार्थाय चक्राद्यायुधलाञ्छनाः ।
पाखण्डिनः पतन्त्येते निरयेषु पुनः पुनः ॥ ४७ ॥

जो संसार के मनोरञ्जन के लिए चक्र आदि आयुध के चिह्नों से अपने को चिह्नाङ्कित करते हैं ये पाखण्डी पुनः पुनः नरकों में गिरते हैं ॥ ४७ ॥

तस्माद्भजनाङ्गतया बिभृयादायुधानि तु ।
भजन्सिद्धिमवाप्नोति पापदोषाद्यसंश्रितः ॥ ४८ ॥

इसलिए भजन के अङ्गभूत होकर आयुधों को धारण करना चाहिए। इससे पाप एवं दोष आदि से असंश्लिष्ट होकर भजन करता हुआ साधक सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

द्वारपूजां ततः कृत्वा प्रविशेद्यागमन्दिरम् ।
त्रिर्वामपार्ष्णिघातेन भौमांस्तालत्रयेण च ॥ ४९ ॥

प्रथमतः द्वारपूजा करके फिर याग मन्दिर में प्रवेश करे। साधक को तीन

बार बाएँ पैर को पटक कर और तीन बार ताली बजाते हुए प्रवेश करना चाहिए ॥ ४९ ॥

अन्तरिक्षस्थितान् दिव्यदृष्टया भूतान् दिवि स्थितान् ।
उत्सार्य भूमिं सम्प्रार्थ्य सम्प्रोक्ष्य विधिनासनम् ॥ ५० ॥

अन्तरिक्षस्थित और स्वर्ग स्थित भूतों को दिव्य दृष्टि से अलग हटाकर भूमि की प्रार्थना करके और विधिपूर्वक आसन का सम्प्रोक्षण करके प्रवेश करना चाहिए ॥ ५० ॥

आचम्य च शिखां बध्वा मूलमन्त्रेण देशिकः ।
स्त्रीवेषधारी सुभगः ताम्बूलवदनोऽर्चयेत् ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवपार्वतीसम्वादे
अष्टचत्वारिंशं पटलम् ॥ ४८ ॥

——*——

आचमन करके मूलमन्त्र से साधक शिखा बन्धन कर स्त्रीवेष धारण करके सुन्दर वेषभूषा में ताम्बूल खाकर श्रीकृष्ण की अर्चना करे ॥ ५१ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के अड़तालीसवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ४८ ॥

——*——

अथ एकोनपञ्चाशत्तमम् पटलम्

शिव उवाच—

पृथिव्यादीनि भूतानि ब्रह्मणि प्रविलाप्य च ।
क्रमेणोत्पाद्य च पुनः पवित्राणि विभावयेत् ॥ १ ॥

भगवान् शङ्कर कहते है—

पृथिवी आदि [पञ्च] भूतों की शुद्धि करके और ब्रह्म में विलीन करके पुनः क्रम से उनका पवित्रि से विभावन करके (घुमाकर) शोधन करे ॥ १ ॥

भूतशुद्धिं विधायेत्थं प्राणान् संस्थापयेत्पुनः ।
पञ्चाशन्मातृका न्यस्य न्यसेत् ऋष्यादिकं ततः ॥ २ ॥

इस प्रकार भूतों की शुद्धि करके पुनः उसमें प्राणों की संस्थापित करके पचास मातृकाओं का न्यास करे । फिर ऋषि आदि का न्यास करना चाहिए ॥ २ ॥

मूलमन्त्राक्षरन्यासं ततः कृत्वा समाहितः ।
ध्यायेत्स्वहृदयाम्भोजे कृष्णं कमललोचनम् ॥ ३ ॥

इसके बाद समाहित मन से मूल मन्त्र के (द्वादश) अक्षरों का न्यास करके अपने हृत् कमल में कमललोचन भगवान् कृष्ण का ध्यान करे ॥ ३ ॥

दिव्यरत्नकिरीटं तु मूर्धिन सञ्चिन्तयेत् प्रिये ।
अथवोष्णीषकं ध्यायेद्दाडिमीकुसुमप्रभम् ॥ ४ ॥

हे प्रिये ! शिर में दिव्य रत्न जटित मुकुट धारण किए हुए कृष्ण का ध्यान करे, अथवा (उनके द्वितीय स्वरूप) दाडिम (अनार) के फूल के समान हल्के लाल प्रभा वाले पगड़ी का ध्यान करे ॥ ४ ॥

अनर्घ्यरत्नविलसन्मुक्ताकुण्डलमण्डितम् ।
उष्णीषबद्धरत्नेन वर्त्तुलेनातिभास्वता ॥ ५ ॥

दीप्तिमान रत्नों से शोभायमान, मुक्तामणि से जटित कुण्डलों से सजे हुए और रत्नजटित, अत्यन्त प्रकाशमान कपोल एवं पगड़ी वाले भगवान् कृष्ण का ध्यान करे ॥ ५ ॥

धिक्कुर्वन्तमिव प्रोद्यत्पूर्णचन्द्रस्य मण्डलम् ।
दिव्यमुक्ताफलस्रजा वेष्टितोष्णीषसुन्दरम् ॥ ६ ॥

पूर्णिमा के उदित होते हुए चन्द्र की शोभा को मानों तिरस्कृत करने वाले कृष्ण के मुख-छवि का ध्यान करे। दिव्य मुक्ता-फल की माला से वेष्टित सुन्दर उष्णीष (पगड़ी) वाले कृष्ण का ध्यान करे ॥ ६ ॥

क्षीरसागरकल्लोलशोभातिशयसुन्दरम् ।
न्यस्तरत्नप्रभोद्भासि वसानममलाम्बरम् ॥ ७ ॥

कल्लोल करते हुए क्षीरसागर की अत्यन्त सुन्दर शोभा को धारण करने वाले और जड़े हुए रत्नों से निकलती हुई प्रभा वाले सुन्दर पीताम्बर पहने हुए भगवान् कृष्ण का ध्यान करे ॥ ७ ॥

प्रांतपल्लवविभ्राजँल्लम्बिमुक्तालिभास्वरम् ।
दधानमुत्तरं वासो नवीनजलदप्रभम् ॥ ८ ॥

नवीन मेघ की प्रभा वाले, प्रान्तभाग में पल्लव की शोभा धारण करने वाले अर्थात् हरे रंग की किनारे वाले, नीचे तक लटकते हुए मुक्तामणि की कान्ति से युक्त उत्तरीय वस्त्र को धारण किये हुए भगवान् कृष्ण का ध्यान करना चाहिए ॥ ८ ॥

वलयाङ्गदकेयूरभ्राजमानकरद्वयम् ।
वैडूर्यमुक्तामाणिक्यहारभारविराजितम् ॥ ९ ॥

उनके दोनों हाथ कङ्गन और केयूर से सुशोभित हैं। वह वैडूर्यमणि और मुक्ता एवं माणिक्य के हार से सुशोभित हैं ॥ ९ ॥

दिव्याङ्गरागसौरभ्याघ्राणमत्तमधुव्रतान् ।
लीलारविन्दभ्रमणैर्वारयन्तं मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

दिव्य अङ्ग-राग की सुरभि से आकृष्ट हुए मतवाले भ्रमरों के झुण्डों को लीला कमल से बार-बार भगाते हुए कृष्ण का ध्यान करे ॥ १० ॥

हीरालिदशनज्योत्स्नां विकिरन्तं स्मिताननात् ।
रसालभृकुटिलीला[1] विह्वलीकृतवल्लभम् ॥ ११ ॥

भगवान् कृष्ण की दन्त पङ्क्ति मानों उस हीरे की पङ्क्ति के समान है जो ज्योत्स्ना को उगल रहे हों। उनकी मन्द मन्द मुस्कान से ये हीरे की तरह प्रतीत

---

१. 'भृकुटीभाव' इ० पाठः ।

होते हैं। ये टेढ़ी एवं विलास युक्त भृकुटी युवतियों को विह्वल कर देने वाली है—ऐसे कृष्ण का ध्यान करना चाहिए ॥ ११ ॥

नीलकुञ्चितसुस्निग्धालकशोभिमुखाम्बुजम् ।
पाटीरतिलकोद्भासिभालस्थलमनोहरम् ॥ १२ ॥

नीले, घुंघराले, चिकने बालों की लटें उनके मुख कमल पर शोभायमान हैं। चन्दन के तिलक से दीप्तिमान् उनका ललाट स्थल अत्यन्त मनोहर हैं ॥ १२ ॥

ताम्बूलपूर्णवदनं चाम्पेयद्युतिविग्रहम् ।
सदाषोडशवर्षीयं [1]ध्यायेत्कृष्णं हृदाम्बुजे ॥ १३ ॥

उनका मुख ताम्बूल से पूर्ण है। उनका वदनारविन्द चम्पक पुष्प के समान हलका नीला द्युतिमान् है। साधक को चाहिए कि अपने हृत्कमल में सदा सोलह वर्ष की अवस्था वाले कृष्ण का ध्यान करे ॥ १३ ॥

वामभागगतां तस्य स्वामिनीं संस्मरेत् प्रिये ।
कुञ्चितानङ्गकोदण्डभ्रूलताविभ्रमश्रियम् ॥ १४ ॥

हे प्रिये ! उनके वाम भाग में बैठी हुई स्वामिनी का स्मरण करे। उनकी टेढ़ी भौहें कामदेव के धनुष के भ्रम को उत्पन्न कर शोभित हैं ॥ १४ ॥

रसानन्दाङ्कुरीभूतदशनावलिभासुराम् ।
मीनाब्जखञ्जरीटोग्रगर्वनिर्नाशिलोचनाम् ॥ १५ ॥

उनकी दन्तपङ्क्ति की जगमगाहट मानों आनन्दरस के अङ्कुर को पैदा कर रही हैं। मीन, कमल और खञ्जरीट नामक पक्षी के उपमान के उग्रगर्व को भी नष्ट करने वाली आँखों को जिन राधिका ने धारण किया है, उसका ध्यान करना चाहिए ॥ १५ ॥

तिलसूनलसन्नासानटन्मौक्तिकभूषणाम् ।
प्रान्तमुक्तावलिभ्राजद्भालभूषणभूषिताम् ॥ १६ ॥

उनकी नासिक में तिल के पुष्प के समान श्वेत मुक्ता जटित आभूषण हिलते हुए चमक रहे थे और भाल के प्रान्त भाग की पङ्क्ति से प्रकाशमान भाल के आभूषणों से विभूषित मुख है ॥ १६ ॥

मुखेन्दुमण्डलप्रोद्यत्कस्तूरीतिलकाङ्किताम् ।
[2]कपोलपालिविलुठन्मुक्तादाममनोहराम् ॥ १७ ॥

---

१. वार्षिक्यं इ० पाठः ।
२. 'कपोलावलि' इ० पाठः ।

चन्द्ररूपी मुख के मण्डल से शोभायमान ललाट पर कस्तूरी का तिलक अङ्कित है। स्वामिनी के कपोलों की आभा अत्यन्त मनोहर मुक्ता की शोभा को मानों चुरा रही हो ॥ १७ ॥

किंशुकाभांशुकद्युत्या प्रसर्पन्त्याध ऊर्ध्वतः ।
सिन्दूरपूरितमिव कुर्वाणां वियदन्तरम् ॥ १८ ॥

किंशुक पुष्प की आभा की द्युति से नीचे और ऊपर प्रसर्पण कर रही मानों ऐसी प्रतीत हो रही है कि माँग में मानों सिन्दूर भरा हो ॥ १८ ॥

सुवर्णरचनाचञ्चन्मुक्तारत्नविचित्रिताम् ।
दधानां नीलजलदश्यामलां कुचपट्टिकाम् ॥ १९ ॥

सुवर्ण से बने चञ्चलमुक्ता आदि रत्न से चित्र विचित्र नीले बादल के समान श्यामल कुचपट्टिका को वे धारण की हुई हैं ॥ १९ ॥

प्रान्तलम्बितमुक्तादिच्छटाविच्छुरितावनि ।
नीलचण्डातक चारु दधानां स्वर्णसूत्रवत् ॥ २० ॥

पृथ्वी पर प्रान्तभाग तक लटके हुए मुक्तादि की छटा से शोभायमान स्वर्ण से युक्त मनोहर नीले लँहगे को धारण की हुई है ॥ २० ॥

सुवर्णमुक्तामणिहारशोभां ग्रैवेयविद्योतितकम्बुकण्ठीम् ।
माणिक्यमञ्जीररणत्पदाब्जां श्रीस्वामिनीं चेतसि चिन्तयामि ॥ २१ ॥

मैं उन श्री स्वामिनी का हृदय में चिन्तन करता हूँ जो सुवर्ण एवं मुक्तामणि के हार से शोभायमान हैं, जो चमकते हुए ग्रैवेयक को धारण किए हैं जिनका कण्ठ कम्बु (गोलाई) लिए हुए हैं, जिनके पद कमल में माणिक्य झिलमिला रहा है और मञ्जीर घुँघरु गुञ्जित हो रहा है ॥ २१ ॥

ततस्तौ मानसैर्दिव्यैरुपचारैः प्रपूजयेत् ॥ २२ ॥

दत्त्वा नैवेद्यमीशानि वैश्वदेवं समाचरेत् ।
मूलाधारे महाकुण्डे चतुरस्रं विचिन्त्य च ॥ २३ ॥

इस ध्यान के अनन्तर उन दोनों का दिव्य एवं मानस उपचारों के द्वारा पूजन करना चाहिए। हे ईशानि ! नैवेद्य देकर तब बलि वैश्वदेव करना चाहिए। मूलाधार रूप महाकुण्ड में चतुरस्र का चिन्तन करना चाहिए ॥ २२-२३ ॥

चतुर्भिरात्मभिः क्लृप्तं संविदग्निसमुज्ज्वलम् ।
जुहुयादाहुतीस्तत्र कामक्रोधादिकाः प्रिये ॥ २४ ॥

हे प्रिये ! उस अग्नि कुण्ड की प्रज्वलित अग्नि में साधक को अपने काम, क्रोध आदि का हवव करना चाहिए ॥ २४ ॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मदमत्सरौ ।
अधर्मानृतमज्ञानं जुहुयाज्ज्ञानपावके ॥ २५ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर-इन अधर्म एवं असत्-ज्ञान को ज्ञान रूप अग्नि में हवन कर देना चाहिए ॥ २५ ॥

दग्धकामादिकलुषमात्मानं वासनात्मकम् ।
ध्यात्वा कृतक्षणः किञ्चिद्दत्वाचमनमेतयोः । २६ ॥

काम आदि अपने वासनात्मक कालुष्य को (उस ज्ञानाग्नि में) जलाकर भगवान् का ध्यान कर इनको आचमन देकर भोजन करना चाहिए ॥ २६ ॥

भुञ्जानौ मनसा ध्यात्वा दत्त्वा चैव पुनर्जलम् ।
ताम्बूलवीटिकां दत्त्वा यथाशक्ति जपेद्धिया ॥ २७ ॥

मन से ध्यान कर कि ये दोनो (स्वामिनी राधा और कृष्ण भोग लगा चुके हैं; उन्हें पुनः जल आदि देकर ताम्बूल की वीड़ा देकर यथाशक्ति मन्त्र का मन में जप करना चाहिए ॥ २७ ॥

अन्तःपूजां समाप्यैवं बहिःपूजां समारभेत् ।
पूजायन्त्रं लिखेत् पट्टे सौवर्णे राजते च वा ॥ २८ ॥

पूजा प्रारम्भ करे । इस प्रकार अन्तःपूजा (मानसोपचार) समाप्त करके बहिः सुवर्ण या चाँदी के एक पट्ट पर पूजा यन्त्र लिखना चाहिए ॥ २८ ॥

ताम्रे चापि महेशानि श्रीपर्णीचन्दनोद्भवे ।
षट्कोणमादौ निर्माय शक्तिं निर्भिद्य वह्निना ॥ २९ ॥
अष्टकोणं ततः कुर्यात् तत्प्रकारं शृणुष्व मे ।
चतुरस्रं लिखेदादौ ऋजुरेखं मनोहरम् ॥ ३० ॥

हे महेशानि ! ताम्र पत्र पर भी और चन्दनोद्भव श्रीपर्णी पर पूजा यन्त्र लिखा जा सकता है ।

यन्त्र बनाने की विधि—

पहले एक षट्कोण बनाकर वह्नि द्वारा शक्ति का भेदन करे । उसके बाद आठ कोण बनावे जिसकी विधि मुझसे सुनिए । पहले चतुरस्र बनाकर एक सरल सीधी मनोहर रेखा बनाए ॥ २९-३० ॥

पूर्वरेखामूर्ध्वभागाद् रेखामाकृष्य पार्वति ।
मध्यभागान्महादेवि सन्धिभेदक्रमेण च ॥ ३१ ॥

पूर्वरेखामध्यभागात् रेखामाकृष्य पार्वति ।
मध्यभागान्महादेवि सन्धिभेदक्रमेण च ।
दक्षरेखां विनिर्भिद्य बहिः किञ्चित्प्रसारयेत् ।
दक्षरेखामूर्ध्वगतामाकृष्य परमेश्वरि ॥ ३२ ॥

हे पार्वति ! पूर्व रेखा के ऊर्ध्वभाग से एक रेखा खीचे । हे महादेवि ! सन्धि एवं भेद क्रम से मध्यभाग से रेखा खींचे । हे पार्वति ! पूर्व रेखा के मध्यभाग से एक रेखा खींचकर हे महादेवि ! सन्धि भेद क्रम से मध्य भाग से रेखा खींचनी चाहिए । दक्षिणरेखा को काटते हुए कुछ बाहर की ओर फैलाए । हे परमेश्वर ! दक्षिण रेखा को ऊर्ध्वगत करके खींचना चाहिए ॥ ३१-३२ ॥

प्रतीचिमानयेदाशां पूर्ववद् बहिरानयेत् ।
तामाकृष्योत्तरगतरेखां मूर्द्धानमानयेत् ॥ ३३ ॥

पूर्व दिशा को रेखा लाना चाहिए और पूर्ववद् बाहर निकालना चाहिए । उस उत्तरगत रेखा को खींचकर मूर्द्धा की ओर निकालना चाहिए ॥ ३३ ॥

प्राग्वद्बहिः प्रसृमरां तामाकृष्य सुलोचने ।
पूर्वरेखोपरि स्थाप्य अग्रदेशेन मेलयेत् ॥ ३४ ॥

पहले की भाँति, हे सुलोचने ! उस रेखा को खींचकर पूर्व रेखा के ऊपर स्थापित करके आगे से उसे मिला दे ॥ ३४ ॥

अष्टकोणमिदं कृत्वा वेष्टयेद् वृत्तरेखया ।
तल्लग्नमूलपत्रञ्च लिखेद् द्वादशयन्त्रकम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार आठ कोण बनाकर एक वृत्त से उसे घेर देना चाहिए । उस वृत्त से लगा हुआ कमल का पात्र बनावें जो बारह पंखुड़ियों (यन्त्र) वाला हो ॥ ३५ ॥

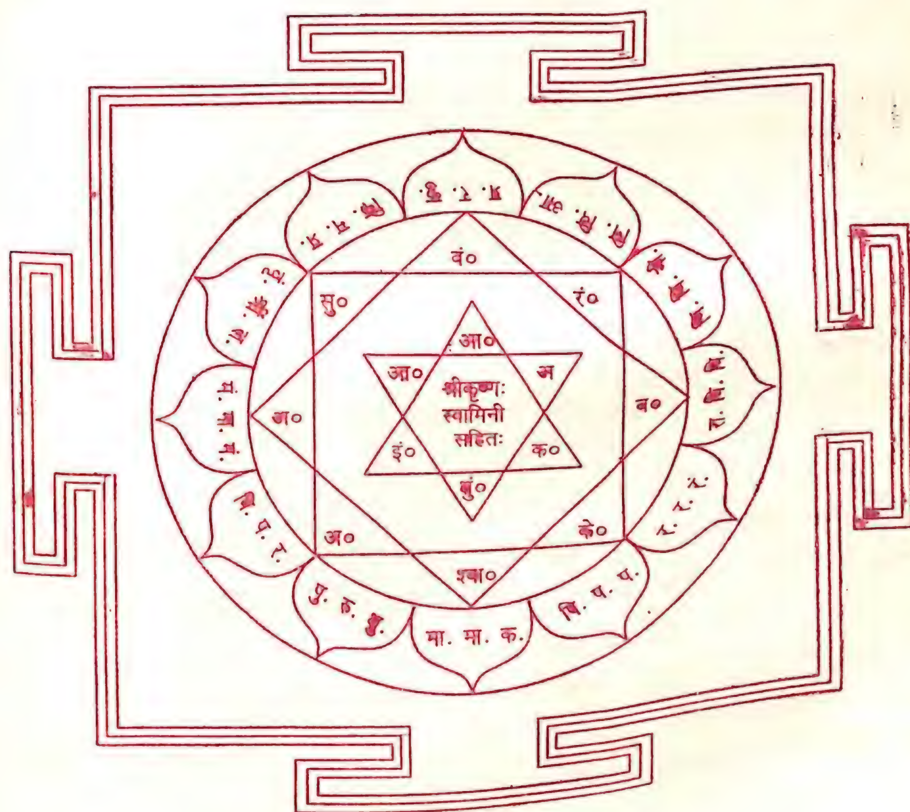
तस्योपरि लिखेद् देवि वृत्तं पूर्णेन्दुसन्निभम् ।
चतुरस्रत्रयं कुर्याच्चतुर्द्वारं मनोहरम् ॥ ३६ ॥

हे देवि ! उसके ऊपर पूर्णेन्दु के समान एक वृत्त बनावें । तीन चौकोण (चतुरस्र) बनावे । फिर मनोहर चार द्वार यन्त्र पर अङ्कित करना चाहिए ॥ ३६ ॥

पूजापीठं समारोप्य पूजयेच्च ततः परम् ।
सामान्यविधिना देवि सामान्यार्घं प्रकल्पयेत् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार पूजापीठ बनाकर उसके बाद उस यन्त्र की पूजा करनी चाहिए । हे देवि ! पहले सामान्य विधि से सामान्य अर्घ की परिकल्पना करनी चाहिए ॥ ३७ ॥

पूजा यन्त्र





स्ववामभागे देवेशि जलेन चतुरस्रकम् ।
कृत्वाऽभ्यर्च्याक्षतैरक्तैर्गन्धचन्दनलालितैः ॥ ३८ ॥

पाद्य एवं अर्घ विधि—
हे देवेशि ! अपने वाम भाग में जल से एक चौकोर चतुरस्र बनावे । उस जल से बने चतुरस्र को पूजा अक्षत, रक्त चन्दन एवं गन्ध आदि से करे ॥ ३८ ॥

तत्राधारं प्रतिष्ठाप्य पूजयेद्वह्निमण्डलम् ।
शङ्खं वान्यतरत्पात्रं तत्र संस्थाप्य सुन्दरि ॥ ३९ ॥

उस आधार पर प्रतिष्ठा कर वह्नि मण्डल की पूजा करे । हे सुन्दरि ! शङ्ख एवं अन्य पात्रों को वहाँ यथास्थान रखे ॥ ३९ ॥

कलाभिः सहितं तत्र पूजयेत्सूर्यमण्डलम् ।
तत्र शुद्धोदकं पूर्यं चन्द्रगन्धादिमिश्रितम् ॥ ४० ॥

कलाओं (किरणों) के सहित वहाँ सूर्यमण्डल की पूजा करनी चाहिए । वहाँ चन्द्र एवं गन्धादि से मिश्रित शुद्धोदक पात्र को भरकर रख देना चाहिए ॥ ४० ॥

तत्र तीर्थान्यथावाह्य भित्वा सूर्यस्य मण्डलम् ।
अभिमन्त्र्याष्टधा मूलमन्त्रेण कुसुमादिभिः ॥ ४१ ॥

सूर्य मण्डल को भेदकर वहाँ तीर्थों का आवाहन करके पुष्प आदि एवं मूलमन्त्र से आठ प्रकार से उसका अभिमन्त्रण करना चाहिए ॥ ४१ ॥

सुरभ्या चामृतीकृत्य शङ्खमत्स्यौ प्रदर्शयेत् ।
अनेनैव विधानेन पाद्यमर्घं प्रकल्पयेत् ॥ ४२ ॥

सुरभि से अमृतीकृत करके शङ्ख एवं मत्स्य (मुद्रा) का प्रदर्शन करना चाहिए । इस प्रकार के विधान से पाद्य एवं अर्घ को परिकल्पना करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

कांस्यजं मधुपर्कार्थं तथैवाचमनीयकम् ।
एवं पात्राणि संस्कृत्य पीठपूजां समारभेत् ॥ ४३ ॥

मधुपर्क विधि—
कांस्य पात्र में मधुपर्क के लिए उसी प्रकार आचमनी एवं अन्य पात्रों को संस्कृत करते पीठपूजा प्रारम्भ करे ॥ ४३ ॥

मण्डूकाधारशक्ती च कूर्मोऽनन्तवराहकौ ।
पृथिवी च जलं तेजो वायुराकाश एव च ॥ ४४ ॥

मण्डूक और आधारशक्ति—कूर्म और अनन्त वराह, पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश की पूजा करे ॥ ४४ ॥

अहङ्कारो महत्तत्त्वं प्रकृतिः पुरुषस्तथा ।
रत्नद्वीपो ब्रह्मनालः कल्पद्रुमवनं ततः ॥ ४५ ॥

अहङ्कार, महत्तत्व, प्रकृति और पुरुष की पूजा करे। इसके बाद रत्नद्वीप, ब्रह्मनाल और कल्पद्रुम के वन की पूजा करे ॥ ४५ ॥

मन्दारोद्यानमीशानि पारिजातवनं ततः ।
हरिचन्दनमुद्यानं वैडूर्यद्रुमवाटिका ॥ ४६ ॥

हे ईशानि ! इसके बाद मन्दार के उद्यान और पारिजात पुष्प के वन की पूजा करे। हरिचन्दन के उद्यान और वैडूर्यद्रुम की वाटिका की पूजा करे ॥ ४६ ॥

दिव्यमुक्तावनं चैव प्रवालद्रुमवाटिका ।
सूर्यकान्तद्रुमोद्यानं पद्मरागवनं ततः ॥ ४७ ॥

दिव्यमुक्तावन और प्रवालद्रुम की वाटिका, सूर्यकान्तद्रुम के उद्यान और इसके बाद पद्मरागमणि के वन की पूजा करे ॥ ४७ ॥

महापद्मवनं चैव मणिगृहमनुत्तमम् ।
चतुःषष्टिमणिस्तम्भमण्डपस्तु ततः परम् ॥ ४८ ॥

महापद्मवन की तथा मणि से निर्मित उत्तम गृह की पूजा करे। इसके बाद मणिगृह के अन्दर चौसठ मणिनिर्मित स्तम्भों के मण्डप की पूजा करे ॥ ४८ ॥

रत्नसिंहासनं देवि तस्य पादचतुष्टये ।
धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं वह्निदिक् क्रमात् ॥ ४९ ॥

हे देवि ! रत्न से निमित सिंहासन की और सिंहासन के धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य रूप चार-पाद की पूजा वह्नि (पूर्व) दिक् के क्रम से करे ॥ ४९ ॥

एवं पीठार्चनं कृत्वा बध्वावाहनमुद्रिकाम् ।
स्वामिनीसहितं कृष्णं ध्यात्वायाकुलचेतसा ॥ ५० ॥

इस प्रकार पीठपूजा करके आवाहनी मुद्रा बाँधकर शान्त मन से स्वामिनी सहित श्रीकृष्ण का ध्यान करना चाहिए ॥ ५० ॥

हृद्यागतमिति ध्यायन् सामरस्यमयं महः ।
नेत्रद्वारेण कुसुमं जलाक्षतसमन्वितम् ॥ ५१ ॥

स्वामिनी राधा और श्रीकृष्ण का सामरस्य (एकीकृत) विग्रह हृदय में विराजमान है—ऐसा ध्यान करते हुए नेत्र द्वार से पुष्प जल एवं अक्षत से युक्त पुष्प को मनसा चढ़ाना चाहिए ॥ ५१ ॥

यन्त्रराजोपरि क्षिप्त्वा प्राणन्यासं समाचरेत् ।
आवाहनादिकां मुद्रां दर्शयेदथ पार्वति ॥ ५२ ॥

(राधा कृष्ण के) यन्त्रराज के ऊपर (उन जल एवं अक्षत से युक्त पुष्पों को मन से) चढ़ाकर साधक को 'प्राण न्यास' करना चाहिए । हे पार्वति ! उसके बाद साधक को आवाहन आदि (नौ) मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ५२ ॥

पाद्यपात्रोदकेनैव पाद्यं दद्याद्विचक्षणः ।
अर्घ्यपात्रोदकेनैव दद्यादर्घ्यं च मूर्द्धनि ॥ ५३ ॥

विचक्षण साधक को चाहिए कि पाद्य-पात्र के जल से ही पाद्य दे और मूर्धा पर अर्घ्य-पात्र के जल से ही अर्घ्य समर्पित करे ॥ ५३ ॥

मधुपर्कं ततः कृत्वा दद्यादाचमनीयकम् ।
पुष्पतैलं ततो दत्वा दर्शयेन्मणिपादुकाम ॥ ५४ ॥

इसके बाद (उन यन्त्रराज का) मधुपर्क करके आचमन आदि कराए । इसके बाद पुष्प और तैल समर्पित करके मणि की पादुका (खड़ाऊ) दिखाना चाहिए ॥ ५४ ॥

स्नानं दिव्यजलैर्देवि वासः खचितरत्नकम् ।
भूषणादि समर्प्याथ दिव्यगन्धार्पणं ततः ॥ ५५ ॥

हे देवि ! दिव्य जल से यन्त्रराज को स्नान कराकर रत्न से जटित वस्त्र पहनाना चाहिऐ । इसके बाद आभूषणों को समर्पित कर पुनः दिव्य गन्ध अर्पण करे ॥ ५५ ॥

चम्पकैः करवीरैश्च केतकैर्बकुलैरपि ।
पङ्कजैर्जातिकुसुमैर्मालतीमोगरैरपि ॥ ५६ ॥
पूजयेद्यन्त्रराजस्थं धूपं दद्याद्यथाविधि ।
निवेदयेत्ततो दीपमज्ञानध्वान्तनाशनम् ॥ ५७ ॥

चम्पा, करवीर, केतकी, बकुल, कमल, जाति पुष्पों, मालती एवं मोगरा के कुसुमों से यन्त्रराजस्थ देवता की पूजा करनी चाहिए । इसके बाद विधिपूर्वक धूप देना चाहिए । इसके बाद अज्ञानान्धकार के विनाश के लिए यन्त्रराजस्थ देवता को दीप दिखाना चाहिए ॥ ५५-५७ ॥

दक्षिणे स्थापयेद्दीपं तैलदीपस्तु वामतः ।
तयोरेकतरेणापि दीपं दद्याद् यथारुचि ॥ ५८ ॥

यन्त्रराज के दक्षिण में एक तेल का दीपक स्थापित करे और वाम भाग में भी एक तेल का दीपक रखना चाहिए। उन दोनों से भिन्न भी यथारुचि दीपक दिखाना चाहिए ॥ ५८ ॥

वामभागे तु देवेशि त्रिविधानर्चयेद् गुरून् ।
करुणानन्दनाथश्च तरुणानन्द एव च ॥ ५९ ॥

भुवनानन्दनाथश्च त्रीनेतानूर्ध्वतो यजेत् ।
द्वितीयायां तथा पङ्क्तौ तदधः परमेश्वरि ॥ ६० ॥

मदनं मोहनं चैव मन्द्रं चैव यजेत्ततः ।
मन्दरं शङ्करं ताम्रं स्वगुरुं तद्गुरु तथा ॥ ६१ ॥

हे देवेशि ! वामभाग में तीन प्रकार के गुरुओं की अर्चा पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार साधक श्रीकरुणानन्दनाथ और श्रीतरुणानन्दनाथ तथा भुवनानन्दनाथ नामक तीन प्रकार के गुरुओं का यन्त्रराज के ऊर्ध्वभाग में यजन करे। हे परमेश्वरि ! गुरुओं की इस प्रथम पङ्क्ति के नीचे द्वितीय पङ्क्ति में ६ प्रकार के—१. मदन २. मोहन, ३. मन्द्र, ४. मन्दर, ५. शङ्कर और ६. ताम्र नामक अपने गुरु तथा उन गुरु के गुरु का साधक को यजन करना चाहिए ॥ ५९-६१ ॥

षट्गुरूश्च[1] महेशानि तदधः परिपूजयेत् ।
साध्यसाधकयोर्मध्यदेशः प्राचीति गद्यते ॥ ६२ ॥

हे महेशानि ! छः गुरुओं का उनके नीचे पूजन करना चाहिए। साध्य एवं साधक के मध्यदेश को 'प्राची' कहा जाता है ॥ ६२ ॥

क्लृप्तप्राचीं समारभ्य सर्वत्र परिपूजयेत् ।
षट्कोणेष्वर्चयेद्देवि सुन्दरीमिन्दिरां तथा ॥ ६३ ॥

इस प्रकार प्राची दिशा की कल्पना करके सर्वत्र पूजन प्रारम्भ करे। हे देवि ! षट्कोणों में सुन्दरी और इन्दिरा नामक भगवान् की दो प्रधान सखियों का अर्चन करना चाहिए ॥ ६३ ॥

आह्लादिनीमथानन्दामरुणां करुणावतीम् ।
श्यामानङ्गानङ्गरेखा सुरङ्गा व्यञ्जुली रतिः ॥ ६४ ॥

बलाकी केसराङ्गी च वसुकोणे प्रपूजयेत् ।
ततो द्वादशपत्रेषु पूजनं प्रवदामि ते ॥ ६५ ॥

---

१. 'तद्गुरूंश्च' इ० पाठः ।

इसके बाद १. आह्लादिनी, २. आनन्दा, ३. अरुणा, ४. करुणावती, ५. श्याना ६. अनङ्गा, ७. अनङ्गरेखा, ८. सुरङ्गा, ९. व्यञ्जुली, १०. रति, ११. बलाकी और केसराङ्गी का पूजन वसु (=आठ) कोण में करना चाहिए। इसके बाद कमल की बारह पङ्खुड़ियों में उनके पूजन की विधि कहता हूँ ॥ ६४-६५ ॥

चत्वारिंशद् यूथमुख्यास्तिस्रस्तिस्र उदाहृताः ।
प्रतिपत्रं प्रपूज्ये द्वे स्वामिनीनित्यपार्श्वगे ॥ ६६ ॥

तीन-तीन सखियाँ चालिस के समूह की प्रधान कही गई हैं। अतः एक-एक पङ्खुड़ियों में दो सखियाँ और तीसरी नित्य पार्श्व में रहने वाली स्वामिनी होती है ॥ ६६ ॥

मालती माधवी नन्दा सुभद्रा रुचिरानना ।
पुष्पावती रत्नरेखा पद्मवृन्दा विलासिनी ॥ ६७ ॥
मन्दारमधुरा माध्वी मञ्जुनादा कलावती ।
शृङ्गारलतिका वृन्दा प्रमोदा मधुमालती ॥ ६८ ॥
किशोरी कुसुमानन्दा रसकुल्या प्रभावती ।
आशावती विशाला च निस्तुला नीलकुन्तला ॥ ६९ ॥
विद्युद्वर्णा निम्ननाभिः विरजस्का विहारिणी ।
रागिणी रङ्गलतिका तथा रत्नावतीति च ।
रागिणी रङ्गलतिका तथा रत्नावतीति च ।
पद्मावती पद्मगर्भा पद्मिनी च पिकस्वरा ॥ ७० ॥

१. मालती, २. माधवी, ३. नन्दा, ४. सुभद्रा, ५. रुचिरानना, ६. पुष्पावती ७. रत्नरेखा, ८. पद्मवृन्दा, ९. विलासिनी, १०. मन्दारमधुरा, ११. माध्वी १२. मञ्जुनन्दा, १३. कलावती, १४. शृङ्गारलतिका, १५. वृन्दा, १६. प्रमोदा १७. मधुमालती, १८. किशोरी, १९. कुसुमानन्दा, २०. रसकुल्या, २१. प्रभावती २२. आशावती, २३. विशाला, २४. निस्तुला, २५. नीलकुन्तला, २६. विद्युद्वर्णा २७. निम्ननाभि, २८. विरजस्का, २९. विहारिणी, ३०. रागिणी, ३१. रङ्गलतिका ३२. रत्नावती, ३३. पद्मावती, ३४. पद्मगर्भा, ३५. पद्मिनी, और ३६. पिकस्वरा—तीन-तीन के क्रम से इनका पूजन द्वादश दल में करे ॥ ६६-७० ॥

बहिर्वृत्ते च कूटस्थं[1] व्यापकं नित्यमव्ययम् ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं पूजयेत्परमेश्वरि ॥ ७१ ॥

---

१. 'अक्षरस्वरूपवर्णनमिदम्'।

हे परमेश्वरि ! वृत्त के बाहर अक्षर रूप कूटस्थ, व्यापक, नित्य, अव्यय एवं अखण्ड सच्चिदानन्द का पूजन करना चाहिए ।। ७१ ।।

कालमेघालिरुचिरं स्फुरन्माणिक्यकुण्डलम् ।
दिव्यरत्नकिरीटेन ज्वालयेव हविर्भुजम् ।। ७२ ।।

काले मेघ के समान रुचिर अलकावलि वाले, माणिक्य जटित जाज्वल्यमान कुण्डल पहने तथा अग्नि की ज्वाला के समान दीप्तिमान एवं दिव्य रत्न से निर्मित मुकुट धारण किए हुए श्रीकृष्ण का पूजन करे ।। ७२ ।।

मुक्ताहारं चतुर्बाहुमुद्यत्सूर्यारुणाम्बरम् ।
कोटिचन्द्रांशुसन्दोहप्रकाशपरमोज्ज्वलम् ।। ७३ ।।

मुक्तामणिनिर्मित हार पहने हुए, चार भुजा वाले, उदयकालीन सूर्य के समान अरुण वस्त्र धारण करने वाले, करोड़ों चन्द्रों की किरणों के समूह के प्रकाश से परम उज्ज्वल प्रतीत होने वाले ब्रह्म का पूजन करे ।। ७३ ।।

यदुन्मेषनिमेषाभ्यां ब्रह्माण्डविलोदयौ ।
जगद्भ्रमस्याधिष्ठानं रजतस्येव शुक्तिका ।। ७४ ।।

जिन श्रीकृष्ण के पलक झपकने से ब्रह्माण्ड का विलय और पलक खोल देने से ब्रह्माण्ड का उदय हो जाता है, सीपी में चाँदी का भ्रम होने की तरह जगत् रूप भ्रम के अधिष्ठान उन श्रीकृष्ण का पूजन करे ।। ७४ ।।

अध्यारोपापवादाभ्यां विदुषां ज्ञानगोचरम् ।
यत्सत्तयाप्यसद्भाति नामरूपविकल्पितम् ।। ७५ ।।

जो परब्रह्म अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा विद्वानों को ज्ञात होता है । जिसकी सत्ता से नाम एवं रूपात्मक असत् जगत् का भान होता है उन कृष्ण का पूजन करे ।। ७५ ।।

उपेतं रमया पञ्चवार्षिक्या सप्तवार्षिकम् ।
नवरत्नविचित्रश्रीमालयालङ्कृतं परम् ।। ७६ ।।

पाँच वर्ष अथवा सात वर्ष की आयु वाली उन रमा के सहित कृष्ण का पूजन करे जो रमा नौ रत्नों से बनी विचित्र एवं श्रेष्ठ वनमाला से अलङ्कृत हैं ।। ७६ ।।

तद्बहिश्चतुरस्रे च प्रतिद्वारं सुरेश्वरि ।
पुरुषं प्रकृतिं कालं यज्ञं पूर्वादिवामतः ।। ७७ ।।

हे सुरेश्वरि ! उस चतुरस्त्र के बाहर प्रति द्वार पर पूर्व से बाएँ पुरुष, प्रकृति काल एवं यज्ञ की पूजा करे।। ७७ ।।

तद्बहिश्चतुरस्त्रे च वासुदेवादिकान् यजेत्।
किरीटकुण्डलधरान् जलदश्यामलाकृतीन् ।। ७८ ।।
शङ्खचक्रगदापद्मभ्राजद् भुजचतुष्टयान्।

उस चतुरस्त्र के बाहर उन वासुदेव आदि देवताओं का यजन करना चाहिए जो मुकुट एवं कुण्डल धारण किए हैं, जिनकी आकृतियां मेघ के समान श्याम वर्ण की है ? कृष्ण जो अपने चार भुजाओं से शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म को धारण किए हैं ।। ७८-७९ ।।

तद्बहिश्चतुरस्त्रेऽपि पूजयेच्च ततः परम् ।। ७९ ।।
अग्नेरीशानपर्यन्तं पञ्चभूतार्चनं क्रमात्।
ईशानाद्वायुपर्यन्तं तन्मात्राः परिपूजयेत् ।। ८० ।।

उसके बाद चतुरस्त्र में ही अग्नि से लेकर ईशान पर्यन्त पञ्चभूतों को क्रम से अर्चना करनो चाहिए। इसके बाद ईशान से लेकर वायु पर्यन्त पञ्च तन्मात्राओं का पूजन करे ७९-८० ।।

नैर्ऋतेर्वायुपर्यन्तं पञ्चकर्मेन्द्रियाण्यपि।
नैर्ऋतादग्निपर्यन्तं पूजयेत् ज्ञानपञ्चकम् ।। ८१ ।।

नैर्ऋत कोण से लेकर वायु पर्यन्त पञ्च कर्मेन्द्रियों की भी पूजा करे। नैर्ऋत कोण से लेकर वायु पर्यन्त पञ्च कर्मेन्द्रियों की पूजा करनी चाहिए ।। ८१ ।।

तद्बहिर्द्वारदेशेषु पूर्वादिक्रमतोर्चयेत्।
इन्द्रमग्निं यमं चैव नैर्ऋतिं च जलेश्वरम् ।। ८२ ।।

उसके बाहर द्वार प्रवेशों में पूर्वादि क्रम से इन्द्र, अग्नि, और यम, नैर्ऋति तथा वरुण की पूजा करे ।। ८२ ।।

पवनं धनदं रुद्रमूर्ध्वं ब्रह्माणमर्चयेत्।
अधस्ताच्च तथानन्त तत्रवास्त्राणि वाहनं ।। ८३ ।।

पवन, कुबेर, रुद्र और उसके बाद ब्रह्मा का अर्चन ऊर्ध्वभाग में करे। नीचे अनन्त की तथा वहीं पर उनके आयुधों एवं वाहनों की पूजा करे ।। ८३ ।।

पूजयित्वा ततो देवि ततो नैवेद्यमर्पयेत्।
भक्ष्यभोज्यान्नभरितं साधारं पात्रमुत्तमम् ।। ८४ ।।

हे देवि ! इस प्रकार पूजा करके तब नैवेद्य समर्पित करना चाहिए। भक्ष्य-भोज्य अन्न से भरा हुआ आधार से युक्त पूर्ण पात्र उन्हें दे। ८४॥

सामान्यसलिलैः प्रोक्ष्य दत्त्वा पुष्पाक्षतादिकम्।
ततो धेन्वामृतीकृत्य मूलमन्त्रं ततोऽष्टधा॥ ८५॥

सामान्य जल से प्रोक्षण करके फिर पुष्प एवं अक्षत आदि देकर धेनु मुद्रा से उस नैवेद्य को अमृतमय बनाकर; मूलमन्त्र से आठ प्रकार करके नैवेद्य समर्पित करे॥ ८५॥

पञ्चप्राणाहुतीर्दद्यात् ग्रासमुद्रां च दर्शयन्।
जलपात्रं निवेद्याथ बिभृयादन्तरे पटम्॥ ८६॥

इसके बाद ग्रास मुद्रा प्रदर्शित करते हुए पाँच प्राणाहुतियाँ (प्राणाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा आदि) देनी चाहिए और जल पात्र उन्हें निवेदित करके एक पर्दा कर देना चाहिए॥ ८६॥

पौराणैः प्राकृतैः स्तोत्रैः स्तुत्वा भुञ्जानमीश्वरम्।
ध्यात्वा तृप्तमिति ज्ञात्वा दूरीकृत्य पटावृतिम्॥ ८७॥
दत्त्वाचमनमीशानि गन्धचूर्णैरनेकधा।
स्नेहापनोदनं कृत्वा हस्तयोः परमेशितुः॥ ८८॥

पौराणिक या प्राकृतभाषा के स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति करके ईश्वर को भोग लगाना चाहिए। यह ध्यान कर कि अब तृप्ति हो गई होगी फिर पर्दे को हटाए। हे ईशानि ! उन्हें आचमन के लिए जल देकर अनेक प्रकार के गन्ध-चूर्णों से स्नेह एवं अपनोदय करके परमेश्वर का हाथ धुलाना चाहिए॥ ८७-८८॥

गण्डूषान् कारयेत्पश्चात् कर्पूरैर्मुखशोधनम्।
हस्तपादौ च प्रक्षाल्य हस्तवासस्ततोर्चयेत्॥ ८९॥

इसके बाद उन्हें कुल्ला कराना चाहिए (इसके बाद) कपूर आदि द्रव्य से मुख शुद्धि करके हाथ पैर धुलाकर उनके हाथ पैर वस्त्र से पोंछकर अर्चन करे॥ ८९॥

ततः प्रसन्नपूजान्ते लविङ्गैलेन्दुमिश्रिताम्।
पूगाश्मचूर्णनिर्भिन्नां दद्यात्ताम्बूलबीटिकाम्॥ ९०॥

इसके बाद पूजा के अन्त में प्रसन्न होए और भगवान् को लौंग और इन्दु से मिश्रित सुपाड़ी एवं चूना डालकर ताम्बूल का बीड़ा दे॥ ९०॥

सम्प्रार्थ्य पादुकायुग्मं निधाय पुरतः शिवे।
पुनः सिंहासनगतं दीपैर्नीराजयेत्ततः॥ ९१॥

हे शिवे ! उनके आगे दोनों पैर की चरणपादुका रखकर प्रार्थना करे। पुनः सिंहासन पर बैठे हुए भगवान् को दीपक आदि से नीराजन करे ।। ९१ ।।

ईषत्पक्वसुपिष्टेन कुर्याद्द्विदाङ्गुलोन्नतान् ।
चतुरस्त्रान् शुभाकारान् नव सप्ताथ पञ्च वा ।। ९२ ।।

ततश्छत्रं चामरं च मायूरं व्यञ्जनं तथा ।
दर्पणं च ततो दत्वा प्रदक्षिणनमस्क्रियाम् ।। ९३ ।।

इसके बाद छत्र, चामर और मयूर पिच्छ का पँखा उन्हें करके तथा दर्पण दिखलाकर उनकी प्रदक्षिणा करे तथा नमस्कार करे ।। ९३ ।।

गीत नृत्यादिकं कृत्वा प्रीणयेत्परमेश्वरम् ।
इति ते कथितो देवि पूजाया विधिरुत्तमः[1] ।। ९४ ।।

गीत एवं नृत्य आदि करके नाना प्रकार से अपने परमेश्वर को प्रसन्न करे। हे देवि ! इस प्रकार मैंने आपसे पूजा की श्रेष्ठ विधि कही है ।। ९४ ।।

मनः प्रसादकाले तु कुर्यात्पूजां समाहितः ।
न कालनियमश्चात्र विद्यते परमेश्वरि ।। ९५ ।।

मन की प्रसन्नता के समय समाहित एवं सावधान चित्त होकर पूजा करनी चाहिए। हे परमेश्वरि ! पूजा के लिए कोई काल का नियम नहीं है (जितना भी समय लगे कोई बात नहीं है) ।। ९५ ।।

इत्येतत् कथितं देवि त्वया पृष्टं सुलोचने ।
समासेन महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।। ९६ ।।

।। इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे
एकोनपञ्चाशत्तमं पटलम् ।। ४९ ।।

——*——

हे देवि ! हे सुलोचने ! जो आपने पूँछा तो उसे मैंने आपसे संक्षिप्त रूप से प्रतिपादित किया है। हे महेशानि ! अब आप पुनः क्या पूँछना चाहती हैं ।। ९६ ।।

।। इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के उनचासवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।। ४९ ।।

१. 'इति ते कथिता देवि पूजाया विधिरुत्तमा' इ० पा० ।

अथ पञ्चाशत्तमं पटलम्

पार्वत्युवाच—

देव नाथ महेशान त्रिलोचन जगत्पते।
पूजनस्यापि परमो विधिर्मे संश्रुतो महान् ॥ १ ॥

पार्वती ने कहा—

हे देव, हे नाथ, हे महेश, हे त्रिलोचन, हे जगत् के स्वामी ! पूजन की श्रेष्ठ विधि भी हमने सुन ली ॥ १ ॥

कूटस्थपूजने तत्र ध्यानमुक्तं त्वयाऽस्य हि।
व्यापकं नित्यमव्यक्तमखण्डमिति शङ्कर ॥ २ ॥

कूटस्थ (ब्रह्म) के पूजन में आपने जो ध्यान कहा है उस ब्रह्म, को हे शङ्कर ! व्यापक, नित्य, अव्यक्त और अखण्ड जानना चाहिए ॥ २ ॥

अखण्डं व्यापकं तच्चेत्तदानन्दगतं न किम्।
केवलानन्दलीलायामङ्गीकारो विरुध्यते ॥ ३ ॥

वह अखण्ड और व्यापक ब्रह्म आनन्दरूप कैसे है ? केवल लीला के अङ्गीकार करने से वह विरुद्ध हो जाता है ॥ ३ ॥

अनङ्गीकारे देवेश व्यापकत्वं विरुध्यते।
ज्ञानरूपं तु कूटस्थमानन्दः पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥

हे देवेश ! अङ्गीकार न करने पर वह व्यापक व्यापकत्व विरुद्ध होता। ज्ञान रूप कूटस्थ (ब्रह्म) आनन्द पुरुषोत्तम है ॥ ४ ॥

मिथो विरुद्धौ देवेश ज्ञानानन्दौ सुरेश्वर।
भेदशून्यं यदा ज्ञानं जायते कृष्णयोषिताम् ॥ ५ ॥
रसस्तदा निवर्त्तेत निर्विशेषतया प्रभो।
रसाभासकरं ज्ञानं कथं युज्येत तत्र हि ॥ ६ ॥

हे देवेश ! ज्ञान और आनन्द दोनों यदि विरुद्ध हो जायँ तो हे सुरेश्वर ! तथा जब कृष्ण और उनकी पत्नियों में भेद का ज्ञान न हो तो, हे प्रभो तब निर्विशेष रूप से रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार रसाभास रूप ज्ञान वहां कैसे युक्ति युक्त है ? ॥ ५-६ ॥

अखण्डव्यापकत्वादि धर्माणां तत्र का गतिः ।
एतज्जिज्ञासया देव मनो मे खिद्यतेतराम् ॥ ७ ॥

अखण्ड और व्यापकत्व रूप धर्मों की वहाँ (लीला में) क्या गति होती है । इस जिज्ञासा से, हे देव ! मेरा मन अत्यन्त व्याकुल है ॥ ७ ॥

शिव उवाच—

साधु पृष्टं त्वया भद्रे जिज्ञासूनामभीप्सितम् ।
यच्छ्रुत्वा तत्क्षणादेव जिज्ञासा विनिवर्त्तते ॥ ८ ॥

शिव ने कहा—

हे भद्रे ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है । यह तो जिज्ञासु लोगों का अभीप्सित प्रश्न है । जिसके सुनने मात्र से उसी क्षण जिज्ञासा नष्ट हो जाती है ॥ ८ ॥

कूटस्थं व्यापकं देवि व्याप्यं कार्यमिति स्थितम् ।
न कार्यं व्यापकं क्वापि न व्याप्यं कारणं भवेत् ॥ ९ ॥

हे देवि । कूटस्थ (ब्रह्म) व्यापक व्याप्य एवं कार्य है—यही सिद्धान्त है । कार्य कभी भी व्यापक नहीं होता और व्याप्य कभी भी कारण नहीं होता ॥ ९ ॥

अल्पवृत्ति भवेद् व्याप्यं व्यापकं तु तदन्यथा ।
व्याप्यव्यापकता चापि कूटस्थानन्दयोरपि ॥ १० ॥

व्याप्य वस्तुतः अल्पवृत्ति (थोड़े में रहने वाला) है और व्यापक उसके विरुद्ध अधिक में रहने वाला है । अतः कूटस्थ और आनन्द दोनों की व्याप्य और व्यापकता भी वैसी ही कम ज्यादा है ॥ १० ॥

विशेषं तत्र वक्ष्यामि शृणु त्वं कमलेक्षणे ।
कामांशकणिकाव्याप्तं कूटस्थं ज्ञानरूपकम् ॥ ११ ॥

हे कमल के समान नेत्रों वाली ! उस व्याप्य-व्यापक में विशेष क्या है ? आप सुनें मैं कहता हूँ । व्यक्ति की कामनाओं के अंश का एक कण व्याप्य है और कूटस्थ ज्ञानरूपात्मक है ॥ ११ ॥

अत एव श्रुतिशतैरानन्दमिति कीर्त्यते ।
कूटस्थमपरिच्छिन्नं विद्यते यद्यपि प्रिये ॥ १२ ॥

अत एव सैकड़ों श्रुति वचनों द्वारा उस कूटस्थ ब्रह्म को आनन्द कहा गया है (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) । हे प्रिये ! यद्यपि कूटस्थ ब्रह्म अपरिच्छिन्न (माप के योग्य) नहीं है । (फिर भी उसे समझने के लिए परिच्छिन्न कहते हैं) ॥ १२ ॥

तिरोहितमिवानन्दे कुह्वां बिम्बमिवैन्दवम् ।
कामांशस्त्वपरिच्छिन्नमखण्डमचलं ध्रुवम् ॥ १३ ॥

वह कूटस्थ ब्रह्म आनन्द में उसी प्रकार तिरोहित सा रहता है जिस प्रकार कुहरे में चन्द्र का बिम्ब छिपा रहता है। वह बिम्ब कामांश रूप से परिछिन्न अखण्ड, अचल और ध्रुव है ॥ १३ ॥

सर्वतो व्याप्य देवेशि स्वरूपेण प्रकाश्यते ।
चिदानन्दमयीलीला प्रोक्ता कामांशभावजा ॥ १४ ॥

हे देवेशि ! वह (व्याप्य) कूटस्थ ब्रह्म ही सब में व्याप्त होकर स्वरूपतः प्रकाशित होते हैं। कामांश भाव से उत्पन्न उन कृष्ण की लीला चिदानन्दमयी कही गई है ॥ १४ ॥

अनुभूता पुरा देवि निगमैः प्राकृते लये ।
तस्माद्गोलोकलीलेति प्रोच्यते वरवर्णिनि ॥ १५ ॥

हे देवि ! प्राकृत लय के समान निगमों के द्वारा वह लीला प्राचीन काल में अनुभूत हुई है। हे वरवर्णिनि ! उस लीला को ही 'गोलोक लीला' कहा गया है ॥ १५ ॥

पार्वत्युवाच—

कीदृशी सा भवेल्लीलानुभूता निगमैः कथम् ।
शब्दात्मकः कथं वेदो रसानुभवमर्हति ॥ १६ ॥
एतदाख्याहि भगवन् यदि योग्यं भवेन्मम ।

पार्वति ने कहा—

वह गोलोक लीला कैसी होती है ? निगमों के द्वारा वह कैसे अनुभूत हुई ? वस्तुतः वेद तो शब्द ब्रह्मात्मक है ? वह शब्द कैसे रस का अनुभव करता है ? हे भगवन् ! यदि मुझसे कहने योग्य हो तो आप इसे बतलाइए। १६-१७ ॥

शिव उवाच—

शृणु पार्वति वक्ष्यामि तव प्रश्नमनुत्तमम् ॥ १७ ॥

शिव ने कहा—

हे पार्वति ! आप सुनें ! मैं कहता हूँ ! आपका प्रश्न अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ १७ ॥

सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे न स विभुर्ब्रह्मा प्रजानां पति-
र्नोसूर्यादिगृहर्क्षसागरसरिद्विश्वन्धरा[1] पर्वताः ।
वृक्षा औषधयस्तदा न विबुधा दैत्या मनुष्या दिशो
गन्धर्वा न च राक्षसा मुनिवरा यक्षा[2] न सिद्धोरगाः ॥ १८ ॥

१. 'विश्वंभराः' इ० पा० ।
२. 'साध्या' इ० पा० ।

सृष्टि के विलय के समय वह प्रजाओं के पालक विष्णु, ब्रह्मा सूर्यादि ग्रह और नक्षत्र, सागर, नदियाँ, विश्व को धारण करने वाले पर्वत और वृक्ष एवं औषधियाँ नहीं थे। देव, दैत्य, मनुष्य, दिशाएँ, गन्धर्व एवं राक्षस भी नहीं थे। श्रेष्ठ मुनि यक्ष एवं सिद्ध पुरुष या सर्प आदि जीव जन्तु भी नहीं थे ॥ १८ ॥

नष्टं स्थावरजङ्गमं विधिकृतं शिष्टं न किञ्चित्तदा
यः शिष्टः स विभुर्विनाशरहितः कूटस्थ एकः पुमान् ।
वेदा विस्मितचेतसोऽप्यथ विभुं तेऽन्तरश्चरा ब्रह्मवत्
सञ्चिन्त्याथ हृदास्तुवन् रहसि ते यं वाङ्मनोगोचरम् ॥ १९॥

उस समय सभी ब्रह्म कृत सृष्टि के स्थावर एवं जङ्गम नष्ट हो गए थे। उस विसर्ग में जब कुछ भी नहीं शेष था तब एकमात्र व्यापक बिनाशरहित और कूटस्थ एक पुरुष ही शेष था। अतः वेदों ने विस्मित होकर शब्द ब्रह्म रूप से (जो विभु के अन्त में विद्यमान हैं) उनका चिन्तन किया। फिर उन व्यापक ब्रह्म की हृदय से स्तुति की जो गुप्त रूप से वाणी एवं मन से देखे जाने वाले हैं ॥ १९ ॥

वेदा ऊचुः—[1]

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणो
निरीहः ।
नित्योऽव्ययोऽनन्तगुणो
क्वचित्स्थितः क्वापि गतो न विद्महे
तं त्वां परं संशरणं गता वयम् ॥ २० ॥

वेदों ने कहा—

हे ब्रह्म ! आप ही एकमात्र (सभी) प्राणियों के, आत्मा हैं। आप पुरातन पुरुष, नित्य, अव्यय और अनन्त गुणों वाले हैं। आप में कोई इच्छा नहीं है। आप कहाँ पर स्थित रहते हैं या कहाँ चले गए – यह हम लोग नहीं जान सकते। ऐसे आप श्रेष्ठ पुरुष की शरण में हम लोग आए हैं ॥ २० ॥

---

१. यथा–बृहद्वामनपुराणेऽपि भृग्वादीन् प्रति ब्रह्मणो वाक्यानि —

षष्टिवर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा।
नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ॥ १ ॥
तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः।
श्रुत्वैतद्ब्रह्मणो वाक्यं भृगुः प्राहाथ सादरम् ॥ २ ॥

भृगुरुवाच —

वैष्णवानां पादरजो गृह्यते त्वद्विधैरपि।
सन्ति ते बहवो लोके वैष्णवा नारदादयः ॥ ३ ॥

तेषां विहाय गोपीनां पादरेणुस्त्वयापि यत् ।
गृह्यते संशयो मेऽत्र को हेतुस्तद्वद प्रभो ॥ ४ ॥

ततो ब्रह्मा भृगुं प्राह चिन्तयित्वा पुरातनीम् ।
कथां सर्वश्रुतीनां च रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मोवाच—

न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल ।
नाहं शिवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समा क्वचित् ॥ ६ ॥
प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा ।
शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगेऽक्षरे ॥ ७ ॥
ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसंज्ञकः ।
निर्गुणोऽनाद्यनन्तश्च वर्तते केवलेऽक्षरे ॥ ८ ॥
अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम् ।
तल्लोकवासी तत्रस्थैः स्तुतो वेदैः परात्परः ॥ ९ ॥
चिरं स्तुत्या तु सन्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरः ।
तुष्टोऽस्मि ब्रूत भो प्राज्ञा वरं यन्मनसीप्सितम् ॥ १० ॥

श्रुतय ऊचुः—

नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ।
सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥ ११ ॥
ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥ १२ ॥
आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः ।
तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ॥ १३ ॥
श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम् ।
केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमव्ययम् ॥ १४ ॥

यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
मनोरमणीयकुञ्जाढ्यं सर्वर्तुसुखसंयुतम् ॥ १५ ॥

यत्र गोवर्द्धनो नाम सुनिर्झरदरीयुतः ।
रत्नधातुमयः श्रीमान् सुपक्षिगणसंकुलः ॥ १६ ॥

यत्र निर्मलपानीया कालिन्दी सरितां वरा ।
रत्नबद्धोभयतटी हंसपद्मालिसङ्कुला ॥ १७ ॥

नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बकम् ।
तत्कदम्बकमध्यस्थ किशोराकृतिरच्युतः ॥ १८ ॥

दर्शयित्वेति च प्राह ब्रूत किं करवाणि वः ।
दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम् ॥ १९ ॥

श्रुतय ऊचुः—

कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः ।
कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयः ॥ २० ॥

यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्वेन गोपिकाः ।
भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाऽज्जनि नस्तथा ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच—

दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः ।
मयानुमोदिताः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति ॥ २२ ॥

आगामिनि विरञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यमे ।
कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ ॥ २३ ॥

पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले ।
वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले ॥ २४ ॥

जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोधिकम् ।
मयि सम्प्राप्य सर्वा हि कृतकृत्या भविष्यथ ॥ २५ ॥

श्रुत्वैतच्चिन्तयन्तस्ते रूपं भगवतश्चिरम् ।
उक्तं कालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गताः ॥ २६ ॥

स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवम् ।
हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः ॥ २७ ॥

तासां पादरजांस्येव नित्ये वृन्दावने भुवि ।
तत्प्राप्य तत्कामतया यान्त्यहो गोपिकागतिम् ॥ २८ ॥

नन्दगोपव्रजस्त्रीणामतः पादरजो मया ।
वाञ्छितं पुत्रकाः सम्यक् यतस्ताः श्रुतयः किल ॥ २९ ॥

श्रुत्वैतदृषयो वाक्यं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
सर्वात्मना प्रसन्नाः स्युः श्रीगोपीजनवल्लभे ॥ ३० ॥

— * —

उक्तं च सनत्कुमारसंहितायां एकत्रिंशे पटले—

श्रीमहादेव उवाच—

कश्चिद्वः कुशलं विप्रा ब्रह्मणो विष्णुदेवयोः ।
ध्यानयोगौ तपो वेदाः कुशलाः सन्ति शाश्वताः ॥ १ ॥

यदर्थमागता यूयं तद्वदामि परिस्फुटम् ।
एवं तु ऋषयो गुह्यं न विख्यातं मया क्वचित् ॥ २ ॥

इदं च कथ्यते गोप्यं गुह्याद् गुह्यतरं महत् ।
श्रूयतां मुनिशार्दूलाः कृष्णधामसमुत्सुकाः ॥ ३ ॥

वृन्दावनं महापुण्यं सर्वपावनपावनम् ।
सर्वलोकबहिर्भूतं निराधारं परिस्फुरत् ॥ ४ ॥

शुद्धं वस्त्रैश्च संवीतं प्रियं तं सुपरिस्थितम् ।
तत्र संक्रीडते युग्मं ललितादिसखीवृतम् ॥ ५ ॥

———*———

पुनश्चोक्तं सनत्कुमारसंहितायां द्वाविंशत्तमे पटले—

सदाशिव उवाच—

वृन्दावनस्याद्ययाद्यं वृन्दानन्दनमुच्यते ।
द्वितीये करणैर्जातं मथुरामण्डलं परम् ॥ ६ ॥

तत्समो नास्ति तीर्थोऽन्यो न चेद्वैकुण्ठ एव च ।
किमन्यत्तीर्थगणना अन्धकूपसमा मुने ॥ ७ ॥

मथुरामण्डलं रम्यं सर्वतीर्थोत्तमोत्तमम् ।
तत्र वृन्दावनं रम्यं पञ्चयोजनविस्तृतम् ॥ ८ ॥

प्राणत्यागं च मर्त्यास्तत्वज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ।
कुर्वन्ति ये वने पुण्यं प्राप्नुवन्ति पदं शुभम् ॥ ९ ॥

उत्तरे दक्षिणे भागे योजनद्वयमुच्यते ।
यत्र स्मरणमात्रेण सिद्धिर्न भवेद्ध्रुवम् ॥ १० ॥

भूमौ च जीवसिद्ध्यर्थं रचितं वृन्दावनस्थलम् ।
अन्यभूमौ न सहसा यथा वृन्दावने वरे ॥ ११ ॥

जायते तत्पदप्राप्तिरचिरेण सुखेन च ।
सर्वं संत्यज्य गार्हस्थं सर्वतीर्थगणं तथा ॥ १२ ॥

'गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं परमानन्दकारणम् ।
अत्यद्भुतरहस्यानां रहस्यं परमं शिवम् ॥ १३ ॥
दुर्लभानां च परम दुर्लभं सर्वमोहनम् ।
सर्वशक्तिमयं देवि सर्वशास्त्रेषु गोपितम् ॥ १४ ॥
सात्वतं स्थानमूर्द्धन्यं विष्णोरेकान्तवल्लभम् ।
नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम् ॥ १५ ॥
पूर्णब्रह्मसुखैश्वर्यं नित्यमानन्दमव्ययम् ।
वैकुण्ठादि तदंशांशं स्वयं वृन्दावनं भुवि ॥ १६ ॥
गोलोकैश्वर्यंयत्किंचिद्गोकुले तत्प्रतिष्ठितम् ।
वैकुण्ठवैभवं यच्च द्वारकायां प्रकाशितम् ॥ १७ ॥
यद्ब्रह्मपरमैश्वर्यं नित्यवृन्दावनाश्रयम् ।
तद्देवि माथुरं मध्ये वृन्दावनविशेषतः ॥ १८ ॥
स्त्री लक्ष्मीः पुरुषो विष्णुस्तदंशांशौ बभूवतुः ।
तत्र किशोरवयसा नित्यमानन्द विग्रहः ॥ १९ ॥
अनन्तकोटिब्रह्माण्डे अनन्तत्रिगुणाश्रये ।
तत्कलाकोटिकोट्यंशाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ २० ॥

उक्तं च गोतमीतन्त्रे—

तत्सर्वोपरि गोलोकस्तद्गोलोकोपरि स्वयम् ।
विहरेत्परमानन्दो गोविन्दोतुलनायकः ॥ २१ ॥

उक्तं च वाराहसंहितायाम् —

दिव्यवनेषु यद्रूपं नित्यं वृन्दावनेश्वरम् ॥ २२ ॥
व्रजेन्द्रं सात्वतैश्वर्यं व्रजप्राणैकवल्लभम् ॥ २३ ॥
परं धामपरं रूपं द्विभुजं गोकुलेश्वरम् ।
वृन्दावनेश्वरं ध्यायेन्निर्गुणस्यैककारणम् ॥ २४ ॥
नखेन्दुकिरणश्रेणीपूर्णब्रह्मैककारणम् ।
केचिद्वदन्ति तद्रश्मि ब्रह्म चिद्रूपमव्ययम् ॥ २५ ॥
योगीन्द्रैरपि दुष्प्राप्यं सत्यं पुंसामगोचरम् ।
यदंशांशं महाविष्णुं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २६ ॥

---*---

१. वाराहसंहितायां ।

कर्माणि तानीह गुणाश्च ते प्रभो
[1]नष्टानि सर्वाण्यधुना न सन्ति ।
क्वचिद्धतानि[2] क्व गता हि जन्तवो
ये यज्ञभुग्ब्रह्मपुरोगमास्ते ॥ २१॥

आपके वे (सृष्टि) कर्म और वे (सत्त्व, रज एवं तम आदि) गुण, हे प्रभु ! नष्ट हो चुके हैं । वे इस समय अब नहीं हैं । कहाँ वे समाप्त हुए और वे जीव-जन्तु कहाँ चले गये । जा यज्ञ भोक्ता ब्रह्मपुरोगम आदि थे, कहाँ चले गये ? ॥ २१ ॥

न सन्ति ते क्वापि पुरन्दरादयो
येऽस्मत्प्रदत्तानि हवींष्यदन् क्रतौ ।
कामान् मनोज्ञान् हि ददत्यनारतं
नाशं गतास्तेऽपि न विद्महे क्वचित् ॥ २२ ॥

वे इन्द्रादि देवता कहीं भी नहीं रहे । जो हमारे द्वारा यज्ञों में दिए गए हविष्यान्न का भोग लगाते थे ? कहाँ चले गए । अनवरत जो मनोकामनाओं को पूर्ण करते थे, नाश को प्राप्त--वे भी नहीं जाने जाते हैं ॥ २२ ॥

ब्रह्मेशनारायणनामधेयः
करोषि सृष्टिं हरणं च पालनम् ।
स्वयं गुणातीतगुणैस्त्रिभिस्त्वं
मनुष्यदैत्यान् विबुधान् विधासि ॥ २३ ॥

उक्तं च सनत्कुमारसंहितायां पञ्चत्रिंशत्तमे पटले—

सदाशिव उवाच—

नन्दस्य गेहे सञ्जातं कृष्णांशं च तुरीयकम् ।
वसुदेवेन यद्दृष्टमाराधितोऽन्यसंज्ञया ॥ २७ ॥
यथा चतुर्भुजो विष्णुस्तथा कोऽप्यपरः पुमान् ।
सोऽपि चतुर्भुजध्येयः इति मोहेन मोहितः ॥ २८ ॥
द्रोणो नन्दो महाकीर्तिर्यशोदा सा यशस्विनी ।
तयोर्योगे च सञ्जातः कृष्णांशः [1]कृष्णरूपधृक् ॥ २९ ॥
चक्रतुस्तन्महारासं मुनिविस्मयकारकम् ।
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्यैर्दुर्विज्ञं देवतागणैः ॥ ३० ॥ इति ॥

१. 'प्रभोऽनन्तानि' इ० पा० ।
२. 'क्वचिद्गतानि' इ० पा० ।

---

१. अत एव कृष्णः पशुपांगजः गोपीसुतश्चेति कथ्यते ।

ब्रह्मा, ईश और नारायण अभिधान आप ही करते हैं। सृष्टि, पालन एवं उनका संहार भी आप ही करते है। स्वयं तीनों (सत्त्व, रज एवं तम) गुणों से परे रहते हुए आप गुणातीत ही देवता, मनुष्य और दैत्यों की सृष्टि भी करते है ।। २३ ।।

नमः कूटस्थरूपाय नमोऽनन्ताय वेधसे ।
व्याप्यव्यापकरूपाय वाच्यवाचकरूपिणे ।। २४ ।।

आप कूटस्थ (न बदलने वाले) रूप वाले के लिए नमस्कार है। विधाता व अनन्त आप के लिए नमस्कार है। आप व्याप्य और व्यापक रूप वाले तथा वाच्य एवं वाचक रूप वाले के लिए नमस्कार है ।। २४ ।।

नमः शिवाय शान्ताय निर्गुणाय गुणात्मने ।
सदसद्व्यतिरिक्ताय[1] सदसद्व्यक्तिहेतवे ।
[2]इच्छाप्रवर्त्तितजगद्व्यापाराय रते नमः ।। २५ ।।

आप कल्याण करने वाले के लिए नमस्कार है। शान्त निर्गुण एवं गुणात्मक आपके लिए नमस्कार है। सत् एवं असत् से अलग एवं सत् तथा असत् व्यक्ति के कारण रूप आपके लिए नमस्कार है। इच्छाशक्ति से प्रकट किए गए जगत् के व्यापार में रत आप के लिए नमस्कार है ।। २५ ।।

त्वय्युदितं त्वयि लीनं जगदेतद्धेम्नि कुण्डल यद्वत् ।
आदावन्ते यत्सत्तत्सन्मध्येऽप्यसत्तया सद्वत् ।। २६ ।।

आप में ही उदित होने वाला और आप में ही लीन होने वाला यह जगत् उसी प्रकार है जैसे सुवर्ण में कुण्डल और कुण्डल में सुवर्ण मिला होता है। आदि एवं अन्त में जो सत् स्वरूप है वही सत् स्वरूप मध्य में असत् रूप से सत् के समान परिलक्षित होता है ।। २६ ।।

तस्मिंस्त्वयि वचनानामेषा रचना विभाति नो नाथ ।
दीपविधिर्दिवसेश्वरबिम्बालोकाय निष्फलो यद्वत् ।। २७ ।।

हे नाथ ! ऐसे आप में यह वाङ्मयी रचना सुशोभित है। यह स्तुति आप आलोक के लिए सूर्य को दीपक दिखाने के समान निष्फल है ।। २७ ।।

तस्मात्प्रसीद भगवन् नोऽनुग्रहमुररीकुरु ।
त्वदुद्भूवा वयं वेदास्त्वन्निष्ठास्त्वां कथं स्तुमः ।। २८ ।।

---

१. 'सदसद्व्यक्तिरूपाय' इ० पा० ।
२. 'ईक्षा' इ० पा० ।

अत: हे भगवन् ! आप प्रसन्न होइए और हमारे ऊपर अपनी कृपा दृष्टि कीजिए। हम श्रुतियाँ आपसे ही उत्पन्न हैं। अतः आपके रूप वाली हम आपकी कैसे स्तुति करें ? ॥ २८ ॥

स्तुवन्त एवं भगवन्तमव्ययं
स्थिता हि वेदा:[1] स्थगितार्द्रमानसाः ।
महालये प्राकृतसंज्ञके हि ते
बभूव गोर्व्योम्नि तदा मनोहरा ॥ २९ ॥

इस प्रकार अव्यय स्वरूप भगवान् की स्तुति करती हुई श्रुतियाँ आर्द्र हृदय होकर स्थिर हो स्थित रहीं। तभी प्राकृत नामक महालय में मनोहर आकाश वाणी हुई ॥ २९ ॥

शृणुध्वं विभोर्वाक्यमेतन्मनोज्ञं
वृणुध्वं वरं मत्तु वेदाः प्रसन्नात् ।
प्रसन्ने परे मय्यलभ्यं किमस्ति
न चापीह लोके परत्रापि शश्वत् ॥ ३० ॥

इस मनोहारी आकाश वाणी को आप सुनें। हे वेद ! प्रसन्नता से आप मुझसे इस वर का वरण करें। मेरे प्रसन्न हो जाने पर इस लोक में या परलोक में कुछ भी अलभ्य नहीं है ॥ ३० ॥

वेदा ऊचुः—

वरः कः[2] परो योऽस्माभिरीड्यो
न चैतत्परं किञ्चिदस्तीह लोके ।
यदस्तीह किञ्चित्परं तत्त्वमेव
प्रसन्नोऽसि चेद्दर्शनं नो विधेहि ॥ ३१ ॥

वेदों ने कहा—

जिसकी हम लोगों ने स्तुति की है उससे बढ़कर इस संसार में कुछ भी बड़ा वर नहीं है। अतः यदि आप मुझ पर प्रसन्न हों और कुछ अन्य तत्त्व आपसे बढ़कर है तो आप मुझे दर्शन दीजिए ॥ ३१ ॥

अस्माभिर्वर्ण्यते नित्यं तव रूपाण्यनेकशः ।
ज्ञातान्यपि विशेषेण दृष्टानि बहुशोऽपि हि ॥ ३२ ॥

---

१. 'वेदश्चकितार्द्रमानसा।' इ० पा० ।
२. 'कोऽपरो' इ० पा० ।

हम श्रुतियों ने आपके अनेक रूपों का नित्य वर्णन किया है। उन रूपों को हम जानते भी है और उनमें से बहुतों को हम लोगों ने देखा भी है ॥ ३२ ॥

आविर्भवन्ति लीयन्ते निर्गुणे त्वयि केवले।
निर्गुणातीतमात्मानं त्वदीयं दर्शयाद्यतः ॥ ३३ ॥

आप निर्गुण ब्रह्म से वे रूप अविर्भूत होते रहते हैं और उनका विलय भी होता रहता है। अतः निर्गुण से अलग अपने सगुण रूप का आप दर्शन कराएँ ॥ ३३ ॥

एवं प्रार्थयमानेषु वेदेषु बहुधा तदा।
आविर्बभूव सहसा लीला गोलोकविश्रुता ॥ ३४ ॥

इस प्रकार वेदों के बारम्बार प्रार्थना करने पर तब सहसा गोलोक नाम से प्रसिद्ध लीला आविर्भूत हो गई ॥ ३४ ॥

प्रादुर्बभूवातिमनोहरा सरित्
स्फुरन्महारत्नतटाच्छवालुका[1]।
सुवर्णपङ्केरुहशोभमाना
गभीरपीयूषजलोर्मिमालिनी[2] ॥ ३५ ॥

उसी समय वहाँ अत्यन्त मनोहर सरिता प्रकट हो गई। उस सरिता के निर्मल तट पर बालुका की रेती पर महान् रत्नों की छटा शोभित होने लगी। स्वर्णिम कमल शोभा पाने लगे। गभीर और अमृत युक्त जल की लहरों से वह सरिता देदीप्यमान थी ॥ ३५ ॥

वृन्दावनं तद्वरवृक्षवृन्दै-
र्युतं सचिन्तामणिकल्पपादपैः।
शालैस्तमालैस्तरलैः कदम्बै
र्जम्ब्वाम्रप्लक्षैर्वटपिप्पलाद्यैः ॥ ३६ ॥

वह वृन्दावब भाँति-भाँति के श्रेष्ठ वृक्षों के समूहों से युक्त था। चिन्तामणि से युक्त कल्प वृक्षों, शाल, तमाल, तरल, कदम्ब, जम्बू, आम, पाकड़ एवं पीपल आदि के पेड़ों से युक्त वह वृन्दावन था ॥ ३६ ॥

कपित्थबिल्वामलनालिकेरैरश्वत्थपूगैः कदलैर्वनैश्च।
युतं मनोहारिभिरन्यवृक्षैरशोकपाटीरसुपारिजातैः ॥ ३७ ॥

कैथा, बेल, आमला, नारियल, अश्वत्थ (पीपल) सुपाड़ी के पेड़ से तथा कदली

---

१. 'अम्बुबालुका' इ० पा०।
२. 'जलोर्मि' इ० पा०।

(केले) के वनों से वह युक्त था। अशोक, चन्दन, पारिजात तथा अन्य मनोहारी वृक्षों द्वारा वह वन शोभायमान था ।। ३७ ।।

मनोज्ञकुञ्जैर्बहुभिः परीतं गोगोपगोपीनिलयैरुपेतम् ।
आनन्दसन्दोहमिवोद्गिरद्भिर्मरुद्भिरानर्त्तितपल्लवद्रुमम् ।। ३८ ।।

बहुत से मनोहर कुञ्जों से घिरे हुए गाय, एवं गोपी के यूथ से युक्त वह वन था। वायु के झोकों से इधर-उधर झूमते हुए इहाँ के पेड़ों के पल्लव एवं वृक्ष मानों आनन्द का सन्देह उगल रहे थे ।। ३८ ।।

प्रादुर्भूतं वनं तत्र नानापक्षिगणाकुलम् ।
नातिदूरे वर्तमानो गोवर्धननगोत्तमः ।। ३९ ।।

नाना प्रकार के पक्षियों के समूहों से भरा हुआ वह वन वहाँ प्रादुर्भूत हो गया। उससे कुछ ही दूर पर पर्वतों में श्रेष्ठ गोवर्धन पर्वत भी प्रकट हो गए ।। ३९ ।।

सर्वर्तुगुणसम्पन्नो नानाधातुविचित्रितः ।
स्फुरत्सुवर्णशिखरः सुधानिर्झरशीतलः ।
वीक्ष्य तं विस्मयं प्राप्ताः स्वप्नोऽयं वा मनोभ्रमः ।। ४० ।।

वह पर्वत सभी ऋतुओं के गुणों से युक्त था। उसमें नाना प्रकार की चित्र विचित्र धातु-शिलाएँ थी। उस पर्वत का शिखर सुवर्ण के समान देदीप्यमान था। उसमें शीतल जल वाले झरने एकाएक प्रकट हो गए। उन्हें देखकर श्रुतियाँ अत्यन्त विस्मय में पड़ गई कि यह स्वप्न है या हम लोगों का मनोभ्रम है ।। ४० ।।

पारावताः कलरवाः कलराजहंसाः
कारण्डवा रथवदाह्वयकोकिलाद्याः ।
सारङ्गबर्हणमनोहरपक्षिपूगास्-
तस्थुर्वने हरिगणा इव तं स्तुवन्तः ।। ४१ ।।

कबूतरों और कलरव करने वाले राजहंसों एवं बत्तखों से वह पर्वत युक्त था। रथपदा नामक एवं कोकिला आदि पक्षियों के यूथों से वह वन गुञ्जायमान था। ये पक्षिगण और सारङ्ग मृग तथा मयूरों के एवं अन्य मनोहर पक्षियों के यूथ उस वन में खड़े होकर मानों जय, विजय आदि भगवान् के पार्षदगणों की भाँति उनकी स्तुति कर रहे थे ।। ४१ ।।

घनश्यामरूपं प्रफुल्लाब्जनेत्रं किरीटाङ्गदैरुल्लसद्भ्रूकपोलम्[1] ।
सुनासं सुवक्त्रं रणद्वेणुहस्तं सुबर्हावतंसं तमापीतवस्त्रम् ।। ४२ ।।

---

१. किरीटाङ्गदाढ्यं लस० इति पाठः ।

काले बादल के वर्ण वाले, खिले हुए कमल के समान नेत्रों वाले, मुकुट और कानों के कुण्डलों से दीप्तिमान् भौंहों और कपोलों वाले, सुन्दर नासिका एवं सुन्दर मुख वाले, हाथों से पकड़ कर मुरली बजाते हुए सुन्दर मयूर के पंख की कलङ्गी वाले और पीताम्बर पहने हुए श्रीकृष्ण को उन्होंने स्तुति की ॥ ४२ ॥

तमानन्दरूपे वने नन्दसूनुं तदानन्दरूपं प्रभुं तेऽभ्यपश्यन् ।
महावल्लवीयूथमध्ये चरन्तं त्रिभङ्गाकृतिभ्राजमानस्वरूपम् ॥ ४३ ॥

उस आनन्द रूप वन में तब नन्द के पुत्र आनन्दघन प्रभु श्री कृष्ण को उन्होंने देखा । इस प्रकार महान् वल्लवी (सखियों) के समूह के मध्य में विचरण करने वाले, तीन ओर से टेढ़ो आकृति वाले और उज्ज्वल स्वरूप वाले भगवान् कृष्ण को उन्होंने देखा ॥ ४३ ॥

कोटयर्कप्रभया विराजिततनुं कोटीन्दुदर्पापहं
कोटिस्फूर्जदनङ्गरङ्गवपुषं कोटयब्धिगाम्भीर्यकम् ।
तं लावण्यनिधिं विलोक्य सहसा पार्श्वस्थया राधया
जुष्टं गोपिकया निरन्तरमतिप्रेम्णाथ ते विस्मिताः ॥ ४४ ॥

भगवान् कृष्ण करोड़ों सूर्य की प्रभा से शोभायमान विग्रह वाले हैं, वे करोड़ों चन्द्रों के घमण्ड को नष्ट करने वाले हैं, दीप्तिमान करोड़ों कामदेवों के समान शरीर की कान्ति वाले हैं, करोड़ों समुद्रों की गहराइ को भी जीत लेने वाले हैं । लावण्य के खजाने श्री कृष्ण के पार्श्व में स्थित उन गोपियों एव राधा के साथ नित्य अति प्रेम से रहते हुए एकाएक देखकर वे श्रुतियाँ अत्यन्त विस्मित हुईं ॥ ४४ ॥

काचिद्गोपी सचमरकरा बीजयन्ती स्वकान्तं
काचिच्चाग्रे करयुगपुटं कृत्य तस्थौ निरीहा ।
काचित् स्थाल्यां मणिगणमयीं कृत्य दीपावलिं तां
राधाकृष्णप्रतिमुखगता कुर्वती दीपकृत्यम् ॥ ४५ ॥

वहाँ कोई गोपी हाथ में चँवर लिए हुए अपने प्रिय को झल रही है । कोई गोपी विना किसी इच्छा के दोनों हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़ी थी । कोई गोपी थाली में दीपकों की पङ्क्ति एवं मणियों से सजा कर राधा श्री कृष्ण के मुख की आरती उतार रही थी ॥ ४५ ॥

काचित्कृष्णमुखं निरीक्ष्य सुतरां चित्रार्पितेवाभवत्
काचित्कृष्णकरं निगृह्य हृदये संस्थाप्य तस्थौ मुदा ।
काचिच्चाङ्घ्रियुगं निगुह्य सदयं स्वेमूर्ध्न्यधास्यन्मुदा
काचिन्नृत्यति कृष्णकीर्तनपरा धृत्वा करे तालिकाम् ॥ ४६ ॥

कोई गोपी श्री कृष्ण के मुख की शोभा देखकर चित्रलिखित सी हो गई थी। कोई श्री कृष्ण के हाथ को लेकर अपने हृदय में स्थापित कर प्रसन्नमुद्रा में खड़ी थी। कोई गोपी श्री कृष्ण के दोनों दयायुक्त चरणकमलों को पकड़कर उन्हें अपने सिर में रखकर अत्यन्त आह्लादित थी। कोई गोपी नृत्य कर रही थी। कोई गोपी ताली बजाकर भगवान् कृष्ण का संकीर्तन करती हुई नाच रही थी ॥ ४६ ॥

एवं रासरसोन्मत्तं गोपिकायूथमध्यगम् ।
वीक्ष्य वृन्दावने कृष्णं प्रणेमुः श्रुतयः समम् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार रास के रसानन्द में उन्मत्त गोपिकाओं के मध्य वृन्दावन में श्री कृष्ण को देखकर श्रुतियों ने प्रणाम किया ॥ ४७ ॥

ततः प्रसन्नस्ता आह ब्रूत मत्तो वरं शुभम् ।
भवद्भिर्दृष्टमित्येव धाम गोलोकशब्दितम् ॥ ४८ ॥

तब उन श्रुतियों से प्रसन्नता पूर्वक श्रीकृष्ण ने कहा कि मुझसे आप श्रेष्ठ एवं कल्याणकर वर माँगिए। आप लोगों के द्वारा यह गोलोक धाम देखा गया ॥ ४८ ॥

श्रुतय ऊचुः—

न वृणीमो वरं किञ्चित्कालग्रस्तं विनश्वरम् ।
यदि दास्यति चेन्नाथ तदा नोऽनुग्रहं कुरु ॥ ४९ ॥

श्रुतियों ने कहा —

मुझे कोई अन्य वर नहीं चाहिए। क्योंकि सभी वर काल ग्रस्त हैं और नश्वर हैं। यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो आप मेरे ऊपर अनुग्रह करें ॥ ४९ ॥

विलसन्ति यथा गोप्यस्त्वत्प्रिया भवता सह ।
जायते च तथास्माकं रिरंसाकुलितं मनः ॥ ५० ॥

जैसे आप के साथ आपकी प्रिया गोपियाँ शोभित होती हैं वैसे ही लालसा से हम लोगों का भी मन आकुलित है ॥ ५० ॥

सम्पादय तथा काममस्माकं हृदयस्थितम् ।
कोटिकन्दर्पसुभगं वीक्ष्य स्थातुं न शक्नुमः ॥ ५१ ॥

इसलिए, हे नाथ ! आप हमारी हृदयस्थित कामना की उसी प्रकार पूर्ति कीजिए। करोड़ों कामदेवों को भी लज्जित करने वाले आपके सौन्दर्य को देखकर अब हम लोग व्याकुल होकर स्थित नहीं हो पा रहे हैं ॥ ५१ ॥

निशम्य वेदगदितं किशोराकृतिरच्युतः ।
शृण्वन्तीनां च गोपीनां प्राह प्रहसिताननः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार से वेद वचनों को सुनकर उन किशोराकृति श्रीकृष्ण ने हँसते हुए उन श्रोता गोपियों से कहा ॥ ५२ ॥

कामोऽयं निगमाः सत्यं खपुष्पमिव दुर्लभः ।
न प्राप्तुं शक्नुयात् कोऽपि स्वयं पुरुषबुद्धिभाक् ॥ ५३ ॥

हे निगमों ! यह कामना निश्चय ही आकाश पुष्प के समान दुर्लभ है। इसे स्वयं बुद्धि वाला पुरुष भी नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ ५३ ॥

प्रियारूपं स्वमात्मानं जानन्मां प्रियमित्यथ ।
अत्युग्रविरहज्वालाज्वलिताकृतिरेति माम् ॥ ५४ ॥

प्रिया रूप अपने स्व (आत्मा रूप) स्वयं को 'मेरा प्रिय है' यह जानते हुए अति उग्र विरह की ज्वाला में विरहाकुल चित्त वाला साधक ही मुझे प्राप्त कर सकता है। (क्योंकि विरहावस्था में वह मेरे सन्निकट आ जाता है) ॥ ५४ ॥

नाद्यावधि ममैवायं गोलोकसंज्ञितः ।
प्राप्तः केनापि निगमा मदुक्तेनापि वर्त्मना ॥ ५५ ॥

आज तक मेरे इस गोलोक नामक धाम को मेरे द्वारा बताए गए वेदमार्ग से भी कोई नहीं प्राप्त कर सका ॥ ५५ ॥

तथापि वरदानार्थं प्रोक्ताः स्थ वरदेन मे ।
तदपि स्यान्न मे वाक्यं व्यलीकं कर्हिचित्क्वचित् ॥ ५६ ॥

यद्यपि तुम्हें वर देने के लिए मैंने कहा है। फिर भी मेरा कहा हुआ वाक्य कभी भी या कहीं भी असत्य नहीं होता ॥ ५६ ॥

यदा चतुर्मुखो ब्रह्मा पद्मकल्पे भविष्यति ।
तत्सृष्टलोकमध्ये तु माथुरं मण्डलं शुभम् ॥ ५७ ॥

जब चतुर्मुख ब्रह्मा पद्मकल्प में होंगे। तब उनके द्वारा सृष्ट लोकों के मध्य शुभ माथुर मण्डल प्रकट होगा ॥ ५७ ॥

तत्र वृन्दावनं दिव्यं भविष्यति रसाश्रयम् ।
तत्र गोलोकलीलेयं सर्वथावतरिष्यति ॥ ५८ ॥

वहाँ रसाश्रयभूत दिव्य वृन्दावन होगा। वहाँ पर यह गोलोक लीला पूर्णरूप से अवतरित होगी ॥ ५८ ॥

मूलरूपं च मे तत्र स्वप्रियाभिरुदेष्यति ।
भवन्तोऽपि विशेषेण पुरुषत्वं विहाय च ॥ ५९ ॥

मेरे मूल रूप का वहाँ मेरी प्रियाओं के साथ उदय होगा। विशेषरूप से पुरुषत्व को छोड़कर आप लोग भी वहाँ रहेंगी ॥ ५९ ॥

कामिनीभावमापन्ना भविष्यथ[1] व्रजाङ्गनाः।
तत्रापि मुरलीनादश्रवणानन्दमोहिता ॥ ६० ॥

व्रजाङ्गनाएँ कामिनी भाव में प्राप्त होंगी। वहाँ भी मुरली के स्वर सुनने से वे आनन्द में विभोर हो जायँगी ॥ ६० ॥

अतिक्रम्य स्वमर्यादां रासमण्डलमागताः।
भविष्यथ तदा यूयं पूर्णकामा न संशयः ॥ ६१ ॥

वे व्रजाङ्गनाएँ अपनी सामाजिक मर्यादा को छोड़कर उस रास मण्डल में आएँगी। तभी आप सब को भी निःसन्देह रूप से मनोकामना पूर्ण होगी ॥ ६१ ॥

इत्युक्त्वान्तर्दधे साक्षात्किशोराकृतिरच्युतः।
ततः कतिपये काले पद्मकल्पे चतुर्मुखे ॥ ६२ ॥

किशोराकृति में साक्षात् भगवान् विष्णु इस प्रकार कहकर अन्तर्हित हो गए। इसके बाद कुछ काल बीतने पर पद्मकल्प में चतुर्मुख ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ ॥ ६२ ॥

जाते तस्य व्यतिक्रान्ते परार्द्ध प्रथमे ततः।
द्वितीयस्यापि तस्यैव मध्ये लीलेयमागता ॥ ६३ ॥

उन ब्रह्मा के आविर्भाव के बाद प्रथम परार्द्ध के व्यतीत हो जाने पर द्वितीय परार्द्ध के भी मध्य में इस लीला का प्राकट्य हुआ ॥ ६३ ॥

द्विषट्सहस्रभेदेन स्वात्मानं च विभज्य ते।
कामियीभावमापन्ना रासमण्डलमध्यगाः ॥ ६४ ॥

भगवान् कृष्ण ने अपने को ही बारह हजार भेद से विभाजित करके कामिनी भाव में आकर रास मण्डल के मध्य उपस्थित कर लिया ॥ ६४ ॥

कृष्णप्रियाप्रसङ्गेन कृतकृत्या बभूविरे।
इति ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोहं सुलोचने ॥ ६५ ॥

कृष्णप्रिया राधा के साहचर्य से वे कृतकृत्य हो गए। हे सुलोचने ! इस प्रकार जो आपने पूँछा उन सभी को मैंने आपसे प्रतिपादित कर कह दिया है। ६५ ॥

---

१. 'वरांगना' इ० पा०।

कूटस्थहृदयं साक्षात् गोलोक इति विश्रुतः ।
तत्र क्रीडति गोपीभिः कामांशः पुरुषोत्तमः ॥ ६६ ॥

कूटस्थ ब्रह्म साक्षात् रूप से हृदय में गोलोक रूप से प्रसिद्ध है। वहाँ गोपियों के साथ कामांश रूप से पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण क्रीडा करते हैं ॥ ६६ ॥

आविर्भूतः सदैवायं कूटस्थे परमात्मनि ।
तिरोहितं तु चैतन्यं वर्त्तसे पुरुषोत्तमे[1] ॥ ६७ ॥

कूटस्थ परमात्मा में सदैव यह गोलोक आविर्भूत होता रहता है। चैतन्य के तिरोहित हो जाने पर भी पुरुषोत्तम में यह लीला होती रहती है ॥ ६७ ॥

रसलीलारसाम्भोधेः पारं गन्तुं क ईश्वरः ।
दिङ्मात्रदर्शनं विद्धि यन्मया वर्णितं शिवे ॥ ६८ ॥

॥ इति श्रीमाहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासम्वादे
पञ्चाशत्तमं पटलम् ॥ ५० ॥

———*———

रास लीला के रस समुद्र को कौन पार करने में समर्थ है ? हे शिवे ! जो मैंने यह वर्णन किया है वह तो एक दिङ्‌मात्र संकेत है ॥ ६८ ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड
(ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के
संवाद के पचासवें पटल की डॉ० सुधाकर मालवीय कृत
सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५० ॥

———*———

१. 'पुरुषोत्तमः' इ० पा० ।

अथ एकपञ्चाशत्तमं पटलम्

शिव उवाच—

अथान्यत्ते प्रवक्ष्यामि प्रकारं श्रुणु पार्वति ।
यस्य श्रवणमात्रेण जायते भावना शुभा ॥ १ ॥

शिव ने कहा—

हे पार्वति ! ध्यान के एक अन्य प्रकार को मैं तुमसे कहता हूँ, उस ध्यान के श्रवणमात्र से ही आराधक की भावना शुद्ध हो जाती है ॥ १ ॥

भूमयो दश ते प्रोक्ता मया च वरवर्णिनि ।
पञ्चमी शयनीयाख्या तस्यां शेते निशास्वपि ॥ २ ॥

हे वरवर्णिनि ! हमने तुम्हें आराधना की दश भूमियों को बताया है । उन्हीं में से पाँचवीं शयनीय नाम की भूमि है जिसमें रात्रि में भी प्रभु सोते हैं ॥ २ ॥

स्फूर्जद्रत्नमयूखचित्रविलसत्स्वर्णाच्छदण्डोद्धृत-
भ्राजन्मण्डपमण्डिते परिलसद्दिव्योपधानैः सुखे ।
प्रान्तस्फूर्जदनेकमौक्तिकमणिभ्राजत्पटीप्रावृते
दिव्यामोदमनःप्रमोदसुमनःसौरभ्यसम्भाविते ॥ ३ ॥

देदीप्यमान रत्न की किरणों से विचित्र शोभा वाले, स्वर्णिम खम्भों से धृत मण्डप से मण्डित होने से भ्राजमान एवं दिव्य उपधान (मसनद व तकिया) से सुशोभित सुखासन पर वे सोए थे । उस शय्या के प्रान्तभाग दीप्तिमान अनेक मुक्ता मणि से जटित चमकती हुई किरणों वाले पट से घिरे हुए थे । वहाँ पर दिव्य सुगन्धित एवं मन को प्रसन्न करने वाले फूलों की सुरभि व्याप्त थी ॥ ३ ॥

तल्पे तल्पसुखास्पदे परिलसन्मुक्तावितानोत्तमे
हंसीतूलचिते स्फुरन्मणिगणप्रोच्चैः प्रदीपोज्ज्वले ।
स्वामिन्या परया विलासविविधक्रीडारसव्यग्रया
रात्रौ निर्भरमन्मथोत्सवसुखं शेते रसात्मा प्रभुः ॥ ४ ॥

गद्दे एवं सुखासनयुक्त गद्दी के ऊपर मुक्ताजटित उत्तम आच्छादन सुशोभित था । मणियों के ऊंचे पर स्थित प्रदीपों के जलने से प्रकाशयुक्त कक्ष में स्वामिनी

राधा के साथ श्रेष्ठ विलास तथा विविध प्रकार की क्रीड़ा के रस में डूबे हुए रसात्मा प्रभु भगवान् कृष्ण रात्रि में पूर्णरूप से मन्मथ-सुख का उत्सव मनाते हुए सोते हैं ॥ ४ ॥

वीणामृदङ्गमधुरध्वनिगीतनादैः
क्रीडागृहं च परितः परिवृत्तमानाः ।
सख्यः प्रियं परिचरन्ति निशावसाने
प्राणप्रियेशपरिबोधनकर्मदक्षाः ॥ ५ ॥

क्रीडा गृह के चारों ओर घेरकर सखियाँ वीणा, मृदङ्ग एवं मधुर गायन की सुरीली ध्वनियों द्वारा प्रिय की परिचर्या कर रही थीं। रात्रि के अन्त में प्राणप्रिय कृष्ण को जगाने के कार्य में वे कुशलतापूर्वक सन्नद्ध थीं ॥ ५ ॥

कनकाङ्गी मञ्जुमुखी कलकण्ठी स्मितानना ।
आनन्दवल्लरी वृन्दा मित्रवृन्दा विशोकिनी ॥ ६ ॥
चित्रवस्त्रा विचित्राङ्गी चन्द्रघण्टा विभावरी ।
मञ्जुमोदा विधुमुखी रत्नदन्ती मदालसा ॥ ७ ॥
लावण्यलहरी लीलावती लावण्यमन्थरा ।
ललिताङ्गी कामवती पुष्पिणी पुष्पदन्तिका ॥ ८ ॥
हसन्तिका हंसगतिः पुष्पवेणी मरुल्लता ।
मुदिता मोदिनी श्यामा तथा मुक्तावती रतिः ॥ ९ ॥
हारिणी हरिणी हंसी विहंसी हंसकुण्डला ।
अरुणाङ्गी रङ्गरङ्गा रसरङ्गा कुमुद्वती ॥ १० ॥
कुङ्कुमाङ्गी कुन्दहासा चन्द्रहासा चरित्रिणी ।
आनन्दमञ्जरी मन्द्रा पद्मवृन्दा ज्वलन्तिका ॥ ११ ॥
कुन्ददन्ती रत्नकला जयिनी स्वर्णमेखला ।
पुलिन्दिनी हेमवर्णा हरिणाक्षी रतिप्रिया ॥ १२ ॥
पद्मकोशा भृङ्गरावा गायनी मदमन्थरा ।
एकषष्टिमिताः सख्यो [1]नियुक्ता बोधकर्मणि ॥ १३ ॥

प्राणप्रिय कृष्ण के उद्बोधन में संयतचित्त इकसठ सखियों के नाम इस प्रकार हैं —

१. कनकाङ्गी, २. मञ्जुमुखी, ३. कलकण्ठी, ४. स्मितानना, ५. आनन्द-

१. 'ख्याताः' इ० पा० ।

वल्लरी, ६. वृन्दा, ७. मित्रवृन्दा, ८. विशोकिनी, ९. चित्रवस्त्रा, १०. विचित्राङ्गी ११. चन्द्रघण्टा, १२. विभावरी, १३. मञ्जुमोदा, १४. विधुमुखी, १५. रत्नदन्ती १६. मदालसा, १७. लावण्यलहरी, १८. लीलावती, १९. लावण्यमन्थरा २०. ललिताङ्गी, २१. कामवती, २२. पुष्पिणी, २३. पुष्पदन्तिका, २४. हसन्तिका २५. हंसगति, २६. पुष्पवेणी, २७. मरुल्लता, २८. मुदिता, २९. मोदिनी ३०. श्यामा, ३१. मुक्तावती, ३२. रति, ३३. हारिणी, ३४. हरिणी, ३५. हंसी ३६. विहंसी, ३७. हंसकुण्डला, ३८. अरुणाङ्गी, ३९. रङ्गरङ्गा, ४०. रसरङ्गा ४१. कुमुद्वती, ४२. कुङ्कुमाङ्गी, ४३. कुन्दहासा, ४४. चन्द्रहासा, ४५. चरित्रिणी, ४६. आनन्दमञ्जरी, ४७. मन्द्रा, ४८. पद्मवृन्दा, ४९. ज्वलन्तिका ५०. कुन्ददन्ती, ५१. रत्नकला, ५२. जयिनी, ५३. स्वर्णमेखला, ५४. पुलिन्दिनी ५५. हेमवर्णा, ५६. हरिणाक्षी, ५७. रतिप्रिया, ५८. पद्मकेशा, ५९. भृङ्गरावा ६०. गायनी और ६१. मन्दमन्थरा—ये इकसठ सखियाँ भगवान् के उद्‌बोधन कार्य में नियुक्त रहती हैं ॥ ६-१३ ॥

प्रातः प्रोत्थितमायतादिकमलप्रोत्तम्भितभ्रूलतं
जृम्भामञ्जुमुखारविन्दविलसद्बिम्बाधरोद्यस्मितम् ।
निद्रान्ताघूर्णमानं　　समधिगतसखीवृन्दमालोकयन्तं
दृष्टया वातेरिताम्भोरुहमुकुललसच्छोभया निस्तुलाङ्गम् ॥ १४ ॥

प्रातःकाल सोकर उठे हुए कृष्ण की भौंहें विस्तृत कमल की पङ्खुड़ियों के समान उठी हुई हैं, जम्भाई लेते हुए मञ्जुल मुखारविन्द एवं मधुर मुस्कान से लाल अधर शोभा पा रहे हैं, निद्रा के अन्त में वे अलसाए हुए चारों ओर पास में सखी वृन्द को देख रहे हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण की दृष्टि वायु के झोंके से इस प्रकार हिलते हुए कमल की शोभा को धारण कर रहे हैं जिसकी तुलना नहीं की जा सकती ॥ १४ ॥

स्फूर्जत्काञ्चनमण्डितामलमणिप्रोद्भासिते पात्रके
श्रीमन्मङ्गलवस्तुनि प्रविलसच्छ्रीरत्नदीपैः शुभैः ।
सख्यस्ता मृदुमञ्जुकङ्कणरणत्कारान्[1] समातन्विताः
कान्ताः कान्तमनङ्गकोटिरुचिरं नीराजयन्ति प्रियम् ॥ १५ ॥

दीप्तिमान स्वर्ण से मण्डित निर्मलमणि से भासित तथा मङ्गल वस्तुओं से सजे थाल में शुभ श्रीयुक्त रत्न प्रदीपों के द्वारा मृदु एवं मञ्जुल कङ्कण की रणत्कार से

१. 'समातन्वती' इ० पा० ।

युक्त वे सुन्दरी युवतियाँ करोड़ों कामदेवों के समान मनोहर लगने वाले प्रिय कृष्ण की आरती उतार रही हैं ।। १५ ।।

तदनु झटिति रागादागतानन्दमञ्ज-
र्य्यनघकरसरोजे व्यादधत्[1] दर्पण च ।
प्रियसुभगमुखाब्जं दर्शनीयं तवेदं
[2]असितकणकृतश्री रम्यमालोकयेति ।। १६ ।।

इसके बाद शीघ्रता से आनन्दमञ्जरी अनुराग के कारण आई और अपने निष्पाप कर कमलों में दर्पण ले आई और कहा-हे प्रिय ! आपका यह सुन्दर मुख कमल अत्यन्त दर्शनोय है । अतः कृष्ण कणों से युक्त मुख की शोभा का आप अवलोकन करें ।। १६ ।।

ह्लादिनीनिहितरत्नपादुके पादपङ्कजयुगे निधाय च ।
रत्नपीठमुपसाद्यसुन्दर दन्तधावनविधिं करोति सः ।। १७ ।।

ह्लादिनी रत्न पादुका लाकर उन कृष्ण के दोनों चरणकमलों में पहनाती है । वह कृष्ण रत्नपीठ के ऊपर बैठकर सुन्दर दन्तधावन की क्रिया करते हैं ।। १७ ।।

दन्तधावनविधानयोजिते मन्द्रिणीति सुरसेति विश्रुते ।
मन्द्रिणी धृतवती शुभं जलं हस्तवस्त्रममलं तथेतरा ।। १८ ।।

दन्तधावन की क्रिया के लिए मन्द्रिणी और सुरसा नामक सखियाँ नियोजित हैं । मन्द्रिणी शुभ जल लेकर खड़ी रहती है और अन्य सखी सुरसा निर्मल वस्त्रों को हाथ में लिए रहती है ।। १८ ।।

ततो लविङ्गकर्पूरचूर्णैलापूगमिश्रितम् ।
उपतिष्ठति सत्पात्रे धृत्वा मदनमेखला ।। १९ ।।

इसके बाद लौंग कपूर का चूर्ण, इलायची एवं सुपाड़ी से मिश्रित मुखशुद्धि द्रव्य को मदनमेखला नामक सखी सुन्दर पात्र में लेकर पास में खड़ी है ।। १९ ।।

ताम्बूलमास्वाद्य ततः प्रसन्नः
सखीजनप्रार्थनयातिकामम् ।
आरुह्य रत्नोज्ज्वलपादुके द्वे
स्नानगृहस्याभिमुखः प्रयाति ।। २० ।।

---

१. 'व्यादधानात्मदर्श' इ० पा० ।
२. सुकृतिजनकृतश्रि' इ० पा० ।

ताम्बूल का स्वाद लेकर प्रसन्न श्रीकृष्ण तब अत्यन्त कामना से सखीजन की प्रार्थना पर रत्नजटित एवं उज्ज्वल दो खड़ाऊ पहनकर स्नान गृह की ओर जाते हैं ।। २० ।।

रत्नमौक्तिकवितानमण्डितं
धूपितं स्वगरुधूमराजिभिः ।
कल्पवृक्षकुसुमालिसौरभोद्-
भ्रान्तभृङ्गमुखरीकृताम्बरम् ।। २१ ।।

रत्नों एवं मोतियों से जड़े हुए चँदोवे से मण्डित सुन्दर गन्ध वाले तथा अगरु की धूम राशि से सुवासित उस स्नान गृह में कल्पवृक्ष केफू लों पर उनके सौरभ से आकृष्ट भ्रमर गुञ्जार करते हुए, अत्यन्त शोभायमान थे ।। २१ ।।

सज्जसर्वपरिचारिकागणं नृत्यमानबहुनर्त्तकीगणम् ।
उल्लसद्विविधवाद्यगायनोज्जृम्भितप्रतिनिनादमञ्जुलम् ।। २२ ।।

उस स्नान गृह में कृष्ण अत्यन्त सजी हुई परिचारिकाओं के समूहों से तथा नृत्य करती हुई अनेक नर्तकियों के झुण्डों से घिरे हैं। विविध प्रकार के वाद्यों की ध्वनियों से एवं गायनों से विजृम्भित मञ्जुल ध्वनि युक्त वह स्नान गृह है ।। २२ ।।

स्तम्भलग्नमणिपुत्रिकागणं स्नानमण्डपमुपेत्य भास्वरम् ।
रत्नपीठमुपनीय दर्शितं भामया समधितिष्ठति प्रभुः ।। २३ ।।

मणि की पुत्तलिकाओं के समूह जिन खम्भों पर चित्रित हैं ऐसे देदीप्यमान स्नान मण्डप में प्रभु आकर भामा के द्वारा दिखाए गए रत्नपीठ पर आसीन होते हैं ।। २३ ।।

उत्तार्य भूषणकलापमथो मनोज्ञं
तत्तत्प्रियाकरयुगान्युपलम्भयित्वा ।
नीराजितः स्वप्रमदोत्तमभूषणोद्यत्
कान्तिच्छटाभिरिव दीपशतैर्विभाति ।। २४ ।।

उन सखियों ने उनके मनोहर आभूषणों एवं सजावट के चिन्हों को उतार कर उनके प्रिय युगल हाथों को पकड़कर आरती करना प्रारम्भ किया । स्वयं प्रमदाओं के उत्तम आभूषणों से स्फुरित कान्ति छटाओं के द्वारा वे सैकड़ों दीपकों से मानों शोभित हैं ।। २४ ।।

यक्षकर्दमे[1] काश्मीररजनीचर्णमिश्रितैः ।
उद्वर्त्तनं चकारेलागन्धद्रव्यैर्मनोहरैः ।। २५ ।।

---

१. कर्पूरागरुकस्तूरी कुंकुमं चन्दनं तथा ।
महासुगन्धिरित्युक्तो नामतो यक्षकर्दमः' । इति धन्वन्तरिः ।

काश्मीर (केशर) एवं रजनी चूर्ण से मिश्रित यक्षकर्दम (कर्पूर एवं चन्दन आदि) से उन्हें उबटन लगाकर मनोहर गन्ध द्रव्यों से युक्त किया ॥ २५ ॥

आनीय मणिपात्रस्थं गन्धतैलं मनोजवा ।
करोत्यभ्यङ्गमङ्गेषु स्वभावसुरभिष्वपि ॥ २६ ॥

मणि के पात्र में सुगन्धि युक्त एवं मन को जीत लेने वाले तैल को लाकर और स्वाभाविक सुरभियों से भी उनके अङ्गों में सखियों ने मर्दन किया ॥ २६ ॥

मुक्तारत्नविचित्रहेमकलशैरापीडयमानैः शरत्
पूर्णेन्दूज्वलहस्तिकुम्भशिखरारूढैः सुधास्पर्द्धिभिः ।
कस्तूरीद्रवयक्षकर्दममहासौरभ्यसम्भावितैः
सख्यः पुष्पगणाधिवासितजलैः सस्नापयन्ति प्रियम् ॥ २७ ॥

पूर्ण चन्द्र की शरत्कालीन चाँदनी से स्पर्धा करने वाले मुक्ता एवं रत्नजटित विचित्र सुवर्ण कलशों, कस्तूरी एवं यक्षकर्दम के महासुरभि युक्त जल से उन सखियों ने अपने प्रिय कृष्ण को नहलाया ॥ २७ ॥

स्मेरानना विधुकला वल्गुनादा विहङ्गमा ।
[1]सङ्गमाला स्मरानन्दा विश्वानन्द सुकुण्डला ॥ २८ ॥
तेजोवती हेमगर्भा तरुणी तपनावती ।
एताः प्राधान्यतः प्रोक्ता द्वादश स्नानकर्मणि ॥ २९ ॥

भगवान् के स्नान कर्म में निम्नाङ्कित बारह प्रधान सखियाँ संलग्न रहती है—
१. स्मेरानना, २. विधुकला, ३. वल्गुनादा, ४. विहङ्गमा, ५. सङ्गमाला, ६. स्मरानन्दा, ७. विश्वानन्दा, ८. सुकुण्डला, ९. तेजोवती, १०. हेमगर्भा, ११. तरुणी और १२. तपनावती । २८-२९ ॥

गोफेनस्वच्छशुचिना वाससाङ्गं सुकुण्डला ।
प्रियस्याह्लादजननी [2]प्रोञ्छयत्यतिकोमलम् ॥ ३० ॥

गोफेन के समान स्वच्छ वस्त्र से सुन्दर कुण्डलों से युक्त प्रिय को आह्लादित करने वाली सखियाँ भगवान् के अत्यन्त कोमल अङ्गों को पोंछती हैं ॥ ३० ॥

स्नानवासः परित्यज्य तेजोवत्या निवेदितम् ।
काश्मीररागरुचिरं कटिवस्त्रं बिभर्त्यसौ ॥ ३१ ॥

भगवान् अपने गीले कपड़ों को छोड़कर तेजोवती के द्वारा निवेदित काश्मीर (केशर) के रंग के समान मनोहर कटि वस्त्र को पहनते हैं ॥ ३१ ॥

---

१. 'मंगलामाला' इ० पा० ।
२. 'प्रीत्ययति' इ० पा० ।

पादुकायुगमारुह्य मन्दं मन्दं परः प्रभुः ।
भूषामण्डपमायाति प्रियाभिः परिवेष्टितः ॥ ३२ ॥

वह श्रेष्ठ प्रभु दो खड़ाऊँ पहनकर मन्द-मन्द गति से अपनी प्रियाओं से घिरे हुए भूषा मण्डप पर आते हैं ॥ ३२ ॥

रत्नराजितसुवर्णकुट्टिमे स्फूर्जदंशुनिवहैस्तथोर्ध्वगैः ।
शक्रचापरचनाचितान्तरे [1]मण्डपे स्फटिकपीठमाश्रितः ॥ ३३ ॥

रत्न जड़े हुए सुवर्ण की फर्श पर ऊपर की ओर निकलते हुए रश्मिजाल के द्वारा इन्द्रधनुष की तरह रचित दिवाल वाले मण्डप में स्फटिक मणि के सिंहासन पर श्रीकृष्ण बैठे हैं ॥ ३३ ॥

केशावलिं कङ्कतिकामुखेन
संशोध्यमाना ललिता प्रियस्य ।
निर्दग्धकालागरुधूपधूपैः
सुवासयत्यत्र सरोजगन्धा ॥ ३४ ॥

अपने प्रिय की ललित केशों की लटें कन्घी के मुख से झाड़ते हुए तथा जलाए हुए काले अगरु के धूप से धूपित यहाँ सरोज गन्धा सुगन्धि से सुवासित करती है ॥ ३४ ॥

सिन्दूरपूरारुणिमानमुच्चैर्वहन् महोष्णीषमनङ्गरेखा ।
प्रान्तेषु मुक्तागुणगुम्फितं तदा व्यापारयामास तदुत्तमाङ्गे ॥ ३५ ॥

जिसके किनारे मुक्ता जड़े हुए हैं और सिन्दूर से परिपूर्ण अरुण रंग की आभा वाले हैं ऐसी पगड़ी को अङ्गरेखा लिए हुए है । उस पगड़ी को भगवान् के शिर पर उसने पहना दिया है ॥ ३५ ॥

सुवर्णरचितं प्रान्तं मुक्ताजालपरिस्कृतम् ।
पद्मरागं मध्यनीलमुष्णीषाग्रे बबन्ध सा ॥ ३६ ॥

उस उष्णीष के आगे सोने के धागे से रचित प्रान्त भाग है । मुक्ता मणि के समूह से वह पगड़ी जटित है । उसके मध्य में पद्मराग मणि और नीलम जड़ा हुआ है । उस सखी ने उस उष्णीष को भगवान् के सिर में बाध दिया ॥ ३६ ॥

अनेकमुक्तामणिराजमाने निजेच्छया स्वीकृतहंसकुण्डले ।
तडित्प्रभापुञ्जमिवोद्वमन्ती[2] श्रुतिद्वयस्याभरणीचकार ॥ ३७ ॥

अनेक मुक्ता एवं मणि से देदीप्यमान, अपनी इच्छा से स्वीकार कर कानों में

---

१. 'चिताम्बरे' ।

२. 'उद्वहन्ती' इ० पा० ।

हंसकुण्डल पहने हुए श्रीकृष्ण ने विद्युत की प्रभा के पुञ्ज का मानों वमन करने वाले दोनों कर्ण को आभूषणों से विभूषित किया ॥ ३७ ॥

नवरत्नमयीं मालां ग्रैवेयाभरणं तथा ।
हृदम्बुजे लम्बमानन्नं चतुष्काभरणं तथा ॥ ३८ ॥

नवीन रत्नमयी माला एवं गले का आभूषण पहने हुए श्रीकृष्ण के हृदय तक चतुष्काभरण लटका हुआ था ॥ ३८ ॥

बाह्वोः केयूरयुगलं कटकाङ्गदमुद्रिकाः ।
उन्मिषद्रत्नरचितं काञ्चीसूत्रं महद्धनम् ॥ ३९ ॥
निर्यद्भूषांशुनिचयैः किर्मीरितमिवोत्तमम् ।
निःश्वासहारिवसनं श्वेतं स्निग्ध मनोहरम् ॥ ४० ॥
नवीनजलदस्निग्धमुत्तरीयं सुशोभनम् ।
अनर्घ्यमौक्तिकमणिभ्राजत्प्रान्तचतुष्टयम् ॥ ४१ ॥

वे दोनों हाथों में बाजूबन्द एक कटकाङ्गद और अंगुलियों में अंगूठी तथा रत्नों से बनी हुई करधनी पहने हुए थे। आभूषणों से निकलने वाली चमक से चित्र-विचित्र के समान देदीप्यमान, श्वेत एवं मनोहर और चिकना वस्त्र वे पहने हुए थे। उनका उत्तरीय नवीन मेघ के समान स्निग्ध और सुशोभित था। उस उत्तरीय के चारों किनारों पर अनर्घ्य मुक्तामणि जड़े होने से वह अत्यन्त भ्राजमान था ॥ ३९-४१ ॥

अनेकदिव्याभरणान्यङ्गे प्रियतमस्य हि ।
रचयामास शृङ्गारचमत्कृतिमुपेयुषः ॥ ४२ ॥

प्रियतम श्रीकृष्ण के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की अनेक दिव्य आभूषणों से सजाया गया था, जिससे उनका शृङ्गार एक चमत्कृति को प्राप्त हो गया था ॥ ४२ ॥

इति सज्जितशृङ्गारो गायद्भिः परितो वृतः ।
सखीवृन्दैः वाद्यहस्तैर्भोगभूमिं प्रयाति सः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार से शृङ्गार कर उनके चारों ओर गान करती हुई सखियों का समूह अपने हाथों में वाद्य लेकर भोगभूमि को उन्हें ले जाता है ॥ ४३ ॥

पाकशालास्वधिकृता ललिताङ्गादिकाः प्रियाः ।
तिष्ठन्ति यत्र सुभगाः किशोराकृतयः शतम् ॥ ४४ ॥

ललिताङ्गा आदि प्रिया पाक शाला की अधिकारिणी सखियाँ हैं। उनके अतिरिक्त सैकड़ों सुन्दर आकृतियों वाली किशोर बालाएँ वहाँ उपस्थित है ॥ ४४ ॥

स्वर्णपीठं समास्थाय तिष्ठति पुरुषोत्तमः ।
सौवर्णविमलं पात्रं साधारमति विस्तृतम् ॥ ४५ ॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण स्वर्णपीठ पर आकर बैठते हैं। उस पाकशाला में सुवर्ण के चमकते हुए पात्र आधार के सहित विस्तृत थे ॥ ४५ ॥

परितस्तस्य सौवर्णपात्राणां च सहस्रकम् ।
स्थाप्यन्ते तेषु ते भोगाः स्निग्धा हृद्याः पृथग्विधाः ॥ ४६ ॥

श्रीकृष्ण के चारो ओर हजारों सुवर्ण के पात्रों में स्निग्ध एवं हृद्य भोगसामग्री अलग अलग उन सखियों द्वारा परोसी जा रही थी ॥ ४६ ॥

जातीकोरकपुञ्जविभ्रमकरं स्वन्नं च मध्यस्थितं
वामे ऽस्याढकमुद्गमोदनमथो प्राज्य घृतं माहिषम् ।
सूपापूपहयङ्गवीनविलसत्पक्वान्नरम्भाफलै-
र्मुक्तालड्डुकपूलिकाशिखरिणीदध्यक्तमाषान्नकैः ॥ ४७ ॥

जाती पुष्प की कलियों का पुञ्ज मध्य में स्थित सुन्दर अन्न के विभ्रम को उत्पन्न कर रहा था। श्रीकृष्ण के वाम भाग में प्रचुर मात्रा में मूँग से निर्मित तथा भैंस के घृत से सना हुआ मोदक विद्यमान है। वहीं सुन्दर पूआ, मक्खन से शोभित पक्वान्न तथा केले का फल रक्खा था। मोतीचूर का लड्डू, पूड़ी, श्री खण्ड तथा दही बड़ा आदि भोग सामग्री वहाँ रक्खी गई थी ॥ ४७ ॥

वह्न्युष्णशर्करयुतं मणिपात्रसंस्थं
दुग्धं च पायसमथो घृतशर्करात्तम् ।
पूर्णेन्दुचन्द्रकचितं मधुराम्लतिक्त
नानारसाम्ररसमाक्षिकगोस्तनीकम् ॥ ४८ ॥

श्री कृष्ण के दाहिने तरफ मणिपात्र में शर्करामिश्रित गरम दूध और घी एवं शर्करा से सना हुआ खीर रक्खा गया था। पूर्ण चन्द्र के समान चित्रित सा मीठा, खट्टा तथा तीता नाना प्रकार का रस, आम का रस, माक्षिकद्रव्य एवं गोस्तनी परोसे गए थे ॥ ४८ ॥

कूष्माण्डवृन्ताकपटोलबिम्बी-
शिम्बीसुकोशातकिसूरणाद्यैः ।
मृद्वग्नितापेन सुपाचितैर्युतं
हिङ्ग्वामरीचादिसुवासितैर्भृशम् ॥ ४९ ॥

कोहड़ा वृन्ताक (बैंगन), पटोल (परवर) बिम्बी (कुन्दरू) शिम्बी (सेम), सुन्दर कोशातकि एवं सूरन आदि की तरकारी हींग एवं मरिच आदि मशालों से अत्यन्त

सुवासित कर छौंकी हुई तथा मन्द आँच में बनाई होने से स्वादिष्ट थी ॥ ४९ ॥

चतुर्विधान्नं परिवेश्यमाण-
मानन्दमानन्दमयोऽपि भुङ्क्ते ।
प्रियाः समस्ता अपि त समन्तात्
प्रहासयन्त्यो बुभुजुः स्वपात्रैः ॥ ५० ॥

इस प्रकार आनन्दमय होने पर भी आनन्दघन कृष्ण आनन्द से परोसे गए चतुर्विध अन्न का भोजन चारो ओर से घिरे हुए रहकर कर रहे हैं। समस्त प्रियाएँ भी उन्हें चारों ओर से अपने अपने पात्र से हंसती हुई खिला रही हैं ॥ ५० ॥

भोजनान्ते ततः कृष्णं मणिपीठे तु दक्षिणे ।
शुद्धाङ्गी स्वर्णभृङ्गारजलेनाचमनं ददौ ॥ ५१ ॥

भोजन के बाद शुद्धोदक से हाथ धुलाने वाली शुद्धाङ्गी सखी ने मणिपीठ के दक्षिण ओर स्वर्ण निर्मित भृङ्गार (टोंटी दार) पात्र से उन्हें आचमन आदि कराया ॥ ५१ ॥

स्नेहापनोदनार्थाय गन्धचूर्णं शुभं ददौ ।
दन्तकाष्ठं च कर्पूरशशाङ्कशकलास्तथा ॥ ५२ ॥

चिकना छुटाने के लिए शुभ गन्ध-चूर्ण, दाँत खोदने के लिए खोदनी और कर्पूर का धवल खण्ड दिया ॥ ५२ ॥

गण्डूषाचमनीयान्ते केसराङ्गी तु बीटिकाम् ।
पादुकायुगमारुह्य पञ्चवाद्यपुरःसरम् ॥ ५३ ॥

कुल्ला एवं आचमन कर लेने पर केसराङ्गी सखी ने पान का बीड़ा दिया। फिर पाँच प्रकार के (ढोल, मजीरा आदि) वाद्यों को आगे-आगे बजाती हुई सखियाँ खड़ाऊँ पहना कर उन्हें ले गईं ॥ ५३ ॥

पीठान्तरगतं कृष्णं परमानन्दविग्रहम् ।
स्वामिनीप्रमुखाः सर्वाः मुक्ताभिः समवाकिरन् ॥ ५४ ॥

परमानन्द के मूर्तस्वरूप कृष्ण को अन्य पीठ पर स्वामिनी प्रमुख आदि सभी सखियों ने मुक्ता विखेरते हुए बैठाया ॥ ५४ ॥

मुक्ताविचित्रचतुरस्रसुवर्णपात्रे
दूर्वादधिप्रभृतिमाङ्गलिकोपचारैः ।
आरोपितैः स्थिरशिखैः शुभरत्नदीपै-
र्नीराजयन्ति निजनाथमकामकामम् ॥ ५५ ॥

मुक्ता मणि जटित होने से विचित्र प्रतीत होने वाले चौकोर सुवर्ण पात्र में रक्खे दूर्वा एवं दधि मिश्रित माङ्गलिक उपचारों से उन्होंने श्रीकृष्ण की परिचर्या की। फिर स्थिर लौ वाले शुभ रत्न निर्मित दीपिकों से अपने नाथ श्रीकृष्ण को उन्होंने अत्यन्य प्रसन्नता से आरती उतारी ॥ ५५ ॥

शृङ्गारहास्योद्भूतमोदमानः प्रियानुरोधेन ततः परेशः ।
विश्रम्य तत्रैव मुहूर्तमात्रं प्रयाति भूमिं शयनीयसंज्ञाम् ॥ ५६ ॥

शृङ्गार एवं हास्यपूर्वक आनन्द लेते हुए परमात्मा श्रीकृष्ण प्रिया के अनुरोध से वहाँ कुछ ठहरकर शयनीयभूमि के लिए प्रस्थान करते हैं ॥ ५६ ॥

मृदुवाद्यादिगीतेन गीयमानः प्रियाजनैः ।
चित्रया वीजितः शेते मृदुव्यजनहस्तया ॥ ५७ ॥

मन्द-मन्द वाद्यों एवं गीतों को गाते हुए प्रियाओं के द्वारा कृष्ण को सुलाने का उपक्रम किया जाता है। फिर मृदु पंखा हाथ में लिए हुए चित्रा उन्हें पंखा झलती है ॥ ५७ ॥

सुप्तोत्थितः परिजनैः सह नृत्यभूमौ
सिंहासने विमलरत्नमयूखचित्रे ।
स्थित्वा प्रियाविलसनादिकनृत्यगीतं
पश्यंस्तुतोष यदपि स्वयमेव तोषः ॥ ५८ ॥

सोने के बाद उठकर अपनी सखियों के साथ कृष्ण नृत्यभूमि में विमल रत्नों से जटित विचित्र सिंहासन पर बैठते हैं। वहाँ पर श्रीकृष्ण यद्यपि सन्तुष्ट हैं, फिर भी उन प्रियाओं के विलास पूर्ण नृत्य एवं गीत को देखते हुए सन्तुष्ट होते हैं ॥ ५८ ॥

अखण्डितशरच्चन्द्रसमयाप[1]हारमण्डलम् ।
मिहिला छत्रमाधत्त रत्नदण्डरुचोज्ज्वलम् ॥ ५९ ॥

शरत्कालीन पूर्णचन्द्र के समान गोल मण्डल वाले तथा रत्न जटित दण्ड वाले एवं कान्ति से उज्ज्वल छत्र को मिहिला नामक सखी ने धारण कर रक्खा है ॥ ५९ ॥

व्यजनं पादुके चारु चामरे दर्पणादिकम् ।
दधानाः परिसेवन्ते पूर्वोद्दिष्टाः परात्परम् ॥ ६० ॥

इसी प्रकार पंखा, पादुका, सुन्दर चँवर और दर्पण आदि वस्तुओं को एक के

---

१. 'अपस्मार' इ० पा० ।

बाद पूर्वोक्त सखियों ने परिचर्यार्थ धारण कर रक्खा है ॥ ६० ॥

ततो विमानप्रवरं नाम्ना चित्रध्वजं महत् ।
सखीसहस्रैरास्थाय गतश्चान्द्रमसं वनम् ॥ ६१ ॥

इसके बाद महान् चित्रध्वज नामक श्रेष्ठ विमान पर सहस्रसखियों के साथ आरूढ़ होकर श्रीकृष्ण चान्द्रमस वन को जाते हैं ॥ ६१ ॥

कदाचिन्नीलविपिने कदाचित्पुष्पदन्तके ।
कदाचिदानन्दवने हेमकूटेऽपि कर्हिचित् ॥ ६२ ॥

इस विमान पर चढ़कर वे कभी नील विपिन में, कभी पुष्पदन्तक वन में, कभी आनन्द वन में, और कभी हेमकूट पर्वत पर जाते हैं ॥ ६२ ॥

कदाचित्तारकूटाख्ये गारुडे नीलपर्वते ।
कदाचित्पुष्परागाद्रौ माणिक्याद्रावपि क्वचित् ॥ ६३ ॥

वे कभी तारकूट नामक पर्वत पर, कभी गरुड और कभी नील पर्वत पर जाते हैं । कभी पुष्पराग पर्वत पर कभी माणिक्य की शिखर पर जाते हैं ॥ ६३ ॥

मन्दारविपिने क्वापि पारिजातवनान्तरे ।
हरिचन्दनकोद्याने वैदूर्यविपिने[1] क्वचित् ॥ ६४ ॥

वे कभी मन्दार वन में और कभी पारिजात वन के अन्दर जाते हैं । कभी हरिचन्दन वाले उद्यान में और कभी वैदूर्य के विपिन में जाते हैं ॥ ६४ ॥

महामुक्तावने क्वापि प्रवालोद्यान एव च ।
पद्मरागवनोद्याने महापद्मवने तथा ॥ ६५ ॥

श्रीकृष्ण कभी महामुक्ता के वन में, कभी प्रवाल (मूँगा) के उद्यान में विहार करते हैं । कभी वे पद्मराग वन के उद्यान में और कभी महापद्मवन के बगीचे में जाते हैं ॥ ६५ ॥

कदाचिच्चम्पकवने क्वचित्कल्पद्रुकानने ।
अनेकविधलीलाभिः क्रीडते पुरुषोत्तमः ।
ततश्चान्द्रमसादेत्य विमानेन महौजसा ॥ ६६ ॥

वे कभी चम्पक वन में और कभी कल्पद्रुम कानन में जाते है । इस प्रकार आनन्दघन परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अनेक प्रकार की लीलाओं के द्वारा क्रीड़ा करते हैं । इसके बाद वे पुनः महान् तेजस्वी विमान से चान्द्रमस वन में लौट आते हैं ॥ ६६ ॥

---

१. 'वैडूर्यमणिकानने' इ० पा० ।

महाद्वारपुरोवर्त्ति मण्डपेऽपि स्थितः 'क्षणः।
चतुःषष्टिमहास्तम्भां मूलभूमिं समाश्रितः ॥ ६७ ॥

अग्रभाग में महान् सिंहद्वार पर क्षण भर उसके मण्डप में ठहर कर चौसठ स्तम्भों वाले भवन 'मूलभूमि' में श्रीकृष्ण आते हैं ॥ ६७ ॥

रत्नसिंहासनगतं तदैवेच्छाविमोहिताः।
स्वामिनीप्रमुखाः कृष्णं प्रार्थयामासुरुत्सुकाः ॥ ६८ ॥

रत्न जटित सिंहासन पर बैठकर अपनी स्वेच्छा से मोहित हुए श्रीकृष्ण स्वामिनी राधा आदि से उत्सुकता से प्रार्थित होते हैं ॥ ६८ ॥

तत्तु सर्वं मया प्रोक्तं पुरा ते वरवर्णिनि।
अतः परं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसा ॥ ६९ ॥

हे वरवर्णिनि ! यह सब हमने पहले कह दिया है। अतः अब मैं उसके बाद कहूँगा। आप एकाग्रमन से उसे सुने ॥ ६९ ॥

यथानेन प्रकारेण प्रियाः परिचरन्ति तम्।
तथैव काश्चन व्यग्राः स्वामिनीसेवनादिषु ॥ ७० ॥

जिस प्रकार से ये प्रिया सखियाँ भगवान् कृष्ण की परिचर्या करती हैं उसी प्रकार स्वामिनी राधा की भी सेवा में कुछ सखियाँ संलग्न रहती हैं ॥ ७० ॥

नीराजनस्नानवस्त्रगन्धमाल्यविभूषणैः।
शयनासनताम्बूलैः सख्यः परिचरन्ति ताम् ॥ ७१ ॥

आरती, स्नान, वस्त्र, गन्ध—द्रव्य, माला एवं आभूषणों के द्वारा तथा शयन के समय आसन एवं ताम्बूल आदि देकर सखियाँ उनकी भी परिचर्या करती हैं ॥ ७१ ॥

द्विषटसहस्रसंख्याताः याः परिचरन्ति ताम्।
षट्सहस्राणि कृष्णस्य परिचर्यापराणि हि ॥ ७२ ॥

छः सहस्र सखियों के दो गुट हैं। उनमें से कृष्ण की परिचर्या में छः हजार सखियाँ रहती हैं ॥ ७२ ॥

स्वामिन्याः षट्सहस्राणि वर्त्तन्ते परिकर्मणि।
तासां यूथानि देवेशि चत्वारिंशन्मितानि हि ॥ ७३ ॥

हे देवेशि ! छः हजार सखियां स्वामिवी राधा की भी परिचर्या कर्म में संलग्न रहती हैं। उन सखियों के झुण्ड चालीस-चालीस संख्या में हैं ॥ ७३ ॥

---

१. 'कृतक्षणः' इ० पा०।

तासां सौधानि दिव्यानि सहस्राणीति द्वादश ।
एकैकं योजनार्द्धनायामविस्तारसंयुतम् ।। ७४ ।।

उन सखियों के लिए बारह हजार दिव्य भवन हैं। एक-एक भवन अर्ध योजन के विस्तार से युक्त है ।। ७४ ।।

एकैकस्याः प्रियायास्तु मन्दिरे मन्दिरे प्रिये ।
शतं शतं प्रवर्त्तन्ते सेवार्थं परिचारिकाः ।। ७५ ।।

हे प्रिये ! एक-एक प्रिया के एक एक मन्दिर में सौ-सौ परिचारिकाएँ सेवा के लिए संलग्न हैं ।। ७५ ।।

प्रियासौधबहिर्भागे तत्क्रमेणैव भामिनि ।
परिचारिकावर्गसमं मन्दिराणि पृथक्-पृथक् । ७६ ।।

हे भामिनि ! प्रिया के भवन के बहिर्भाग में परिचारिका वर्ग के भी अलग अलग समान गृह हैं ।। ७६ ।।

योजनार्द्धप्रमाणेन किञ्चिदप्यधिकेन च ।
विस्तारयामयुक्तानि त्रिभौमानि द्युमन्ति च ।। ७७ ।।

अर्ध योजन से भी कुछ अधिक विस्तृत प्रमाण वाले तीन दीप्तिमान आंगन भी वहाँ हैं ।। ७७ ।।

प्रियासौधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।
चन्द्रामृतोद्गारवन्ति चन्द्रकान्तोद्भवानि तु ।। ७८ ।।

उन प्रियाओं के भवन नाना प्रकार के वर्णों की आकृति से चित्रित हैं। चन्द्रकान्त भवन चाँदनी की तरह चमकते हैं ।। ७८ ।।

कानिकृष्णानि रक्तानि कृष्णरक्तानि कान्यपि ।
कानिचिद्रक्तकृष्णानि श्वेतरक्तानि काचिचित् ।। ७९ ।।
श्वेतानि चैव रक्तानि रक्तश्वेतानि कान्यपि ।
एवं धूम्राणि कृष्णानि धूम्रकृष्णानि कानिचित् ।। ८० ।।

कुछ भवन काले हैं और कुछ लाल रंग के हैं, कुछ भवन काले और लाल मिश्रित हैं। कुछ लाल एवं काले मिश्रित हैं। कुछ श्वेत-रक्त वर्ण के हैं। कुछ श्वेत है, कुछ रक्त वर्ण के हैं और कुछ तो रक्तश्वेत वर्ण वाले हैं। इस प्रकार कुछ धूम्रकृष्ण वर्ण के हैं और कुछ धूम्रकृष्ण मिश्रित हैं ।। ७९-८० ।।

कृष्णधूम्राणि देवेशि सर्वसौधेष्वयं क्रमः ।
एकैकमन्दिरे देवि मज्जनागारमायतम् ।। ८१ ।।

हे देवेशि ! कुछ भवन कृष्ण में धूम्रमिश्रित वर्ण वाले हैं। इस प्रकार भवनों का यही क्रम है। हे देवि ! एक-एक मन्दिर में विस्तृत स्नान गृह है ॥ ८१ ॥

नानोपकरणैर्युक्तं दिव्यरत्नवितानकम् ।
भूषागृह कथैकत्र महाकुट्टिममण्डपम् ॥ ८२ ॥

नाना प्रकार के उपकरणों से युक्त वे भवन दिव्य रत्न जटित वितान वाले हैं। उनमें एक सुन्दर फर्श एवं महान् मण्डप वाला भूषागृह भी है ॥ ८२ ॥

भूषागृहस्य पूर्वं तु गन्धालेपस्य मन्दिरम् ।
नानागन्धविभेदादिसमृद्धं बहुयुक्तिकम् ॥ ८३ ॥

भूषागृह के पूर्व में गन्ध लेप करने के लिए भवन हैं। यह भवन नाना प्रकार के गन्ध-द्रव्य एवं बहु सुविधा से समृद्ध है ॥ ८३ ॥

महानसं तु देवेशि वर्त्तते वह्निकोणगम् ।
ईशान्ये तु सभासद्म दिव्यासनविराजितम् ॥ ८४ ॥

हे देवेशि ! वह्निकोण (दक्षिण-पूर्व के कोने) में उन भवनों में एक रसोई घर भी है। उस भवन के ईशानकोण (पूर्व-उत्तर के कोने) में सभागृह में दिव्य सिंहासन पर भगवान् कृष्ण विराजमान है ॥ ८४ ॥

एवं कृष्णप्रियासौधस्थितिरुक्ता तवानघे ।
द्रवीभूतरसः कृष्णः प्रियाभावात्मकस्तु यः ॥ ८५ ॥

हे अनघे ! इस प्रकार हमने कृष्ण प्रियाओं के प्रासादों की स्थिति का वर्णन किया। मैंने उन कृष्ण का स्वरूप बताया जो द्रवीभूत रस वाले और प्रिया के भावात्मक स्वरूप वाले हैं ॥ ८५ ॥

आविर्भूय प्रियावृन्दैः क्रीडते प्रतिमन्दिरम् ।
स्वामिनीमन्दिरेऽपि च घनीभूतस्तु केवलम् ॥ ८६ ॥

वे कृष्ण प्रत्येक मन्दिर रूप गृहों में प्रिया के समूहों के साथ क्रीडा करते हैं। मात्र स्वामिनी राधा के मन्दिर में वे घनीभूत होकर रहते है (अन्य स्थानों में द्रवीभूत होकर भावात्मक रूप से उपस्थित रहते हैं) ॥ ८६ ॥

न स्वामिनीं विना कृष्णः न स्वामिनी कृष्णं विना ।
न तिष्ठति क्षण देवि ह्यन्यथा लुप्यते रसः ॥ ८७ ॥

स्वामिनी राधा के विना कृष्ण और कृष्ण के विना स्वामिनी राधा एक क्षण भी नहीं रहते हैं, अन्यथा, हे देवि रस का ही लोप हो जायगा ॥ ८७ ॥

अत्र ये मणयो मुक्ताः कुसुमानि लताङ्घ्रिपाः ।
विद्रुमस्वर्णरजतनानाभेदाश्च धातवः ॥ ८८ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ देवि पशुपक्षिसमीरणाः ।
भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयभेदा ह्यनेकशः ॥ ८९ ॥

भोक्तृभोग्यविभागश्च ज्ञातृज्ञेयादिकं तथा ।
रस एवेति विज्ञाय न मुह्यति कदाचन ॥ ९० ॥

यहाँ पर जो मणियां, मोतियां, पुष्प, वायु, भौंरे, मूंगा, सुवर्ण, चांदी और नाना प्रकार की धातुएं हैं, अथवा हे देवि ! सूर्य और चन्द्रमा, पशु-पक्षि तथा मन्द-मन्द वायु एवं अनेक प्रकार की भक्ष्य, भोज्य लप्सी या चूसने की अथवा पेय आदि भोजन सामग्री है वह सभी रस ही रस है। भोक्तृ एवं भोग्य (भोग सामग्री और भोग लगाने वाला) विभाग तथा ज्ञाता एवं ज्ञेय का विभाग सभी को रस समझ कर कभी भी उसमें साधक मोहित नहीं होते हैं ॥ ८८-९० ॥

न कालगणना तत्र वर्त्तते परमेश्वरि ।
न सूर्यचन्द्रताराणामुदयास्तादिकं भवेत् ॥ ९१ ॥

हे परमेश्वरि ! वहां रस समुद्र में काल की गणना नहीं होती। वहां सूर्य चन्द्रमा या तारों का उदय या अस्त भी नहीं होता है ॥ ९१ ॥

उदयास्तादिभावाश्च प्रतीयन्ते तथापि हि ।
लीलासमयभेदार्थमेवं जानीहि पार्वति ॥ ९२ ॥

यद्यपि उदय एवं अस्त आदि के भावों की प्रतीति होती है। हे पार्वति ! इस सब का लीला एवं समय के भेदार्थ जानना चाहिए ॥ ९२ ॥

एतन्मयोदितं साध्वि त्वया सम्यक् श्रुतं किल ।
न वाच्यं कस्यचिद्देवि सर्वोपनिषदां रहः ॥ ९३ ॥

हे साध्वि ! यह सब हमने आपसे कहा। और आपने अच्छी प्रकार से सुनकर समझ लिया है। हे देवि ! यही सभी उपनिषदों का रहस्य है अतः इसे किसी से नहीं कहना चाहिए ॥ ९३ ॥

एतन्माहेश्वरं तन्त्रं सर्वतन्त्रोत्तमोत्तमम् ।
रसनिर्णयसम्पन्नं समाधौ यच्छ्रुतं मया ॥ ९४ ॥

यह माहेश्वर (प्रोक्त) तन्त्र है जो सभी उत्तम वैष्णव तन्त्रों में अत्यन्त श्रेष्ठ है। समाधि की अवस्था में जो मैंने सुना था उस (आनन्द) रस के निर्णय का प्रतिपादन हमने किया है ॥ ९४ ॥

मया[1] प्रकटितं तेऽद्य पुत्रयोरपि गोपितम् ।
वासना एव तुष्यन्ति श्रुत्वा साध्वीं कथामिमाम् ।। ९५ ।।

उस आनन्द रस को मैंने आज आपसे कहा है जिसे अपने पुत्र से भी छिपाकर रखना चाहिए। हे देवि, इस शुद्ध (सुन्दर) कथा को सुनकर सभी वासनाएँ शान्त हो जाती है।। ९५ ।।

अल्पाः कूपा विवर्द्धन्ते ज्योत्स्नया किं समुद्रवत् ।
हरिणा एव तुष्यन्ति गानं श्रुत्वा न गर्दभाः ।। ९६ ।।

(वासनाएँ इसलिए शान्त हो जाती है) क्योंकि समुद्र के समान चांदनी के द्वारा क्या छोटे-छोटे कूएँ पैदा होते हैं सुन्दर गान को सुनकर हरिण प्रसन्न होते हैं गदहे नहीं ।। ९६ ।।

तस्मात्परीक्ष्य वक्तव्यं सहसा न प्रकाशयेत् ।
श्रद्धधानाय शान्ताय कुलीनाय महेश्वरि ।। ९७ ।।

इसलिए हे देवि ! इस रहस्य को सहसा किसी से प्रकाशित नहीं करना चाहिए। सम्यक् रूप से परीक्षा करके ही इस ज्ञान को योग्य शिष्य को देना चाहिए। हे महेश्वरि ! इस ज्ञान को श्रद्धावान्, शान्त चित्त एवं कुलीन व्यक्ति को ही दे ।। ९७ ।।

विनीताय कृतज्ञाय क्रियाशुद्धाय दीयताम् ।
श्रद्धाभक्तिविहीनाय कृतघ्नाय दुरात्मने ।। ९८ ।।

विनीत, कृतज्ञ तथा क्रिया से शुद्ध हुए साधक को ही यह रहस्य बताना चाहिए। श्रद्धा भक्ति से विहीन, कृतघ्न तथा दुरात्मा व्यक्ति को इसे कभी भी नहीं देनी चाहिए ।। ९८ ।।

गुरुभक्तिविहीनाय हेतुवादरताय च ।
असम्भावितचित्ताय विपरीतार्थवादिने ।। ९९ ।।
वृथार्थैकप्रवृत्ताय वेदशास्त्रार्थमानिने ।
दाम्भिकायातिदुष्टाय विषयाक्रान्तचेतसे ।। १०० ।।

गुरु भक्ति रहित और सदैव सवाल जबाब करने वाले, असम्भावित चित्त वाले तथा सदैव विपरीत कार्य करने वाले, वृथा ही कार्य में प्रवृत्त रहने वाले,

---

१. अनेन ज्ञायतेऽस्य तंत्रस्यातिगोप्यत्वान्नाममात्रमपि न क्वापि ९४ तंत्रेषु प्राकट्यं इसमाहेश्वरतंत्रं तु भिन्नविषयकमिति मे मतम् ।

वेद एवं शास्त्र के ज्ञान का अभिमान करने वाले, दम्भी, अत्यन्त दुष्ट तथा विषयासक्त चित्त वाले, अनधिकारी व्यक्ति को कभी भी यह ज्ञान नहीं देना चाहिए ॥ ९९-१०० ॥

न देयः सर्वथा देवि तन्त्रार्थः परादभुतः ।
तन्नास्ति त्रिषु लोकेषु यद्दत्त्वाप्यनृणी भवेत् ॥ १०१ ॥

हे देवि ! इस परम अद्भुत तन्त्र के अर्थ को सर्वथा किसी को एकाएक नहीं दे देना चाहिए। तीनों लोकों में यह ऐसी वस्तु नहीं है जिसे देकर अनृण हो जाय ॥ १०१ ॥

प्रभोर्देवस्य सर्वस्वं मयेदं ते प्रकाशितम् ।
अतः परं तु देवेशि ज्ञातव्य नावशिष्यते ॥ १०२ ॥

हे देवि ! प्रभु देव के सर्वस्व ज्ञान को हमने आपसे प्रतिपादित किया है। हे देवेशि ! अतः इसके बाद अब कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता है ॥ १०२ ॥

तस्मादिदं सुविज्ञाय रहस्यं कृष्णयोषिताम् ।
स्वयमेव परानन्दनिमग्ना भव सुन्दरि ॥ १०३ ॥

इसलिए सम्यक् रूप से कृष्ण की प्रियाओं का यह रहस्य जानकर, हे सुन्दरि, आप स्वयमेव परात्पर आनन्द रस में निमग्न हो जाइए ॥ १०३ ॥

अतः परं तु देवेशि पष्टव्यं नैव किञ्चन ।
नित्यं ध्यायामि यच्चित्ते तदेतत्ते निवेदितम् ॥ १०४ ॥

हे देवेशि ! अब इसके बाद कुछ भीं पूँछने योग्य है ही नहीं, क्योंकि जिसका मैं नित्य ध्यान करता हूँ उसे ही मैंने आपसे निवेदित किया है ॥ १०४ ॥

इत्युक्त्वा च तदा शम्भुस्तूष्णींभूत्वा च संस्थितः ।
वर्णमानमहालीलासमुद्रे मन आदधे ॥ १०५ ॥

इस प्रकार कहकर तब भगवान् शङ्कर चुप होकर तथा आपके द्वारा वर्णित लीला के महान् समुद्र में मन को निमग्न कर समाधिस्थ हो गए ॥ १०५ ॥

स्मितोर्मिरिवाम्भोधिः पुलकाङ्गः सुलोचनः ।
बभूव देवदेवेशः कृपासिन्धुरुमापतिः ॥ १०६ ॥

देवदेवेश, कृपासिन्धु सुन्दर लोचन वाले, पुलकित-गात उमापति आनन्द समुद्र के लहरों के समान स्तिमित हुए ॥ १०६ ॥

एवमानन्दसन्दोहनिमग्नं वीक्ष्य शङ्करम् ।
सर्वोपचारविधिना पूजयामास पार्वती ॥ १०७ ॥

इस प्रकार आनन्द समुद्र में निमग्न भगवान् शङ्कर को देखकर भगवती पार्वती ने विधिपूर्वक सभी उपचारों से उनकी पूजा की ॥ १०७ ॥

दण्डवत्प्रणनामैषा[1] कृतार्थास्मीति वादिनी ।
तुष्टाव शङ्करं भूयः कृपानिधिमनुत्तमम् ॥ १०८ ॥

उन्होंने यह कहते हुए कि 'मैं कृतार्थ हूँ' दण्डवत् प्रणाम किया और पुनः कृपानिधि अनुत्तम भगवान् शङ्कर को सन्तुष्ट किया ॥ १०८ ॥

त्वं देव सर्वविद्यानामुपदेष्टा गुरुः स्वयम् ।
त्वयि भक्तिवतामेव मन्त्रयन्त्रादि सिध्यतु ॥ १०९ ॥

हे देव आप सभी विद्याओं के उपदेष्टा एवं स्वयं गुरु भी हैं । जो आप मे भक्ति भाव रक्खेगा उसके मन्त्र और यन्त्र सभी सिद्धि को प्राप्त करेंगे ॥ १०९ ॥

इत्युक्त्वा पार्वती चित्ते लीलामाधाय वर्णिताम् ।
अवाप परमानन्दं हर्षाश्रुपुलकाङ्किता ॥ ११० ॥

॥ इति श्रीमन्माहेश्वरतन्त्रे उत्तरखण्डे शिवोमासंवादे एकपञ्चाशतमं पटलम् ॥ ५१ ॥

आदितः श्लोकानां समष्ट्यंकाः ॥ ३०६० ॥

॥ समाप्तमिदं श्रीमाहेश्वरं तन्त्रम् ॥

—·—*—·—

यह कहकर पार्वती ने अपने चित्त में उन सुनी हुई लीलाओं का आधान करके हर्षातिरेक से पुलकित शरीर होकर परमानन्द को प्राप्त किया ॥ ११० ॥

॥ इस प्रकार श्रीनारदपाञ्चरात्र आगमगत 'माहेश्वरतन्त्र' के उत्तरखण्ड (ज्ञानखण्ड) में माँ जगदम्बा पार्वती और भगवान् शङ्कर के सम्वाद के इक्यावनवें पटल की डा० सुधाकर मालवीय कृत 'सरला' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥ ५१ ॥

—·—*—·—

१. दण्डवत्प्रणतामैषा० इति पा० ।

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकाः	पृष्ठाः	श्लोकाः	पृष्ठाः
मय्येतत्तु कथं नाथ	४४५	माघशुक्लतृतीयायां	२६३
मरालीयूथ मध्यस्थ	३५२	माणिक्यकन्दलाक्रान्ता	४२२
मरीचिकाजलं पीत्वा	३२७	माणिक्यखचितस्वर्णं	३६५
मरुल्लसत् पल्लवराजिराजि०	४३६	माणिक्यपुष्प विद्योतन्	४३८
मर्त्यलोक गतानां च	१५५	माणिक्यभूमिपविता	४२२
मलयालेपनं देहे	१३१	माणिक्यमुक्तामणिभिर्	३५९
महद्वाल्पतर वापि	१९९	मात्सर्यमुग्रलांगूल	२५६
महर्जनस्तप इति	७	माध्वीकश्रवणां दिव्यां	४०२
महाजनैश्च विपिने	१८८	माध्वी मृदङ्गघोषेण	३६६
महत्तत्वं त्रिधा प्रोक्तं	२११	मानाद्रिशिखरारूढा	३९२
महादुःखतमस्तोम०	४४५	मानांधतमसध्वंस	३९५
महाद्वारपुरोवर्त्ति	५१०	मान्यत्र गच्छते माता	१२०
महाद्वार बहिर्भागे	४२३	मान्यो मानिनि नायकः प्रमदया	३७९
महाद्वारमहं वन्दे	८४	मामेव शरणं याती	२४७
महानसे तु देवेशि	५१२	मायाकार्ये विद्यमाने	१९३
महानीलामणि भ्राजद्	४३३	मायाकालुष्य हीनाय	४५२
महानीलमणिस्तम्भौ	४१६	मायाग्रस्तमिदविश्वं	२६६
महानीलं ददौ वासः	३५९	मायाभ्रमण यन्त्रस्थां	४५३
महापद्मवने दिव्ये	३२६	मायामात्रमिदं विश्वं	३३
महापद्मवनं चैव	४७२	मायाप्रपञ्चदूराय	४५१
महापद्मवनं यत्र	८७	मायावृतं परं ब्रह्म	१९२
महापद्माटवीमध्ये	४४२	मायावेशाद्विचित्रत्वं	९०
महामरकतक्लृप्त०	३१, ४३१	मायालवणपाथोधि०	४५४
महामारकतं दक्षे	३४९	मायिक वर्णितं सर्वं	२४५
महामुक्तावने क्वापि	५०९	मार्ग एव महेशानि	४२९
महामोहस्य मञ्जूषा	११६	मालती माधवो नन्दा	४७५
महामौक्तिक खण्डश्च	३५०	मा शोषय वपू रम्यं	४६
महावज्रमणि भ्राजद्	४३८	मासः पक्षद्वयेनोक्तः	२३८
महासिंहासनं देवि	४१२	मासान्ते फलदानाय	१३६
महासौधाङ्गण भ्राजन्	४२५	मासि भाद्रपदे देवि	२६२
महेश श्रोतुमिच्छामि	२४३	मित्रद्रोहात् गुरुद्रोहात्	४

श्लोकाः	पृष्ठ	श्लोकाः	पृष्ठाः

——*——

तन्त्रशास्त्र-ग्रन्थाः

कर्पूरस्तवः। महाकालप्रणीतः श्रीमद्दक्षिणकालिकायाः। पण्डित रंगनाथ विद्वद्विरचितदीपिकाख्य टीकया तथा साहित्याचार्य पण्डित नारायण-शास्त्री खिस्ते कृत परिमल नामिकया टीकया समन्वितः। साहित्याचार्य डा० सुधाकर मालवीय कृत 'सौरभ' नामिकया हिन्दी व्याख्या सहितः। सम्पादक एवं व्याख्याकार--डा० सुधाकर मालवीय — ८-००

क्रमदीपिका। केशवभट्टप्रणीत। विद्याविनोद श्रीगोविन्द भट्टाचार्यकृत विवरण सहित। डा० सुधाकर मालवीयकृत सविमर्श 'सरला' हिन्दी व्याख्या। श्रीमद्वैष्णवाचार्य श्रीनिवासाचार्यप्रणीत लघुस्तवराजस्तोत्र। वैष्णव पुरुषोत्तमप्रसाद कृत 'गुरुभक्तिमन्दाकिन्याख्यया' व्याख्या सहित। व्याख्याकार—डा० सुधाकर मालवीय — १२५-००

तारा-रहस्यम्। 'शिवदत्ती' हिन्दी व्याख्योपेतम्। (तारापंचांगतारातन्त्र-ताराउपासना-ताराषूजापद्धतिरूपात्मकम्। सम्पादक—पं० शिवदत्तमिश्र — ३०-००

रुद्रयामलतन्त्रम्। (उत्तरतन्त्रम्) श्लोकानुक्रमणिका सहित। सम्पा०—डा० रामकुमार राय (साधारण रुद्रयामलम् उत्तरतन्त्रम् के केवल ६२ पटल ही मिलते थे, किन्तु कुछ बंगला पांडुलिपियाँ ऐसी भी मिली हैं जिसमें ९३ पटल तक मिलते हैं। अतः हमने २२वें पटल के बाद क्रम में बंगपाठ के पटलों को भी अपने संस्करण में सम्मिलित किया है। इस प्रकार हमारे संस्करण में पटलों की संख्या ९३ हो गई है।) — २००-००

शाक्तदर्शनम्। पण्डित चक्रेश्वर भट्टाचार्य — ६०-००

षट्चक्रनिरूपणम्। पूर्णानन्दयतिविरचित। कालीचरणकृत 'श्लोकार्थ रि-क्कारिणी'-शङ्करकृत 'षट्चक्रभेदटिप्पणी'-विश्वनाथकृत 'षट्चक्र-विवृत्ति' संस्कृत-सविमर्श 'प्रह्लाद' हिन्दी व्याख्या सहित। हिन्दी-व्याख्या-कारः सम्पादकश्च--गोस्वामी प्रह्लादगिरि वेदांतकेशरी — ४०-००

उड्डीशतन्त्रम्। 'शिवदत्ती' हिन्दी टीका सहित। व्याख्याकार--पं० शिवदत्त मिश्र शास्त्री — १५-००

दत्तात्रेयतन्त्रम्। 'शिवदत्ती' हिन्दी टीका सहित। व्याख्याकार--आचार्य पण्डित शिवदत्त मिश्र शास्त्री — १५-००

धनदा-यक्षिणी-तन्त्रम्। 'शिवदत्ती' हिन्दी टीका सहितम् (सद्यः लक्ष्मी-प्राप्ति एवं दारिद्र्य-विनाश का सर्वोत्तम साधन। संस्कर्ता सम्पादकश्च--आचार्य पं० शिवदत्त मिश्र शास्त्री — १०-००
